॥ श्री श्याममनोहर प्रभु: विजयते ॥ ॥ श्री हरि: ॥ ॥ श्री मदनमोहन प्र

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ-माला-प्रथम पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण

की

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित संस्कृत टीका

श्री सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद

(सहित)

दशमस्कन्ध - पूर्वार्ध

अध्याय १-४ जन्म प्रकरण

अनुवादक

प.भ. श्रीफतहचन्दजी शास्त्री

प.भ. श्री सबलकिशोरजी व्याकरणाचार्य

प.भ. श्री आनन्दीलालजी शास्त्री

प्रकाशक

जगद् गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य मार्ग-सिद्धान्त संस्कार-सिंचन केन्द्र

श्री विठ्ठलेश भवन, जूनागढ

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

श्रीमद्भागवत–महापुराण

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित–सुबोधिनी–टीका के हिन्दी अनुवादसहित

दशम – स्कन्ध (पूर्वार्ध)

जन्म–प्रकरण

प्रथम अध्याय

श्रीमद्वल्लभाचार्य, दशम–स्कन्ध के विवरण (व्याख्यान) को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम कारिका १, में उस स्कन्ध के अर्थरूप, निरोधस्वरूप प्रभु को नमन करते हैं।

मङ्गलाचरण

कारिका–१ नमामि **हृदयेऽशेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्।**

लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्।।१।।

कारिका शब्दार्थ – सर्वात्मभाव से दासभाव को प्राप्त मेरे हृदय–रूप–शेष पर स्थित, लीलारूपक्षीर सागर में जो (दशम स्कन्ध के अर्थरूप निरोधस्वरूप) प्रभु शयन (स्थिति) करते हैं, (विराज रहे हैं) तथा जिन प्रभु की अनन्त लक्ष्मी स्वरूप तथा अनेक प्रकार के कटाक्षादि लीलाओ से सेवा कर रही हैं उन कलानिधि (पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु) को मैं नमस्कार करता हूँ।

कारिका १ व्याख्या – श्री वाक्पति निजजनों की शिक्षा के लिये, शिष्टपुरुषों के नियमानुसार, ग्रन्थ प्रारम्भ करते हुए स्वयं श्री मङ्गलाचरण करते हैं।

श्री नियम (वेद) रूप कल्पवृक्ष के रसात्मक फलस्वरूप श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में 'निरोध–स्वरूप' श्री प्रभु निरोधात्मक लीलाओं द्वारा, निःसाधन जीवों को 'निरोध' का दान करते हैं। अतः श्रीमदाचार्यचरण मङ्ग.लाचरण में, उस स्कन्ध के अर्थस्वरूप निरोध लीला कर्ता, लीला (पूर्ण) पुरुषोत्तम को नमस्कार करते हैं।

श्री महाप्रभुजी ने इस कारिका में व्यतिरेक[1] अलङ्कार द्वारा शेषशायी "नारायण" से "निरोध–स्वरूप" प्रभु की विशेष (खास) विलक्षणता (अद्भुतता) बताई है, जैसे कि **शेषशायी** नारायण, क्षीर सागर मे शेष शय्या पर शयन करते हैं वैसे ही "निरोध स्वरूप प्रभु" भक्तों के हृदय रूप शेष पर लीला रूपी दूध के समुद्र में शयन करते हैं। क्षीर सागर में एक लक्ष्मी है जो विधि अनुसार नारायण भगवान् की सेवा करती है, परन्तु यहाँ तो अनन्त, नित्यसिद्ध, पुष्टपुष्टिभक्त (गोपिकाएँ) अनेक लीलाओं से "निरोध स्वरूप प्रभु" की सेवा करते हैं। शेषशायी नारायण केवल धर्मनिधि हैं किन्तु निरोधस्वरूप प्रभु सम्पूर्णकलाओं के भण्डार है। अतः पूर्ण धर्म्मी स्वरूप हैं। इस भांति इस कारिका में शेषशायी 'नारायण' से निरोध लीला में स्थित 'निरोध स्वरूप प्रभु' की विशेष विलक्षणता बताई है।

यहाँ प्रमाण मार्ग (मर्यादा मार्ग) और प्रमेय मार्ग (फलरूप–पुष्टि मार्ग) को विलक्षणता (अद्भुतपन) का भी स्पष्टीकरण (खुलासा) इस प्रकार होता है। जैसे कि प्रमाणश्रेष्ठ प्रभु के श्वास रूप वेद में, दास्य धर्म की उत्तमता बताई गई है, अतः उस (दास्यधर्म) को सिद्ध कर बताने के लिए स्वयं वेद, शेष रूप धारण कर, धर्मनिधि नारायण भगवान्, की शय्या होकर सेवा करता है, तथा श्री लक्ष्मीजी भी दास्य धर्म की उत्तमता बताने के लिये अपने रहने के स्थान प्रभु के वक्षःस्थल (छाती) को छोड़ कर प्रभु के चरणारविन्द की सेवा करती हुई चरणों के पास निवास करती हैं। यह प्रमाण मार्ग का सर्वोत्तम दास्य धर्म है।

उपनिषद् में कहे हुए सर्वात्मभाव होने के अनन्तर, उससे पुष्टिमार्गीय फलात्मक दास्य भाव की प्राप्ति होती है। सर्वात्मभाव जिस भक्त का सिद्ध हो जाता है उस भक्त के हृदय मे अगाधलोलासागर का उद्भव (प्राकट्य) होता है। भक्त के हृदय में स्थित, इस लीला महोदधि में निरोधस्वरूप प्रभु शयन (स्थिति) करते हैं, अर्थात् रसदानार्थ सदैव विराजते हैं वे भक्त, रस को प्राप्त कर, आनन्द[2]मग्न, हो जाते हैं। इस १ कारिका

---

[1] अलङ्कार शास्त्र में – उपमान से उपमेय की विशेषता बताने वाले अलङ्कार को व्यतिरेक अलङ्कार कहते है। यहां उपमान 'शेषशायी' नारायण से, उपमेय 'निरोध स्वरूप प्रभु की विशेषता बताई गई है।'

[2] – 'रसलब्ध्वा आनन्दी भवति' श्रुति को चरित्रार्थ करते हैं।

मे 'लीला' शब्द दो बार आया है जिससे पुनरुक्तिदोष[1] का आभास होता है, किन्तु इसका आशय समझने से यह शङ्का स्वतः मिट जायगी। दूसरे पाद में लीला शब्द सामान्य लीला बताने के लिये दिया है और तीसरे पाद में लीला शब्द, विशेष (मुख्य) लीलायें जो व्रजभक्तों (गोपियों) ने स्वरूप तथा कटाक्षादि भावों द्वारा प्रभु से की है उनको स्पष्ट समझाने के लिए दिया है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है।

'शयन' शब्द का अर्थ निद्रा भी होता है किन्तु यहाँ 'शयन' शब्द का अर्थ 'स्थिति करना' है, अर्थात् प्रभु दूसरे स्थान पर न जाकर वहाँ पर ही (लीलार्थ) निवास करते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि प्रभु को जिस समय और जहाँ जहाँ जैसी जैसी लीला करनी होती है वहाँ आप उस समय पर उसी प्रकार बिराजते हैं इसको प्रभु का शयन[2] कहते हैं जैसे साधारण रीति से कहा जाता है कि नारायण भगवान् शेषशायी हैं अर्थात् शेष पर शयन कर रहे हैं परन्तु वास्तव में तो नारायण नाभि से कमल उत्पन्न कर, उससे ब्रह्मा का प्राकट्य करते हैं और उसके द्वारा जगत् की रचना कराते हैं। इससे शयन से स्थिति ही मानी जाती हैं। वैसे ही हृदयाकाश में पुरुष शयन करता है, जिसका भी तात्पर्य यह है कि पुरुष हृदय में स्थिति करता है।

इस प्रकार शास्त्रों में जैसे 'शयन' शब्द 'स्थिति' के अर्थ मे दिया है वैसे ही आचार्यश्री ने 'श्री सुबोधिनी जी' में 'शयन' शब्द का अर्थ स्थिति लिया है।

जैसे शेषशायी नारायण इस दृश्य जगत् को प्रकट करते हैं। वैसे ही 'निरोधात्मक प्रभु' भक्त के हृदय में स्थित होकर लीलाक्षीराब्धि में 'शयन' करते हुए अपने स्वरूप में स्थित विचित्र (अजीब व नवीन) प्रचुर (परमोत्तम, बहुत) भावों द्वारा, भक्ति रसस्वरूप जगत् को प्रकट करते हैं।

यदि शयन शब्द का अर्थ निद्रा लेने में आवे तो प्रभु कोई भी लीला का कार्य नहीं कर सके। इसलिये शयन का अर्थ स्थिति योग्य है।

---

1 – एक ही बात को दुबारा कहने को पुनरुक्ति दोष कहते हैं।

2 – साराश यह है कि उन लीलाओं का ज्ञान और आनन्द भक्त ही लेवे (पा सके) अन्य समझे कि भगवान् सो गये हैं। इसलिए स्थिति न कह कर शयन दिया है।

इस प्रकार प्रथम कारिका में मंगलाचरण से स्कन्धार्थरूप प्रभु को नमस्कार कर आचार्यचरण द्वितीय कारिका में बताते हैं कि प्रकरणार्थ रूप प्रभु मेरे हृदय में बिराजते हैं।

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा।
षड्भिर्विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम।।२।।

अर्थ – जो यह प्रकरणार्थ रूप प्रभु, पाँच प्रकार से मेरे हृदय में विराजते हैं उनको मैं नमस्कार करता हूँ।।२।।

व्याख्या – प्रकरणार्थ प्रभु के पाँच प्रकार बताते हैं।

ऊपर श्लोक में दिये पहले 'चतुर्भिः' शब्द का तात्पर्य जन्म प्रकरण के चार अध्यायों से है। जिनमें क्रमानुसार हेतु, उद्यम, अन्य रूप धारना और कापट्य विषयों का वर्णन है।[1] दूसरे 'चतुर्भिः' शब्द से तात्पर्य 'तामस' प्रकरण के चार अवान्तर प्रकरणों से है, जो प्रत्येक सात सात अध्यायों का हैं और जिन अवान्तर प्रकरणों का क्रमानुसार नाम 'तामस' प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल है। तीसरे 'चतुर्भिः' शब्द से मतलब राजस प्रकरण के चार अवान्तर प्रकरणों से है, जो प्रत्येक सात अध्यायों का है और क्रमानुसार उनके नाम 'राजस' प्रमाण प्रमेय साधन और फल हैं।

'त्रिभिः' शब्द से तात्पर्य सात्विक प्रकरण के तीन अवान्तर प्रकरणों से है जो प्रत्येक सात सात अध्यायों का है और इनके नाम क्रमानुसार प्रमेय, साधन और फल है। इस प्रकरण में प्रमाण अवान्तर प्रकरण नहीं है क्योंकि सात्विक जीव शुद्ध अन्तःकरण वाले होते हैं और उनके हृदय में श्रद्धा होती है इससे उनकी शङ्काएँ नहीं होती है इसलिये उनको प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती है।

षड्भिः का अर्थ गुण प्रकरण से है जिसमें ६ अध्याय हैं और क्रमानुसार उनमें ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य का वर्णन है।

इस प्रकार कुल ८७ अध्याय हैं।

---

[1] प्रथम अध्याय मे जन्म लेने का हेतु, द्वितीय अध्याय मे शीघ्र प्रकट होने के लिये उद्यम, तीसरे अध्याय मे चतुर्भुज स्वरूप को बालरूप मे तिरोहित कर बालस्वरूप से प्रकट दर्शन देना, चतुर्थ अध्याय मे 'कापट्य' (माया के कार्य) का वर्णन है।

जन्म प्रकरण – ४ अध्याय, तामस प्रकरण २८ अध्याय, राजस प्रकरण २८ अध्याय, सात्विक प्रकरण २१ अध्याय और गुण प्रकरण ६ अध्याय हैं।

तीन अध्याय प्रक्षिप्त हैं इस प्रकार दशम स्कन्ध के कुल ६० अध्याय हैं।

कारिका – दशमार्थः प्रकरणाध्यायार्थश्च विचार्यते।।२।।

कारिका शब्दार्थ – इस कारिका में, दशम स्कन्ध का अर्थ और उसके प्रकरण तथा अध्यायों के अर्थ का विचार किया जाता है।

व्याख्या – मङ्गलाचरण और प्रकरण विभाग करने के अनन्तर आचार्यश्री स्कन्धार्थ का विचार करते हैं, स्कन्ध का अर्थ सुदृढ़ (पक्का) अर्थात् पूरी तरह समझ में, आ जावे इसलिये प्रकरणों तथा अध्यायों के अर्थ का भी विचार करते हैं। यद्यपि (हालांकि) आचार्य चरणों को यहां सुबोधिनी में केवल वाक्यों के, पदों के, और अक्षरों के अर्थ ही करने थे किन्तु कतिपय टीकाकारो को स्कन्धार्थ के विषय में जो संशय है उसको मिटाने के लिये यहां स्कन्ध, प्रकरण, एवं अध्यायों के अर्थ का भी दिग्दर्शन आवश्यक समझ कर कराया है।।२।।

कारिका – नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्णस्तस्य निरूपणात्।।३।।

आश्रयः क्रमभावित्वात् निरोधो वेति संशयः।।३½।।

कारिकार्थ – दशम स्कन्ध का अर्थ आश्रय है ? वा 'निरोध' है ? यह संशय है। कितने टीकाकारों का मत है कि दशम स्कन्ध का अर्थ 'आश्रय' है क्योंकि उस स्कन्ध में सर्ग आदि नव लीलाओं से लक्ष्य (समझने के योग्य) श्रीकृष्णचन्द्र की लीलाएँ हैं। इन लीलाओं से श्रीकृष्ण का स्वरूप माना जाता है, इसमें दशम का अर्थ 'आश्रय' है। अन्यों की राय हैं कि द्वितीय स्कन्ध के दशमाध्याय के प्रथम श्लोक में जो लीलाओं का क्रम दिया है उसके अनुसार दशम का अर्थ 'निरोध' होना चाहिए।।३½।।

इस प्रकार दो मत होने से सन्देह है कि दशम का अर्थ "आश्रय" है या "निरोध" है।

"आश्रय" मानने वालों का पक्ष इन कारिकाओं में बताते हैं :–

पूर्व पक्ष की कारिकाएँ –

लीलानिर्धारको ह्यर्थः क्रममात्रं तु दुर्बलम्।।४।।
यथा कथञ्चिच्छ्वणं सफलत्वाय कल्पते।
निरोधः प्रलयो लोके प्रसिद्धः प्रकृते न सः।।५।।
प्रतीतो द्वादशेऽन्यत्र महत्वाच्छुद्धलीलया।
सहितो ह्याश्रयः स्कन्धे प्रतिपाद्य इहेतिचेत्।।६।।

कारिकार्थ – पूर्व पक्ष वाले अर्थात् दशमस्कन्ध का अर्थ आश्रय मानने वाले कहते हैं कि प्रत्येक स्कन्ध में जिस लीला का वर्णन हो उससे ही स्कन्ध के अर्थ का निर्णय करना चाहिये। 'क्रमः से निर्णय करना ठीक नहीं क्योंकि "लीलाओं" से "क्रम" निर्बल है। वेद में भी "अर्थ" का निर्णय करने की विधि दी है। जैसे पूर्व मीमांसा के अनुसार क्रम को छोडकर विषय सामग्री पर निर्णय करने की परिपाटी है। उदाहरण 'अग्निहोत्र जुहोति' (अर्थ– 'अग्निहोत्र में होम करता हैं') यह वाक्य प्रथम आया है 'यवागू पचति' (दूध में चावल पकाता है) यह वाक्य पीछे आया है तो भी यज्ञ में पहले चावल पकाये जाते है पश्चात् (पीछे) होम किये जाते हैं – क्योंकि यहां पर क्रम मानने से अर्थ ठीक नहीं होता है इसलिए 'क्रम' निर्बल है और अर्थ सबल है। अतः भागवत मे भी पूर्वमीमांसा के अनुसार पाठक्रम दुर्बल है उसको छोड़कर लीलाओं के अनुसार 'आश्रय' ही स्कन्ध का अर्थ लेना चाहिए। श्रीमद्भागवत के शास्त्र का श्रवण जिससे सफल हो, उसको स्कन्धार्थ समझना चाहिए। यद्यपि क्रम से दशम का अर्थ 'निरोध' हो सकता है। निरोध का अर्थ 'प्रलय' है ऐसा लोक प्रसिद्ध है इसलिये निर्बल 'क्रमः से प्राप्त निरोध (प्रलय) स्कन्ध का अर्थ ग्रहण न कर फल देने वाला 'आश्रय' ही ग्रहण करना ठीक है।।४।।

यह (दशम) स्कन्ध अन्य स्कन्धों से उत्तम है कारण कि इसमें स्वय भगवान श्रीकृष्ण लीला पुरुषोत्तम की शुद्ध लीलाएँ ही हैं। निरोध[1] (प्रलय) लीला (नैमित्तिक

---

[1] आचार्यश्री दशम स्कन्ध का अर्थ 'निरोध' स्वीकार करते हैं किन्तु 'निरोध' का अर्थ 'प्रलय' नही करते है निरोध को तीन अर्थो से समझाते हैं कि 'निरोध' क्या है ?
(१) जगत मे स्वशक्तियो के साथ खेलना।
(२) ससार रूप प्रपच को भूलकर भगवान् मे भक्त की आसक्ति।
(३) भक्त के लोकिक देहेन्द्रियादिको का अलौकिक हो जाना।

प्राकृत आदि) द्वादश स्कन्ध में है। इससे उस द्वादश स्कन्ध का अर्थ 'निरोध' है और दशम स्कन्ध का अर्थ आश्रय है।।६।।

सन्देह मिटाकर जो सिद्धान्त स्थिर किया जाता है उसको 'उत्तर पक्ष' कहते हैं:- **उत्तर पक्ष की** -

कारिकाएं - नहि सापेक्षरूपस्य प्रथमं सुनिरुपणम्।
नवलक्षणलक्ष्यस्तु ह्याश्रयो रूप्यते कथम्।।७।।
अग्रे लीलाद्वयकथा (फलसिद्धौ) वृथा भवेत्।
पूर्वोत्तरस्कन्धयोश्च नश्येत् कारणकार्यता।।८।।
कृष्णस्त्वेकादशेऽप्यस्ति क्रमश्च स्वीकृतो भवेत्।।८½।।

कारिकार्थ - सर्ग, विसर्ग, आदि नव लक्षण की अपेक्षा वाले 'आश्रय' का प्रथम निरूपण नहीं हो सकता है, क्योंकि नवलक्षणलक्ष्य तो आश्रय है उसका दशम स्कन्ध में शुकदेवजी ने कैसे निरूपण (वर्णन) किया होगा ? क्योंकि जबकि दशम में आश्रय से फल-सिद्धि हो गई तो इसके पश्चात् दो लीलाओं का कहना किसी भी काम का नहीं रहता है वह तो वृथा ही हो जाता है इसके सिवाय आश्रय के पश्चात् मुक्ति और निरोध के वर्णन करने से स्कन्धों की आपस में कारण-कार्य सङ्ग.ति भी नष्ट हो जाती है।।७-८।।

यदि कहो कि दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण की लीलाएँ हैं अतः इसका अर्थ 'आश्रय' ही है तो श्रीकृष्ण की लीलाएँ तो एकादश स्कन्ध में भी हैं। इन सब का पूर्वापर (आगा पीछा) विचारने से यही सिद्धान्त निःसंशय (बिना संशय वाला) सिद्ध होता है कि श्रीमद्भागवत में क्रमानुसार ही 'स्कन्धार्थ' निर्णय करना चाहिये।।८½।।

उत्तर पक्षीय कारिका की व्याख्या :-

दशम स्कन्ध में 'आश्रय' नहीं है किन्तु निरोध लीला है इस पक्ष को सिद्ध करने के लिये एवं वादी के पक्ष को अपूर्ण बताते हुए श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि, यदि दशमस्कन्ध में आश्रयलीला स्वीकार की जायगी तो श्रीशुकदेवजी के द्वितीय स्कन्ध में कहे हुए आश्रय को सर्ग आदि नवलीला की अपेक्षा (आवश्यकता) है। श्री शुक का वह कहना निरर्थक (बिना मतलब का) होगा। वास्तव में श्री शुकदेवजी ने तृतीय स्कन्ध से

सर्ग आदि लीलाएँ प्रारम्भ कर दशम में निरोध एकादश में मुक्ति एवं द्वादश में आश्रय का वर्णन किया है। श्री शुकदेवजी के इस क्रम का प्रबल प्रमाण यह है कि यदि परीक्षित का दशम में ही आश्रय सिद्ध हुआ होता तो न तो श्री शुकदेवजी को एकादश और द्वादश दो स्कन्धों के कहने की जरूरत होती और न परीक्षित को सुनने की ही चाह रहती। फिर तो यों मानना पड़ेगा कि दो स्कन्धों का कहना ही वृथा था। दशम में आश्रय मानना श्री शुकदेवजी की उक्तियों का अपमान करना है। इसके सिवाय दशम में आश्रय मानने से लीलाओं के परस्पर कार्य कारण की सङ्ग.ति भी नष्ट होती है। जैसे –

प्रथम स्कन्ध में – अधिकारियों के साधन लक्षण हैं।

द्वितीय स्कन्ध मे – साधन युक्तों का श्रवण है।

तृतीय स्कन्ध मे – १. पहली सर्ग लीला–निराकार का पुरुष शरीर धारण करना है।

चतुर्थ स्कन्ध – २. विसर्ग लीला–पुरुष रूप से ब्रह्मादिकों की उत्पत्ति होना है।

पञ्चम स्कन्ध – ३. उत्पन्न किये हुए सर्ग की मर्यादा से स्थापना के लिये धर्मादि पुरुषार्थों का साधन है।

षष्ठ स्कन्ध में – ४. पुष्टिलीला–किन जीवों पर अनुग्रह है।

सप्तम स्कन्ध में – ५. उतिलीला–वैषम्य दोष के निवारण के लिये वासना है।

अष्टम स्कन्ध में – ६. मन्वन्तरलीला–वासना के मिटाने के लिए सद्धर्म्म का वर्णन है।

नवम स्कन्ध में – ७. ईशानुकथा–निवृत्त दोष वालों के लिए भक्ति चरित्र

दशम स्कन्ध में – ८. निरोधलीला, भक्तों की प्रपञ्च विस्मृति कराके भगवान् के स्वरूप में उनकी आसक्ति होना है।

एकादश स्कन्ध में – ९. मुक्तिलीला, निष्प्रपञ्च अर्थात् जिनका प्रपंच (संसार) नाश हो गया है वैसे, तथा भगवान में आसक्ति वाले जीवों को स्वरूपज्ञान के द्वारा मुक्तिदान।

द्वादश स्कन्ध में – १०. आश्रयलीला, स्वरूपज्ञान द्वारा जीवन्मुक्त जीवो की ब्रह्मस्वरूप से स्थिति रूप 'आश्रय' है।

इस प्रकार स्कन्धों में जो कार्य कारण सम्बन्ध है वह दशम में आश्रय मानने से भङ्ग. हो जायेगा अतः दशम का अर्थ 'निरोध' मानना ही प्रमाण तथा युक्ति से सङ्ग.त (योग्य) है। दशमस्कन्ध में 'निरोध' लीला स्वीकार करने से श्रीशुकदेवजी के कहे हुए क्रम का भी समादर होगा।

कारिका – निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः।।६।।

शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम्।।६½।।

कारिकार्थ – इस (पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण) श्री हरि की, अपनी अचिन्त्य (जिसका विचार भी जीव नही कर सकता है) शक्तिओं सहित जगत् मे क्रीड़ा करना ही 'निरोध' है

व्याख्या – श्रीमद्भागवत की टीकाओं को देखने से प्रतीत होता (जाना जाता) है कि उन्होंने भागवत में दिये हुए (निरोध) शब्द का वास्तविक (असली) अर्थ नहीं किया है। श्री शुकदेवजी के 'निरोध' शब्द का भाव न समझकर कहते हैं कि 'जीव का शक्तियों के साथ लय ही 'निरोध' है। यों अर्थ करना श्रीशुकदेवजी के कथन के विरूद्ध है। द्वितीय स्कन्ध के दशम अध्याय के ६ श्लोक में 'अस्य' शब्द दिया है, जिससे परमात्मा का बोध (ज्ञान) कराया है नहीं कि जीवात्मा के लिये 'अस्य' शब्द दिया है। अतः आचार्यश्री ने इस कारिका में 'अस्य' शब्द का अर्थ स्पष्ट समझाने के लिऐ 'हरेः' तथा 'श्रीकृष्णस्य' भगवान के दो नाम दिये हैं। इसके सिवाय जो अन्य (दूसरे) दुष्ट राजाओ का नष्ट रूप प्रलय को 'निरोध' मानते हैं, वह भी सत्य पूर्ण नहीं है, कारण कि मारना आदि कार्य श्रीकृष्ण स्वयं तो करते नहीं है किन्तु सङ्क.र्षणादि व्यूहों से करवाते हैं। श्रीकृष्ण ने तो वे लीलाएँ की हैं और करते हैं, जिससे भक्त जनों की अविद्या नष्ट हो और उनकी 'प्रभु' में आसक्ति हो, भक्तों की प्रभु में आसक्ति हो तथा प्रपञ्च को भूल जाय यह ही प्रभु के प्राकट्य एवं लीला करने का हेतु है। दशम स्कन्ध में इस प्रकार की लीलाए की गई हैं, अतः दशम स्कन्ध में जो 'निरोध' लीला का वर्णन है उसका सत्य अर्थ इस कारिका में आचार्यश्री ने स्पष्ट समझाया है।

श्रीमद्गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी 'प्रकाश' में विशेष रूप से समझाते है कि दशमस्कन्ध में ८७ अध्याय का कारण भी यह है कि (निरोध) का अर्थ (शयन) है। और शयन की तीन अवस्थाएँ हैं, प्रथम जाग्रत द्वितीय स्वप्न और तृतीय सुषुप्ति हैं। इसके सिवाय देह की ७२ नाड़ियां तथा आत्मा की श्री, कान्ति आदि १२ शक्तियां हैं। इन सब का योग (जोड) ८७ होता है अतः (निरोधार्थ) दशमस्कन्ध के ८७ अध्याय भी (निरोध) लीला इस स्कन्ध के अर्थ का समर्थन करते हैं।।६।।

कारिका – नैमितिकनिरोधोऽन्यो धर्मग्लानिनिमित्ततः।।१०।।

शब्दार्थ – धर्मग्लानि के निमित्त (कारण) से जो दुष्ट राजाओं का नाश रूप निरोध है वह सर्ग आदि दश लीलाओं से पृथक् (अलग) है।

व्याख्या – श्रीमदाचार्यचरण ने इस कारिका में आज्ञा की है कि दशम स्कन्ध में दुष्ट राजाओं के नाशरूप नैमित्तिक (कारण से होने वाले) प्रलय को मानना ही योग्य नहीं है, क्योंकि नैमित्तिक प्रलय रूप निरोध की सर्ग आदि दशलीलाओं में गणना नहीं की है। यहां इस स्कन्ध में तो श्रीशुकदेवजी के वचनानुसार, सर्ग आदि दशलीला द्वारा हुआ भगवदासक्ति रूप निरोध ही विवक्षित हैं।

कारिका – स चात्र नैव सद्ग्राह्यो हरिणा दुष्टभूभुजाम्।
आद्यन्तयोरिहाभावान्मुक्तावप्यनुवृत्तितः।।११।।

शब्दार्थ – हरि ने दुष्ट राजाओं का नाश रूप जो (निरोध) किया है वह निरोध सत्पुरुषों को यहां ग्रहण नहीं करना चाहिये। यहां 'आदि' और 'अन्त' के प्रकरण में प्रलयात्मक (प्रलयरूप) निरोध का अभाव है। एवं मुक्तिलीला (एकादश स्कन्ध) में दुष्ट राजाओ का नाशात्मक निरोध है। इस निरोध (नाशात्मक) में निरोध के लक्षण नहीं हैं तथा दशलीला से १ लीला भी विशेष होती है। अतः मारणरूप निरोध अलग होने से इस स्कन्ध में वह है यों कहना व्यर्थ है।

व्याख्या – भगवान् ने सङ्कर्षण व्यूह द्वारा जो दुष्ट नृपतियों (राजाओं) का नाश रूप निरोध किया है वह मुख्य निरोध का "अङ्ग" रूप निरोध है अतः वह दशम स्कन्ध का "अर्थ" रूप निरोध नहीं है। यदि कोई इस निरोध को ही दशम का अर्थ मानने का आग्रह (हठ) करे तो उसके उत्तर में आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि दशम स्कन्ध के

पहिले जन्म प्रकरण–में तथा अन्तिम–गुण प्रकरण–में दुष्ट नाश का नैमित्तिक प्रलय रूप निरोध का लक्षण नहीं है, इसलिये हठ करने वाले वादी के कहने में अव्याप्ति दोष आता है, उसके सिवाय एकादश स्कन्ध में भी प्रलय रूप निरोध की कथा है जिससे वादी के कहने में अतिव्याप्तिदोष भी आता है और दश लीलाओं के स्थान पर एकादश लीलाएँ होती है। इन दोषों के कारण प्रलयात्मक निरोध को दशम स्कन्ध का अर्थ सत्पुरुषों को नहीं मानना चाहिये।।११½।।

कारिका – तदर्थं जन्मकथनं पृथास्तोत्रविरोधि हि।।१२।।

शब्दार्थ – दुष्ट नृपतियों के नाश के लिये भगवान् ने अवतार लिया है यों मानना पृथा (कुन्ती) द्वारा की गई स्तुति के विरूद्ध है।।१२।।

व्याख्या – श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि बोपदेव ने भागवत का अर्थ करते हुए लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने दुष्ट राजाओं का नाशकर भूभार को उतारने के लिये अवतार लिया है, यह उनका कहना अपूर्ण है क्योंकि कुन्ती ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है कि –

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्। स्क. अ. श्लो.
भक्तियोग विधा (ता) नार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः। १ ८ २०

अर्थ – हे प्रभो! यदि आपका प्राकट्य शुद्ध अन्तःकरण वाले परमहंस मुनियों में भक्ति योग के विधान अथवा विस्तार के लिये नही होता तो हम स्त्रियां आपके दर्शन कैसे कर सकती ? इस प्रकार कुन्ती ने श्रीकृष्ण के प्राकट्य का कारण भक्ति विस्तार कहा है अतः दुष्ट वध को मुख्य कारण मानना असंगत है।।१२।।

कारिका – कार्यकारणहानिश्च प्रक्रान्तत्याग एव च
भक्तत्वाद्भुव उद्धारो भारहारान्निरूपितः।।१३।।

शब्दार्थ – दशम स्कन्ध में 'आश्रय' लीला मानने से, कार्य कारण की तथा उपक्रम की हानि होती है। इस स्कन्ध से भक्त–श्रेष्ठ–भूमि, के उद्धार का भूभार हरण करने से वर्णन किया है।

व्याख्या – द्वितीय स्कन्ध में कहा है कि (दशमस्य विशुहद्यर्थं नवानामिहसक्षणम्) दसवीं लीला आश्रय के विशेष शुद्धि के लिये यहाँ प्रथम सर्गादि प्रारम्भ कर द्वादशस्कन्ध

में आश्रय लीला कही है। इस प्रकार कारण कार्य सङ्ग.ति तथा क्रम की रक्षा की गई है। उनका त्यागकर बीच में (दशम–स्कन्ध में) आश्रय मानने से कार्य कारण सङ्ग.ति तथा क्रम का नाश होता है अतः बीच में आश्रय मानना असङ्ग.त (अयोग्य) है। सर्ग आदि नव लीलाओं के ज्ञान होने के अनन्तर (बाद) ही आश्रय का ज्ञान व प्राप्ति होती है। कारण कि पहली लीला कारण है दूसरी लीला कार्य है। इसी तरह सर्व लीलाओं का क्रमशः कारण कार्य सम्बन्ध होने से श्रीमद्भागवत में लीलाओं का वर्णन भी इसी क्रम से हुआ है।

अतः दशम में आश्रय अथवा दुष्ट मारण रूप प्रलय निरोध मानना सर्वथा असङ्ग.त है। दशम में तो प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति रूप मुख्य (निरोध) मानना ही सुसङ्ग.त है, इसलिये सुज्ञों को शास्त्रीय सिद्धान्त ही स्वीकार करना चाहिये।

कारिका – प्रकटः परमानन्दो यदा भूमेस्तदैव हि।
मर्दनक्लेशहानिः स्यादिति तस्याः समुद्यमः।।१४।।

शब्दार्थ – दुष्ट नृपतियों द्वारा किये हुए पापादि भार से पीड़ित पृथ्वी का क्लेश तब निवृत्त हो जब स्वयं परमानन्द प्रकट हो; इसलिये पृथ्वी ने ही सफल उद्यम किया।।१४।।

व्याख्या – भूमि बोझ से अत्यन्त पीड़ित हुई तब उस (पीड़ा) को मिटाने के लिये उसने उद्यम किया जो सफल भी हुआ। भूमि का दुष्टतापूर्ण मनुष्यों की अधिक संख्या बढने के बोझ से पीड़ा नहीं होती है, क्योंकि पृथ्वी पर्वतादिकों का भार भी वहन करने में समर्थ है, किन्तु पाप के बोझ को सहन करने में असमर्थ हैं। पाप के बोझ की पीड़ा प्रभु के प्राकट्य के सिवाय नहीं मिटती है। जैसे सूर्य के उदय होते ही रात्रि का अन्धकार स्वतः (आपही) नाश हो जाता है। वैसे ही प्रभु के प्राकट्य मात्र से भूमि की पीडा मिट जायेगी। अतः दशम के प्रथम अध्याय में भगवत्प्राकट्य के लिए पृथ्वी के किये हुए उद्यम का वर्णन है।।१४।।

कारिका – ब्रह्मरुद्रादिदेवानामत एवान्यसंश्रयः।
भक्तानामेव निस्तारः कृतः कृष्णेन संसृतेः।।१५।।
अतो निरोधो भक्तानां, प्रपञ्चस्येति निश्चयः।।१५½।।

शब्दार्थ – प्रभु के प्राकट्य के लिए ब्रह्मा, रुद्र आदि देवों को दूसरों का आश्रय[1] लेना पड़ा। दूसरी गौ (भगवान् की भक्त) का आश्रय लेकर भगवान् को प्रार्थना करने के लिए शिव आदि देव क्षीर–सागर पर गये। श्रीकृष्ण ने भक्तों का ही "संसार" नाश किया है, अतः प्रपञ्च से विस्मृतिपूर्वक भगवान में आसक्ति रूप निरोध भक्तों का ही हुआ है।

व्याख्या – जब भूमि पाप–बोझ से अति पीड़ित हुई और समझने लगी कि यह मेरा दुःख भगवान् के प्रकट होने के सिवाय नष्ट नहीं होगा। भगवान् का प्राकट्य देवताओं को अभीष्ट (प्रिय) था किन्तु उनमें पृथ्वी जितनी न आर्ति थी और न वैसा अधिकार था। भगवान् तो आर्त एवम् भक्तों के दुःख दूर करने के लिए ही प्रकट होते हैं। वैसी योग्यता देवताओं में नहीं थी केवल पृथ्वी में थी। अतः ब्रह्मादि देवों को पृथ्वी का सहारा लेकर भगवान् के पास प्रार्थना के लिए जाना पड़ा।

यदि यहां (दशम स्कन्ध में) दुष्ट भूपति–नाश–रूप निरोध माना भी जाय तो भी वह दशम का मुख्य अर्थ रूप 'निर्णय' नहीं माना जायेगा। कारण कि दशम में मुख्य 'निरोध' तो वह है जो भगवान् प्राकट्य आदि लीलाओं द्वारा भक्तों के प्रपंच का नाश तथा भक्तों के अन्तःकरण में अपनी आसक्ति एवं लीलाओं की स्फूर्ति (फुरती–उत्साह) कराते हैं। यही मुख्य 'निरोध' दशम स्कन्ध का अर्थ है –

नवम स्कन्ध में वर्णन की हुई 'भक्ति' का जिन भक्तों के हृदय में आविर्भाव (प्रकाश) हुआ है, उन भक्तों के ही प्रपञ्च का नाश दशम में वर्णन किया है। लीलाओं द्वारा पुष्ट भूपतियों के प्रपञ्च का नाश नहीं किया है। अतः दशमार्थ (दश स्कन्ध का अर्थ) भक्त प्रपञ्च नाशात्मक, भगवदासक्ति रूप (निरोध) ही है। भरताचार्य ने भी 'निरोध' का स्वरूप बताते हुए कहा है कि 'यातुव्यसनसम्प्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यते' व्यसन दशा की पूर्ण प्राप्ति को 'निरोध' कहा जाता है।।१५½।।

[1] दूसरो का आश्रय – इसका भावार्थ बताते हुए भी प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि ब्रह्मा रुद्र आदि देव स्वयं प्रार्थना के लिये प्रभु के पास न जा सके जो वे अधिकारी न थे कारण कि जैसी आर्ति भूमि मे है वैसी इन्हो मे नही है। अत. भक्तों का आश्रय लेकर प्रभु की सेवा करते हैं इसलिए गौ रूप पृथ्वी जो भक्त है, उसको साथ लेकर प्रभु के पास पधारे। तब भगवान् के प्रकट कराने के लिए प्रयत्न करने लगे।

कारिका – यावद्बहिः स्थितो वह्निः प्रकटो वा विशेन्नहि।।१६।।
तावदन्तः स्थितोप्येष, न दारुदहनक्षमः।
एवम् सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्न तद्विशेत्।।१७।।
तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यमः।
रूपान्तरम् तु नटवत्स्वीकृत्य त्रिविधान्निजान्।।१८।।
प्रपञ्चाभाव करणादुज्जहारेति निश्चयः।।१८½।।

कारिकार्थ – जब तक बाहर की अग्नि प्रकट होकर काष्ठ में प्रवेश नहीं करती है तब तक काष्ठ के भीतर रही हुई अग्नि उसको (काष्ठ को) जला नहीं सकती है। इसी प्रकार परमात्मा जब तक बाहर प्रकट होकर भीतर प्रवेश नहीं करते है तब तक अन्तः स्थित ईश्वर कुछ नहीं कर सकते हैं अर्थात् परमात्मा सर्वत्र व्यापक है एवम् देह इन्द्रिय आदि में भी स्थित है तो भी इन लौकिक देहादि (संसार) का लय नहीं कर सकते हैं। अतः जैसे अग्नि काष्ठ में प्रवेश कर उसको जला सकती है वैसे परमात्मा भी बाहर प्रकट होकर भीतर प्रवेश करते हैं तब जीव की लौकिक देह इन्द्रियादि अलौकिक होती हैं। तात्पर्य है कि जीव का संसार नाश हो जाता है। इसलिए (जीव का संसार नाश कर अपने में आसक्ति कराने के लिए) ही श्रीकृष्ण का उद्यम है। श्रीकृष्ण में नटवत् रूपान्तर (मनुष्य रूप) स्वीकार कर तीन प्रकार के अपने भक्तों का प्रपञ्च नाश कर उद्धार किया है, यह निश्चय है।।१८½।।

व्याख्या – आचार्यश्री ने उपरोक्त कारिकाओं में दो शङ्क.ाओं का निवारण किया है।

शङ्क.ा १ – दशम स्कन्ध में हरि ने भक्तों के प्रपञ्च का नाश किया है, यह स्पष्ट देखने में नहीं आता है।

शङ्क.ा २ – अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र व्यापक होने से सब में विराजमान् हैं, तो भीतर ही स्थित स्वरूप से, भक्तों के प्रपञ्च का नाश कर सकते थे, तो फिर प्रकट होने की क्या आवश्यकता थी ? प्रपञ्च का नाश करना तो भीतर का ही कार्य है अतः दुष्ट भूपतियों के नाश करने के लिये ही प्रभु का प्राकट्य हुवा है यों मानना ही सुसङ्ग.त (योग्य) है और नृपतियों के नाशरूप प्रलय को ही 'निरोध' मानना चाहिये।

इन दोनों शङ्काओं का दृष्टान्त देकर निवारण करते हैं।

अग्नि सर्वव्यापक है अतः काष्ठ में भी स्थित है किन्तु वह अग्नि काष्ठादि को जला नहीं सकती है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव प्रबल है, अथवा लीला में जो कार्य जिस प्रकार करना है तथा जिस स्वरूप से करना है और जब करना है, वह कार्य उस प्रकार, उस स्वरूप से तथा उस समय किया जाता है। अतः अग्नि काष्ठ में होते भी काष्ठ को नहीं जलाती है समय आने पर बाहर प्रकट होकर उस स्वरूप से काष्ठ में प्रवेश कर काष्ठ के काष्ठरूप को नष्ट कर उसको अग्निरूपं प्रदान करती है, वैसे ही लीलात्मक जगत् में वस्तु के स्वभावानुसार प्रभु, सर्वव्यापक होते हुए भी, उस स्वरूप से भक्त के प्रपञ्च का नाश नहीं करते हैं किन्तु प्रकट होकर उस (प्रकट) स्वरूप से सत् (जड–देहादि) और चित् (जीव) में आनन्द प्रकट कर भक्त को अलौकिक सच्चिदानन्द स्वरूप प्रदान करते हैं। जिससे भक्त का लौकिक प्रपञ्च नाश होकर भगवदासक्ति रूप फल मिल जाता है।

साधन से साध्य की प्राप्ति होती है। यहाँ भगवान् का शक्तियों के साथ प्रपञ्च में खेलना साधन (कारण) रूप निरोध है। भक्तों का भगवान में आसक्ति रूप निरोध "व्यापार" है और भक्तों के लिये प्रपञ्च का अभाव रूप 'निरोध' फल है। यह त्रिविध निरोध भक्तजनों को ही सिद्ध हुआ है न कि राजाओं को। अतः इस प्रकार का त्रिविध (तीन तरह का) 'निरोध' ही दशम स्कन्ध का अर्थ है।

श्री देवकीजी के गृह में चतुर्भुज स्वरूप से प्रकट होकर फिर बाल रूप से दर्शन देने लगे। इस का रहस्य भी कारिका में 'नटवत्' शब्द देकर बताते हैं कि जैसे नट कितने ही वेश बदलता है तो भी उसके मूल स्वरूप में थोड़ा सा भी विकार या भेद (फर्क) नहीं होता है, नट कोई भी वेश धारण करे तो भी नट का स्वरूप सब वेशो में वही रहता है, नट में उस समय भी वही सामर्थ्य मौजूद रहती है परन्तु नट खेल के कारण वेश के अनुकूल ही उस लीला का कार्य उस प्रकार करके दिखाता है, वैसे ही प्रभु भी त्रिविध भक्तों के उद्धारार्थ नटवत् रूप धारण करते हैं, जैसी भक्त की, भावना होती है, प्रभु भी तदनुसार (उसी तरह का) रूप स्वीकार करते हैं। किन्तु उन रूपों के

धारण करने से प्रभु स्वरूप में नटवत् कोई विकार का भेद (फर्क) नहीं होता है। यहाँ प्रभु की भक्ताधीनता लीला है।

प्रकरण ज्ञान –

कारिका – **पञ्च प्रकरणान्यत्र चतुर्भिर्जन्म सत्पतेः।।१६।।**

अष्टाविंशतिभिः पूर्वं तामसत्वाद्व्रजोद्धृतिः।

तथैव राजसानां च यादवानां विशेषतः।।२०।।

सात्त्विकानेकविंशत्या निःप्रपञ्चाँश्चकार ह।

भगवानेव नान्योऽत्र तदर्थं षड्भगाभिधाः।।२१।।

शब्दार्थ :– आचार्य श्री ने पूर्व कारिकाओं में स्कन्धार्थ का निर्णय किया है अब इस (दशम) स्कन्ध के प्रकरण विभाग बताते हैं।

दशम स्कन्ध के पाँच प्रकरण हैं :–

(१) प्रकरण, जन्म प्रमाण है जिनमें भगवान् के जन्म का वर्णन हुआ है। उसके ४ अध्याय हैं।

(२) प्रकरण, राजस प्रकरण है, जिसमें प्रथम तामस व्रज के उद्धार का वर्णन है,ख उसके २८ अध्याय हैं।

(३) प्रकरण, राजस प्रकरण है, जिसमें राजस भक्तों का तथा विशेष प्रकार से यादवों का वर्णन है, उसके भी २८ अध्याय हैं।

(४) प्रकरण, सात्विक प्रकरण है, जिसमें सात्विक भक्तों की कथा है, उसके २१ अध्याय हैं।

(५) प्रकरण, गुण प्रकरण है, जिसमें भगवान् के षड्गुणों की की हुई लीला का वर्णन है, उसके ६ अध्याय हैं। इस प्रकरण में भगवान् का ही गुण रूप से वर्णन है न कि दूसरे किसी का वर्णन है।।२१।।

व्याख्या – श्री आचार्य चरणों ने 'चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च' कारिका में तो प्रकरण विभाग का केवल इङ्गि.त (संकेत) ही किया है, उस प्रकरण विभाग को स्पष्ट समझाने की कृपा इन कारिकाओं में की है।

यहाँ यह समझना आवश्यक (जरूरी) है कि आचार्यश्री ने प्रकरण विभाग में जो अध्यायों की नियमित संख्या दी है, उसका भावार्थ क्या है ?

(१) जन्म प्रकरण में ४ अध्याय इसलिये हैं कि भगवान चतुर्मूर्ति स्वरूप (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध व्यूह स्वरूपों) से प्रकटे हैं। आप पूर्ण स्वरूप है, आपको सर्ग के प्रकार से (भूभारहरण आदि) कार्य करने पड़ते हैं अतः आप अपने साथ अपने सर्व परिकर (परिवार) को भी उन कार्यों को कराने के लिये ले आये थे। प्रत्येक अध्याय में एक एक व्यूह स्वरूप से आप प्रकटे हैं। ४ व्यूह हैं अतः प्राकट्य के ४ अध्याय हैं।

(२) तामस प्रकरण में प्रमाण, प्रमेय साधन और फल के कारण ४ अवान्तर प्रकरण हैं। प्रत्येक (हर एक) अवान्तर प्रकरण में भगवान ने ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, इन छः धर्म स्वरूपों से तथा अपने धर्मी स्वरूप से लीला की है। इसलिये इनमें प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल के ७–७ अध्याय हैं जिससे चारों के मिलकर २८ अध्याय होते हैं। अतः तामस प्रकरण के २८ अध्याय हैं।

(३) राजस प्रकरण में, भी तामस के समान २८ अध्याय हैं। उसमें भी प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल के ४ अवान्तर प्रकरण हैं। प्रत्येक ७ अध्याय का है।

(४) सात्विक प्रकरण में २१ अध्याय हैं, कारण कि उसमें प्रमेय, साधन और फल के होने से अवान्तर प्रकरण तीन हैं। सात्विकों को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कारण कि सात्विक जीव शुद्धान्तःकरण वाले होने से श्रद्धालु तथा संशय रहित होते हैं जिससे उनको प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

(५) गुण प्रकरण में – ६ अध्याय इसीलिये हैं कि भगवान् ने इस प्रकरण में अपने ऐश्वर्यादि (६) छः धर्म स्वरूपों से लीला की है अर्थात् एक एक अध्याय में एक एक गुण द्वारा लीला की है।

पाठक समझ गये होंगे कि प्रत्येक प्रकरण में इसी भांति अध्यायों का विभाग क्यों किया है।

सात्विक राजस और तामस तीन प्रकार के भक्तों का लीला द्वारा जिसने प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक भगवदासक्ति रूप निरोध किया है, यह परात्पर भगवान् ही है। इसलिये पांचवें प्रकरण में भगवान् के षड्गुणों की स्वरूपात्मकता (षड्गुण भी भगवान् के ही

स्वरूप हैं) यह दिखाई गई है। २१ कारिका में 'अन्य' (दूसरा) शब्द से यह कहा है कि यहाँ माया शबल ईश्वर, वा निर्धर्मक आदि स्वरूप नहीं है किन्तु शुद्ध, परात्पर, निर्गुण (लौकिक तथा प्रकृति के गुणों से रहित) श्रीकृष्ण ही लीला कर्त्ता है। अन्यथा (दूसरी तरह मायिक आदि) समझना भ्रान्तों की भ्रान्ति मात्र है।।२१।।

प्रकरण विभाग से भी दशम स्कन्ध का अर्थ 'निरोध' ही निश्चित होता है। इसलिये दशम का अर्थ 'निरोध लीला' है। इसमें किञ्चन्मात्र (थोड़ासा) भी संशय नहीं करना चाहिये।

कारिका – **चतुर्मूर्तेर्जन्मतोऽत्र तथाध्याया निरूपिताः।**
तत्तत्प्रकरणे तेषामुपयोगस्तु वक्ष्यते।।२२।।
हेतूद्यमस्वीकरण–कापट्यैः प्रथमो महान्।
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च वासुदेवस्तथापरः।।२३।।
हेतुश्च त्रिविधो ह्यत्र गुणा भक्ताहितप्रदा।
कंसादेःकालतोऽज्ञानात् त्रिधा दुःखं तु तद्गतम्।।२४।।

शब्दार्थ – इस जन्म प्रकरण में चतुर्मूर्ति भगवान् के प्राकट्य के कारण ४ अध्याय हैं। किस स्वरूप से कौनसी लीला की है वह उस प्रकरण में कहा जायेगा।।२२।।

हेतु (कारण) उद्यम (प्रयत्न) स्वीकरण (दूसरा स्वरूप लेना) और कापट्य (छिपकर छल से कार्य करना) के कारण प्रथम प्रकरण (जन्म प्रकरण) महान् (बड़ा) है इसमें प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, वासुदेव और सङ्क.र्षण रूप से लीलाओं का वर्णन है।।२३।।

तीन गुणों के कारण दुःख भी तीन प्रकार के होते हैं। ये तीन गुण भक्तों को तीन प्रकार के दुःख देने वाले हैं। भक्तों को कंसादि से, काल से तथा अज्ञान के कारण दुःख होने से, तीन प्रकार के दुःख हुए थे। ये दुःख ही भगवान् के प्रकट होने में कारण हैं।।२४।।

व्याख्या – जन्म प्रकरण के अध्यायों का अर्थ समझाते हुए, आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि पांचों प्रकरणों में जन्म प्रकरण उत्तम है क्योंकि इसमें परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र

स्वयं निरोध तथा विविध प्रकार की लीलाओं के करने के लिये चतुर्मूर्ति[1] स्वरूप से प्रकट हुए है, इसलिये जन्म प्रकरण चार अध्यायों का है।

"प्रकरण" का अर्थ 'अङ्गी' (शरीर) है और अध्यायों का अर्थ 'अङ्ग' (भाग) है। अङ्गी जन्म प्रकरण के ४ अध्याय, ४ अङ्ग हैं। प्रथम अध्याय में हेतु, द्वितीय अध्याय में उद्यम, तीसरे में रूपान्तर ग्रहण (दूसरा रूप–ग्रहण) करना, चौथे अध्याय में माया का कार्य कापट्य (छिपा कर कार्य करना) का वर्णन है। इसके सिवाय प्रथम अध्याय में वासुदेव, द्वितीय में सङ्कर्षण, तृतीय में प्रद्युम्न और चतुर्थ में अनिरुद्ध रूप की लीलाओं का समावेश है।

प्रथम अध्याय में भगवान् से प्रादुर्भाव का कारण भक्तों का दुःख बताया गया है। भक्तों को गुणों द्वारा जो त्रिविध दुःख प्राप्त हुवा उसके निवारण (मिटाने) की शक्ति सिवाय भगवान् के और किसी भी दूसरे में नहीं है। प्रथमाध्याय में पृथ्वी, देवकीजी, यादव आदि भक्तों के दुःखों का वर्णन हुआ है।

कारिका – **भूमिर्माता तथा चान्ये दुःखभाजो हरिप्रियाः।**
यथायोग्यं दुःखमेषामत्रैवेति निरूप्यते।।२५।।
त्रयं भगवता शक्यं दूरीकर्तुमितीर्यते।
प्रश्नोऽप्यत्राधिकः प्रोक्तः स्कन्धद्वितयवर्तन।।२६।।
अनुवादः स्तुतिः प्रश्ने भक्तस्वज्ञापकावुभौ।
अन्यथा ह्यतिगुप्तार्थ श्रीशुको वर्णयेत् कथम्।।२७।।
अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृस्णगं विनिवार्यते।
प्राणनत्वं कथायाश्च दयासिद्ध्यै शुकस्य हि।।२८।।
एवं प्रश्नो द्वादशभिः समतो गुणदोषगः।।२८½।।

शब्दार्थ – पृथ्वी, माता देवकी और दूसरो भक्तों के यथा योग्य (जैसा जैसा जिसको) दुःख था उसका वर्णन यहां ही निरूपण किया गया है।।२५।।

[1] पूर्णावतार में केवल भक्तो के निरोध के वास्ते ही प्राकट्य नही है किन्तु अन्य कार्य भी (भू–भार हरन आदि कार्य भी) करने है। अत उनके लिये, स्वरूपात्मक (अपने ही स्वरूप के रूप) वासुदेव आदि चतुर्व्यूह रूपो को भी साथ मे प्रकट किया है। इसीलिये भगवान् को 'चतुर्मूर्ति' कहा है।

तीन प्रकार के भक्तों का तीनों दुःख भगवान् के सिवाय अन्य कोई मिटाने में समर्थ नहीं है।

दशम और एकादश स्कन्ध दोनों स्कन्धों को ध्यान में लाकर एक प्रश्न अधिक कहा गया है। अनुवाद और स्तुति ये दो ही परीक्षित का भक्त होना सिद्ध करते हैं। यदि परीक्षित भक्त नहीं होता तो श्रीशुकदेवजी अतिगुप्त अर्थ का वर्णन कैसे करते।

वह वर्णन श्रीकृष्ण के स्वरूप के अज्ञान तथा अन्यथा ज्ञान (दूसरी तरह का झूठा ज्ञान) का निवारण करता है। कथा ही प्राण देने वाली है यह श्रीशुकदेव के दयालुत्व की सिद्धि के लिये कहा है। अतः गुण तथा दोषों की समानता दिखाने के लिये १२ (द्वादश) श्लोकों से प्रश्न किये हैं।।२८½।।

व्याख्या – भगवान् के प्रकट होने का कारण भक्तों का दुःख है, भक्तों को दुःखी देखकर भक्तों के दुःखों को न सह सकने वाले भक्तवत्सल भगवान् भक्तों के दुःखों को मिटाने के लिए शीघ्र ही प्रकट होते हैं। इसलिए जन्म प्रकरण के चार अध्यायों में से प्रथम[1] अध्याय में भगवान् के प्रकट होने का कारण जो भक्त दुःख हैं उसका वर्णन किया गया है। जब से कंस ने नारदजी के मुख से यह सुना कि व्रज में नन्द आदि गोप तथा उनकी स्त्रियां तथा यादव सब देवता है, तब से कंस ने यादव और नन्दादिकों को कष्ट देना प्रारम्भ किया।

भूमि को कंस आदि से दुःख हुआ था, माता देवकी को आकाशवाणी सुनने से दुःख उत्पन्न हो गया था और अन्य भक्तों (यादव नन्द आदि) को भगवान् के प्रकट होने के अज्ञान से दुःख था। यदि यादव और नन्दादि को भगवान् प्रकट होंगे, ऐसा ज्ञान होता तो वे दुःखी नहीं होते क्योंकि वे समझते कि ये दुःख ही भगवान् के शीघ्र प्राकट्य के कारण हैं किन्तु वैसा ज्ञान न होने से वे दुःखी थे। इन त्रिविध भक्तों को जो त्रिविध दुःख है वह भगवान् ही मिटा सकते हैं। अतः ये दुःख भी निरोध के अङ्ग. हैं।

तीन प्रकार के भक्तों का दुःख भगवान् ने कैसे मिटाया, उसका प्रकार आचार्य ने निबन्ध में स्पष्ट रीति से समझाये हैं, जैसे कि –

[1] आचार्य श्री निबन्ध मे लिखते है कि प्रथम अध्याय में चार प्रकरण हैं – (१) प्रश्न प्रकरण, (२) भूमि प्रकरण, (३) मातृ प्रकरण और (४) अन्य प्रकरण।

१. कंसादि–वध से भूमि का कष्ट मिटाया।

२. भगवान् ने प्रकट होकर माता देवकीजी का दुःख मिटाया। भगवान् मेरे हैं, इस सम्बन्ध के ज्ञान से देवकीजी का दुःख नाश हुआ।

३. वचनामृत द्वारा यादव तथा अन्य भक्तों के दुःख दूर किये।

:: कारिका समाप्त ::

अतिशय स्नेह के कारण प्रथम देवकीजी के दुःख का नाश किया। व्रजस्थ भक्तों के आधिदैविक दुःख की निवृत्ति मूलस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र ने अन्यत्र (दूसरी जगह) की है। दशम स्कन्ध का प्रारम्भ नवम् तथा दशम् स्कन्ध के विषय को लक्ष्य में रखकर किया है।

परीक्षित दशम स्कन्ध के प्रारम्भ के १½ श्लोक में नवम् स्कन्ध का सूक्ष्म अनुवाद और भगवान् के चरित्र को स्तुति कर, श्री शुकदेवजी को अपना भक्तपन बताता है। इसलिए कि श्री शुकदेवजी भक्त समझकर अति गुप्त विषय भी बतावें। परीक्षित ने यह भी बताया है कि मुझे श्रीकृष्ण के स्वरूप का ज्ञान है, अतः मेरा जीवन प्राण अन्न जल नहीं है किन्तु श्रीकृष्ण कथामृत ही है। इसी भांति परीक्षित अपने को आर्त–भक्त बताकर श्री शुकदेवजी की दया सम्पादन (प्राप्त) करना चाहता है तथा भगवत्कथा सुनने का मैं अधिकारी हूँ, यह भी बताता है।

श्री शुकदेवजी ने प्रश्न द्वारा परीक्षित को अधिकारी समझ दयार्द्र (दया से गीले) हृदयवाले हों, परीक्षित की उत्कट (तेज) आकांक्षा (अभिलाषा) को पूर्ण करने के लिए श्रीमद्भागवत सुनायी है।

जैसे भगवान् में गुण उत्कट हैं, वैसे ही लोक में छः दोष भी उत्कट हैं। दोनों की समता के कारण ही प्रश्न के द्वादश (१२) श्लोक हैं।

* * * * *

प्रथम अध्याय

प्रश्न प्रकरण – नवम स्कन्ध में भक्तों के चरित्रों का वर्णन करके भक्ति का प्रतिपादन (समर्थन) किया गया है जिससे राजा परीक्षित को श्रीकृष्ण भगवान् के चरित्र श्रवण करने की उत्कण्ठा हुई। अतः पूर्व स्कन्ध नवम में कही हुई कथा का सार 1½ श्लोक से वर्णन करते हैं।

राजोवास – **कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः।**
राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम्।।1।।
यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम।।

श्लोकार्थ – राजा परीक्षित कहने लगा – हे मुनियों में परमश्रेष्ठ! आपने चन्द्र और सूर्य के वंश का विस्तार से वर्णन किया एवम् उन वंशों में पैदा हुए राजाओं के परम अद्भुत चरित्र भी कहे और स्वभाव से धर्मात्मा यदुराजा का सम्पूर्ण चरित्र कहा।।1½।।

श्री सुबोधिनी – भक्तत्वादेव तत्रत्यानां वंशयोर्विस्तार उक्तः। अभ्यर्हितत्वात्सोमस्य पूर्वनिपातः। वंशविस्तारप्रश्नभ्रम वारयति–विस्तार इति। अन्यतमकथननिवारणायोभयग्रहणम्। रात्रिन्दिव सर्वेषां सर्वान्धकारनिवारकत्वाद्वशविस्तारकथन युक्तमिति पूर्वोक्ताभिप्रायं च वदन् स्वस्य श्रोतृत्वं च समर्थयति– उभयवंश्यानां राज्ञां चरित्रमपि कथितमिति। उत्पत्त्यैव भक्ताः। चरित्रमपि तेषामन्येषां भक्तिजनकमित्यम्बरीषादेश्चरित्रस्य तथात्वात्पृथगनुवादः। अत्र षष्ठी जननसम्बन्ध– प्रतिपादिका। चकारात्तत्र भगवतोऽपि चरित्रं प्रतिपादितमित्युक्तम् विशेषतोऽभिप्रायेण कथने श्रवणे च हेतुः परमाद्भुतमिति। परमेण भगवता, परमया भक्त्या वा।।1।। यदोः पितुरादेशोल्लङ्घ– नादधमपरत्वेन कथनायुक्तत्वमाशङ्क्य जराया भगवद्भजनप्रतिबन्धकत्वान्मुख्यपितुः सेवार्थं गौणपितुरा– ज्ञोल्लङ्घनं युक्तमित्याह–यदोश्चेति। धर्मशीलस्येति पृथगनुवादे हेतुः। जरया च धर्मनाशः। शीलपदेन पितुर्धर्माज्ञानमुक्तम्। पुत्रवयसा तन्मातृसम्बन्धस्यात्यन्तमयुक्तत्वात्। अतो भगवदवतारात्पूर्वमेव पूरोर्वंशो निवर्त्तितः। अन्यथा तैः सह भगवत्सम्बन्धोऽपि न युक्तः स्यात्।

अनुवाद – चन्द्र तथा सूर्य वंश के राजा भक्त थे। इसी कारण से उनके चरित्रों का वर्णन विस्तार से किया है। नवम स्कन्ध में सूर्यवंश का वर्णन पहले और चन्द्रवंश

का पीछे किया है। यहा वैसा न कहकर 'सोम' शब्द पहले और 'सूर्य' शब्द पीछे दिया है इसका कारण यह है कि यहाँ चन्द्रवंशीय श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र का प्रधान रूप से वर्णन कराना है और वह सर्व से विशेष पूजनीय है। उसके श्रवण की ही परीक्षित को उत्कट विशेष अभिलाषा थी। मैं उनके चरित्रों का पुनः विस्तार कराऊँगा। इस प्रकार के प्रश्न के भ्रम का निवारण 'विस्तार' शब्द देकर किया है। जैसा कि आपने चन्द्र तथा सूर्य दोनों के वंश का वर्णन विस्तारपूर्वक कर दिया है अतः पुनः उसके वर्णन के विस्तार की आवश्यकता नहीं है। आपने जो दोनों वंशों का विस्तार से वर्णन किया है, वह योग्य ही है। जैसे सूर्य दिन के अन्धकार का नाश करता है तथा चन्द्र रात्रि के अन्धकार का नाशक है। ये दोनों मिलकर सम्पूर्ण अन्धकार को मिटा देते है वैसे ही दोनों के चरित्र सब प्रकार के मनुष्यों के सकल अज्ञान अर्थात् अन्धकार को मिटाकर भक्ति का प्रकाश करेंगे तथा राजा परीक्षित ने यों कहकर अपने में श्रोता होने की योग्यता भी बता दी है। वे राजा उत्पत्ति से ही भक्त थे अर्थात् स्वाभाविक, सहज भक्तिमान् थे। केवल स्वयं भक्त नहीं थे, किन्तु उनके चरित्रों से अन्यों मे भी भक्ति उत्पन्न होती है। राजा अम्बरीष आदि के चरित्र वैसे होने के कारण पृथक कहे गये हैं। श्लोक में 'च' शब्द इसलिए दिया है कि नवम स्कन्ध मे केवल चन्द्र और सूर्य वश का वर्णन ही नहीं किया है किन्तु भगवान् का चरित्र भी कहा है। जब कहा भगवान् के चरित्र भी कहे हैं तो फिर अब उस विषय पर प्रश्न क्यों ? इसके लिए कहते हैं कि 'परमाद्भुतम्' भगवान् के चरित्रों के श्रवण से उन चरित्रों मे जो अद्भुतता प्रकट होती है उससे हृदय मे भगवदानन्द की स्फूर्ति होती है तथा उसके श्रवण से वह भक्ति उत्पन्न होती है जिससे परब्रह्म का स्वरूप एवम् लीला आदि समझ में आकर आनन्द मिलता है।।१।।

जिसने पिता की आज्ञा नहीं मानी उस यदु को अधर्मी कहना चाहिए था, वह न कह उसको परीक्षित ने 'धर्मशील' कैसे कहा ? इस शङ्का का निवारण करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि यदु पिता की आज्ञा न मानने से अधर्मी नहीं हुआ है किन्तु उसने अपने धर्मात्मापने को दृढ़ सिद्ध कर बताया है जैसा कि यदु को यह ज्ञान था कि मुख्य पिता भगवान् है, यह पिता केवल देह सम्बन्धी है तथा इस जन्म के पिता होने से

गौण है। युवावस्था देने से एक तो मुख्य पिता की सेवा, बुढ़ापे के कारण छूट जायेगी। और मेरे मुख्य धर्म का नाश होगा तथा मेरी युवावस्था से मेरी माता से सम्भोग होगा वह पाप है। अतः यदु ने युवावस्था न देकर धर्म की रक्षा की। परीक्षित ने 'शील' पद देकर यह कहा है कि यदु ने स्वभाव से समझ लिया कि मेरे पिताजी को इस समय धर्म का अज्ञान हो गया है अर्थात् वे धर्म को भूल गये हैं इसलिए मुझसे युवावस्था माग रहे हैं।

जिस पुत्र 'पुरु' ने अपनी युवावस्था पिता को देकर अधर्म किया इसलिए भगवान् ने अपने प्राकट्य होने से पूर्व उसके वंश का इसीलिये नाश कर दिया कि उससे मेरा सम्बन्ध न हो क्योंकि उससे मेरा सम्बन्ध होना योग्य नहीं है।

भीष्म से सम्बन्ध इसीलिए अयोग्य नहीं है कि वह वसु का अवतार और भक्त हैं। भीष्म में केवल पुरुवंश का बीज होने से दोष है। इसलिये उसको (भीष्म को) आगे तिमिङ्गि.ल (अपने जातीय बान्धवों को निगलने वाला मत्स्य) कहेंगे। अतः यदु स्वभाव से ही धर्मरूप है, इसलिए उसके वंश का सम्पूर्ण वर्णन करना सर्वथा योग्य है। जो मनन करते रहते है वे 'मुनि' हैं। मुनि होकर जिन्होंने ज्ञान भी प्राप्त कर लिया है वे 'मुनिसत्' (मुनियों में उत्तम) हैं और 'मुनिसत्' होकर जिन्होने भक्ति प्राप्त कर अपने को भगवद्भक्त बना लिया है वे 'मुनिसत्तम' हैं। श्री शुकदेवजी मननशील, ज्ञानी एवम् भक्त थे। इसलिये परीक्षित ने श्री शुकदेवजी को 'मुनिसत्तम' कहा है।

इस प्रकार पूर्व स्कन्ध का १ श्लोक में आशय कह कर अब निम्न १½ श्लोक से राजा परीक्षित भगवान् के पराक्रम तथा चरित्र पूछते हैं।

तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः।।२।।

अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः।

कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात्।।३।।

श्लोकार्थ – यदुवंश में अंश से प्रकट हुए विष्णु के पराक्रमों को हमें सुनाओ। भूतमात्र (सकल जगत) का पालनकर्त्ता विश्व की आत्मा भगवान् ने यदु के वंश में अवतार लेकर जो चरित्र किये वे विस्तार से कहिये।

श्री सुबोधिनी – त्वात् सम्बन्धोऽपि। दोषस्तु तत्कृत एव। अग्रे च तेषां तिमिङ्गि.लत्वं वक्ष्यति। अतो यदुः स्वभावत एव धर्मरूपः। अत एव तद्वंशस्य च नितरां कथनमुक्तम्। मननशीला मुनयः तत्रापि प्राप्तज्ञानाः सन्तः। तादृशा अपि भक्ता अतिशयिताः। अनुवादप्रश्नयोर्मध्ये मुनिसत्तमेतिसम्बोधन-मुभयहेतुत्वार्थम्। एवमनूद्य, भगवतो वीर्याणि चरित्राणि च पृच्छति सार्द्धेन – तत्रांशेनेति। तत्रैव वंशे। विष्णोर्व्यापकस्य। सर्वत्रोद्गमने प्रयोजनाभावात्, प्रपञ्चविलयप्रसङ्गाच्च तत्रैव वंशे देवकीगृहदेशे मायोद्गमेन प्रकटितपरमानन्दस्य तावति देशे तेन प्रकारेण मायां दूरीकृतवानिति अंश एव स भवति। द्वितीयस्कन्धविवरणे चैतत् समर्थितम्, 'अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लस' दित्यत्र शास्त्रार्थापरिज्ञाना-दंशभगवत्पदाभ्यां लोको भ्राम्यति। अंशावतारप्रसिद्धया वा प्रश्ने तथोक्तम्। प्रद्युम्नांशेनेति केचित्, वंशसम्बन्धस्तस्यैवेति। अवतरणं वैकुण्ठादत्रागमनम्। तच्च तत्त्वद्वारापि भवतीति तन्निवारणार्थं साक्षात्तत्कथनाय विष्णोरित्युक्तम्। माहात्म्यज्ञानार्थं वीर्याणां प्रश्नः। अचिन्त्यैश्वर्यबोधकानि चरित्राणि वीर्याणि। शंस कथय। सूक्तसाधारण्येनानुशासनरूपेण कथयेत्यर्थः। न इति विशेषतः स्वस्य तदाकाङ्क्षित्वं निरूपितम्।।२।। स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वाच्चरित्रमात्रमेव पृच्छन् मत्स्याद्यवतारेष्वप्ययमेव भगवानवतीर्ण इति, तस्य च वीर्याणि चरित्रं चोक्तमिति व्यर्थः प्रश्न इति शङ्कां निवारयति–अवतीर्येति।

यदोर्वंशे भगवानवतीर्य यानि कृतवांस्तानि सर्वाण्येव कथयेतिसम्बन्धः। वीर्याधिक्या-स्तित्वकथनाय बहुकालावस्थानं सूचयति–वंश इति। तच्चरित्रं सर्वमेव धर्मात्मकमपीति वक्तुं यदुसम्बन्धः। असमासस्तु ततोऽप्याधिक्यसूचकः।

व्यसनावेशतया अप्रयोजककरणं वारयति–भगवानिति। अवतारप्रयोजनं सामान्यतः स्वज्ञातमाह भूतभावन इति। भूतानि भावयत्यनुभावयतीति। भगवानेव संसारे स्थितो न बहद्यते। अन्ये तु बहद्यन्त इति निर्द्धारितत्वाद्भगवद्भावेनान्येऽपि चेद्भावितास्ते कृतार्था भवन्तीति भगवदवतारः। एवमवतीर्य यानि कृतवान्, इच्छयापि तत्रत्यानां मुक्तिदानसामर्थ्ये विद्यमानेऽपि यत्कार्याणि कृतवाँस्तदग्रिमप्रयोजनार्थमेवेत्यवसीयते। अत एव व्यासावतारः। ज्ञातानि तान्युपयुज्यन्त इति। एतज्ज्ञापयति विश्वात्मेति। भगवानेव स्वतन्त्रतया यदि हितं न कुर्यात्तदान्योन्याश्रयः प्रसज्येत। स्वतःकरणे विश्वात्मत्वं हेतुः। तानि सर्वाण्येव, पूर्ववन्नो वद। यद्यपि 'जातो गतः पितृगृहा' दित्यत्र, द्वितीयस्कन्धादिषु च चरित्रमुक्तं, तथापि विस्तरेण कथयेत्याह–विस्तरादिति।।३।। एवं भगवद्वीर्याणां चरित्रस्य च प्रश्नमुक्त्वा चरित्रस्य भगवतश्च माहात्म्यमाह त्रिभिः। भगवतो माहात्म्य द्विविधम्। अदृष्टदृष्टभेदेन। तत्र प्रथमं चरित्रमाहात्म्यमाह–निवृत्तेति।

अनुवाद – श्लोक में 'विष्णु' (सर्व व्यापक परमात्मा) के पराक्रम को पूछते हुए 'अंश' कहा जिससे लोकों को यह भ्रम हो जाता है कि कृष्ण पूर्णावतार नहीं है किन्तु अंशावतार है। अतः आचार्यश्री इस भ्रम के निवारण के लिए 'अंश' शब्द देने का आशय

बताते हैं कि सर्वव्यापक भगवान् जिस स्थान (देवकी के गृह–कारागृह) में प्रकट हुए उस स्थान में माया को दूर कर आपने अपना प्रकाश किया, इस आशय से 'अंश' शब्द दिया है, यदि सर्वव्यापक परमात्मा सर्वत्र माया को हटा देते तो जगत् का विलय (नाश) हो जाता जिससे लीला हो नहीं सकती थी एवम् सब जगह से माया को हटाने का कोई प्रयोजन भी नहीं था। अतः जितनी जगह से माया हटाने की आवश्यकता थी उतनी जगह से माया हटाकर वहाँ प्रकट हुए। यही कारण 'अश' पद देने का है, शेषजी तो स्वय सर्व व्यापक रूप से प्रकट हुए हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण द्वितीय स्कन्ध में 'अदीनलीलाहसित' श्लोक में कर दिया है अथवा 'अंशावतार' प्रसिद्ध है इसलिए परीक्षित ने प्रश्न में यों कह दिया है। कितनेक 'अंश' शब्द से यह आशय प्रकट करते हैं कि प्रद्युम्न अश से भगवान् प्रकट हुए हैं कारण कि यदुवंश से सम्बन्ध प्रद्युम्न अशं का ही है। श्लोक में कहे हुए 'अवतीर्णस्य' शब्द का भाव बताते है कि वैकुण्ठ से पृथ्वी पर पधारना अवतार है। वह तत्त्वों के द्वारा भी हो सकता है। इस शंका को दूर करने के लिए 'विष्णोः' पद देकर यह बता दिया है कि तत्त्वों द्वारा पधारना नहीं हुआ है किन्तु साक्षात् सर्वव्यापी विष्णु स्वयं पधारे हैं। परीक्षित ने वीर्यो का प्रश्न इसलिए किया है कि भगवान् के चरित्र अचिन्त्य ऐश्वर्य प्रकट करने से वे पराक्रम वाले हैं जिनसे भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होता है। उन्हें सुन्दर ढग से वा उपदेश रूप से कहो। यहाँ परीक्षित ने 'न' हमको कहा कहकर यह बताया है कि दूसरों को उन चरित्रों के सुनने की कितनी आकाक्षा है वह तो पता नहीं किन्तु मुझे तो विशेष रूप से सुनने की अभिलाषा है। अतः मुझे सुनाओ यद्यपि 'न' बहुवचन से सब सुनें वैसी उदारता भी बताई है।

स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूप होने से भगवान् के केवल चरित्रों का ही जब प्रश्न किया है तो वह प्रश्न व्यर्थ है, कारण कि मत्स्य आदि अवतारों में भी ये ही भगवान् प्रकट हुए हैं। इस शङ्का का निवारण करने के लिए कहते है कि, मै अन्य अवतारो के चरित्र नहीं पूछ रहा हूँ, मुझे तो केवल वे चरित्र सुनाओ जिन चरित्रों को भगवान् ने यदु के वंश में प्रकट होकर किये हैं। वे सब चरित्र कहो। 'वंश' शब्द कहकर यह बताया है कि वहां के किये हुए चरित्रो में पराक्रम की अधिकता है एवम् प्रभु उस वंश में विशेष समय तक

भी बिराजे हैं। यदु के वंश में होने से भगवान् के सब चरित्र धर्म रूप हैं। श्लोक में 'यदोः वंशेः कहा है, समास करते तो 'यदुवंशेः कहते। समास न करने का कारण यह है कि यदु के चरित्र धर्म रूप थे किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र उनसे भी विशेष धर्म रूप हैं।

'भगवान्' शब्द कहने का आशय बताते हैं कि सात प्रकार के जो व्यसन[1] हैं वे सात ही यहाँ इस स्वरूप में निरर्थक हैं अर्थात् वे अपना प्रभाव इस पर नहीं चला सकते हैं। कारण कि भगवान् में ऐश्वर्यादि छः गुण हैं और सातवें आप धर्मी रूप है इसलिए सातो व्यसनो का भगवान् में अभाव है।

राजा परीक्षित ने अपनी बुद्धि से साधारणतः जो भगवान् के अवतार का प्रयोजन जाना वह 'भूतभावनः' पद से कहा है। इस पद का अर्थ है कि भगवान् भूतों को आनन्द देने वाले हैं अर्थात् भगवान् का अवतार जीवों के कल्याण के लिये हैं। भगवान ही संसार में रहते हुए बन्धन में नहीं आते हैं दूसरे तो बन्धन में फंस जाते हैं। यदि वे भी भगवान् के चरित्रों को श्रवण कर उनके प्रेम से पूर्ण हो जावे तो संसार बन्धन से छूट जाते हैं, इसलिए भगवान् का अवतार है।

इस प्रकार अवतार लेकर आप इच्छा से भी वहाँ के निवासियो को मुक्तिदान कर सकते थे तो भी जो चरित्र आपने किये हैं वे आगे के प्रयोजन के लिए किये है, अर्थात् जब भगवान् प्रकट विराजमान् न हो तो उन चरित्रों को सुनकर संसार–बंधन से छूट जावे इसके लिए किये है। इसी कारण से व्यासजी[2] का अवतार है। भगवान् के चरित्र लाभदायक तब होते हैं जब उनको पूर्ण रूप से जाना जाता है। पूर्ण रूप से उनका ज्ञान क्या है ? उसको समझाने के लिए कहते हैं कि भगवान् 'विश्वात्मा' हैं। अतः प्रभु जीवों का हित स्वयं स्वतन्त्र रूप से करते हैं। इसलिए अनेक प्रकार की लीलाएँ कर जीवों की अविद्या आदि नाश करते हैं, जिससे उन जीवों में स्वतः बिना साधन भगवान् मे प्रेम होने से उनका (जीवों का) हित हो जाता है। यदि भगवान् इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से स्वतः जीवों का कल्याण न करें तो 'अन्योऽन्याश्रय दोष हो जावे। जैसे कि यदि

---

[1] क्षुधा, प्यास, रोग, कर्म, जूआ, मदिरापान और स्त्री सग।

[2] व्यासजी ने उन लीलाओ को समाधि मे अनुभव कर भागवत् मे कहा है जिनको सुनकर जीव बन्धन से छूटते है।

भगवान् जीव का हित न करें तो जीव को अपने हित के लिये भक्ति का आश्रय लेना पडे (साधन करना पड़े) और भगवान् को भक्त का आश्रय करना पड़े जिससे भगवान् का विश्वात्मा होना एवम् स्वातन्त्र्य अन्योन्याश्रय दोषयुक्त हो जायगा। अतः भगवान् में यह दोष न हो, इसलिये स्वयं स्वतन्त्र होने से जीवों का हितकर अपने विश्वात्मापन तथा स्वातन्त्र्य का परिचय देते हैं। यह ज्ञान जब जीव का दृढ़ होवे तब भगवल्लीला लाभदायक होती है।

यद्यपि 'जातो गतः पितृगृहात्' जन्म लेकर पिता के घर से चले गये और द्वितीय स्कन्ध में भी चरित्र कहे हैं तो भी अब यहाँ से सब पूर्व की तरह कहो किन्तु विस्तार से कहो।

इस प्रकार भगवान् के वीर्य और चरित्रों का प्रश्न कहकर अब भगवान् का और उनके चरित्रों का महात्म्य तीन श्लोकों से कहते हैं। माहात्म्य दो प्रकार का है। पहला अदृष्ट (जो देखने में नहीं आता है) दूसरा दृष्ट (जो देखने में आता है)

प्रथम 'निवृत्ततर्षै' श्लोक से चरित्र का माहात्म्य कहते हैं –

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।

क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्।।४।।

श्लोकार्थ – वह भगवान् की कथा जो तृष्णा रहित पुरुषों से गायी जाती है तथा जो संसार रोग की औषध रूप है और कानों तथा मन को आनन्द देने वाली है वैसी भगवान् के गुणानुवादरूप कथा से अपने जीव की हत्या करने वाले व्यक्तियों के सिवाय और कौन पुरुष है जो विरक्त (उदासीन) होगा ? अन्य कोई नहीं।

कारिका – **स्वरूपतः फलतश्चापि महापुरुषयोगतः।**

विषयोत्तमतश्चापि चरित्रं परमं मतम्।।१।।

मुक्तस्य कार्यमेतद्धि मुमुक्षोर्भवनाशकम्।

अनिन्द्यविषयश्चायं विषयेऽस्मिन् यतेद्ध्रुवम्।।

आत्मघाती कर्मजड़ो निन्दितार्थरतः सदा।

पशुस्त्रीव्यतिरिक्तश्चेत्, विरक्तो न ततः पृथक्।।३।।

कारिकार्थ – स्वरूप से, फल से, महापुरुष के सम्बन्ध से और विषय की उत्तमता से श्री भगवान् के चरित्र उत्कृष्ट (उत्तम) हैं।।१।।

मुमुक्ष, मोक्ष की इच्छा वाले का भव संसार नाश करना मुक्त जीवनमुक्त का कर्त्तव्य है। यह चरित्र अनिन्द्य, जिनकी निन्दा न हो सके बल्कि प्रशंसा की जाय वैसे हें इसलिए विरक्त को गुणों के गान में निश्चयपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।।२।।

जो कोई भी यदि भगवान् के चरित्रों के गुणगान से विरक्त (उदासीन) हो तो समझना चाहिए कि वह आत्मघाती, कर्मजड़, निन्दितार्थरत, पशु या स्त्रीजीव, इन पांच में से कोई भी एक है। वैसे जीवों के सिवाय अन्य भगवान् के गुणगान से प्रेम करते ही हैं।।३।।

व्याख्या – भगवान् के चरित्र 'निवर्ततर्षैरुपगीयमानात्'[1] इस विशेषण से बताया है कि ये चरित्र फल रूप होने के कारण ब्रह्मानन्द से भी अधिक रसरूप हैं अतः स्वरूप से उत्तम हैं।

'भवौषधात्'[2] इस विशेषण से यह बताया है कि भगवान् के चरित्र अविद्या से उत्पन्न होने वाले अहन्ता, ममता आदि संसार रूप दोष की औषध है जिसका उत्तम फल इन दोषों की निवृत्ति है।

'महापुरुषयोगतः' इस विशेषण से यह बताया है कि इन चरित्रों से महापुरुष (भगवान्) से सम्बन्ध होता है। अतः चरित्र का भी महत्त्व है। कारिका में 'चरित्र का विशेषण 'परमं' दिया है उससे तो स्पष्ट चरित्र की विशेष उत्तमता बताई है। क्योंकि इन चरित्रों के श्रवण से व गुणगान से, पर पुरुषोत्तम स्वरूप का पूर्ण ज्ञान (अनुभव) हो जाता है।।१।।

द्वितीय कारिका में 'अनुवाद' का उत्कर्ष (बडाई) बनाते हैं। यह अनुवाद करना अर्थात् भगवान् के चरित्र स्वयं सुनकर व पढ़कर पुनः दूसरों को सुनाना एवं समझना जीवन्मुक्त अर्थात् जिसकी अहन्ता ममता नाश होकर भगवान् में आसक्ति हो गई है। उन

[1] ये चरित्र फल रूप होने से इनका गान भी वे कर सकते है जिनके तृष्णादि दोष अन्त करण से नष्ट हो गये है अर्थात् निर्दोष अन्त करण वाले ही इन चरित्रो का गान करते है।

[2] 'ससार की औषधि' है। इन चरित्रो के गान से प्रतिबन्धक (रूकावट करने वाले) दोष नाश हो जाते हैं। अत. गुणगान को औषध कहा है। दोष नाश करने वाले फल से भी उत्तम है।

पुरुषों का कर्त्तव्य है। इसलिए भागवत् के श्लोक में 'निवृत्ततर्षैः' कहा है। ऐसा कहने से यह शङ्का हो सकती है कि तब जितना संसार नाश नहीं हुआ हो क्या वे नहीं सुन सकते हैं ? इस शङ्का के निवारण के लिए दूसरा विशेषण 'मुमुक्षोः' दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि ससार नाश न भी हुआ तो परन्तु मन में यह चाहना हो कि मै इस संसार से छूट जाऊँ मेरा मोक्ष हो, वैसी चाहना वाले भी श्रवण कर सकते हैं। कारण कि ये चरित्र संसार नाशक औषधि है। अतः संसार नाश के लिये उनको भी अवश्य सुनने चाहिये। चरित्रों का उत्कर्ष इसलिए है कि चरित्र का 'विषय' भगवान् में आसक्ति कराने में 'अनिन्द्य'[1] है।

स्वरूप और फल से उत्तम तथा अनिन्द्य विषय होने से संसार से विरक्त अर्थात् भगवान् के रस में आसक्त पुरुषों को इसमें भगवान् के चरित्रों के गुण गान में) निश्चय–प्रयत्न[2] करना चाहिए।

तृतीय कारिका में कहते हैं कि प्रभु के चरित्रो का गुणगान अन्तःकरण के दोषों का नाश करने वाला है। जो मनुष्य उस गुणगान से प्रेम नहीं करता है अर्थात् उदासीन रहता है वह 'आत्मघाती' (अपनी हत्या करने वाला) है।

गुणानुवाद, मोक्ष का साधन है, जो इस साधन रूप गुणानुवाद से दूर रहता है वह 'कर्मजड' (कर्तव्य का पालन नहीं करने वाल) है।

चरित्र, कर्ण तथा मन को आनन्द देने वाला अनिन्द्य विषय है। जो इस अनिन्द्य विषय में आसक्ति नहीं करता है वह 'निन्दितार्थ रत' है।

'आत्मघाती', 'कर्मजड़' और 'निन्दितार्थ रत' अर्थात निन्द्य लौकिक विषयों का स्नेही इन तीनों के सिवाय 'स्त्री–जीव' और 'पशु–जीव' गुणानुवाद से विरक्त रहते हैं। आत्मघाती, कर्मजड और निन्दितार्थरत ये तीन ही पशुघ्न[3] (जीव–हत्यारे) है। स्त्री–जीव[4]

---

[1] दूसरे विषय ससार म आसक्ति कराने वाले है। अत वे निन्द्य है यह विषय भगवान् मे आसक्ति कराने से अनिन्द्य है।

[2] कारिका मे 'यतेत्' की तरह 'पतेत्' पद भी है, जहॉ पतेत् हो उसका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए कि जो पुरुष भगवान् के चरित्रो के गुणगान से प्रेम नही करता है वह अवश्य ही गिरेगा अर्थात् उसकी बुरी गति होगी।

[3] पशु शब्द का अर्थ जीव है और 'घ्न' का अर्थ हत्यारा है। अर्थात् जीव की हत्या करने वाला।

[4] 'स्त्री–जीव' से स्त्री देह धारण करने वाला जीव नही समझना चाहिये। किन्तु जो जीव प्रकृति के वश मे है वह पुरुष देह मे हो तो भी वह स्त्रीजीव है। यदि स्त्री देहधारी जीव ही माना जाय तो स्त्रियॉ भक्त होनी ही नही चाहिए

प्रकृति के अधीन होने से और पशु–जीव[1] विवेक–शून्य होने के कारण गुणानुवाद से विरक्त रहते हैं। इसलिए इन दोनों को पशुधन नहीं कहा है।

श्रीसुबोधिनी – प्रथमतः फलरूप चरित्रमेतदित्याह– निवृत्ता तर्षा तृड् येषाम्। तृष्णा अन्तःकरणदोषोपलक्षिका। निवृत्ता सर्व एव दोषा येषामिति। नह्यल्पदोषवतापि भगवद्गुणागातु शक्या। उप समीपे गीयमानादगमनप्रयासो निवारित। श्रवणानन्दत्वेन च विषयानुभवेऽपि प्रयासो निवारितः। बहुवचनेनावृत्त्यानिवार्यदोषनिवृत्तिरपि सूचिता। अनिवार्यास्त्वग्रे फलिष्यन्ति। स्वतन्त्रफलत्वादेव सर्वत्रागत्य गानम्। अनेन रसाभिनिवेशो ज्ञापित। एव वक्तुः फलरूपत्व, श्रोतुर्दोषनिवारकत्व चोक्तम्। चरित्रस्य फलसाधकत्वमाह–भवौषधादिति। भवस्य ससारस्यौषधं निवर्त्तकम्। अत उपकारस्मरणाद्गानम्। श्रोतुरस्तु कर्मज्ञानभक्तिभ्य इदं परमं साधन मोक्षस्य। औषध हि रोगनिवृत्तौ न पुरुषव्यापारमपेक्षतेऽन्तःप्रवेशनातिरिक्तम्। अत्र चान्तःप्रवेशः श्रवणद्वारा। अतः फलत्वसाधनत्वे एव यद्यपि वक्तव्ये, तथापि श्रवणस्य प्रविष्टग्राहकमनसश्च यदि सुखकर न भवेत्तदा पूर्वोक्त न सम्भवतीति जघन्यत्वेपि विषयत्वेन पश्चान्निरुपयति– श्रोत्रमनोभिरामादिति। श्रोत्रं मनश्चाभितो रमयतीति। प्रविष्टमेव तथा करोतीति ज्ञातव्यम्। अनिवर्त्यदोष च प्रवेश। उपेत्यप्राप्तिदोषो निवारित। तृष्णाभावेन धनार्पणदोष। गानेन शब्दमाधुर्यं। जन्मान्तरदुःखस्य बहुधानुभूतत्वात्तन्निवारकमौषधमत्यादरेण सेव्यम्। कर्णाकटुत्व परिणाममनोहरत्व चोक्तम्। परलोकमभिव्याप्य रमयतीत्यभिशब्दार्थ। एव स्वरूपगुणकार्यैश्चरित्रस्योत्कृष्टत्वमुक्त्वा सम्बन्धतोऽपि तस्योत्कर्षमाह उत्तमश्लोकेति। उत्तमै श्लोक्यन्ते ये गुणाः, उत्तमश्लोकस्य वा माहात्म्यख्यापका– स्तेषामनुत्कर्षज्ञापका गुणाः। अनुवादस्तेषामप्युत्कर्षहेतुरिति समभिव्याहारादवगम्यते। पुमानिति। ये पश्ववतारास्त्र्यवतारास्तेऽत्र नाधिकारिणः। या अपि स्त्रिय श्रवणाद्यासक्तास्ता अपि निमित्तवशादेव स्त्रिय, स्वभावत पुरुषा एव। अत पुमान् कोपि न विरज्येत। इत उत्कृष्टरसस्य वैराग्यज– नकस्याभावात्। निवर्तमानाना दैत्यत्वमिति वक्तु दैत्यलक्षणपुरःसरमाह–विना पशुघ्नादिति। ये हि पशुघातिनस्ते दैत्या। दित्युपाख्याने दैत्याना दयाभाव स्वभावत प्रतिपादितः। ते च नित्य भगवत्प्रत्यनीका एवेति न तद्दोषः परिहार्यः। दैत्यानां च मुक्तिर्दोषस्यात्यन्तनिवृत्तिख्यापनाय। आविष्टानामपि मुक्त्यभावे पुनरन्यत्राविश्य तथा कुर्युरित्याधारभूतास्तु मुच्यन्त एव। अपुनरावृत्ति तम एव तेषा मुक्तिः। विरक्तं दृष्ट्वाऽन्यो विरक्तो मा भवत्वित्येतदर्थमुक्तम्।।४।।

किन्तु स्त्रिया भी भक्त होती है। अत यहाँ स्त्री जीव कहने का तात्पर्य है कि जो जीव प्रकृति के आधीन है वह 'स्त्री–जीव' है।

पशु जीव कहने का भी तात्पर्य यह है कि जिस जीव को विवेक ही न हो। मनुष्य देह मे होते हुए भी जो विवेक (ज्ञान) हीन है वह 'पशु' है।

अनुवाद – भगवान् के चरित्र फलरूप हैं उनका वर्णन करते हैं, जिनकी तृष्णा (अन्तःकरण के सर्व प्रकार के दोष) पूर्णरूप से नाश हो गई है, जिनमें थोडे भी दोष नहीं रहे हैं, वैसे ही निर्दोष व्यक्ति भगवान् के गुणों का गान उनके समीप में कर पाते हैं – समीप कहने से यह बताया है कि वैसे भक्तों को अन्यत्र जाने का परिश्रम भी नहीं करना पडता है, गुणगान से एवं श्रवण से ही आनन्द की प्राप्ति हो जाती है, इसलिये जैसे अन्य विषयों से आनन्द की प्राप्ति तब होती है जब विषय के अनुभव के लिए प्रयास व परिश्रम किया जाय, यहाँ वह प्रयास भी नहीं करना पड़ता है। श्लोक के 'निवृत्ततर्षै' बहुवचन कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् के गुणों को गाते हैं एवं बार बार गाते ही रहते हैं जिससे जो दोष नाश होने योग्य हैं वे नाश हो जाते हैं। शेष जो दोष आगे फल रूप होने वाले हैं, वे नाश नहीं होते हैं। भगवान् के चरित्र स्वतन्त्र फलरूप हैं, इसलिए भगवद्भक्त जहाँ भी कीर्त्तन होता है वहां आकर स्वयं गुणगान, बिना संकोच के करते हैं क्योंकि आकर, सब साथ में मिल कर जब गुणगान करते हैं तब रस का अन्तःकरण में (चारों तरफ) प्राकट्य होता है जिससे गुणगान करने वाले रसमहोदधि में मग्न हो जाते हैं। इससे यह बात समझाई है कि गुणगान करने वालों के लिए यह गुणगान फलरूप होता है और जो श्रवण करते हैं उनके दोषों का नाश करने वाला होता है।

चरित्र फल को सिद्ध कर देता है। इसको बताने के लिए 'भवौषधात्' विशेषण दिया है जिसका अर्थ है कि संसार को नाश करने वाली औषधि है। यह गुणगान हमारा उपकार करने वाला है। ऐसा समझ गुणों का गान करते हैं। श्रोता (श्रवण करने वाले) के लिए तो कर्म, ज्ञान और भक्ति से भी विशेष, मोक्ष के वास्ते उत्तम साधन है। औषधि, रोग के नाश के लिए केवल उसको उदर में भेजने का ही मनुष्य से प्रयत्न चाहती है, शेष रोग का नाश तो स्वयं औषधि स्वतः कर देती है। लौकिक औषधि मुख द्वारा भीतर उदर में जाती है किन्तु यह औषधि कर्ण सुनते ही अन्तःकरण में पहुँचती है। यद्यपि यहाँ केवल फलत्व (फलपन) और साधकत्व (साधकपन) कहने चाहिए। विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी 'श्रोत्रमनोभिरामात्' कान और मन को आनन्द देने वाला है यह क्यों कहा ? इसका भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि

यह औषधि जघन्य (अन्तिम फल रूप होने से कठिन है) इसलिए जिन कानों द्वारा यह भीतर प्रवेश करेगी उनको तथा जिन मन में प्रवेश करेगी उनको यदि अरुचिकारक (दुःख देने वाली) होगी तो कोई भी इसको लेना पसन्द नहीं करेगा। इसलिए कहा है कि यद्यपि यह विषय जघन्य है तो भी कान और मन को आनन्द देने वाला है और आनन्द के साथ–साथ रोग का भी नाश करने वाली औषधि है और इस औषधि का श्रवण द्वारा मन में प्रवेश होते ही सर्व प्रकार के दोष जो कहीं भी हों, वे अन्तःकरण के सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं। जिनके मन में इस औषधि का प्रवेश नहीं होता है उनके दोष आसुरी हैं जिससे औषधि का भीतर प्रवेश नहीं होता है।

'उपगीयमानात्' इस विशेषण में 'उप' शब्द देकर यह समझाया है कि श्रवण करने के लिए न कोई परिश्रम करना है और न कहीं जाना है अर्थात् किसी प्रकार से भी श्रवण अप्राप्य नहीं है क्योंकि वहाँ समीप में भी श्रवण हो रहा है। श्रवण के लिए धन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि गुणगान करने वाले वक्ता वे शुकदेवजी हैं, जिनका तृष्णा नष्ट हो गई है। 'गीयमान्' गान करना कहा है – इसका तात्पर्य यह है कि गान से शब्दों की मधुरता प्राप्त होती है। जन्म और मरण के समय जो दुःख होता है उसका जीव ने बहुत बार अनुभव किया है अतः उसको दूर करने के लिये यह औषधि, जो उस दुःख को निवारण करने वाली है, उसे विशेष आदर के साथ लेना चाहिये क्योंकि यह कर्णों को कड़वी नहीं लगती है और परिणाम में लाभ देने वाली है। श्लोक में 'अभिरामात्' पद में 'अभि' देने का तात्पर्य यह है कि परलोक में भी आनन्द कराने वाली है। वहाँ परलोक में भी भगवान् में आसक्ति होती है।

इस प्रकार, रूप, गुण तथा कर्म से भगवान् के चरित्रों की उत्कृष्टता कह कर अब सम्बन्ध से भी उसकी उत्तमता कहते हैं, 'उत्तमश्लोकगुणानुवादात्' इस पद से उसको समझाते हैं! वे गुण कैसे है ? उन गुणों का गान उत्तम पुरुष करते हैं। भगवान् के माहात्म्य को बताने वाले हैं जिनका वर्णन भागवतादि शास्त्रों में हैं। जिनके दोष पूर्णतया नाश हो गये हैं वैसे भक्तों का उत्कर्ष (बड़ाई) भी भगवान् के कारण है। भगवान् महान् हैं, यह भगवान् का उत्कर्ष करने वाले भी उनके गुण ही हैं। गुणों की

उत्तमता अनुवाद करने से होती है। इस प्रकार सबों का उत्कर्ष 'उत्तम श्लोक, गुण और अनुवाद' इन तीनों को एकत्र करने से सिद्ध होता है।

श्लोक में 'पुमान्' शब्द आया है उसके देने का जो रहस्य है वह बताते हैं कि जिन पुरुषों का पशु अवतार है या स्त्री अवतार है वे पुरुष आकार, में होते हुए भी श्रवण के अधिकारी नहीं है। जो स्त्रियाँ श्रवण में आसक्त है। चाहे वे किसी निमित्त से स्त्री देह में प्राप्त हुई हो वह वास्तव में वे पुरुष जीव ही हैं। अतः कोई भी पुरुष इस श्रवण से उदासीन नहीं होगा। कारण कि श्रवण के सिवाय कोई भी साधन ऐसा नहीं है जो इस प्रकार के उत्कृष्ट रस तथा वैराग्य को सिद्ध कर सके।

आत्मघाती आदि पॉचों प्रकार के दैत्यपन को बताने के लिये दैत्यो का लक्षण कह कर उनका दैत्यपन सिद्ध करते हैं। जैसे कि – 'पशुघ्न' उसे कहते हैं जो अपनी जिह्वा के रस के लिये पशुओं की हत्या करते हैं। वैसे मनुष्य, मनुष्य आकृति मे होते हुए भी दैत्य हैं। दैत्य, स्वभाव से, दयाहीन होते हैं इस बात को दिति के चरित्र में सिद्ध किया गया है। दैत्य, सदैव, भगवान् के शत्रु होते हैं, इसी कारण से उनके दोषों की निवृत्ति नहीं होती है। दैत्यों की मुक्ति तब होती है जब उनके दोष पूर्णतः (पूरी तरह) नष्ट हो जाते हैं।

जो सहज (जन्म से ही स्वाभाविक) असुर हैं जैसे कालनेमि आदि। कंस (उस सहज असुर काल नेमी का आधार रूप) आवेश स्थान है। इसलिये आवेशी कंस की तो मुक्ति (आवेश नष्ट होने से दोष भी नाश हो जाते हैं) हो सकती है किन्तु सहज दैत्य की नहीं हो सकती क्यांकि उसकी मुक्ति तो अन्धःतम है जहाँ से वह लौट कर नहीं आते हैं। यदि अनिष्टों की इस प्रकार की मुक्ति नहीं की जाय तो वे सहज दैत्य लौटकर पुनः उनमें प्रवेशकर वैसे ही उपद्रव करने लग जायेंगे। अतः आविष्टों की मुक्ति की जाती है। इन पांच प्रकार के पुरुषों को श्रवण से विमुख देखकर दूसरे भी वैसे न हो जाय, इसलिए इस श्लोक में उनके स्वरूपो का वर्णन किया है।।४।।

एवं चरित्र स्तुत्वा पुण्यद्वारमात्रतां वारयितुं भगवन्तं स्तौति – पितामहा इन्ति द्वाभ्यां, श्रुतदृष्टभेदेन।

इस प्रकार भगवान् के चरित्रों की स्तुति की। अब वे चरित्र स्वतः पुरुषार्थ सिद्ध करने वाले हैं, न कि पुण्यों के कारण पुरुषार्थ सिद्ध करने वाले है। इस बात को समझाने के लिए निम्न दो श्लोकों में भगवान् की स्तुति करते हैं। दो श्लोकों में इसलिये करते हैं कि दृष्ट (देखे हुए) और श्रुत (सुने हुए) भेद से दो प्रकार है।

पितामहा मे समरेऽमरञ्जयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः।

दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वाऽतरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः।।५।।

श्लोकार्थ – युद्ध में देवताओं को भी जीतने वाले, भीष्म जी आदि अतिरथि रूप तिमिङ्गि.लों (अपनी जातिवाले मत्स्यों को निगलने वालों) के होने से दुस्तर कौरवों के सैन्य रूप सागर को मेरे दादे (पाण्डव) भगवत् रूप नाव के आश्रय से बछड़े के खुर के समान खड्डा मानकर तर गये।

श्री सुबोधिनी – मे पितामहाः पाण्डवाः समरे दुरत्ययं कौरवसैन्यसागर वत्सपद कृत्वा यत्प्लवा अतरन्निति सम्बन्धः। एक एव पौत्र उर्वरित। पञ्चापि पितामहाः, त्रयो वा। क्षेत्रजेषु क्षेत्रस्य स्वकीयत्वाभावान्न बीजिनः। यत्र पुनः क्षेत्र यथाकथञ्चित् स्वकीयं तत्फल बीजिन एव। समर इति। मरो मरण, तत्सहिते। अवश्य युद्धे मरणमिति। तथा सति कोपि न मृत इति भगवत्सन्निधिमाहात्म्यमुक्तम्। अमरञ्जया भीष्मादयः। तेषाममरञ्जय संज्ञाहेतुरिव जात इति 'सञ्ज्ञायां भृतृवृजी' त्यादिना खश्। देवानपि जयन्तीतीन्द्रपुत्रत्वादिनापि न निस्तारसम्भावना, देवदत्तशस्त्रैश्च न प्रतीकारः। न च तेषा कदाचिदपि अमरञ्जयत्व गच्छतीत्याह–देवव्रतेति। देववत् सत्यसङ्क.ल्परूपं व्रतं यस्य। अनेन भीष्मस्य स्वधर्मत्याजनसामर्थ्यमपि तेषा जातमित्युक्तम्। देवव्रतो भीष्मस्तथात्वेन प्रसिद्ध। अन्येऽपि द्रोणादयस्तथा। देवव्रताद्या ये अतिरथाः। स चेदाद्यः, तद्रूपा एवान्ये। तथाभूता अप्यतिरथा अलौकिकसर्वसामर्थ्यातिशययुक्ता। 'अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तृत' इतिवाक्यात्तद्भक्षकस्ततोऽप्यधिकः सहस्त्रांशेन। अनेन तत्समुद्रे पतितस्तत्रत्योपि न जीवति, विजातीयस्य का वार्तेत्युक्तम्। तेषां दैत्यावेशेनातिक्रूरत्वाज्ज्ञातिघाताय तथोक्तम्। ततः सम्बन्धित्वेन पितामहत्वेन वा त्यक्ष्यतीति निवृत्तम्। अविचारश्चोक्तः। गिलनेनास्थ्यादीनामिव सर्ववंशनाशकत्व च। बहिःस्थितमपि ते मारयन्ति, किं पुन स्वसेनापतितमिति समुद्रत्वम्। अत एव दुरत्ययं, साधनघातकत्वान्मकरादेः। कुरुवंशोद्भवाश्च नार्वाङ् निवर्तन्ते। सैन्यसागरमिति। चेतनसागरत्वेन स्वरूपतो नाशकत्वमुक्तम्। महानौकादिसाधनानामपि दुःखेनातिक्रमोऽतिक्रमण यस्य। यो भगवान् प्लवो येषामिति। भगवतोल्परूपेण सन्निधिमात्रेण रक्षकत्वम्, अयुद्ध्यमानत्वात्। मनःशङ्क.ानिवृत्त्यर्थ वत्सपद कृत्वेति। तुच्छकरणतरणयोर्भगवदाश्रयत्वमेव हेतु। गीताया भीष्मादिमरणज्ञानात्तुच्छकरणम्। तथापि

सम्यगाश्रयणाभावात्पाण्डवाना पिपीलिकात्त्वमेव, स्वदृष्ट्या भगवान् गृह्यत इति। भगवद्भावे कथमेवं स्यात्। तेषामवस्थापनात्तुच्छकरणम्। उभयमलौकिकं सकृदेव जातमिति। अन्ततस्त्रयाणाममारणाद्वत्सपदम्। द्विधा विदीर्णौ मुखस्थानीयोऽश्वत्थामा, वारद्वयमपकारकरणात्। प्लवमारुह्य तीर्णं तीर्णं समुद्रांशं शोषयन्तोऽन्ते किञ्चित्स्थापयित्वोत्तीर्णा इत्यर्थः। कीर्तेरपि प्राप्तत्वात्तत्कर्तृत्वम्। इदमत्यन्तमलौकिकं एवमेव पूर्वपूर्वसंसारमपि शोषयित्वा भगवत्सेवामात्रं संसारपदार्थपरिग्रहं स्थापयित्वा पारस्थितं भगवन्तं भगवदाश्रयाः प्राप्नुवन्तीत्युक्तम्।।५।।

अनुवाद – मेरे दादे, पाण्डव, भगवत् रूप नाव के आश्रय से युद्ध में दुस्तर, जिसको पार करना कठिन है ऐसे कौरवों के सैन्यरूप सागर को बछड़े के खुर के समान खड्डा बनाकर तिर गये। पाण्डवों के वंश में एक (परीक्षित) पौत्र ही बचा था। परीक्षित के दादे पांचों पाण्डव थे अथवा कुन्ती के सम्बन्ध से युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन तीन दादे थे। क्योंकि दूसरे के क्षेत्र में बीज डालने से उस बीज से उत्पन्न सन्तान, क्षेत्र के पति (मालिक) का होता है। कुन्ती का पति पाण्डु है उसमें बीज डालने वाले धर्म, वायु और इन्द्र थे किन्तु उनकी सन्तान पर इसलिए अधिकार नहीं है क्योंकि कुन्ती उनकी पत्नी (क्षेत्र) नही थी। अतः पाण्डु और कुन्ती दोनों के सम्बन्ध होने से युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन तीनों पितामह (दादे) हैं। जहां फिर क्षेत्र जैसे तैसे जिसके अधिकार में आ गया हो तो, उस समय बीज डालने से, जो सन्तान पैदा हो तो वह संतान बीज डालने वाले की होती है जैसे बुध को चन्द्रमा का पुत्र माना जाता है। यद्यपि वह बृहस्पति की स्त्री से पैदा हुआ था।

श्लोक में, युद्ध के लिये (समर) शब्द दिया है उसका भावार्थ बताते हुए (आचार्यश्री) आज्ञा करते हैं कि (मर) शब्द का अर्थ मरना है (स) देकर कहा कि जिसमें मरना अवश्य होता है उसको समर कहते हैं वैसा होने पर भी कोई (पाण्डव) नहीं मरा। कारण कि उनके साथी भगवान् थे, यह भगवान् के सान्निध्य साथ में होने का माहात्म्य कहा।

इस समर (लड़ाई) में सामने लड़ने वाले कैसे है उनको बताते हैं कि वे (कौरव) देवताओं को भी जीतने वाले थे, इस विशेषण से यह समझाया कि यद्यपि पाण्डव देवताओं के पुत्र थे और उनके पास देवों के दिये हुए शस्त्र भी थे किन्तु वे उन कौरवों को जीत नहीं सकते थे कारण कि जो देवों को जीतने वाले हैं उनको देवों के पुत्र

कैसे जीत सकेंगे ? उनका अमरञ्जयपना कभी भी नाश नहीं होता है कारण कि वह उसका व्रत सत्यसङ्क.ल्पवाला है किन्तु उसमें अपने धर्म के त्याग करने की सामर्थ्य भी है। क्योंकि जो विचार आवे उसको पूर्ण करना वह भी एक प्रकार का सत्यव्रत है अतः भीष्म देवव्रत होते हुए भी कौरवों के संसर्ग से, भगवान् की इच्छा के विरूद्ध कार्य (कौरवों के पक्ष में जाना) करने से (दैत्यव्रत) कहलाये। भीष्म देवव्रत है यह प्रसिद्ध है। दूसरे द्रोणादिक भी भीष्म के मुख्य होने से देवव्रत हुए। समस्त योद्धा अतिरथ[1] होने से अलौकिक एवं अत्यन्त सामर्थ्य वाले थे। समुद्र में एक सौ योजन लंबा (तिमि) नाम वाला मत्स्य रहता है, ऐसे को भी जो निगल जाय वह (तिमिङ्गि.ल) कहलाता है। वह जिस समय समुद्र में पड़ता है तो वहां का कोई भी मत्स्य जीवित नहीं रहता है, जब वे ही नाश हो जाते है तो दूसरी जाति वालों का नाश हो इसमें कहना ही क्या है ? उस तिमिङ्गि.ल में इतना बल दैत्य आवेश के कारण है कि वह अपनी ज्ञाति का नाशक होता है और क्रूर भी इसलिये है। इसी प्रकार ये देवव्रत (भीष्मजी) भी तिमिङ्गि.ल है क्योंकि उनमें भी दैत्यांश है जिससे वे अतिक्रूर हैं, ऐसा होने से वे अपने सम्बन्धियों अथवा पौत्रों को जीवित छोड दें वह उनके स्वभाव से विपरीत है। क्योंकि दैत्य आवेश होने से उनमें विचार या विवेक रहा ही नहीं था। जैसे तिमिङ्गि.ल समुद्र में पड़े हुए अपनी जाति वालों का भी नाश करता है तो दूसरो को कैसे छोड़ेगा ? वैसे ये भी तिमिङ्गि.ल के समान दैत्यावेशी होने से जो भी इस समर रूप समुद्र में आवे वह चाहे कौरव पक्ष का ही क्यों न हो उसको भी नष्ट कर देवे जैसे थे, तो दूसरों को नाश करने में उनको कौन सी देरी लगेगी। अतः कहा है कि यह कौरव सैन्य सागर दुस्तर है। जिस प्रकार समुद्र को पार करने के साधनों को (नौका आदि को) समुद्र के जीव मकर आदि नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार ये कुरुवंशी भी, लड़ाई में शत्रु को नाश करने के सिवाय कभी भी शान्त नहीं होता हैं। समुद्र अचेतन होने से स्वयं नौकादि साधनों को नाश नहीं कर सकता है किन्तु उसमें रहने वाले चेतन मकरादि जीव करते हैं यहाँ तो ये कौरव लोग स्वयं चेतन होने से साधनों को नाश करने में महा समर्थ हैं। ये चेतन हैं इसलिये

[1] एक ही योद्धा दशहजार सैनिको के साथ लडे वह (अतिरथ) होता है।

स्वरूप से भी नाशक हैं। इतना सब होते हुए भी जिसके रक्षक भगवान् हैं अर्थात् इस कौरव सैन्य सागर से पार उतारने वाली नौका भगवान् स्वयं हैं उस नौका को कौन नष्ट करने की सामर्थ्य रखता है ? कोई नहीं। यहां प्लव शब्द इसलिये दिया है कि भगवान् केवल उनके सन्निध्य में रहकर उनके रक्षक बने थे, आप लड़ते नही थे। ऐसे महान् सेनारूप सागर को गोवत्स के पद के समान छोटा बनाकर पार हो गये, उसमें कारण भगवदाश्रय ही है। गीता में भगवान् ने अर्जुन को कहा है कि हे अर्जुन! तूं इनको मारने के लिये केवल नाम मात्र निमित्त बन, इनको तो मैने प्रथम ही मार दिया है।

इस प्रकार भगवान् के वचनों को सुनने से पाण्डवों के लिये कौरव सैन्य- सागर गोवत्स के खुर के सदृश खड्डे के जैसा बन गया, किन्तु तो भी पाण्डवो को पूरिपूर्ण आश्रय न होने से उनको वह खड्डा भी जैसे पिपीलिकाओं (चीटिओं) को महान् देखने में आता है वैसे दुस्तर देखने में आया। कारण कि वे (मेरे दादे) भगवान् को अपनी दृष्टि से देखते थे, जिससे उन्होंने श्रीकृष्ण को अपने समान समझलिया था। यही कारण था कि उनको दृढ विश्वास न हुआ। यदि कृष्ण मे भगवद्भाव होता तो वत्स पद समान खड्डे को पार करने में सशय क्यों रहे ? तथा शस्त्र ग्रहण करने की भी कौनसी जरूरत पडी थी ? किन्तु ये सब आश्रय के अभाव से हुए हैं। यदि श्रीकृष्ण को अपने समान न समझ भगवान् समझते तो उत्तरा के समान भगवान् के शरण जाते और शस्त्र ग्रहण कर हम शस्त्रों द्वारा शत्रुओ का वध करेंगे वैसा अहंकार मेरे दादों को न होता। इतना होने पर भी कृपानिधि श्रीकृष्ण ने अपने चक्र से उनको रक्षाकर अपनापन बताया। जो भगवान् इस प्रकार रक्षा नहीं करते तो, उनकी सामर्थ्य शत्रुनाश में किसी प्रकार प्रयोजक (काम कर सकने वाली) नहीं थी, उनका (मेरे दादों का) अवश्य नाश हो जाता। उस छोटे गड्ढे में डूबना ही यहाँ नाश था। भगवान् ने पहिले भी इनकी रक्षा की थी, वह उपकार भी भूल गये और भगवान् का माहात्म्य भी भूल गये, यहीं इन मे (पाण्डवों में) क्षुद्रपन था अर्थात् चींटीपन था। युद्ध में अन्य सर्ववीर नाश हो गये शेष अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ये तीन बचे इस कारण से कौरव सैन्य सागर तुच्छ जैसी हो गई, तो भी अश्वत्थामा ने पाण्डवो पर ब्रह्मास्त्र छोड़े उनसे भी सुदर्शन चक्र

द्वारा भगवान् ने रक्षा की तथा इस कौरव सैन्य सागर को पार किया ये दोनों कार्य अलौकिक साथ में हुए हैं। मेरे तीनो दादे मरे नहीं यही कौरव सैन्य सागर का वत्सपद के समान होना है।

अश्वत्थामा अग्रभाग के समान है, उसने दो बार अपकार (बुरा कार्य) किया एक बार पाण्डवों के पुत्रों का नाश किया, दूसरी बार उत्तरा तथा पाण्डवों पर ब्रह्मास्त्र फेंक कर अपकार किया था उनका दोनों ही बार निवारण भगवान् ने किया। पाण्डव भगवद्रूप नाव का आश्रय कर इस समुद्र को तरते-तरते पार कर गये, ज्यों-ज्यों आगे बढते जाते थे त्यों-त्यों पार किये सागर को शुष्क करते (सुखाते) जाते थे। अन्त में पाण्डव कुछ शेष छोड़कर सैन्य सागर को पार कर गये और यश प्राप्त किया। यह अत्यन्त अलौकिक है। कारण कि कौरवों का नाश तो कालरूप से भगवान् ने कर ही रखा था किन्तु विजय की माला पाण्डव पहनकर यश के भागी बने यही भगवान् का अलौकिक प्रभाव तथा कृपा है।

भगवान् के आश्रित भक्त भी इसी प्रकार अपने अहन्ता ममता रूप संसार से प्राप्त धनादि पदार्थों का त्याग कर संसार शोषण करते हैं और केवल भगवत्सेवा के कार्य में आने वाली दैवी द्रव्य का ही कुछ संग्रह कर भगवत्सेवा द्वारा संसार के परलीपार स्थित भगवान् को प्राप्त करते हैं।

आभास –एवं श्रुतमाहात्म्यमुक्त्वा दृष्टमाहात्म्यमाह–द्रौण्यस्त्रेति।

उपरोक्त श्लोक में श्रुत माहात्म्य का वर्णन कर अब स्वयं देखे हुए भगवान् के माहात्म्य का वर्णन करते है –

श्लोक – **द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं. सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम्।**
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः।।६।।

श्लोकार्थ – कौरव तथा पाण्डवों की सन्तति का बीज रूप यह मेरा शरीर, जब अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जल गया था। तब शरण गई हुई मेरी माता के उदर में स्थित हो कर, जिस चक्रधारी भगवान् ने मेरी रक्षा की उनके चरित्र कहो।

श्री सुबोधिनी – सर्वथा पाण्डवाशक्तौ स्वयमपि कृतवानिति वदन् स्वस्मिन् कृपातिशयमप्याह। माहात्म्यमारणेपि पितृनाम्ना द्योतिते। द्रोणो ह्यस्त्रविद्याया मूलभूत। पितृमारणं चाप्रतीकार्यं वैरम्। तस्य च नेवर्त्यब्रह्मास्त्रेण विप्लुष्टं विशेषेण दग्धमिदं मम शरीरम्। अर्जुनस्य वैष्णवत्वाद्वशात्मक

बीजभावावशिष्टमत एव सन्तानबीजम् कुरुणामपि **मुक्तिदानाद्वंशाभावे न मुक्तिरिति** कुरुपाण्डवानां ग्रहणम्। कुरुभिः सहिताः पाण्डवाः कुरुपाण्डवाः **कौरवाः पाण्डवाश्चेतिपक्षे** 'जनपदे **लुबि'** तियोगविभागाल्लुप्। अन्तर्बीजमात्ररूपेण स्थितं **देहं दग्धैरप्यंशैरदग्धभावनयाऽन्यथाप्रतीतेः सह** जुगोपेत्यर्थः। दाहानन्तर रक्षणमशक्यम्। **दाहो धर्मरक्षार्थः। मोक्षे प्रतिबन्धाभावार्थश्च। इदमित्यविकलत्वायाङ्गुल्या निर्देशः। मदङ्ग-मिति स्वानुभवो दर्शितः। सन्तानस्य वंशस्य बीजमिति तदानीं रक्षायामिदानीं चारक्षायां हेतुः। कुरुवंशोद्भवा ये पाण्डवा इति मूलतो भक्तत्वम्।** कुक्षिंगत इति **प्रकारान्तरेणान्यतो रक्षाभावो दर्शितः। आत्तचक्र इति तत्त्वसहितं स्वस्वरूपं दर्शितवान्।** उत्तरत्र ध्यानार्थं इत्युपकार उक्तः। न तु **चक्रेण रक्षा, अस्त्रतेजोदूरीकरणं** वा। अत ए 'वास्त्रतेजः स्वगदये' त्यनेनाविरोधः। कालनिग्रहार्थं वा चक्रग्रहणम्। अत एवं भगवति सानुभावे निवृत्ते तच्चक्र **परिभ्रान्तमितीदानीमियमवस्था। मातुर्मेयो ज्ञेयः।** चकारान्ममापि। शरणं गतत्वाद्दर्शनं, कुक्षिप्रवेशोऽपि। महात्म्यस्यानुभूतत्वाद्भवदुक्ते विश्वासो भविष्यतीति भावः।।६।।

अनुवाद – जिस कार्य को पाण्डव नहीं कर सकते थे उन कार्यों को स्वयं भगवान् ने किया। यह भगवान् की मेरे ऊपर अतिशय (बहुत बड़ी) कृपा है। यह बताते हैं, पहली बात तो यह है कि अश्वत्थामा ने मुझ पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग क्यों किया? अश्वत्थामा के पिता द्रौणाचार्य को मेरे दादों ने मारा था, पिता के वैरी से बदला लेना पुत्र का कर्त्तव्य है अतः उसने मुझ पर ब्रह्मास्त्र चलाया था। इसलिये अश्वत्थामा न कहकर (द्रौणि) द्रोणाचार्य का पुत्र कहा है। (द्रौणि) कहने से इनका (द्रोणाचार्य का) मरण और महत्त्व दोनों (द्रोणाचार्य अस्त्र विद्या के अद्वितीय जानकार थे अतः सर्व योद्धाओं के शिक्षक–आचार्य थे बताये हैं। उसका (अश्वत्थामा का) ब्रह्मास्त्र कोई भी लौटा नहीं सके अथवा वह जिस पर फेंका हो उसको नाश करने में असफल न हो, वैसा था, जिससे मेरा शरीर तो जल गया किन्तु अर्जुन वैष्णव थे क्योंकि नर के अवतार थे उनके वंश का बीज रूप में (लिङ्ग. शरीर) नष्ट नहीं हुवा अतः कुरु (पाण्डवों) का सन्तान बींज मेरा वह शरीर बच गया। यद्यपि परीक्षित पाण्डवों का वंश है किन्तु कौरवों को भी पिण्डदानादि से मुक्ति दिलाने वाला परीक्षित ही है क्योंकि कौरवों के वंश में कोई नहीं बचा है इसलिये यह परीक्षित कुरु और पाण्डवों के वंश का शेष बीज कहा गया है।

देह के जल जाने के पश्चात् उसकी रक्षा करना अशक्य (मुश्किल) है। इस पर कहते हैं कि ऊपर से देह जल तो गई थी किन्तु भीतर से बीज रूप से नष्ट हुई थी

अतः जले हुवे हिस्से भी बिना जले हुए जैसे प्रतीत होते (देखने में आते) थे। ऐसे मेरे शरीर को भगवान् ने रक्षा की। भगवान् ने शरीर के जल जाने के पहिले ही ब्रह्मास्त्र को रोककर रक्षा क्यों नहीं की ? इस शङ्का के निवारण के लिये आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि (दाहो धर्मरक्षार्थः, स्थूल शरीर को जलाने जितना, ब्रह्मास्त्र का कार्य था वह धर्म रक्षार्थ, करने दिया कारण कि (ब्रह्मास्त्र) में वेद मन्त्रों से, ब्रह्मरूप देवता की स्थापना की जाती है, अत यदि भगवान् ऐसे ब्रह्मास्त्र को रोक दें तो, वेद मार्ग की रक्षा करने वाले भगवान् है अतः उनका यह धर्म नष्ट हो जाता है, इसलिये भगवान् ने इस अपने धर्म को रक्षार्थं ब्रह्मास्त्र को बीच में न रोककर स्थूल शरीर को जलने दिया जिससे मोक्ष में भी प्रतिबन्ध न हो और केवल स्थूल शरीर ही जला। यह भी भगवान् का प्रताप है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर बचाकर उसको पुनः पूर्ववत् बनाकर इसीलिये भी रक्षा की, कि कुरु पाण्डव वंश के मोक्ष में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न होवे। परीक्षित ने (इदम्) शब्द कहकर अपने शरीर का अङ्गुली से निर्देश किया है, कि यह मेरा शरीर है जिसका ब्रह्मास्त्र ने जलाया था भगवान् ने उसकी कृपया बचाया है। श्रीकृष्ण द्वारा रक्षा से शरीर में किसी प्रकार की कमी नहीं रह गई हैं। (मदङ्ग.) मेरा अङ्ग. यों कहने से यह बताया कि यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है।

भगवान् ने गर्भ में तो रक्षा की अब ब्राह्मण के शाप से आपकी रक्षा क्यों नहीं की? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि उस समय यदि रक्षा नहीं करते तो कुरु (पाण्डवों) के सन्तान का बीज नष्ट हो जाता हैं। भगवान् को इस वंश के सन्तान बीज की रक्षा करने की आवश्यकता इसीलिये थी कि कुरु भक्त थे उनके वंश में पाण्डव हुए थे वे भी भक्त थे। परम्परा से यह कुल भक्त हैं भक्तों की रक्षा करना भगवान् अपना प्रथम कर्त्तव्य समझते हैं इसीलिये रक्षा की है, अब मेरे सन्तान हो गई है, वंश चालू रहेगा अतः रक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। उस समय मेरी रक्षा का यही प्रकार था कि जो भगवान् ने मेरी माता के गर्भ में प्रकट हो, चक्र धारण कर, तेजस् तत्व सहित, अपने स्वरूप को दिखाने की कृपा की, यह कृपा इसलिये भी की है कि उस स्वरूप का पीछे ध्यान किया जा सके। उस समय न तो चक्र से रक्षा की और न उससे ब्रह्मास्त्र तेज को दूर किया था। अस्त्र के तेज को तो अपनी गदा से नष्ट किया था इसलिये

कोई विरोध नहीं है। भगवान् ने काल को रोकने के लिये कालरूप चक्र को हस्त में धारण किया था जिससे काल अपना कार्य (मारना) इस समय न कर सके। इस प्रकार भगवान् ने गदा से ब्रह्मास्त्र के तेज (शक्ति) को दूर किया और सुदर्शन चक्र को अपने हस्त में पकड कर काल की गति रोक ली, जिससे मेरी रक्षा पूर्ण रूप से हो गई। तदनन्तर उत्तरा के गर्भ में विराजमान होने की आवश्यकता न होने से आप तिरोहित हो गये।

भगवान् के तिरोहित हो जाने के अनन्तर काल चक्र सर्वत्र परिभ्रमण करने लगा है। अब मैं भी इस समय काल चक्र द्वारा बन्धा हुआ हूँ।

जो प्रभु मेरी माता के अनुभव में आये थे उन्होने मुझे भी अनुभव कराया था। मेरी माता उनके शरण में गई थी अतः उसको प्रभु ने दर्शन दिये और उसकी कुक्षि (कोख) मे प्रवेश किया।

भगवान् के माहात्म्य का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है अतः आप भगवान् के जिन चरित्रों को सुनाओगे उनमें मेरा विश्वास होगा। कारण कि आपकी उक्ति (कथन) मे भी मेरी श्रद्धा है।।६।।

आभास – एव स्वस्य भगवच्छ्रवणाधिकार बोधयित्वा पूर्वपृष्ट भगवच्चरित्र पुन प्रकारान्तरेण फलसाधकमिति वदन्ननुवदति – वीर्याणीति।

इस प्रकार राजा परीक्षित भगवान् के चरित्रों के श्रवण में अपना अधिकार बताकर, प्रथम पूछे हुए भगवच्चरित्रों को, पुनः (फिर) दूसरे प्रकार से, अर्थात् जिस समय भगवान् का प्राकट्य नहीं है, उस समय के जीवों का भी, ये चरित्र साधन रूप से उद्धारक है। जिसका निम्न श्लोक मे वर्णन करता है –

श्लोक – वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्।।७।।

श्लोकार्थ – हे विद्वन्! समग्र देहधारियो के भीतर और बाहर पुरुष रूप तथा काल रूप से जो अमृत और मृत्यु देते हैं जिनको अज्ञान से, मनुष्य समझा जाता है, उन मनुष्याकृतिधारी पुरुषोत्तम के पराक्रमों का वर्णन करो।

श्रीसुबोधिनी – केचिदिमं प्रश्न पूर्वस्माद्भिन्नमाहु– यच्चरित्र मानुषभावेन कृत सर्वजनीन, तत्पूर्व पृष्टम्। यत् पुनरवतारसम्बन्धरहितं वरुणलोके गत्वा नन्दादिविमोचनरूप वैकुण्ठप्रदर्शनादिरूप वा

तत्पुनःप्रश्नविषयमिति। तथासत्यस्य चरित्रस्यामृतत्वसम्पादकत्व वक्ष्यमाण फल भवेन्नान्यस्येति चिन्त्यम्। तस्य कृष्णस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिर्भेदेन पुरुषरूपै कालरूपैश्चामृत मृत्यु च प्रयच्छतः पुरुषोत्तमस्यैव मायामनुष्यस्य वदस्वेति सम्बन्ध। अनेन भगवतात्रावतारे रूपद्वयं प्रदर्शितं मूलरूपमवताररूप च। इदमेव मूलरूपमिति तन्माहात्म्यं वा। तस्येति रूपान्तरव्युदासाय। माहात्म्यज्ञानाय वीर्याणीति। अखिलेति प्रकारान्तरव्युदासाय। न हि केषामपि भगवद्व्यतिरेकेणान्यस्मान्मृत्युरमृत वा भवति। देहभाजामिति आत्मत्वेऽपि निमित्तवशात्तेषा तथाकरणमिति सूचितम्। पुरुषरूपाणि मत्स्यादीनि, कालरूपाणि विषया इति केचित्। भगवद्ध्यानरूपाणि पुरुषरूपाणीत्यन्ये। कालरूपाण्याब्रह्मरूपतृणस्तम्बरूपाणि। यद्यपि सर्वाण्येव रूपाणि भगवतस्तथाप्यन्तर्बहिर्भेदकृतो विशेषोऽयमित्याह—अन्तर्बहिरिति। अत कथमपि साधनैर्बहिर्मुखा मृत्युमेव प्राप्नुवन्ति अन्तर्मुखास्त्वमृतमेव। तथात्वे तस्य कि सामर्थ्यं, किमन्तर्बहिष्ट्वकृतमेव, मर्यादार्थं तथेच्छा [illegible]दृशस्य पराक्रमे ज्ञातेऽय सन्देहो निवर्त्तत इति तदवश्य श्रोतव्यम्। एतत्, गोकुल[illegible] वैकुण्ठगमने निर्णीत भविष्यति। मानुषभावे नैतत्सम्भावितमितिशङ्काव्युदासायाह मायामनुष्यस्येति। बुद्ध्यावरिका सेति पुरुषोत्तमत्वबुद्धिमावृत्य मनुष्यत्वबुद्धि करोतीति तया कृत्वा [illegible]स्येत्यर्थः। न केवल भगवद्वीर्यकीर्तनमस्मदुपकारायैव, किन्तु कीर्तनफल तवापि भविष्यतीत्यनुपदम् विद्वन्निति ज्ञानं सर्वत्र हेतु.।।७।।

अनुवाद – कितनेक इस प्रश्न को प्रथम पूछे हुए प्रश्न से पृथक (अलग) मानते हैं। वे कहते कि जो चरित्र मनुष्यरूप से किये जाते हैं वे चरित्र तो ऐसे हैं जो मनुष्यों की समझ में आ जाते हैं इस प्रकार के प्रश्न पूर्व ही पूछे गये हैं। अतः अब दूसरे प्रकार के प्रश्न पूछते हैं जिनका अवतार से सम्बन्ध नहीं है, जैसे कि वरुण लोक मे जाकर नन्दादि को छुडाना, वैकुण्ठ आदि का दिखाना ये चरित्र मनुष्यों की समझ से ऊपर है अतः इस प्रकार के प्रश्न अब पूछते हैं। इसी भॉति विश्लेषण करने (हर एक भाग को भिन्न २ कर उसके भाव बताने) से इस चरित्र का जो फल कहा जाने वाला है उसका अमृत पान सिद्ध होगा दूसरों का नहीं होगा। इस अभिप्राय पर विचार करना चाहिये।

किन्तु यहॉ तो समग्र देहधारियों को अन्दर पुरुषरूप से तथा बाहर काल रूप से विराजमान होकर अमृत और मृत्यु देने वाले उस पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चरित्रो को कहो, इस प्रकार २ श्लोक का अन्वय (आपस में पदों का सम्बन्ध) है। श्लोक में 'तस्य' पद देकर यह बताया है कि यह वही मूल रूप है, जिसका वेदों में भूमा तथा रस स्वरूप से वर्णन किया गया है। यदि वही है तो मनुष्य जैसे क्यों दिखते हैं ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'माया–मनुष्यस्य' अर्थात् वही पूर्ण रस स्वरूप है किन्तु माया

से (अज्ञान से) हम उसको मनुष्य समझते हैं। आपने अपनी इच्छा से भक्तों को दर्शन देने के लिए यह रसमयी मनुष्याकृति धारण की है। अपने (भगवान् ने अपनी माया से मनुष्यो की बुद्धि पर माया का पर्दा डाल दिया है जिससे लोग उस परम तत्त्व को मायिक वा कल्पित मनुष्याकृति समझते हैं तथा भगवान् की इच्छानुकूल प्रत्येक जीव अपने अधिकार के अनुसार उसी स्वरूप में विविध प्रकाश से दर्शन करते हैं। इससे यह समझना चाहिए कि इस अवतार में भगवान् ने मूलरूप और अवतार रूप दोनों को प्रकट किया है। इस श्लोक में यही (श्रीकृष्ण) रूप मूलरूप कहा है और उसके ही माहात्म्य का वर्णन किया गया है।

भगवान् का अनन्त माहात्म्य है इसको प्रकट करने के लिये 'वीर्याणि' बहुवचन दिया हैं।

'अखिलदेहभाजां' पद में 'अखिल' पद से सब कहे है, इसका भाव यह है कि भगवान् के सिवाय कोई भी अन्य (देवादि) किसी को मृत्यु वा अमृत फलदान करने में समर्थ नहीं हैं। दोनो ही फल सबको भगवान् ही देते हैं, भिन्न–भिन्न दाता नहीं हैं। कारण कि आप ही प्रत्येक प्राणी के देह में अन्तर (अन्तर्यामि) रूप से वा व्यापक रूप से विराजमान है। समस्त देहधारी जीव भगवान् के ही आत्मरूप (अपने रूप) हैं उन्हों को कारणवश (लीला[1] करने के लिये) अलग–अलग देह आदि दिये हैं। इसीलिए हर एक को पृथक–पृथक मृत्यु वा अमृत की प्राप्ति होती है।

---

[1] भगवान् अपने आत्मरूप जीवों को लीला के कारण मृत्यु भी देते हैं इसको स्पष्ट इस प्रकार समझना है (एकाकी न रमते स द्वितीय मैच्छत्) अकेले रमण नही हो सकता है। अत भगवान् ने दूसरे होने की इच्छा की। उस इच्छा से आप 'एकोऽह बहुस्याम्' मै जो एक हूँ वह बहुत हो जाऊ इस विचार से आप बहुत हुए– जिसका साक्षात् प्रत्यक्ष स्वरूप सृष्टि है। अग्नि से चिनगारियॉ भी भाति आपने अपने में से अश रूप जीव प्रकट किये परामिध्यानात् तु तिरोहित ततोह्यस्य बन्धविपर्ययौ' इस व्यास सूत्र के अनुसार भगवान् की इच्छा से जीवरूप मे से ऐश्वर्यादि छ गुण तिरोहित हो गये जिससे जीव का बन्ध तथा विपर्यय (उलट फेर–एकका दूसरा हो जाना) हुवा। उसका परिणाम यह हुआ कि १– ऐश्वर्य के छिप जाने से जीव अपने को पराधीन समझने लगा। २– वीर्य के छिप जाने से दु ख भोक्ता हुआ। ३–यश के छिपने से अपने को हीन समझने लगा। ४–श्री के छिप जाने से जन्मादि भोगने पडे। ५–ज्ञान छिप जाने से, देहादि मे अध्याय से अह मम बुद्धि को विपरीत बुद्धि हो गई। ६–वैराग्य छिप जाने से विषयासक्ति हुई। इस प्रकार भगवान ने जैसे स्वइच्छा से लीला कर अपने आत्मरूप जीव से षड् ऐश्वर्यादि धर्म तिरोहित किये वैसे मृत्यु आदि भी दिये। यह सर्व रमण के प्रकार (नमूने) है। इसमे सन्देह व शङ्का व्यर्थ हे।

आचार्यश्री कहते हैं कि इस पुरुष रूप और कालरूप का स्वरूप कितनेक नीचे दिये हुए प्रकार से बताते हैं –

१. भगवान् ने जो मत्स्य आदि अवतार लिये हैं, वे भगवान् के पुरुषरूप हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये विषय भगवान् के 'काल–रूप' हैं।

२. भगवान् के जिन रूपों का ध्यान किया जाता है वे भगवान् के 'पुरुष–रूप' हैं और ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त रूप भगवान् के 'काल–रूप' है। इस प्रकार अन्य मत (विचार) कहकर आप श्री कहते हैं कि सब रूप भगवान् के ही हैं तो भी अन्तर और बाहर इस प्रकार अन्य मत कहकर भी आप श्री कहते हैं कि भेद के कारण उनमे इस प्रकार (पुरुष रूप और काल रूप से) विशेषता रहती है। जैसे कि किसी प्रकार भी साधनों से जो बहिर्मुख होते है वे मृत्यु को पाते हैं तथा जो अन्तर्मुख होते हैं वे अमृत को ही प्राप्त करते हैं।

बहिर्मुख जीवो को मत्स्यादि रूप मृत्यु देते हैं अतः वे भी तब 'काल–रूप' बन जाते हैं और अन्तर्मुखों को विषय भी अमृत देते हैं, वे विषय भी पुरुष रूप होते हैं। श्लोक में 'उत' शब्द का भाव यह है कि भगवान् अन्तर्मुखों को पुरुष रूप तथा काल रूप दोनों रूपों से अमृत का ही दान करते हैं उनकी अन्तर्मुखों के लिये काल रूप भी पुरुष रूप हो जाते हैं यही भेद है। इससे मृत्यु और अमृत के तारतम्य (भेद) को समझना चाहिये। यों करने का भगवान् में किस प्रकार की अपनी सामर्थ्य है। क्या इसी भांति भगवान् श्रीकृष्ण खेल खेलते हैं ? वह आपकी स्वाभाविक सामर्थ्य या अन्तर्भाव का बहिर्भाव का फल है ? अथवा मर्यादा की रक्षा के लिये वैसी भगवान् की इच्छा है। इन सब सन्देहों का निवारण तब होना जब हम उस श्रीकृष्ण के पराक्रमों का ज्ञान प्राप्त करेंगे। वह ज्ञान तब प्राप्त होगा जब उनके चरित्रों का श्रवण किया जायगा। अतः भगवान् के चरित्र अवश्य श्रवण करने चाहिये। इस सन्देह का निर्णय गोकुलवासियों के वैकुण्ठ गमन[1] प्रसङ्ग. सुनने पर हो जायगा।

---

1. इस प्रसग में भगवान् ने बहिर्मुखो को भी अमृत दान दिया है जिससे दूसरा पक्ष की सिद्धान्त (निर्णय) होगा।

मनुष्य रूप से वैसा होना असम्भव है। इस शङ्का का निवारण करने के लिये भगवान् (माया मनुष्य) कहा है, अर्थात् वह पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु है हम अज्ञान से उनको मनुष्य समझते हैं, अतः वह मनुष्य न होने से किन्तु कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं प्रभु होने के कारण सर्व करण मे सामर्थ्यवान् हैं जिससे उसके किये हुए कार्य में असम्भवता समझनी हमारी अज्ञानता है।

हे विद्वन्! इस सम्बोधन से यह बताया कि आप जानकार ज्ञानी हो भगवान् के वीर्यों का कीर्तन जो आप करोगे उससे हमारा तो उपकार होगा ही किन्तु साथ में कीर्तन करने का फल आपका भी प्राप्त होगा और 'विद्वन्' विशेषण का यह भी आशय है कि आपको भगवान् के सर्व चरित्रों का ज्ञान है।।७।।

आभास – एवं भगवच्चरित्राणि पृष्ट्वा सन्दिग्धान् युक्तिविरुद्धानर्थान् पृच्छति– रोहिण्या इति पञ्चभिः

राजा परीक्षित इस प्रकार भगवान् के चरित्रों को पूछकर अब ५ श्लोकों से जिन चरित्रो का वर्णन युक्ति के विरूद्ध देखने में आता है तथा जिसमें संशय होता है वे पूछता है।

श्लोक – रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः सङ्कर्षणस्त्वया।
देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना।।८।।

श्लोकार्थ – आपने रोहिणी के पुत्र सङ्कर्षण (राम को देवकी का पुत्र कहा किन्तु उनका, देवकी के गर्भ से सम्बन्ध, दूसरी देह के बिना कैसे हो सकता है।।८।।

श्रीसुबोधिनी: – 'बल गदं सारणं चे'त्यत्र रोहिण्यास्तनयः प्रथमत उक्तः। 'वसुदेवस्तु देवक्यामि' त्यत्र 'कीर्तिमन्तमि' तिगणनायां सप्तमोऽहीश्वरो गणितः, 'सङ्कर्षणमहीश्वर' मिति। यद्यपि तत्र भगवत्प्रभाव एव कारणं, तथापि लौकिकप्रकारविषयः प्रश्नः। देहान्तर विनेति तस्मिन्नेव जन्मनि कथमुभयत्रोत्पत्ति?।।८।।

अनुवाद – नवम–स्कन्ध के २४ वे अध्याय के 'बलं गद' इस ४६ वें श्लोक में बलरामजी को रोहिणी का पुत्र कहा है और वहीं पर 'वसुदेवस्तु देवक्यां............ सङ्कर्षणमजीजनत्' ५६ वें श्लोक में सङ्कर्षण (बलराम) को वसुदेव ने देवकी से उत्पन्न किया ऐसा कहा है। यह परस्पर विरुद्ध वर्णन है। लोक में दूसरी देह के सिवाय दो स्थान पर

प्रकट होना बन नहीं सकता है। इसका राजा ने प्रश्न किया है अन्यथा इश्वर के प्रभाव से सर्व कुछ हो सकता है। अत. यों होने में भी भगवान् का प्रभाव ही कारण है।।८।।

आभास – भगवतो मथुरापरित्यागे को हेतुरिति पृच्छति–कस्मादिति।

भगवान् का मथुरा छोडने का क्या कारण था ?

श्लोक – **कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितुर्गेहात् व्रजं गतः।**
क्व वासं ज्ञातिभिः साकं कृतवान् सात्वतां पतिः।।६।।

श्लोकार्थ – मुकन्द भगवान् अपने पिता (वसुदेवजी) के घर से व्रज मे किस लिए पधारे ? शुद्ध सतोगुण वालो के पति उन भगवान ने वहां बान्धवो के साथ कहाँ निवास किया ? ।।६।।

श्रीसुबोधिनी – कालादिभयनिवारकस्य शुद्धब्रह्मणो [illegible] व्रजगमने को हेतुरिति मुकुन्दपदेन सूचितम्, सर्वेभ्यो मोक्षदाता मुकुन्द । बृहद्वनवृन्दावनादिषु मध्ये [illegible] ज्ञातित्वेन परिकल्प्य ज्ञातिभि सह क्व वास कृतवान् ?। अथवा असञ्ज्ञातिभि सम्यग्ज्ञातिभावरहित [illegible] साक सहभाव कृतवान्। भगवतस्त्ववतार सतामेव सरक्षार्थ.। यत. स सात्वता शुद्धसत्त्वे प्रतिष्ठित [illegible] ।६।।

अनुवाद – जो भगवान् अन्यों के (कालादि के) भय को दूर करने वाले हैं और सब को मुक्ति देने वाले हैं वे अभय स्वरूप स्वयं, वैसा कौन सा कारण था जिसके लिये पिता का घर त्यागकर व्रज में गये ? महावन तथा वृन्दावन मे नन्दादिक गोपो को अपना कुटुम्बी बनाकर उनके साथ कहाँ निवास किया ? अथवा जिनका अन्य वर्ण के कारण कोई सम्बन्ध[1] नहीं, पहचान नहीं उनके साथ सहकार कर व्रज मे कहाँ और कैसे निवास करने लगे ? जब आप शुद्ध सतोगुण में स्थित सत्पुरुषों के ही पति है और आपका अवतार भी वैसे सत्पुरुषों के लिये ही है तब आप भगवद्भाव रहित तथा अन्य ज्ञाति वाले, तामसो के वहाँ जाकर कैसे निवास करने लगे ?।।६।।

श्रीसुबोधिनी – प्रश्नान्तरम् – व्रजे वसन् किमिति।

श्रीकृष्ण ने व्रज मे रहते हुए क्या किया ?

---

[1] परीक्षित ने जो इस प्रकार कहा कि नन्द के साथ कोई सम्बन्ध नही, यह इसलिये कहा कि उसने अभी तक दशमस्कन्धकी कथा नही सुनी थी, इसलिये अज्ञान के कारण यह प्रश्न किया भगवान का तो नन्दादि के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा वसुदेव के साथ, इसीलिये श्रीकृष्ण ने कहा है कि (वय गोवृत्तयोनिशम्) हम सदैव गौ चराने वाले है और (श्रूयता मे पित) हे पिता मेरा कहना सुनो इस वचनो के न सुनने से राजा भगवान को केवल यदुकुल मे [illegible] हुआ ही समझता था। इसलिये नन्दादिको को अन्य समझ इस प्रकार कहा।

श्लोक – ब्रजे वसन् किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः।
भ्रातरं चावधीत्कंसं मातुरद्धाऽतदर्हणम्।।१०।।

श्लोकार्थ – भगवान् ने व्रज में और मथुरा में रहते हुए कौन २ से कार्य किये? मामा कंस को मारने जैसा निन्दित कार्य कैसे किया ?।।१०।।

श्रीसुबोधिनी – तज्जात्यनुकरणतद्भावानुकरणलीलाप्रश्नः। पूर्वोक्तानुवाद एव वा। व्रजे च वसन् किमकरोत् ? कंसवधादिकं स्पष्टमपि लोके विगर्हितमिति पृच्छति भ्रातरमिति। मातुर्भ्रातरमद्धा स्वहस्तेन। मातुलस्य मान्यत्वादतदर्हणं वधानर्हम्। कस्मादिति पूर्वस्यानुषङ्गोऽत्र ज्ञेयः। व्रजे मथुरायां च के के उद्धृताः ? कंसस्यापि का व्यवस्थेति प्रश्नः।।१०।।

अनुवाद – इस श्लोक में दो प्रश्न हैं, एक व्रज मे रहकर क्या किया और दूसरा मथुरा में रहकर क्या किया ? इनमें व्रज में रहकर क्या किया यह प्रथम प्रश्न स्पष्ट नहीं है, अतः आचार्य श्री उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि। क्या व्रज में रहकर उन व्रजवासियों के समान सब प्रकार के वस्त्र आदि धारण सम्भाषण और गौपालन आदि कार्य करते थे ? दूसरा प्रश्न तो स्पष्ट है जो उसने (कंस ने) वसुदेव देवकी को अनेक कष्ट दिये थे। किन्तु अपने हाथ से मातुल[1] को मारने का काम लोक में निन्दित गिना जाता है, क्योंकि मामा मानदेने योग्य अर्थात् पूजनीय है अतः वह मारने योग्य नहीं है। यों होते हुए भी वैसा निन्दित कार्य किसलिये किया ? यह पहले किये हुए प्रश्नों का अनुवाद ही है। श्लोक के उत्तरार्ध में कंस को क्यों मारा? ऐसा प्रश्न बताने वाला कोई शब्द नहीं है इसलिये आचार्यश्री कहते हैं कि ऊपर के श्लोक में दिये हुए (कस्मात्) शब्द से इनका सम्बन्ध अर्थ करें (कस्मात् अवधीत्) किस कारण से (क्यों) मारा। इन प्रश्नों का सार यह है कि व्रज में और मथुरा में रहकर किन २ का उद्धार किया ? तथा कंस की भी क्या व्यवस्था की गई।।१०।।

---

[1] मामा

आभास – द्वारकायां कियत्कालं स्थितवानित्याह देहमिति।

द्वारका में भगवान् ने कितना समय निवास किया ? यह प्रश्न निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक – देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः।
यदुपुर्यां सहावात्सीत् पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोः।।११।।

श्लोकार्थ – मनुष्य आकृति स्वीकार कर यादवों के साथ द्वारका में कितने वर्ष पर्यन्त रहे ? और प्रभु की पत्नियां किनती थी ? ।।११।।

सुबोधिनी – अत्यन्तनटोपि प्रहरमात्र वेषं करोति, कपटमानुषवेषं कियत्कालमास्थाय स्थित इति कालप्रश्न। तत्र स्थितस्य विशेषप्रयोजनाभावाद्देह मानुषमाश्रित्येति तत्रैवोक्तम्। वृष्णिभिर्यादवैः सहेति असमानसमानतापि बहुकालमयुक्तेति सूचितम्। यदुपुर्यामिति परस्थाने वासः। अवात्सीदिति वासे न सन्देहः। लक्ष्मीसमानभाग्यं कियतीनां जातमिति पत्न्यः कत्यभवन्निति प्रश्नः। प्रभोरित्यनेन सर्वसामर्थ्य तस्य वर्त्तते इति सङ्गोप्य नान्यथा कथनमिति सूचितम् ।।११।।

अनुवाद – राजा ने प्रथम समय का प्रश्न किया है साधारण नट तो थोड़े समय के लिये ही रूप बदल सकते हैं। किन्तु विशेष कुशल नट एक प्रहर तक भी रूप बदल कर रह सकते हैं, तो बतलावे कि भगवान् ने जो नटवत्[1] मानुष देह धारण की वह कितने समय तक धारण कर रखी थी ? द्वारका में रहने का भगवान् का कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं था तो भी मानुष देह धारण कर वहाँ कब तक रहे? और जो व्यक्ति किसी प्रकार भी भगवान् के समान नहीं थे उनके साथ विशेष समय तक क्यों एवं किस प्रकार रहे, जो रहना योग्य भी नहीं था। भगवान् का वहाँ विशेष समय तक रहने का कारण यह है कि आप पृथ्वी पर जो दुष्ट राजाओं द्वारा किय हुए पापों का भार बढ़ गया था उसको यादवों द्वारा उतारना चाहते थे। अतः कोई भी लीला छिपाकर, अन्य प्रकार से न कहें। आप दुष्ट राजाओं को नाश करने के वास्ते सामर्थ्य का दान करने के लिये यादवों में प्रविष्ट होकर वहाँ उस समय तक रहे जब तक आपने दुष्ट राजाओं का नाश यादवों द्वारा नहीं कराया। यही (मुानषदेहं[2] आश्रित्य) का भाव है।

---

[1] दिखावे के लिये

[2] 'मानुष देहं आश्रित्य' यादवो के देह मे सामर्थ्य रूप से प्रवेश कर, राजाओं का नाश किया। यही मनुष्य देह का आश्रय करना कहा है।

इसीलिये ही भगवान् ने कहा है कि (नैवान्यतः परिभवो ऽस्यभवेत् कथञ्चित्) इस यादव वंश का कैसे भी किसी दूसरे से पराभव (तिरस्कार) नहीं हो सकेगा। इसका कारण यह है कि वे आपके आश्रित हुवे हैं आपने उनमें प्रविष्ट होकर उनको आश्रय[1] देदिया है। (अवात्सीत्) पद से वहाँ आप रहे यह तो निश्चय ही है और रहे भी दूसरो के स्थान मे, यह (यदुपुरी) शब्द कहने से सिद्ध होता है। वहाँ जब तक रहे, तब तक कितनी पत्नियो को लक्ष्मी के समान भोग द्वारा भाग्यशाली बनाया गया ? यहाँ भगवान् का नाम (प्रभु) कहकर यह बतादिया कि वह सर्व सामर्थ्यवान् है अतः उनके लिये कोई छोटा मोटा, पराया अपना नहीं है सब समान है। आप तो यह सब लीलाएँ कर रहे हैं।।११।।

आभास – अन्यदपि युक्तिविरुद्ध सोपपत्तिकं वक्तव्यमित्याह – एतदन्यच्चेति।

अनुवाद – दूसरा भी कोई चरित्र युक्ति से विरूद्ध देखने में आवे तो उपपत्ति[2] पूर्वक, उसका वर्णन करें। इस प्रकार का प्रश्न निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक – एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम्।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम्।।१२।।

श्लोकार्थ – हे मुने! आप प्रभु की सर्व लीलाओं को जानने वाले हो अतः मुझे श्रद्धालु को, जो लीलाएँ मैंने पूछी हैं। तथा अन्य जो कोई भी हो वे सर्व भगवान् की लीलाएँ विस्तार से कहने के लिये आप योग्य (समर्थ) हो।

श्रीसुबोधिनी – अन्यदपृष्टं सर्वं भगवत्कृतम्। म इति तदीयत्वान्ममैतदेव कृत्यमिति। मुन–इति ज्ञानार्थ सम्बोधनम्। कृष्णविचेष्टितमिति स्वतन्त्रफलत्वम्। 'कृषिर्भूवाचक' शब्दो णश्च निर्वृतिवाचक.। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत' इति सदानन्द. कृष्ण उक्त.। तच्चरित्रमपि सदानन्दरूपमेवेति फलत्वात् सर्वमेव वक्तव्यम्। एतन्मर्माभिज्ञस्त्वमेवेति वक्तुमर्हसि। वीर्याद्यरूपेऽपि केवलचरित्रेऽप्यह श्रद्दधानः। विस्तृतमिति तादृशोपि विस्तारो वक्तव्य सर्वत्रैव चरित्रे चतुर्विधेऽपि विस्तार। वीर्याणि सर्वगेयचरित्राणि, अलौकिकवीर्याण्यगेयचरित्राणीति चातुर्विध्यम्।।१२।।

अनुवाद – राजा परीक्षित ने शुकदेवजी को (मुने) यह सम्बोधन देकर यह बताया है कि आप ज्ञानवान् हो अर्थात् आपको भगवान् की लीलाओं का पूर्ण ज्ञान है, अतः मैंने जो लीलाएँ पूछी हैं वे, और जो न जानने से, नहीं पूछी है वे भी कहिये, कारण कि मै

---

[1] रक्षण

[2] युक्ति से उस विरोध को मिटाकर।

भगवान् का हूँ इसलिये, भगवान के चरित्र सुनने, यही मेरा कर्त्तव्य है। श्लोक में (कृष्ण विचेष्टितम्) पद का भावार्थ बताते हैं कि – कृष्ण सदानन्द स्वरूप होने से 'स्वतन्त्र'[1] फलरूप है। वे स्वयं तथा उनकी लीलाएँ भी फलरूप हैं जैसा कि श्रुति भगवती कहती है कि **'कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृत्ति वाचकः। तयौरेक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयतेः।'** 'कृष्ण' शब्द में जो 'कृष्' है उसका अर्थ है सदा ही मौजूद रहना और 'ण' का अर्थ है 'आनन्द' दोनों के मिलाने से हो जाता है (सदानन्द) जिसका भाव यह है कि जो स्वरूप सदा ही आनन्द रूप है वही 'कृष्ण' पर ब्रह्म है यों वेदो में कहा गया है। इसी कारण से उनकी लीलाएँ भी सदानन्द रूप ही हैं जिससे वे भी फलरूप ही है, अतः सब चरित्र कहिये। आपसे इस प्रकार इसलिये पूछता हूँ कि आप ही चरित्रों के मर्म को जानने वाले हो। मै तो भगवान् के चरित्रमान में श्रद्धा रखने वाला हूँ। वह चरित्र वीर्य (पराक्रम) आदि से रहित हो तो भी उसके सुनने में मेरी पूर्ण श्रद्धा है। अतः भगवान् कृष्ण का जो चरित्र वीर्य रहित हो वह भी विस्तार के साथ कहिये। वीर्य[2], सर्वगेय[3], अलौकिक वीर्य[4] और अगेय[5] ये श्रीकृष्ण के चार प्रकार के चरित्र हैं, वे सब विस्तार से कहिये।।१२।।

आभास – एवं द्वादशभिः प्रश्नं निरूप्य सर्वथा कथनार्थमकथने वा बाधकमाह – नैषेति।

इस प्रकार १२ श्लोकों में भगवान् के चरित्र विषयक प्रश्न किये जिससे यह बताया कि आपको वे चरित्र मुझे सुनाने चाहिये, यदि नहीं सुनाएंगे तो प्राणों में बाधा पहुँचेगी। इसका वर्णन करते हैं।

श्लोक – नैषाऽतिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्।।१३।।

---

[1] श्रीकृष्ण के सिवाय अन्य फल परतन्त्र है कारण कि वे साधनो द्वारा प्राप्त होते है, श्रीकृष्ण तो बिना साधन से स्व–कृपा से स्वय अपनी प्राप्ति कराता है जैसे कि 'यमे वैषवृणु ते तेन लभ्य' इस श्रुति मे कहा है यह परमात्मा जिस जीव को स्वीकार करता है वह जीव ही भगवान् को पा सकता है। अत श्रीकृष्ण को स्वतन्त्र फलरूप कहा गया है। (अनुवादक)

[2] 'तत्राशेनावतीर्णस्य' इस श्लोक मे श्रीकृष्ण के वीर्यों (पराक्रमो) का प्रश्न है।

[3] 'अततीर्य यदोर्वशे' इस श्लोक में श्रीकृष्ण के सर्वगेय चरित्रों का प्रश्न है।

[4] 'वीर्याणितस्य' इस श्लोक मे श्रीकृष्ण के अलौकिक वीर्यो के चरित्रों का प्रश्न है।

[5] 'रोहिण्यास्तनय प्रोक्त. इस श्लोक में श्रीकृष्ण के अगेय चरित्रो का प्रश्न है।

श्लोकार्थ – यद्यपि क्षुधा और तृष्णा सही नहीं जाती है, किन्तु जल का भी त्याग करने वाले मुझे वह क्षुधा कुछ दुःख नहीं दे सकती है कारण कि मैं आपके मुख रूप कमल से द्रवित (झरते) हुए कथा रूप अमृत का पान कर रहा हूँ।।१३।।

श्रीसुबोधिनी – आर्त्तिकथनायैषेति। अप्रयोजकत्वं वारयति–अतिदुःसहेति। क्षुन्मामिति प्रमाणकथनम्। उदकत्यागः प्रकारान्तरेण देहरक्षाभावार्थः। एषा परमोत्तमाधिकारस्थितिः। उदकस्योभयनाशकत्वात् तथोक्तम्। क्षुधो भ्रातृव्यत्वश्रवणादवश्यबाधकत्वात्तदेवोक्तम्। शीघ्रकथनाय वर्त्तमानप्रयोगः। अम्भोजत्वममृतस्रवात्। कथाकथने वक्तुः परवशत्वापादकं चरित्रमिति ज्ञापयितु च्युतमिति। पानमन्तःप्रवेशनमविस्मरणाय। इदानीमपि पूर्वोक्तकथनानुसन्धानाद्वर्त्तमानप्रयोगः। सम्भाव –नयेत्यन्ये। आनन्दत्वचेतनत्वद्योतनायाह–हरीति। विशेषतो दुःखनाशकत्व तत्र प्रसिद्धमिति। विशेषतो हरिकथा अमृतमिवेत्यमृतपदे यौगिकोऽर्थो गृहीतः। असङ्कोचान्मुक्तिरेव फलति। अतस्त्वमेव मोक्षदातेति वक्ता स्तुतः।।१३।।

अनुवाद – राजा परीक्षित ने इस श्लोक में यह जो कहा है कि मुझे जो सर्वथा सहन नहीं की जा सकती है, ऐसी क्षुधा भी नहीं सताती हे, इस कहने का भावार्थ यह है कि राजा को भगवान के चरित्र सुनने की अन्तःकरण में अत्यन्त आर्ति[1] थी, जिससे यह बताया कि मुझे देह रक्षा का विचार नहीं है, इसलिये अन्न के अभाव में, जल, क्षुधा और प्यास दोनों को शान्त करता है, तथा देह की भी रक्षा कर सकता है। मैंने तो वह जल भी छोड दिया है। यह कहना सूचित करता है कि राजा परम उत्तम अधिकारी है।

प्यास न कहकर केवल क्षुधा कहने का यह आशय है, कि क्षुधा शत्रु है, क्योंकि शत्रु के समान अवश्य दुःख देने वाली है, अतः शीघ्र बाधा करती है। इसलिये 'बाधते' यह वर्तमान काल का प्रयोग किया है। शुकदेवजी के मुख को अम्भोज (कमल) कहने का आशय यह है कि उस (मुख) से अमृत बह रहा है। कथा सुनने वाले शुकदेवजी आप उस अमृत को समझकर नहीं बहाते हैं किन्तु भगवान् के चरित्र ही ऐसे हैं जो कहने वाले परवश कर देते हैं। जिससे कथा कहने के समय कथा रस में मग्न होने से क्या हो रहा है ? या क्या कर रहा हूँ ? यह ज्ञान उस (वक्ता) को नहीं रहता है अतः श्लोक में (च्युत) शब्द दिया है जिसका भाव है कि वह कथा रूप अमृत रस, मुख से

---

[1] विशेष चाहना

स्वयं बहा जा रहा है। जैसे परिपक फल पेड़ से स्वयं गिर पड़ता है। ऐसा रस मैं पान कर रहा हूँ, अर्थात् केवल श्रवण नहीं करता हूँ किन्तु पानकर अन्तःकरण में धारण कर रहा हूँ जिससे सदैव स्मरण रहे। यहां भी 'पिवन्तः' वर्तमान काल के प्रयोग करने का आश्रय यह है कि मैंने जो चरित्र पहिले सुने हैं वे भी मुझे पूर्ण रीति से अब स्मरण है। अन्य टीका करने वालो की यह सम्मति है कि यह वर्तमानकील की क्रिया परीक्षित ने इस आशा से दी है कि शुकदेवजी शीघ्र भगवान् के चरित्र सुनाएँगे। यद्यपि बहुत करके भगवान् का 'हरि' नाम दुःख हर्ता अर्थ में प्रसिद्ध है तो भी यहा हरि शब्द आनन्द रूप और चेतनरूप के प्रकाशक है, इसलिये दिया है अर्थात् भगवान् एवं उनके चरित्रों में आनन्द और चेतन, दोनों गुण मौजूद है। विशेषता यह है कि हरिकथा अमृत ही है। किञ्च यहां अमृत से रूढि अर्थ वाला अमृत जे देव पीकर अमर बने हैं, वह अमृत नहीं समझना चाहिये किन्तु उसका यौगिक अर्थ समझना अर्थात् जिसके पान करने से मोक्ष प्राप्त होता है उस मोक्ष से जन्म मरण सदा के लिये नष्ट हो जाते हैं। अत आप ही सच्चिदानन्दात्मक कथा सुनाने से हमारे मोक्ष दाता हो। इस प्रकार कथा के वक्ता (श्री शुकदेवजी) की स्तुति की है।।१३।।

आभास – शौनकादीन् सावधानतयाभिमुखान् करोति सूतः – एतमिति।

सूतजी शौनक आदि ऋषियों को कथा सुनाने के लिये निम्न श्लोक से सावधान करते हैं।

श्लोक –

एतं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं वैयासकिः सभगवानथ विष्णुरातम्।

प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः।।१४।।

श्लोकार्थ – हे भृगु को आनन्द देने वाले शौनकजी। इस सुन्दर, भगवान् के सम्बन्धवाले चरित्रों के प्रश्नों को सुनकर, भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ एवं प्रशंसित श्री शुकदेवजी ने, भगवान् से रक्षा पाये हुए परीक्षित का अभिनन्दन कर कलि के मल को नाश करने वाले श्रीकृष्ण के चरित्र कहने प्रारम्भ किये।।१४।।

श्रीसुबोधिनी – परम्पराभिनन्दनेनायमर्थः स्फुरतीति तथा प्रतिपाद्यते। एतस्य प्रश्नस्य मूलत्वात् प्राधान्येन निर्देश एतमिति। पुनः पुनः प्रश्ने वक्तुरुद्वेगः सम्भवति। आक्षेपे क्रोध। तदुभय निरस्यति निशम्येति। नितरा श्रुत्वा, अर्थतोऽभिप्रायतश्च समीचीनमिति, न तु दाक्षिण्येनेत्यर्थः। विश्वासार्थं

भृगुनन्दनेति सम्बोधनम्। हेतुभूतं विशेषणं साधुवादमिति। शब्दतो वदनं वादः साधूनां वादः साधुवादः, साधवः पदार्था भगवत्सम्बन्धिनोऽस्मिन्नुच्यन्त इति। साधूना वादो यस्मादिति वा। वीतरागा भगवत्कथामेव कुर्वन्तीति निरूपितप्रमेयस्य साधुवादत्वज्ञापनाय विशेषणम्। भगवद्भक्ताश्चेन्मिलन्ति तदैव वाक्य प्रष्टव्यमिति महता कष्टेन व्यासो भगवद्गुणप्रतिपादकमिदं शास्त्रं चकार। तस्य प्रवर्तनार्थं च शुकः प्रवृत्तः। तादृश प्रश्नरूपं साधुवादमेवापेक्षते। महता प्रयासेन भगवन्मतप्रवर्तकत्वात्। तदाह वैयासकिरिति। तथापि भगवच्चरित्रस्य दुर्ज्ञेयत्वात्कथमुत्तरमत आह सभगवानिति। भगवता सहितः। तदन्तस्थितो भगवानेवोत्तर प्रयच्छतीत्यर्थः। नन्वेव भगवान् स्वयमुत्तरं प्रयच्छति कथमित्याशक्याह–विष्णुरातमिति। अथेति भिन्नोपक्रमे। एतावत्काल शुकः स्वयमेवाह। इद चरित्र तु तत्र स्थितो भगवानेवाऽऽहेति भिन्नः प्रक्रमः। विष्णुना एतदर्थमेव रक्षितः। अन्यथा पुरुषार्थौ न सिद्ध्यतीति किं रक्षणेन। श्रवणे निमग्नचित्तत्वात् प्रत्यर्चनम्। पूर्वं शुकः स्तुतः। तेन शुकोऽपि तमग्र स्तौतीति प्रत्यर्चनम्। पूज्यो हि भगवान्, तद्गुणाश्च। ते चोभयत्र पूर्णा इति परस्पर पूजा। एवमेव भगवत्कथायां परस्परार्चनं शास्त्रसिद्धम्, 'येऽन्योन्यतो भागवता' इति वाक्यात्। एतावदुद्योगस्य फलमाह कृष्णेति। अवतारचरित्रत्वेनालौकिकत्वमुक्तम्। पापस्य प्रतिबन्धकत्वानान्न श्रद्धा भविष्यतीत्याह–कलीति। षण्णां शोधकाना देशादीना धर्महेतूना चाभावाच्चरित्रमेव शोधकम्। अन्यथा युगे धर्मप्रवृत्तिर्मोक्षो वा न स्यात्। महता प्रक्रमेण समारम्भे हेतुः भागवतप्रधान इति। भागवता एव प्रधानं यस्येति। विशेषेणाहर्तुं वक्तुमारम्भ कृतवान्। अत एव मननपरित्यागेन कथामेव कथयति, सभाजयति च तामेव, न ज्ञानादिकमिति भावः।।१४।।

अनुवाद – श्रोता तथा वक्ता आपस में जो अभिनन्दन (प्रशंसा) करते हैं उससे हृदय में अर्थ की स्फूर्ति[1] होती है, कारण कि श्रोता को वक्ता की योग्यता मालूम होने से उसको निश्चय होता है कि यह जो कहेंगे वह सत्य ही कहेंगे। इस प्रकार वक्ता भी श्रोता की योग्यता देखकर समझता है कि मैं जो कुछ कहूँगा वह पूर्ण रूप से समझकर यह धारण करेगा। जिससे वक्ता गुह्य भी कहने में संकोच नहीं करता है और श्रोता ध्यान देकर श्रवण करता है। श्री शुकदेवजी जो चरित्र वर्णन करने लगे उनका मूल कारण परीक्षित का प्रश्न है इसलिए श्लोक में 'एतं' (इस प्रश्न को) शब्द कहा है। बार बार पूछने से वक्ता के चित्त में उद्वेग (व्याकुलता) होता है, यदि वह प्रश्न आक्षेप (दोष लगाने आदि) से किया जाय तो वक्ता को क्रोध भी आता है। 'निशम्य' शब्द देकर इन दोनों (व्याकुलता एवं क्रोध) को मिटाया है। 'निशम्य' पद में दो शब्द है एक 'नि' दूसरा

[1] जानकारी

'शम्य' जिनके कहने का भावार्थ यह है कि श्री शुकदेवजी ने परीक्षित के प्रश्न को शान्ति से सुना और प्रश्नों के अर्थ तथा अभिप्राय को समीचीन[1] समझा। और यह भी जाना कि परीक्षित ये प्रश्न चालाकी[2] से नहीं करता है किन्तु चरित्र श्रवण की उत्कट इच्छा से भाव एव श्रद्धापूर्वक करता है। शौनक को भृगुनन्दन कहा उसका भाव यह है कि उससे शौनक को सूचित किया कि मैं जो कहता हूँ उसमें विश्वास रखना, क्योंकि गु विश्वास रखते थे आप भी उसके पुत्र हो अतः आपको भी विश्वास रखना चाहिये।

शुकदेवजी ने परीक्षित के प्रश्न–प्रेम से शान्तिपूर्वक सुनें। उसका कारण 'साधुवाद' विशेषण से बताते हैं कि परीक्षित के जो प्रश्न थे उनमें भगवच्चरित्ररूप सुन्दरवाद था। जिन महानुभावों के हृदय से संसार का प्रेम निकल गया है, वैसे लोग जब परस्पर मिलते हैं तो सिवाय भगवान के चरित्र के कहने के अन्य किसी प्रकार की बातचीत नहीं करते हैं। परीक्षित ने जो प्रश्न किये हैं वे भी भगवच्चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले होने से 'साधुवाद' है। भगवद्भक्त जब भी मिलें तब उनको ऐसे ही प्रश्न पूछने चाहिए। व्यासजी ने महान् कष्ट से भगवान् के गुणों को प्रतिपादन[3] करने वाला यह शास्त्र बनाया है और ऐसे शास्त्र के प्रचार करने के लिए श्री शुकदेवजी प्रवृत्त हुए हैं, इस प्रकार महान् कष्ट से जिन भगवान् के गुणों और चरित्रों का प्रतिपादन हुआ है और जिनके प्रचार के लिये शुकदेवजी जैसे वीतराग, निरपेक्ष मुनि सन्नद्ध[4] हुए हैं, उन चरित्रो को 'साधुवाद' की अपेक्षा होती ही है अर्थात् उनका 'साधुवाद' करना ही चाहिये।

शुकदेवजी के लिए यहाँ दो विशेषण दिये है, एक 'वैयासकिः' दूसरा 'सभगवान्' उनके देने का भाव बताते हैं कि जब भगवान् के चरित्र सहज समझ में आ जावें वैसे नहीं हैं, तब उनका उत्तर किस प्रकार दिया जायेगा ? ऐसी शङ्का करना व्यर्थ है क्योंकि उनका उत्तर देने वाले व्यासजी, (जिन्होंने समाधि में अनुभव कर चरित्रों का प्रतिपादन किया है) उनके पुत्र हैं। इस कारण से श्री शुकदेवजी उत्तर दे सकते हैं और

---

[1] उत्तम सत्य
[2] कपट
[3] समझाने वाला
[4] तैयार

आपके साथ भगवान्[1] भी है वे ही अन्तःकरण में स्थित होकर उत्तर दे रहे हैं। स्वयं भगवान् शुकदेवजी के हृदय में विराजमान होकर उत्तर देते हैं, उसका क्या कारण है ? इस शङ्का निवारण के लिए श्लोक में प्रश्नकर्त्ता परीक्षित के लिए 'विष्णुरात' विशेषण दिया है, जिसका भाव है कि जिसको भगवान् ने गर्भ में इसलिए रक्षा की थी कि इसको मैं अपने चरित्रों को सुनाकर अपना पूर्णज्ञानी भक्त बनाकर मुक्त करूँगा। तात्पर्य यह है कि गर्भ में शत्रु में जैसे रक्षा कर परीक्षित को बचाया वैसे ही अब भगवान् ने संसार रूप शत्रु से बचाकर सदा के लिए उसको अमर बनाते हुए अपना ब्रह्मानन्द दिया।

श्लोक मे 'अर्थ' पद देकर यह बताया है कि अब तक तो श्री शुकदेवजी कह रहे थे। इसके बाद जो चरित्रो का वर्णन होगा वह भगवान् करेगे। यदि भगवान् वैसे स्वयं चरित्र कहकर परीक्षित की रक्षा नहीं करते तो पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती जिससे रक्षा करनी व्यर्थ सी हो जाती। परीक्षित के प्रश्नों के भाव को विचारते हुए शुकदेवजी उसमें मग्न हो गये जिससे प्रश्नों की उत्कृष्टता समझ राजा की प्रशंसा करने से उसका अभ्यर्चन[2] किया, परीक्षित ने तो प्रथम ही शुकदेवजी का अभ्यर्चन[3] किया है इस प्रकार श्रोता तथा वक्ता का परस्पर अभ्यर्चन[3] शास्त्रों से सिद्ध है। भगवान् के गुण तथा भगवान् दोनो पूजा के योग्य हैं। वे भगवान् के गुण, दोनों, राजा तथा श्री शुकदेवजी में प्रविष्ट हुए हैं। अत दोनो ने परस्पर पूजा[3] की। यों करने की 'योऽन्योऽन्यतो भागवता' इस वाक्य में आज्ञा है। इस उद्योग का फल 'कृष्ण' ही है। इसलिये फलरूप श्रीकृष्ण के चरित्र जो भी फलरूप होने से अलौकिक हैं उनको ही राजा ने पूछा है। राजा ने पूछा वह तो अच्छा किया, किन्तु उसके सुनने में यदि पाप प्रतिबन्धक होंगे जिससे

---

[1] श्रीलालू भट्टजी ने योजना मे कहा है कि नवम स्कन्ध तक तो श्री शुक ने चरित्र कहे। अब जो चरित्र कहे जायेंगे वे भगवान् स्वय कहेगे। कारण कि लीला पुरुषोत्तम की लीलाओं को आप (पुरुषोत्तम) ही जान सकते हैं। जैसे कि गीता में कहा है, 'नमे विदु सुरगणा प्रभव न महर्षय' मेरी महिमा को देवगण और महर्षि भी नही जान सकते है। दशम स्कन्ध मे तो उस पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप की लीलाओं का वर्णन है उसका वर्णन शुक भी नही कर सकेंगे। अत भगवान् ने स्वय शुक के अन्त करण मे विराजमान होकर अपने चरित्र कहे। शुकदेव जी शङ्कर का रूप है। शङ्कर भगवद्भक्त वैष्णव है, इसलिए वैसे के हृदय मे भगवान् बिराजे है। यह योग्य नही है।

[2] समादर

[3] आदर

श्रवण में श्रद्धा नहीं होगी। इस शङ्का के समाधान (मिटाने) के लिये 'कलिकल्मषघ्नं' पद श्लोक में दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि कलियुग के दोष जो भगवत् गुण के श्रवण में प्रतिबन्धक होते हैं उनको भगवान् के चरित्र नाश करने वाले हैं। अन्य उपाय तो इस युग में प्रतिबन्धों को नाश करने में असमर्थ है केवल भगवच्चरित्र उनको नाश कर सकते हैं। यदि वे भी असमर्थ होते तो इस युग में धर्म में प्रवृत्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति सर्वथा न हो सकती। इस कहने का सारांश यह है कि भगवच्चरित्र, कलि के सर्व प्रकार के मल नष्ट करने वाले हैं जिससे भगवच्छ्रवण में पापादि प्रतिबन्धक नहीं होते हैं और श्रद्धा बनी रहती है। शुकदेवजी ने महान् उत्साह से एवं उत्तम ढंग से जो चरित्र वर्ण का प्रारम्भ किया उसका कारण यह है कि कथा के श्रोताओं में भगवद्भक्त ही प्रधान+ थे। शुकदेवजी ने भी उनसे विशेष रस पाने की इच्छा से उत्साह पूर्वक विशेष रूप से चरित्र वर्णन करने का प्रारम्भ किया। इस कथा रस में मग्न श्री शुकदेवजी मनन का त्याग कर केवल कथा (भगवान् के चरित्रों का वर्णन) ही करने लगे। कथा (भगवद्गुणानुवाद) को ही प्रधानता दी, ज्ञानादिक को प्रधानता नहीं दी।।१४।।

आभास – समानशीलव्यसनं दृष्ट्वा राजानं प्रश्नं चाभिनन्दति द्वाभ्याम् – सम्यगिति।

श्री शुकदेवजी राजा को अपने समान शील तथा व्यसन वाला देखकर दो श्लोकों से राजा और उसके प्रश्नों का अभिनन्दन करते हैं।

श्लोक – **सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम।**
वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः।।१५।।

श्लोकार्थ – श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे राजर्षियों में भी अत्यन्त श्रेष्ठ। वासुदेव की कथा (श्रवण) में आपकी निश्चयात्मक प्रीति हुई है, आपकी बुद्धि ने यह अच्छा निश्चय किया है।।१५।।

श्रीसुबोधिनी – भगवति लयात्पूर्व स्थिरप्रज्ञतैव सर्वोत्तमा। सम्यग् व्यवसायं भगवत्कथैव श्रोतव्या, नान्यत्किञ्चिदित्यध्यवसायं प्राप्ता। ब्रह्मर्षीणामप्येतद्दुर्लभ, तव तु जातमित्याश्चर्येण सम्बोधनं– राजर्षिसत्तमेति। राजा स्वधर्मनिष्ठः; स च लौकिकः। ऋषिर्वैदिकधर्मनिष्ठः। स चासौ सन् भगवद्धर्मनिष्ठः। तत्राप्युत्कर्षो भगवदङ्गीकारात्। अत एव तवैतादृशो व्यवसाय उचित इति भावः। द्विधा च निश्चयः सम्भवति, शास्त्रार्थनिश्चयात् स्वरुच्या वा। तत्राद्यो मध्यमः। त्वं तूत्तम इत्याह– वासुदेव

इति। यत् यस्मात् कथाया रतिर्जाता। सापि न चञ्चला, न केनाप्यन्यथकर्तुं शक्या। निश्चयस्य सम्यक्त्वपोषिका रति। यस्मान्निश्चयाद्वासुदेवकथायां रतिर्जातेति वा। अथवा हेतुद्वय राजाभिनन्दन एव। दुर्लभत्व कथारतेर्वदन् कारणभूत निश्चयमाह। साध्यसाधनयोर्निष्पन्नत्वात्सभाजनम्। प्रश्नेन चैवम्भावस्तस्याभिज्ञातोऽतोर्थात्प्रश्न एव स्तुतः।।१५।।

अनुवाद – भगवान् में लय हो जाने से पहिले ही यदि बुद्धि स्थिर हो जाय उसकी चञ्चलता मिट जावे तो यह सब से उत्तम है। आपकी बुद्धि ने जो यह दृढ निश्चय कर लिया है कि, भगवान् की कथा के सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं सुनना वह उत्तम है। आपको बुद्धि के दृढ़ निश्चय जैसा निश्चय ब्रह्मर्षियों को भी दुर्लभ है अतः आप राजर्षि सत्तम हो। अपनी प्रजा के पालन रूप धर्म में निष्ठा वाला लौकिक रीति से केवल राजा कहलाता है, प्रजापालन के साथ वैदिक धर्म में निष्ठावाले को (राजर्षि) कहते हैं, इन दोनों गुणो के साथ यदि वह भगवत्धर्म में निष्ठावाला होता है तो उसको (राजर्षिसत्तम) कहते हैं। आपका तो उससे भी उत्कर्ष है क्योंकि भगवान् ने आपका अङ्गीकार भी किया है। इस कारण से भगवान् में लय होने से प्रथम आपको ऐसी दृढ़ बुद्धि होनी योग्य ही है। बुद्धि के दृढ़ हुए बिना भगवान् की प्राप्ति नही होती है। स्थिर बुद्धि से भगवत्प्राप्ति होती है तब इस बुद्धि का लय भगवान् में हो जाता है और भगवद्भक्त को अलौकिक देह की प्राप्ति होती है इसलिये आचार्य श्री ने कहा है कि भगवान् में लय होने से पूर्व ही (स्थिर बुद्धि) होनी चाहिये। निश्चय दो प्रकार से होता है, एक शास्त्र में कहे हुए–जीव को भगवान् की भक्ति करनी चाहिये – ऐसे उपदेश को सुनकर, और दूसरा अपनी सहज (स्वभाव सिद्ध) रुचि से निश्चय करना इन दोनों में पहिला शास्त्र सुनने से निश्चय होना (दृढ बुद्धि होना) 'मध्यम' मर्यादा निश्चय है। और सहज रुचि से दृढ़ होना, (उत्तम) पुष्टिमार्गीय निश्चय है। आप तो उत्तम हो कारण कि आपकी भगवान् के कथा के श्रवण में दृढ बुद्धि वाली रति[1] स्वभाव सिद्ध है। जिसको कोई बदल नहीं सकता है क्योंकि प्रेम उस निश्चय को अच्छे प्रकार से स्थिर रहने वाला है। उस स्थिर निश्चय से कथा श्रवण में रति बढ़ती रहती है। श्लोक के पूर्वार्द्ध

[1] प्रेम

में कहे हुए दोनों कारण राजा के अभिनन्दन[1] के लिये कहे गये हैं। भगवान् के चरित्रों के श्रवण में (रति) अर्थात् प्रेम का होना दुर्लभ है। दुर्लभ होते हुए भी आपका जो श्रवण में प्रेम हुआ है उसका कारण बुद्धि की स्थिरता है। सभा में यद्यपि देवर्षि, ब्रह्मर्षि, और राजर्षि ये सब उपस्थित हैं तो भी आपको ही वैसा प्रेम कथा श्रवण में हुआ है और साधन तथा फल भी आपको सिद्ध हो गये हैं अतः आप सत्कार करने योग्य हैं। आप (राजा परीक्षित) का स्वरूप क्या है ? इसका ज्ञान आपके किये हुए प्रश्न से हो जाता है। आपको धन्यवाद करने से प्रश्न की स्तुति होती है अर्थात् प्रश्न की प्रशंसा की है।।१५।।

आभास – प्रकारान्तरेणापि साक्षात प्रश्नं स्तोति – वासुदेवेति।

श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक से दूसरे प्रकार से प्रत्यक्ष प्रश्न की स्तुति करते हैं।

श्लोक – वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषाँस्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄँस्तत्पादसलिलं यथा।।१६।।

श्लोकार्थ – वासुदेव की कथा का प्रश्न करने वाले, उत्तर देने वाले तथा सुनने वाले इन तीन प्रकार के पुरुषों को वैसे ही पवित्र करता है जैसे श्री गङ्गाजी, ब्रह्मा, महादेव और भागीरथ इन तीनों को पवित्र कर रही है।।१६।।

श्रीसुबोधिनी – वासुदेवस्य मोक्षार्थत्वात् तत्सम्बन्धि यत्किञ्चिद्वस्तु तत् पवित्रयत्येव। तत्रापि कथा तत्सम्बन्धिगुणदोषाभिनिवेशजनिका। तत्रापि प्रश्नस्तज्जिज्ञासाया दाढ्येहेतुः। त्रीन् पुरुषान्। प्रश्ननान्तरं कश्चिच्छ्रोता मध्यस्थः, प्रश्नकर्ता च त्रयो भवन्ति। स्तब्धचित्ततया पूर्वं वक्ता भगवद्गुणाभिज्ञोपि तूष्णीं स्थितः। तत्र भगवद्गुणेषु तूष्णीम्भावः पापादेवेत्यध्यवसीयते। प्रश्ने च यदुद्गता भवन्ति गुणास्तत्पापनाशादेव। श्रोतॄणामपि विद्यमाने पापे भगवत्प्रवणं चित्तं न भवतीति, प्रश्ने च जायत इति तत्पापनाशकत्वमपि। प्रश्न करिष्यामीति यदा मनसि प्रश्न उद्गतस्तदा पापे विद्यमाने मुखात् निःसरति। यदा पुनर्निःसरति तदा तस्यापि पापं नाशयतीति ज्ञायते। अतस्त्रीन् पुरुषान् पुनातीति युक्तं तदाहहीति। प्रश्नकर्तुः पितृपितामहादयो भविष्यन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थं गणयति–वक्तारमिति। वक्तारमुत्तरस्य। पृच्छकः प्रश्नकर्त्ता। श्रोता मध्यस्थः। यद्यपि श्रोतृत्व पूर्वयोरप्यस्ति, तथापि निमित्तं भिन्नमिति तदेव प्रयोजकत्वेनोक्तम्। पुरुषपदं पूर्ववत्। तत्र कार्यान्तरार्थान् वारयति–त्रीनिति। पावित्र्यमनेकविधं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं पावनत्वं विशिनष्टि दृष्टान्तेन–तत्पादसलिलं यथेति! प्रश्नः

---
[1] प्रशंसा

क्वचिदुद्गत:। कञ्चित् प्रेरितवान्। कञ्चिदभिमुखीचकार। नैतावता परम: पुरुषार्थ सिद्ध, यदा पुनस्त्रयाणा चित्त भगवदेकनिष्ठ करोति तदा हि सफलता। गङ्गा च पुन: साक्षाद्भगवत्सेवौपयिक शरीरमुत्पादयति पूर्वसम्बन्धि पाप तत्कार्य:। नाशयित्वा, तथा भगवत्कार्योपयोगि चित्तं यावत्या भवति तावती शुद्धिं करोतीत्यर्थ:। त्रीन् त्रिलोकस्थान् सात्त्विकादिभिन्नान् वा। कूलद्वयस्थितान्मध्यस्थान् वा। ब्रह्माण महादेव भगीरथं च वा।।१६।।

अनुवाद – वासुदेव शब्द का अर्थ मोक्ष है अत: उनसे सम्बन्ध वाले जो भी पदार्थ हैं वे सब, पवित्र करने वाले ही होते हैं। उसमे भी वासुदेव की कथा तो उससे सम्बन्ध रखने वाले गुण तथा दोषों वाली होते हुए भी, भगवान् में आग्रह पूर्वक विश्वास उत्पन्न करती है। जैसे कि लोक दृष्टि में पूतना वध आदि गुण है और मातुल[1] वध दोष है। इन चरित्रों की श्रवण जिज्ञासा[2] भी उस श्रद्धा को दृढ़ करने में कारण होती है। क्योंकि उन चरित्रों के श्रवण से, यथार्थ ज्ञान होता है, जिससे भगवान् में श्रद्धायुक्त और आग्रही मन होता है। जहॉ कथा का प्रसङ्ग. होता है वहाँ एक प्रश्नकर्त्ता, कोई श्रोता और कोई वक्ता (उत्तरदाता) इस प्रकार तीन पुरुष होते ही हैं। यदि वक्ता भगवान् के गुणों का ज्ञाता होकर भी जब तक मौन धारण करता है, समझना चाहिये कि यह मौन पापों के कारण है, पाप उसको बोलने नहीं देते है। भगवान् की कथा से सम्बन्ध वाला प्रश्न पापो का नाश करता है तथा गुणों का उद्भव[3] करता है किन्तु यह प्रश्न वह कर सकता है जिसके पाप नाश हो गये है। श्रोताओं में जब तक पाप विद्यमान[4] हैं तब तक उनके मन की भगवान् में आसक्ति नहीं होती है। जब कथा संबन्धी प्रश्न होते हैं तब उनके सुनने से श्रोताओं के पाप नाश हो जाते हैं और कथा में मन लगता है। मन में प्रश्न करने की इच्छा हो किन्तु जब तक मुख से वह प्रश्न नहीं निकलता है समझना चाहिये कि तब तक पाप विद्यमान[4] हैं। जब प्रश्न मुख से बाहिर निकलता है तब उसके पापों को भी नष्ट करता है। अत: तीन पुरुषों को पवित्र करता है। यह कहना योग्य है। तीन

[1] मामा को मारना।
[2] सुनने की इच्छा।
[3] प्राकट्य।
[4] मौजूद।

पुरुष कहने का तात्पर्य (१) प्रश्नकर्त्ता (२) वक्ता और (३) श्रोता से है, न कि पिता, पितामह[1] और प्रपितामह[2] इन तीन पुरुषों से हैं।

वक्ता एवं प्रश्नकर्त्ता भी श्रवण करने से श्रोता ही हैं, किन्तु निमित्त कारण सब के भिन्न भिन्न हैं। निमित्त ही प्रयोजक कहा गया है। कथा तीन पुरुषों का पवित्र करती है, पुरुष शब्द का अर्थ यहाँ भी वह लेना चाहिये जो (निवृत्ततर्षैः) श्लोक मे कहा है। उस श्लोक में पुरुष उसको कहा है कि जो पशु तथा स्त्री जीव नहीं होवे, शेष सर्व पुरुष हैं। इस प्रकार के पुरुष ही श्रवण करने से पवित्र होते हैं असुर पवित्र नहीं होते। अन्य किसी कार्य करने के लिए आते हैं, वे भी पवित्र नहीं होते हैं। पवित्रता अनेक प्रकार की होती है, यहाँ कथा श्रवण से जिस प्रकार की पवित्रत होती है। वह गङ्गाजी या दृष्टान्त देकर समझाते हैं। १– जैसे गङ्गाजल पवित्र करता है वैसे ही प्रश्न भी पवित्र करना है। किस स्थल पर, प्रश्न उत्पन्न हुआ हो (कुछ पूछा गया हो) किसी वक्ता की प्रेरणा हुई हो, अथवा कोई सुनने की इच्छा से सन्मुख आया हो, केवल इतना ही करने से फल की सिद्धि नहीं होती हैं। किन्तु फल की सिद्धि तब होती है, जब वह कथा सबों के चित्त को एकनिष्ठ करती है तब ही सफलता मिलती है। गङ्गाजी पहिले के सम्बन्धी पापो को तथा उनके कार्यों का नाशकर साक्षात् भगवान् की सेवा के योग्य शरीर को बनाती है। अर्थात् जिस शुद्धि से भगवान् की सेवा के लिये उपयोगी चित्त बने, वैसी उतनी शुद्धि करती है। कथा की भांति गङ्गाजी भी तीन पुरुषों को पवित्र करती है अर्थात् १–तीन लोकों में स्थित जीवों को पवित्र करती है, अथवा सात्त्विक आदि भेद करके भिन्न–भिन्न पुरुषों को पवित्र करती है, २–दोनों तीरों पर स्थित, तथा ३–जलमध्य में स्नानार्थ एवं पानार्थ स्थित, तीन को पवित्र करती है, एवं ब्रह्मा महादेव और भागीरथ तीनों को पवित्र करती है। इसी प्रकार कथा भी त्रिविध दैवी जीवों को शुद्ध कर उनकी देह को भगवान् की सेवा में उपयोगी बनाती है।।१६।।

आभास – एवं भगवत्सम्बन्धित्वेन प्रश्नमभिनन्द्य भगवदवतारप्रयोजनज्ञानार्थं कथामारभते – भूमिरिति

---

[1] दादा

[2] परदादा।

भगवान् से इस सम्बन्ध होने के कारण प्रश्न की प्रशंसा कर भगवान् के अवतार धारण के प्रयोजन का ज्ञान हो इसलिये कथा का प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक – भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ।।१७।।

श्लोकार्थ – छल से, अभिमानी राजाओं के रूप मे उत्पन्न असंख्य दैत्यों की सेना के दश सहस्र सेनाओं के विशेष बोझ से आक्रान्त[1] भूमि ब्रह्मा के शरण में गई।।१७।।

कारिका – १ भक्तानां दुःख नाशाय कृष्णावतरणं मतम्।
भूमिर्माता तथा चान्ये भक्ता वै त्रिविधा मताः।।१।।

कारिकार्थ – सकल शास्त्रों की सम्मति है कि परब्रह्म का, श्रीकृष्ण स्वरूप से प्राकट्य भक्तों के दुःख का नाश करने के लिये होता है। वे भक्त तीन प्रकार के माने गये हैं।

भूमि, माता और अन्य ये तीन प्रकार के भक्त हैं।

कारिका – २ सर्वेषां महद्दुःखं नान्येन विनिवार्यते।
यदा तदा हरिः कृष्णः प्रादुरासीदिति स्थितिः।।२।।

कारिकार्थ – सनस्त भक्तों को जो महान् दुःख था वह दूसरे साधनादि नहीं मिटा सके तब दुःख हरण करने वाले हरि, श्रीकृष्णस्वरूप से प्रकट हुए। यही प्रादुर्भाव की मर्यादा है।

व्याख्या १–२ श्रीकृष्ण के सिवाय किसी भी साधनादि से भक्तों के सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति नहीं होना ही श्रीकृष्ण के प्राकट्य का कारण है। अर्थात् जब सर्व साधनादि भक्तो के दुःख का निवारण करने में असमर्थ हो जाते हैं तब आप (श्रीकृष्णचन्द्र) को भक्त दुःख निवारण के लिये प्रकट होना पड़ता है। आप ही लीलाओं द्वारा भक्तों के दोषों की निवृत्ति कर उनके सर्व दुःख मिटाते हैं। तृतीय स्कन्ध में भगवान् के प्राकट्य का कारण इस "स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा। परावरेशोमहदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाऽग्निः।। श्लोक में कहा है कि पर

[1] जोर से दबी हुई, दुःखी

तथा अवर के ईश भगवान् अशान्त रूपों से जब अपने शान्त रूपों को पीडित देखते है, तब दयायुक्त अन्तःकरण वाले प्रभु अजन्मा होते हुए भी महदंशो से युक्त होकर जिस भांति काष्ठ से अग्नि प्रकट होती है, वैसे ही आप प्रकट होते हैं। इस प्रकार भक्त के दुःख निवारण के लिए भगवान् प्रकट होते हैं। परीक्षित ने इसको सुनकर भी यहाँ पुनः प्रश्न क्यों किया ? यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यहॉ उद्धार के विषय का निर्द्धार कराना है। इसलिए पुनः प्रश्न किया है।

भगवान् के प्राकट्य के कारण अनेक होते हुए भी दो कारण मुख्य कहे जाते हैं– (१) मर्यादा और (२) पुष्टि। जब भक्त दुःखी होते हैं और उनके दुःख साधनों से अथवा अन्य देवों से नहीं मिट सकते हैं, तब स्वयं श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं। यह प्राकट्य शास्त्रीय प्रमाणानुसार है। अतः यह मर्यादा प्राकट्य है और जहॉ अन्य प्रकार से भक्त दर्शनार्थ प्राकट्य होता है वह पुष्टि है। जैसे कि जब भक्त, दर्शनार्थ प्रार्थना करते हैं, तब शीघ्र वहाँ प्रकट हो भक्तों को दर्शन देकर उनको आनन्दित करते है, जैसे प्रहलादजी तथा नारदजी को। इसलिये नारदजी ने कहा है कि 'आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि' अर्थ – मैं जब भगवान् को बुलाता हूँ तब मुझे चित्त में दर्शन हो जाते हैं और प्रह्लाद को सर्वदा ही दर्शन होते हैं। यह तृतीय स्कन्ध में कहा है।।१–२।।

कारिका – ये भक्ताः शास्त्ररहिताः स्त्रीशूद्रद्विजबन्धवः।
तेषामुद्धारकः कृष्णः स्त्रीणामत्र विशेषतः।।३।।

कारिकार्थ – जो भक्त शास्त्रो में लिखे हुए साधनो को नहीं कर सकते है। उनका तथा स्त्री, शूद्र और द्विज बन्धुओं का उद्धार करने वाले तो श्रीकृष्ण ही हैं और इस श्रीकृष्ण अवतार में स्त्रियों का उद्धार विशेषता से किया है।

व्याख्या – प्रथम कारिका में 'अन्ये' शब्द से भूमि और माता के सिवाय जो तीसरे प्रकार के भक्त कहे हैं। उनका स्पष्टीकरण यहां करते हैं। जैसे कि आरम्भ में भूमि ने गौ रूप धारण किया, अन्य जो शास्त्रीय साधनों से रहित हैं, मध्य मे उनका कथन है तथा अन्त में 'माधव्योलोके' श्लोक में माधविआ परम गति को प्राप्त हुई का वर्णन है। इस वर्णन से सिद्ध होता है कि यह स्वरूप स्वयं भगवान् थे। अतः इस स्वरूप मे सदैव

सर्व सम्पूर्ण शक्तियों का समावेश रहता है, जिससे आपने सर्व प्रकार के जीवों का अर्थात् स्त्री, शूद्र तथा द्विज बन्धु, आदि का उद्धार किया है, उसमें भी स्त्रियों का विशेषतः उद्धार किया है। स्त्रियों का विशेष करके उद्धार करने से, यह बताया है कि स्त्रियाँ सबसे विशेष साधन करने में असमर्थ होती हैं ऐसी स्त्रियों का भी उद्धार कर आपने अपने निःसाधनोद्धारकपन की पराकाष्ठा[1] सिद्ध की है। अन्य अवतारों में जो शबर, किरात् आदि का उद्धार हुआ है वह भी कृष्ण स्वरूप से ही हुआ है। क्योंकि जो उद्धार के योग्य नहीं तथा साधनहीन हैं, उनका उद्धार प्रमेय बल से ही होता है। वह प्रमेय बल पुरुषोत्तम स्वरूप श्रीकृष्ण में ही विद्यमान है।

कारिका – येषां निरोधकं शास्त्रं योगादिविनिरूपितम्।
शेषभावस्तत्र हरेर्न कदाचिद् गमिष्यति।।४।।

कारिकार्थ – जिन जीवों का निरोध करने वाले योगादि साधन हैं, उन साधनों में भी हरि साधन रूप होते हैं उनसे यह साधनपन कभी भी नष्ट नहीं होगा।।४।।

व्याख्या – साधन करने वाले जीवों के आप उद्धारक किसलिए नहीं होते हैं? इस शङ्का का समाधान इस कारिका में किया गया है।

जो जीव, योग आदि शास्त्रीय साधनों से 'निरोध' सिद्ध करना चाहते हैं, उनसे साधन करने वालों का केवल चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है, उस साधन में ध्यान करने के समय भगवान् के स्वरूप का ध्यान करना पड़ता है अर्थात् वे साधन करने वाले चित्त की वृत्तियों का निरोध करने के लिए भगवान् को साधन बनाते हैं और चित्त की वृत्तियों के निरोध को साध्य (फलरूप) समझते हैं। अतः ऐसे संसाधन जीवों का भगवान् अनुपम, पुष्टिमार्गीय निरोध का दान, निःसाधन जीवों के समाप्त नहीं देते हैं। यह फल तो जो जीव सर्व साधनों का बल त्यागकर, भगवदाश्रय लेते हैं, उनको ही कृपानिधि, अपने प्रमेय बल से दान करते हैं। संसाधन तो अपने साधन बल से चित्तवृत्ति 'निरोधरूप' फल को जैसे तैसे प्राप्त करते हैं। इस निरोध से, संसार विस्मृतिपूर्वक, भगवदासक्तिरूप निरोध विशेष है। वह निरोध योगियों को प्राप्त नहीं होता है। योग

[1] अन्तिम सीमा

आदि साधन करने वाले पुरुषों में हरि को साधन बनाने के कारण उनकी गौणता बनी रहती है।

कारिका – संसारदुःखव्यावृत्यै निरोधोऽत्र निरूप्यते।
अतो निरोधो ज्ञानात्मा दुःखरूपा च संसृतिः।।५।।

कारिकार्थ – साधन द्वारा निरोध चाहने वालों के मत में, संसार के दुःखों के नाश के लिए, निरोध कहा गया है। अहन्ता ममतात्मक संसार अविद्या के कारण उत्पन्न होता है। अतः उस अविद्या के नाशार्थ ज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि अज्ञान का नाश ज्ञान से ही होता है। इसलिए इस मत में 'निरोध' ज्ञान रूप है। किञ्च भक्ति मार्ग में संसार भी लीला रूप होने से सुखरूप है। इस कारण से भी इसमें वैलक्षण्य है। इस प्रकार भिन्नता के कारण निःसाधन ही भगवान् के लिए उद्धार के विषय हैं। निःसाधन फलात्मा पुरुषोत्तम का प्राकट्य निःसाधन भक्तों के लिए ही है।

कारिका – एवमेकं फलं प्रोक्तं द्वयं वा न विरुद्ध्यते।
साङ्ग.स्य प्रक्रिया युक्ता ततः स्कन्धोऽपि युज्यते।।६।।

कारिकार्थ – इस प्रकार एक फल कहा अथवा दो फल हो तो भी विरोध नहीं है। अङ्ग. सहित जो क्रिया कही गई है वह योग्य ही है। इससे दशम स्कन्ध की योजना पूर्ण हो सकती है।

व्याख्या – निःसाधन भक्तों का एक ही फल अहन्ता ममतात्मक संसार की विस्मृतिपूर्वक भगवान् की प्राप्ति (आसक्ति) रूप जो कि भगवान् का प्राकट्य खास निःसाधनों के लिए ही हुअ है तो भी सर्वोद्धारक[1] होने से ससाधनों को भी संसार के दुःखों की निवृत्ति रूप फल आप ही देते हैं। इसलिए कारिका में 'द्वय वा न विरुद्ध्यते' कहा है। कारण कि भगवान् ने ससाधनों का केवल दुःखरूप संसार ही नाश कराकर निरोध किया है और किसी को (निःसाधनों को) जगत् में लीला रूप दृष्टि देकर संसार को सुखरूप बनाते हुए अपने में आसक्ति कराई है। यह निरोध निःसाधनों का विलक्षण[2] है। इस भांति अधिकारी भेद से, पृथक् फल देने से, कोई विरोध नहीं है। आपका

---

[1] सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा – श्रीकृष्ण सबके उद्धार करने मे प्रयत्न करने वाले है। – श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणा
[2] विचित्र, अजीब।

प्राकट्य 'निरोध' कराने के लिए ही हुआ है। अतः यहाँ (दशम स्कन्ध में) साङ्ग.लीला (समग्र अङ्ग. सहित लीला अर्थात् पूर्ण निरोध लीला) का वर्णन हुआ है, यह योग्य ही है इसलिए दशम स्कन्ध का अर्थ 'निरोध लीला' है।।६।।

कारिका – अवतारो निरोधाङ्गं. तदङ्गं. दुःखमेवच।
धैर्य्यार्थं सान्त्वनं प्रोक्तं भूमिमात्रोर्न चान्यथा।।७।।

कारिकार्थ – अवतार होना निरोध का अङ्ग. है और उसका अङ्ग. दुःख ही है। पृथ्वी तथा माता को धीरज देने के लिए ही सान्त्वना[1] दी गई है अन्यथा नहीं।।७।।

व्याख्या – हस्त पाद आदि के शरीर बनता है, मृत्तिका से घड़ा बनता है। हस्त पादादि शरीर के अङ्ग. है, मृत्तिका घड़े का अङ्ग. है। इसी भाँति 'निरोध' का अङ्ग. भगवदवतार है, क्योंकि यदि भगवान् प्रकट न होते तो 'निरोध' हो नहीं सकता। इस प्रकार भगवान् के प्रकट होने में अङ्ग.रूप भक्त का दुःख कारण है। यदि भक्त दुःखी न होते तो भगवान् का प्राकट्य नहीं होता, माता और भूमि को यदि धैर्य के लिए सात्वना[2] न दी जाती तो दुःख से उनका जीवन नष्ट हो जाता तो भगवान् ने प्रकट होकर जो लीलाएं कर 'निरोध' सिद्ध किया है वह बन नही सकता था अतः धैर्य के लिये सान्त्वना देनी आवश्यक समझी गई है।

कारिका – अन्ते दुःखं भक्तकृतं प्रादुर्भावाय वै हरेः।
आकाशवाणी वाग्देवः सर्वमुक्त्यर्थमुद्गतः।।८।।
अशक्तः संस्तथा चक्रे तथा नारद एव हि।।८½।।

कारिकार्थ – भगवान् के शीघ्र प्राकट्य के लिये भक्त नारदजी ने कंस को कहा कि व्रज में 'नन्दादिक', सब देव प्रकट हुवे हैं जिन वचनों को सुनकर कंस भुलावे में पड़ गया और पुनः दुःख देने लगा तथा आकाशवाणी भी इसलिये ही हुई, उसने (वाणी ने) समझा कि मैं तो भगवान् के प्राकट्य कराने में अशक्त हूँ और सर्व की मुक्ति के

---

[1] आश्वासन
[2] तसल्ली

लिये भगवत्प्राकट्य की आवश्यकता है। अतः मैं जब इस प्रकार कंस को कहूँगी तब वह भक्तों को दुःख देगा, जिससे भगवान् शीघ्र प्रकट होंगे।

व्याख्या – आकाशवाणी से भगवत्प्राकट्य का निश्चय हो गया। और नारदजी के इन वचनों से पता नहीं पड़ा कि देवकी का कौनसा बालक हरि होगा जो मुझे मारेगा, इससे कंस सबको दुःख देने लगा। दुःख प्रतिदिन बढ़ते ही गये। भक्त गण उन दुःखों को मिटाने के लिये सर्वथा असमर्थ थे, जहां दुःख मिटाने में देव भी अशक्त हो गये और जब निःसाधन भक्तों का दुःख मिटाने वाले प्रभु के सिवाय कोई नहीं रहा, तब निःसाधन जनोद्धारक प्रभु, निःसाधनों के उद्धारार्थ स्वयं प्रकट होकर उनके उद्धार का साधन स्वयं बन गये।।८½।।

कारिका – दशभिः सान्त्वनं भूमेः पञ्चत्रिंशत्तमैस्तथा।।६।।
अष्टभिर्नारदोक्त्यैव सर्वेषां दुःखमञ्जसा।।६½।।

कारिकार्थ – दश श्लोकों से भूमि को और (३५) पेंतीस श्लोकों से माता को आश्वासन[1] दिया है तथा आठ श्लोकों में नारदजी के कहने से प्राप्त दुःख का वर्णन है।

* कारिका सम्पूर्ण *

सुबोधिनी – तत्र दशभिर्भूमिसान्त्वनं वाचा। उपायेन देवक्याः पञ्चर्त्रिंशद्भिः। ततोऽष्टभिः सर्वेषां दुःखं भगवदवतारार्थं हेतुभूतमुच्यते। उद्यमः स्वदुःखनिवेदनेन दैन्यम्। ततो भक्तानां भगवत्समीपगमनम्। निवेदनार्थं स्तोत्रम्। ततो भगवद्वाक्यनिवेदनम्। शब्दतस्तदर्थश्चतुर्भिर्विवृतः क्रियाजन्मसङ्कर्षणमायाभिः। तत उपसंहार इति। तत्र प्रथमं भूमेरुद्योग उच्यते। व्यापिवैकुण्ठ एव हरिः प्रकटः। अन्यत्र सर्वत्र गुप्त इति। भगवत्स्थाने न गताभूः। ब्रह्मणा च जनिता। अत उपायकरणार्थमेव भूम्युद्धरणवदधुनापि करिष्यतीति तत्र गमनम्। भूमिर्वस्तुतो दैत्यानाम्। 'यावदासीनः परापश्यति तावद्देवाना' मतस्तावद्रूपेण देवोपयोगिना गमनम्। शीघ्रं बाधाभावाय। कार्यावश्यकत्वाय च शरणगमनम्। दैत्या सर्वे मायादेवताः कापट्येनैव भूमिं रसातलं नेतुं राजारूपेणावतीर्णाः। राज्ञां दैत्यत्वज्ञापकं लक्षणं दृप्तत्वमुच्छास्त्रवर्तित्वम्।

[1] ढाढस, दिलासा

एतदेव सर्वत्र लक्षणम्। हता अमुक्तास्ते देवेष्वपि प्रविष्टा इति देवा अपि तथा। अतस्तेप्यन्ते निराकृताः। अवतारे तद्धर्मा भविष्यन्तीति तव्द्यावृत्त्यर्थमाह – व्याजेति। ते च दैत्या नोपभोगार्थमागता किन्तु घातार्थमिति ज्ञापयितुमाह – अनीकेति। दैत्यानामनीकानि तेषां शतान्यसख्यातानि तानि चायुतान्यमिलितानि तत्र तत्र पुञ्जीभूय स्थितानि। अत एवासमन्तात् क्रान्ता, यथा सर्वतश्च शीघ्रं निमग्ना भवति। भूरिभारेणाक्रान्ता। दैत्यत्वं भारजनकत्वम्। यथा उन्मत्त एकोऽपि नौकारूढो नौका मज्जयति। बलाक्रमणे च भारः। पूर्व ब्रह्मणा उद्धारे उपायः कृत ब्रह्माणं शरणं ययौ।।१७।।

अनुवाद – इस प्रकरण में दश श्लोकों से भूमि को आश्वासन, वाणी द्वारा दिया गया है, पैंतीस श्लोकों से देवकीजी की सान्त्वना उपाय द्वारा दी गई है, पश्चात् आठ श्लोकों से भगवान् के प्राकट्य का कारण, जो सर्व का दुःख है वह कहा जायगा। प्रथम १० श्लोकों में (गौ का) उद्यम, १८ श्लोकों में अपने दुःख का वर्णन करते हुए गौ ने दीनता दिखाई है। (१६) श्लोकों में भक्त भगवान् के पास गये थे उसका वर्णन है। तथा २० श्लोकों में निवेदन पूर्वक उन्होंने भगवत्स्तुति की है। २१ श्लोकों में भगवान् ने जो आज्ञा की थी वह (आज्ञा) ब्रह्माजी ने देवताओं तथा अन्य भक्तों को सुनाई। २२ से २५ तक इन ४ श्लोकों में उन (भगवान्) के शब्दों का भावार्थ कहा है जैसे कि उनमें (१) क्रिया (देवता, यादवों में प्रकट होवे वैसी क्रिया) (२) जन्म (भगवान् का प्राकट्य) (३) संकर्षण तथा (४) माया इन चारों के विषय का विवरण[1] है। इसके अनन्तर[2] उपसंहार[3] है।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि पहिले भूमि ने उद्यम–ब्रह्मा के पास जाने का प्रयत्न किया। प्रभु सर्वत्र[4] गुप्त हैं। केवल व्यापि वैकुण्ठ में साक्षात[5] विराजते हैं। भूमि ने सोचा कि वराहावतार में भी मेरे उद्धार के लिए ब्रह्माजी ने उपाय किया था। अब भी उनके द्वारा ही मेरे दुःख की निवृत्ति होगी। अतः मुझे ब्रह्माजी के पास ही चलना चाहिए। इस विचार से वह ब्रह्माजी के पास गई। भूमि, वास्तविक दैत्यों की है,

[1] बयान
[2] बाद मे
[3] समाप्ति
[4] सब जगह
[5] प्रकट रूप मे

देवताओं[*] की भूमि तो केवल इतनी ही है कि मनुष्य बैठकर पीछे देखे तो उसके देखने में जितनी आवे, उतनी भूमि देवताओं की है, शेष असुरों की है। अतः भूमि देवताओ के उपयोग में आने वाला छोटा रूप (गौ का) धारण कर ब्रह्माजी के पास गई। जो गौ रूप धारण न कर यदि अपने ही विशाल रूप से जाती तो दैत्य बाधा करते। इसलिए उस बाधा के न होने के लिए गौ रूप से शीघ्र गई। अपने और दूसरों के दुःख मिटाने की तुलना में अन्य कोई कार्य आवश्यक नहीं है। अतः इस आवश्यक कार्य को पूर्ण कराने के लिए पृथ्वी ब्रह्माजी की शरण में गई। माया के उपासक सर्व दैत्य, पृथ्वी को रसातल में ले जाने के वास्ते राजाओं के रूप में जन्में हैं। ये राजा दैत्य हैं इसका प्रमाण यह है कि ये अभिमानी तथा शास्त्र विरुद्ध आचरण करने वाले हैं। इसलिए शुकदेवजी ने इनको 'दृप्त' विशेष दिया है। असुरों को यह शास्त्र विरुद्ध आचरण एवम् अभिमान ही सर्वत्र कहा गया है।

जिन दैत्यों का वध तो हुआ किन्तु मुक्ति नहीं हुई, वे दैत्य देवताओं में घुस गये हैं। इस प्रकार देव भी वैसे बन गये हैं। अतः उन देवों में मिले हुए दैत्यों[1] का निराकरण किया गया है। मूल श्लोक में 'ब्याज' शब्द देकर यह बताया है कि ये दैत्य यद्यपि राजाओं के रूप में उत्पन्न हुए हैं तो भी उनमें प्रजा पालन रूप राजधर्म तो नहीं है किन्तु प्रजा का घात करना, यह दैत्य धर्म है। अतः यह राजाओं का रूप उन दैत्यों ने छल से धारण किया है।

ये दैत्य, राजा का रूप धारण कर प्रजा को सुख देने और स्वयं सुख भोगने के लिए नहीं जन्मे हैं किन्तु प्रजा का घात करने के लिए आये हैं। इसलिए कहा गया है

---

[*] प्रकाशकार श्री पुरुषोत्तमजी इस विषय को स्पष्ट समझाने के लिए श्रुति का प्रमाण देते है। असुराणा वा अयमग्रआसीद्यावदासीनः पराश्यति तावद्देवानाम् इति, देवानं भूवाचनोत्तर कियद्वोदास्यामीति प्रश्ने, तत सालावृकीत्रि प्ररिक्रान्तिमिता याचित्वाघृतसालावृकोरूपेणेन्द्रेण सर्वस्या परिक्रमणे। भूमेः प्रास्था वेदित्वमुक्तमिति श्रुति ।

भावार्थ – यह पृथ्वी पहिले असुरो की थी, केवल उतना भाग देवों का था जितने को बैठकर मनुष्य पीछे देख सके। किसी समय इस पृथ्वी को देवताओ की करने के लिए इन्द्र ने कुत्ती का रूप धारण कर दैत्यो से पृथ्वी को मांगा। तब दैत्यो ने कहा कि कितनी पृथ्वी तुझे चाहिये ? कुत्ती रूपधारी इन्द्र ने कहा कि मै जितनी पृथ्वी को तीन बार मै परिक्रमा कर आऊँ, उतनी पृथ्वी दीजिये। दैत्यो ने उस कुत्ती का कहना मान लिया। कुत्ती का रूप धारण करने वाला इन्द्र समग्र भूमि की प्रदक्षिणा कर आया। तब से पृथ्वी देवताओ की हुई।

[1] भीष्मदिको को

कि असंख्य सेना रूप में इकट्ठे हो गये हैं, जिसके भार से भूमि इतनी आक्रान्त[1] होकर दब गई है कि चारों तरफ से शीघ्र निमग्न[2] हुई दिखती है। अत्यन्त भार से इसलिए दुःखी हुई है कि जो दैत्यपन भार को पैदा करता है, वह पाप भार डुबाने वाला है। जैसे एक ही उन्मत्त, नौका को डुबा देता है। यहाँ तो असंख्य उच्छृङ्खल सेनानियों की सेना के आक्रमण का भार पृथ्वी पर थी। वह क्या नहीं कर सकता है ? अतः पृथ्वी यह सोचकर ब्रह्माजी के पास गई क्योंकि पहले भी ब्रह्माजी ने उद्धार का उपाय किया था और अब भी वे ही करेंगे।।१७।।

आभास – रूपान्तरेण गमनं देवानां हितकारि न भवतीति हविर्द्धानीरूपेण गतेत्याह – गौर्भूत्वेति।

अनुवाद – भूमि, हविर्द्धागी (गौ)[3] का रूप धारण कर ब्रह्माजी के पास गई। इसका आशय यह है कि सब जीवों (पशु आदि) में गौ रूप ही दीनता वाला है। जिसको देखकर सबको दया आ जाती है। अतः इस रूप से ही देवताओ का हित होगा। दूसरे रूप (भूमि रूप) से जाने में देवताओं के हित में बाधा होने की आशङ्का रहती है। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना रुदन्ती करुणं विभोः।**
उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं समवोचत।।१८।।

श्लोकार्थ – खेदयुक्त, दया उत्पन्न हो, इस प्रकार अश्रुपूर्णमुखवाली, रुदन करती हुई गौरूपधारी भूमि ब्रह्माजी के समीप उपस्थित होकर उन अपने दुःखों का वर्णन करने लगी।

सुबोधिनी – गौर्भूत्वा अन्तिके उपस्थिता तस्मै व्यसनं समवोचतेति सम्बन्धः। अश्रूणि अप्रोञ्छितानि निरन्तरं प्रवृत्तानि मुखे समायान्ति। अन्तःखेदात्मके तापे स्वेद एवाश्रूणि भवन्ति। खेदोपि ज्ञानजनितश्चेत्तदा ज्ञानद्वारा नेत्रयोर्निर्गतः स्वेदोऽश्रुशब्देनोच्यते। दैत्यानामभिप्रायज्ञानेन शोकः। अन्तःस्थितधर्मविसंवादि वाक्यमप्रमाणमिति धर्मप्राकट्यपूर्वकं धर्मकथनम्। बहूनां तादृशानां सम्भवान्निर्द्धारार्थं कथनम्। अधिकारित्वादविचारदशायां न सर्वज्ञतेति युक्तं कथनम्। खिन्नेति

---

[1] दुःखी, पीडित
[2] डूबती हुई
[3] हवि के पदार्थ दूध, दही, घृत देवे वाली

दुःखसन्ततिरत्यन्त निरूपिता। दौर्बल्यं कान्त्यभावश्च तस्य ज्ञापकौ। तस्यास्ततोऽन्योपा–यबोधननिवृत्त्यर्थं तथोक्तम्। रोदनं शब्दात्मकं करुण यथा भवतीति पितृवियोगजनितखेदाभावाय अधिकारित्वात् कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं रोदनम्। विभोरिति ब्रह्मणः सामर्थ्यं प्रतीकारे द्योतितम्। उप समीपे भगवत्येवाऽन्तर्यामिणि स्थिता बहिरन्तिके स्थिता ब्रह्मणः। व्यसनमप्रतीकारदुःखम्। स्वं सम्यगबोचततेत्यर्थः।।१८।।

अनुवाद – भूमि, गौ का रूप धारण कर ब्रह्माजी के समीप स्थित होकर अपना दुःख उनको बताने लगी। जिस समय भूमि, गौ रूप से ब्रह्माजी के पास उपस्थित हुई। उस वक्त गौ के अन्तःकरण में जो दुःख था उस दुःख के ताप से उत्पन्न पसीना अश्रुरूप से ऑखो में से निरन्तर बहता हुआ मुख में आ रहा था।

ज्ञान से (किसी बात के जानने से) जो अन्तःकरण में खेद होता है उस दुःख से उत्पन्न पसीना ऑखों से निकल आता है। उस पसीने को 'अश्रु' कहते हैं। भूमि को भी दैत्यों के अभिप्राय का ज्ञान होने से खेद हुआ था। वाक्य वह प्रमाण माना जाता है कि जिसके भाव का अन्तःकरण के धर्म के साथ मिलन होवे, यदि वाक्य के भाव का अन्तःकरण के धर्म के साथ मिलाप न हुआ तो वह वाक्य प्रमाण नहीं है।

भूमि के अन्तःकरण में दैत्यों के अभिप्राय जानने से जो दुःख हुआ था वह दुःख अन्तःकरण के धर्म से मिल गया था अतः भूमि ने उस धर्म का अश्रु द्वारा प्रकट करके दिखाया। किन्तु एक धर्म को तो केवल अश्रु द्वारा भी समझाया जा सकता है किन्तु जहाँ बहुत से दुःख हों वहा अश्रुओं से ही न समझाने में आने के कारण मुख से कहने की भी आवश्यकता होती है। इसलिये गौ रूपधारी पृथ्वी अपने दुःख मुख से कहने लगी। ब्रह्माजी, सर्वज्ञ होने से बिना कहे हुए भी दुःख को जान सकते है, तो फिर कहने की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं कि यों तो ब्रह्माजी ब्रह्म रूप होने से सर्वज्ञ हैं किन्तु अब यहाँ ब्रह्माजी की अधिकारी दशा है अर्थात् अधिकारी हैं इस कारण से इस समय वे सर्वज्ञ नहीं हैं इसीलिये भूमि को अपने दुःख का मुख से वर्णन करना पड़ा जो योग्य ही है। 'खिन्ना' शब्द से यह बताया कि भूमि को एक ढंग से दुःख नहीं था किन्तु अनेक प्रकार से दुःख थे अर्थात् खेद पूर्ण अन्तःकरण वाली थी। खेद पूर्ण थी इसका प्रमाण क्या है ? वहां कहते हैं कि खेद के कारण शरीर में एक तरफ दुर्बलता आ गई है और दूसरी तरफ उसका तेज नष्ट हो गया है। यह दोनों प्रकट चिन्ह उसके

दुःख के साक्षी हैं। पुत्री का दुःख जैसे पिता शीघ्र दूर कर सकता है वैसे अन्य नहीं कर सकता है, अतः भूमि ने अपने दुःख की निवृत्ति के लिये पिता के पास जाना ही उचित समझा। भूमि उस समय करुणा युक्त रोदन करती हुई ब्रह्माजी के समीप गई, इस प्रकार के रोदन का कारण यह था कि भूमि ब्रह्माजी को बताना चाहती थी कि मुझे आपके वियोग का वैसा कष्ट नहीं है जैसा दैत्यों के दुःख का है। आपके वियोग में इस प्रकार करुण रोदन हो नहीं सकता है यह रोदन तो दैत्यों के दुःखों के कारण मुझे आ रहा है, अतः आप पिता हो शीघ्र मेरे दुःख निवृत्ति का उपाय करो। इस प्रकार के रोदन का गौण कारण यह भी था कि पिताजी अधिकारी हैं। उनको अनेक अन्य कार्य करने पड़ते हैं इसलिये कहीं मेरे दुःख निवृत्ति के उपाय में विलम्ब न कर देवें यह सोचकर कि दूसरों काम का पहले करलूं पुत्री का काम है पीछे ही कर लूंगा, कहीं यों न हो जाय इसलिये भी करुण क्रंदन किया गया था।

भूमि ने सोचा कि पिताजी कदाचित् कह न देवें कि मुझसे यह तेरे दुःख की निवृत्ति नहीं होगी, इसलिये पिता को 'विभो' विशेषण देकर सावधान करती है कि मुझे मालूम है कि आप सब कुछ करने में समर्थ हो अतः मैं आपकी शरण में आई हूँ।

मूल श्लोक में 'उपस्थिता' इस पद में 'उप' उपसर्ग देने का आशय बताते हैं कि 'उप' कहने से समझना चाहिये कि 'भूमि' ब्रह्माजी के अन्तःकरण में अन्तर्यामि रूप से विराजमान प्रभु (भगवान्) के पास आकर अपने दुःख सुनाती है। कारण कि भूमि भक्त है वह अपने दुःख भगवान् को ही सुनाना चाहती है। समीप होने के सिवाय तो अपने दुःख सुनाये नहीं जा सकते हैं अतः भूमि भक्तिमार्गीय ध्यान द्वारा भगवान् की समीपता प्राप्त कर अपने क्लेश भगवान् को ही सुनाती है। श्लोक में 'उप' शब्द देकर उपरोक्त आशय को सिद्ध किया है कि भीतर तो भगवान् के पास प्रार्थना है और बाहिर केवल ब्रह्माजी के समीप खडी रही इसलिये 'अन्तिके' शब्द दिया है दुःख शब्द न देकर मूल में 'व्यसन' शब्द दिया है। उसका आशय यह है कि यह दुःख ऐसा है जिसको आपके (प्रभु के) सिवाय कोई नहीं मिटा सकता है। अतः अपने दुःख प्रभु के पास स्पष्ट प्रकार से वर्णन करने लगी।।१८।।

ततो ब्रह्मा दैत्यसम्बन्धित्वाद्भूमेः सहायार्थमाकारणशङ्काव्यावृत्यर्थमालोचनज्ञानेन तदुक्तार्थं निश्चित्य प्रतीकारं कृतवानित्याह – ब्रह्मेति।

अनुवाद – जब गौ रूपवाली पृथ्वी ब्रह्माजी के सामने खड़ी होकर अपने दुःख प्रकट करने लगी तब ब्रह्माजी के हृदय में शङ्का* हुई कि क्या यह अपने दुःखों को मिटाने के लिये मुझे बुला रही है ? इस शङ्का को ब्रह्माजी ने विचार पूर्वक ज्ञान से मिटाया और उस ज्ञान से गौ के वचनों का भाव समझकर उपाय करने लगे। उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक – **ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह।**
जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः।।१६।।

श्लोकार्थ – गौ रूपधारी भूमि के वचनों के भावार्थ का निश्चय कर ब्रह्माजी अपने साथ महादेव, अन्य देव तथा भूमि को साथ लेकर क्षीर सागर के तीर पर गये।।१६।।

श्रीसुबोधिनी – ब्रह्मत्वात्तथासामर्थ्यं ज्ञानात्मकत्वात्। अथेति स्वनिश्चयानन्तर, न तु भूमिवाक्यमात्रेण। देवानां नयनमाज्ञापनार्थं, आलोचने प्रतीकारं ससाधनं ज्ञातवानिति। महादेवस्य नयनं दैत्यानामुपायान्तरोपदेशाभावाय। भूमेर्नयनं निमित्तज्ञापनाय। अत एव त्रिनयनपदम्। त्रिष्वपि देवदैत्यमनुष्येषु नयनं यस्येति। श्वेतद्वीपं भगवतः प्रिय धामेति व्यापिवैकुण्ठद्वारस्य तत्र नैकट्याद्वा क्षीरपयोनिधेस्तीरं जगाम, भूमावासक्त एव भूम्युपकारं करिष्यतीति ज्ञापनार्थं च।।१६।।

योजनाकार लालू भट्ट इस शङ्का को स्पष्ट करने के लिये कहते है कि, भूमि के वचन सुनकर ब्रह्माजी के मन में दो प्रकार की शङ्काएँ पैदा हुई – (१) तो भूमि भगवद्भक्त है अत यह केवल अपने दुःख का निवारण ही नहीं किन्तु दुष्ट राजाओं को भार उतारने के लिये भगवान्, प्रकट हो, यह चाहती होगी। (२) शङ्का यह भी हुई होगी कि, भूमि की दैत्यो के सम्बन्ध होने के कारण स्वार्थ बुद्धि हो गई होगी जिससे वह अपना दुःख ही मिटाना चाहती होगी। भगवान् के प्राकट्य की आवश्यकता नहीं चाहती होगी। इस दोनो शङ्काओ पर ब्रह्माजी ने पूर्ण रीति से विचार किया, जिससे ब्रह्माजी को निश्चय हुआ कि भूमि परम भक्त है, अत. दैत्य संघ होने पर भी इनमें स्वार्थ नही आया है इससे यह भगवान् का ही प्राकट्य चाहती है जिस प्रादुर्भाव से दो कार्य सिद्ध होंगे इस प्रकार ब्रह्माजी निश्चय कर सबको साथे ले के भगवान् के पास पहुँचने के लिये क्षीर सागर के तीर पर गये।

अनुवाद – ब्रह्माजी ब्रह्म हैं, इसलिए ज्ञान स्वरूप भी हैं, भूमि के वचन सुनकर जो शङ्काएँ उत्पन्न हुई थी, उनको भूमि के वचनों से नहीं किन्तु अपने ज्ञान से मिटाकर भूमि के अन्तःकरण के भाव का निश्चय किया, तदनन्तर सबों को (देव, गौ आदि को) साथ में लेकर क्षीर सागर के तीर पर गये। देवताओं को साथ में इसलिए ले गये थे कि जो कुछ भगवान् आज्ञा करेंगे वह इनको वहाँ ही बता देंगे। ब्रह्माजी ने जब मन में शङ्काओं के समाधान के लिए आलोचनां को तो उन आलोचना से उपाय तथा उसके साधनों को भी जान लिया। महादेवजी को साथ ले जाने का कारण यह था कि यदि महादेवजी साथ मे नहीं होंगे तो दैत्यों को दूसरा उपाय नहीं बता सकेंगे। पृथ्वी को साथ में ले जाने का कारण यह था कि भगवान् को प्राकट्य के लिए निमित्त कारण चाहिए तो उस निमित्त कारण को प्रत्यक्ष दिखाने के वास्ते भूमि को भी ले गये। यहाँ मूल श्लोक में महादेवजी का नाम 'त्रिनयन' दिया है। उसका भाव बताते हैं कि देव, दैत्य और मनुष्य इन तीनों पर महादेवजी की दयादृष्टि रहती है। इस कारण से भी महादेवजी को साथ में ले जाना आवश्यक था। श्वेत द्वीप भगवान् का प्रिय धाम है एवम् व्यापि वैकुण्ठ का द्वार इस द्वीप के क्षीर सागर के समीप ही है। इसलिए क्षीर सागर के तीर पर गये। भूमि भगवान् की भक्त है। अतः भक्तों में आसक्त चित्त वाले भगवान् भूमि में भी आसक्त होकर ही उसका उपकार करेंगे, इसको जताने के लिए तीर पर ठहर गये।।१६।।

आभास – तत्रापि भगवतस्तिरोभावात् स्तोत्रं कृतवानित्याह – तत्र गत्वेति।

वहां जाकर स्तुति करने की क्या आवश्यकता थी ? इस पर कहते हैं कि जब ब्रह्माजी वहाँ गये तब भगवान् वहाँ भी तिरोहित थे, उनका आविर्भाव कर प्रार्थना करने के लिए स्तुति की है। उसका वर्णन 'तत्र गत्वा' इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम्।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः।।२०।।

श्लोकार्थ – वहाँ जाकर समाधि में स्थित ब्रह्माजी ने देवों के देव जगत् के नाथ, सर्व यज्ञों के फल के भोक्ता पुरुष की पुरुषसूक्त से स्तुति की।।२०।।

श्रीसुबोधिनी – गमनमात्रेणैव स्तोत्रम् कृतवानिति ज्ञापनार्थं गत्वेत्यनुवादः। तत्र गत्वा समाहितो योगारूढ पुरुषसूक्तेन उपतस्थ इति सम्बन्धः। स्वयं कथं न प्रतीकारं कृतवानिति

शङ्काभावायाह – जगन्नाथमिति। जगतां स एव नाथस्ततः स्वस्याकरणम्। ननु जगन्नाथत्वे दैत्यानामपि नाथ इति प्रतीकार न कुर्यादित्याशंक्याह – देवदेवमिति। देवानामपि स एव देवः। देवैर्दीव्यतीति वा। 'प्रजापतेः प्रजापतिरग्नेरग्निः सूर्यस्य सूर्य' इति। अतो देवानां भगवानाधिदैविकरूप इति न दैत्यहितं करिष्यतीति भावः। जगन्नाथो मर्यादया। सांप्रतं दैत्यानामतिक्रमान्न पक्षपातः। ननु भूमे रसातलगमनेपि स्वर्गे देवैः सह क्रीडा देवहिताचरण च सम्भविष्यतीत्याशंक्याह – वृषाकपिमिति। वृषो धर्मो यज्ञादिरूपः, तस्यासमन्तात् कं सुखं फलं स्वर्गादि तत् पिबतीति। सर्वयज्ञफलभोक्ता। भूम्यभावे ततो यज्ञाभावः। देवानां च देवत्वं यज्ञफलभोगादेव। नन्वदृष्टोऽसंनिहितश्च कथं स्तूयत इत्याशक्याह – पुरुषमिति। स हि स्वहृदय एव वर्त्तते। 'पुरुषो वा नारायणः स्वपिते'ति। ततः कार्यावश्यम्भाव इति ज्ञापनार्थम्। पुरुषसूक्तेनेति वैदिकेन भगवत्प्रेरणया प्राप्तेन भगवतोऽतिप्रियेण। पुरुषसूक्तं च तेजोमयम्। उपस्थानविद्यया तेजोमयः परितुष्यतीत्यन्तर्यामिपुरः सरं स्तोत्रकरणात् तत्सूक्तेनैव स्तोत्रमुचितम्।।२०।।

अनुवाद – उपरोक्त १६वें श्लोक में 'जगाम' (गये) यह क्रिया दी है। पुनः इस श्लोक में 'गत्वा' कहने का भाव यह है कि जाते ही बिना विलम्ब के ब्रह्माजी स्तुति करने लगे। इसलिए यहाँ 'गत्वा' पद दिया है। ब्रह्माजी ने वहाँ जाते ही समाधि लगाकर पुरुष सूक्त से भगवान् की स्तुति की। इस प्रकार श्लोक के पदों का सम्बन्ध लगाना चाहिए अर्थात् अन्वय (पदों का आपस में योग्य मिलन कराना) करना चाहिए। ब्रह्माजी ने स्वयं दुःख का प्रतीकार (उपाय) नहीं किया। इसका कारण बताते हुए श्लोक में कहा है कि 'जगन्नाथं' भगवान् जगत् के स्वामी हैं। उनको ही यह अधिकार है, ब्रह्माजी को नहीं है। यदि ऐसा है कि भगवान् जगत् के नाथ हैं। इसलिए उनको यह अधिकार है तो जगत् के नाथ होने से दैत्यों के भी तो नाथ हुए तो फिर केवल देवों का ही हित क्यों करते हैं ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवान् स्वतन्त्र रूप से खिलाड़ी हैं। अतः आपका नाम 'देवदेव' हुआ है ? (वह क्रीड़ा देवों से ही करते हैं न कि दैत्यों से) दैत्यों के भी स्वामी हैं किन्तु वह स्वामित्व मर्यादानुरूप है। इस समय दैत्य मर्यादा का भी उल्लघंन कर चुके हैं। अतः वे मर्यादा से भी हित करने योग्य नहीं रहे हैं इसके सिवाय भगवान् देवों के आधिदैविक[1] स्वरूप हैं। इसलिए भी भगवान् को देवों का हित करना आवश्यक है।

[1] प्रजापतेः प्रजापतिः, अग्नेरग्नि, सूर्यस्य सूर्य इति भगवान् प्रजापति के प्रजापति है, अग्नि के अग्नि है, सूर्य के सूर्य है। इस प्रमाणानुसार भगवान् देवों के आधिदैविक स्वरूप है।

यदि दैत्य भूमि को रसातल में ले जावे तो कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि भगवान् स्वर्ग में देवों से क्रीडा कर सकते हैं और देवों का हित भी कर सकते हैं। इसलिये दैत्यों के अपकार और देवों के उपकार के लिये स्तुति कर बुलाना योग्य नहीं है। इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक में (वृषाकपि) भगवान् का विशेषण दिया है। यदि भगवान् प्रकट होकर देवताओं की रक्षा न करें और दैत्यों का नाश न करें तो यह नाम निरर्थक हो जाय। (वृषाकपि) पद का अर्थ है यज्ञादिरूप धर्म के सम्पूर्ण फल का भोक्ता भगवान् है। यदि भूमि रसातल में चली जावे तो यज्ञ कैसे होंगे। यज्ञ न होने से देवों का देवत्व चला जायगा क्योंकि देवों का देवत्व यज्ञ के फल के भोग से ही है। जो देखने में नहीं आता है एवं जो समीप में नहीं है। उसकी स्तुति कैसे की जाती है ? इस शङ्का के उत्तर में कहते है कि वह (पुरुष) है अतः वह सदैव ब्रह्माजी के हृदय में भी विराजते है, और भगवान् नारायण ब्रह्माजी के पिता भी हैं। पिता के नाते से ब्रह्माजी का कार्य अवश्य करेंगे। पुरुष सूक्त से स्तुति इसलिये की हैं कि वह एक तो वैदिक स्तोत्र है। दूसरे भगवान् के प्रेरणा से प्राप्त हुवा है, जिससे भगवान् का अतिप्रिय है। और (पुरुषसूक्त) तेजोमय है भगवान् भी तेजोमय हैं जो सूर्य के भीतर नारायण रूप से स्थित हैं वह इस उपस्थान विद्या के द्वारा स्तोत्र होने से प्रसन्न होंगे अतः अन्तर्यामिपने के धर्म को धारण करने वाले भगवान् पुरुषोत्तम की इस पुरुष सूक्त से ही स्तुति करना योग्य है।।२०।।

आभास – ननु पुरुष एव तथा सत्यवतरिष्यतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणपूर्वकं भगवत उत्तरं जातं स्वान्तःकरणे उपलभ्यातिसूक्ष्मत्वाद्देवानामगम्यं तान् ज्ञापितवानित्याह– गिरमिति।

पुरुषसूक्त से पुरुष रूप की स्तुति की है अतः पुरुष ने ही अवतार लिया होगा। न कि पुरुषोत्तम प्रकट हुवे होंगे। इस शङ्का का उत्तर जो भगवान् ने सूक्ष्म में कहा उसको अन्तःकरण में ब्रह्माजी जान लिया, वह बहुत सूक्ष्म होने से देवो की समझ में नही आया, इसीलिये ब्रह्मा निम्न श्लोक में देवों को कहने लगे।

श्लोकः – गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह।

गां पौरुषीं मे श्रृणुतामराः पुनर्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम्।।२१।।

श्लोकार्थ – आकाश में कहे हुए भगवान् के वाक्य को समाधि में सुनकर ब्रह्माजी कहने लगे कि हे देवो! भगवान् के कहे हुए वाक्यों को सुनो और उसके अनुसार शीघ्र बर्ताव करो, देरी मत करो।।२१।।

सुबोधिनी – समाधौ यो भावितो भगवान् सलोक। तत्राकाशे भगवद्वाक्य भगवतोक्तं श्रुतवान्। तत्र प्रमाणमाह – वेधा इति। अन्यथा कथं विदधाति भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण। ननु देवा अपि ब्रह्मतुल्याः कथं न श्रुतवन्तस्तत्राह– त्रिदशानिति। तिस्रो दशा येषां, बाल्य कौमारं यौवनमिति। अनेन तेषामुत्पत्त्याज्ञापि युक्ता भवतीति ज्ञापितम्। अकस्मात् क्षण स्थित्वा किञ्चिद् विचार्य उक्तवानिति सर्वेषामाश्चर्यं हेत्याह स्वतः कथनं वारयति – पौरुषीमिति। गामित्यखण्डनाय। तस्या वाचो दोग्धृत्वाय च। म इति प्रमाणार्थम्। न हि ब्रह्मवाक्यमन्यथा भवति। पुरुषसम्बन्धिन्येव मत्तो वा श्रोतव्येति। आदौ भगवत आज्ञापनमाह – अमरा इति। प्रथमतः श्रुत्वा पुनः पश्चाद्विधीयताम्। चिर मा विलम्बो न कर्तव्यः। सामग्रीमेव सम्पादयितुमादौ बोधयति पश्चाद्वक्ष्यत्याज्ञाम्। अग्रे च वक्तव्यमशावतरणम्। तद् देवाना मरणानन्तर भवतीतिशङ्का युदासाय अमरा इति सम्बोधयति। शृणुतेति सावधानार्थं वचनम्। पुनः पदं च पूर्वं रामावतारे रावणभीतेन ब्रह्मणा पूर्वमपि देवा आज्ञप्ता अशावतारणार्थमिदानीमपि तथैवाज्ञेतिज्ञापनार्थम्। पूर्वं विलम्बेन कृतं तद्व्युदासायाश्विति। पुनस्तथैवांशावतरणं विधीयतामित्यर्थः। तथैवेति। यो देवो यावतांशेन जातः पौर्वापर्येण वा। पूर्वं दशरथो नावतीर्ण इत्याज्ञया तमवतार्थ षष्टिसहस्रवर्षानन्तरं स्वयमवतीर्णोऽतो विलम्बः। तां शङ्का प्रकृते वारयति चिरं मेति।।२१।।

अनुवाद – ब्रह्माजी ने समाधि में लोक सहित भगवान् के स्वरूप की भावना की थी। उस वक्त समाधि में ही उस स्थान में जो भगवान् ने वाक्य कहे वे ब्रह्माजी ने सुने, कारण कि ब्रह्माजी (वेधाः) हैं अर्थात् जगत् के रचने वाले तथा धारण करने वाले भी हैं इसलिये उनकी भावना सत्य स्वरूप है जिससे वह भगवद्वाणी सुनकर समझ सके, यदि वैसे नहीं होते तो भगवान् की आज्ञा के बिना देवों की आज्ञा कैसे करते ? इससे जाना जाता है कि वे गुण ब्रह्माजी में हैं जिनसे भगवान् की वाणी सुन सके। देवगण भी ब्रह्माजी के समान ही हैं उन्होंने क्यों नहीं सुनी ? इसके उत्तर में श्लोक मे देवताओं का स्वरूप प्रकट करते हुए कहा गया है कि वे (त्रिदश) हैं अर्थात् उनकी मनुष्यों के समान तीन दशाएँ (बाल, यौवन तथा वृद्ध) होती हैं ब्रह्माजी की नहीं होती हैं अतः देव ब्रह्माजी के समान नहीं है। जब देवों की ये तीन दशाएँ होती हैं तब ही तो उनको जन्म लेने की आज्ञा करनी योग्य हुई है।

ब्रह्माजी अचानक क्षणमात्र के लिये चुप हो गए। फिर कुछ विचार करने लगे, विचार करने के अनन्तर कहने लगे। उस समय सब देवता अचम्भे में पड़ गये कि ब्रह्माजी अचानक चुप क्यों हुए यह आशय श्लोक में जो (च) अक्षर दिया है, उसका है। ब्रह्माजी ने अपनी तरफ से कुछ नहीं कहा, इसलिये ब्रह्माजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि हे देवो! भगवान् ने जो वाणी कही है वह सुनो। वह वाणी सत्य है तथा खण्डन करने योग्य नहीं है जैसे गौ दोहन कर, सार रूप दूध निकाला जाता है वैसे यह वाणी भी साररूप फलरूप सब का हित करने वाली है, और यह वाणी आपको सुनाने वाला मैं ब्रह्मा हूँ। मेरी वाणी अन्यथा[1] कभी नहीं होती है। अथवा यह वाणी भगवान् के सम्बन्धवाली है मैं तो केवल सुनाने वाला हूँ, अतः यह वाणी सर्वथा सत्य है यों समझो।

भगवान् ने जिस प्रकार आज्ञा की उस प्रकार ब्रह्माजी अब देवों को कहते हैं। हे अमर! (देवो) पहिले सुनकर फिर जल्दी तदनुसार आचरण करो उसमें देरी नहीं करनी चाहिये। पहले सामग्री तैयार करने के लिये कहकर पश्चात् तदनुकूल कार्य करो। अंश से आप जन्म लो उसके करने में देरी नहीं करें यह सब समझाकर पश्चात् जो करना है वह बताएँगे।

दूसरी देह धारण तो मरने के अनन्तर होती है तो क्या हम इस देवयोनि को छोडकर मनुष्य योनि में जावें। इस देवताओं की शङ्का को मिटाने के लिये, हे देवाः! न कहकर (अमरा) कहा कि आप अमर ही इसलिये आपकी यह देव योनि नष्ट न होगी आपको अंशरूप से मनुष्य में प्रकट होना है। श्लोक में (शृणुत) सुनो। इस क्रिया सावधान होकर सुनने के लिये दी गई है। मूल श्लोक में (पुनः) पद इसीलिये दिया है कि पहिले भी रामावतार में भी रावण से डरे हुए देवों को अंश रूप से अवतार लेने की आज्ञा की थी, वैसे ही फिर इस अवतार में आपकी आज्ञा दी जाती है। किन्तु उस आज्ञा पालने में तब देरी की थी उसी तरह अब भी कहीं देरी न कर दो तो इसलिये श्लोक में (आशु) पद देकर सावचेत (सावधान) किया है कि अब देरी नहीं करना जल्दी ही आज्ञा का पालन करना। जिस प्रकार जो देव जितने अंश से आगे पीछे उत्पन्न हुवे

---

[1] झूटी

थे उसी प्रकार अब भी होवें, यह "तथैव" शब्द कहने का आशय है। पहिले दशरथजी ने अवतार नहीं लिया था जिससे पुनः आज्ञा देकर दशरथजी को अवतार धारण करवाया था जिस कारण से साठ हजार वर्ष का विलम्ब हो गया था। अब भी वैसा न हो जाय इसीलिये श्लोक में (आशु) (जल्दी) कहा है फिर भी उसको दृढ़ करने के लिये एव आगे की भांति देरी न होवे अतः (मा चिरम्) देरी मत करना, यह स्पष्ट आज्ञा देदी है।

आभास – ननु त्वया किमुक्तं किं वा भगवतोक्तमितिशंकां दूरीकूर्वन् पूर्वं वानरेष्ववतारं प्राप्य खेदो भूयान् प्राप्त इति देवाशंकां च परिहरन् भगवदुक्तमाज्ञापनमाह पुरैवेति।

देवताओं ने रामावतार में प्रकट होकर महान् खेद पाया था। इसलिए वे देव ब्रह्माजी को कहते हैं कि हमको बताओ कि आपने भगवान् को कौनसी प्रार्थना की है और उसके उत्तर में भगवान् ने क्या कहा ? इस प्रकार की देवताओं की शङ्का के परिहार (मिटाने) के लिए ब्रह्माजी इस श्लोक को कहते हैं –

श्लोक – पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।

स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि।।२२।।

श्लोकार्थ – पृथ्वी का दुःख भगवान् ने हमारे कहने से पहले ही जान लिया है और उसने स्वयं आज्ञा की है कि आप देवों यादवों में अंश द्वारा प्रकट होकर पृथ्वी पर तब तक रहो, जब तक ईश्वरों के ईश्वर अपनी काल शक्ति से पृथ्वी का भार नाश करते हुए विराजमान रहें।।२२।।

सुबोधिनी – भूमेः पीडाकथनात् पूर्वमेव भगवता धराज्वरोवधृतो निश्चितः। तत्र हेतुः पुंसेति। पुरुषो हि भार्यां स्पृशति। ज्वरस्तु स्पर्शमात्रेणैव ज्ञायते। अतोस्मत्कृत ज्ञापनं नापेक्षितम्। अतो भगवान् मद्वाक्यात् पूर्वमेव स्वयमेवोक्तवान्। आज्ञामाह भवद्भिरिति। भगवानप्यवतरिष्यति ततः पूर्वमेव भवद्भिरुपजन्यतां भगवज्जननसमीपे जन्यताम्। आवश्यकत्वायांशैरिति। भवन्तो हि भगवदंशा हस्तपादादय इव सेवकाः। प्रभुः ससेवक एव सर्वत्र गच्छति। पूर्वस्माद्वैलक्षण्यं यदुष्विति। भगवानपि यदुष्ववतरिष्यति। अतो लोके प्राकट्याभावाय समीपे जन्यतामित्याज्ञा। इद जनन सेवार्थत्वात् स्थितिपूर्वकम्। तत्र कियत्कालं स्थातव्यमित्याकाङ्क्षायामाह यावदिति। यावत् स भगवान् यदुषु चरेत् तावदुपजन्यताम्। समीपे स्थातव्यम्। जननं पुत्रपौत्रादिरूपेणाऽऽन्तमुत्पत्त्यर्थमुक्तम्। स्थितिरत्त्वर्थादेव

भविष्यतीति तन्नोक्तम्। भगवानपि कियत्कालं स्थास्यतीत्याशकायामाह उर्व्या भरं स्वकालशक्त्या यावत् क्षपयंश्चरेदिति। तदपि कियत्कालमित्याशंकायामाह ईश्वरेश्वर इति। ईश्वर एव स्वच्छन्दचारी। तेषां सर्वेषां कालादीनामपि य ईश्वरः स कथं नियन्तुम् ज्ञातुम् वा शक्यत एतावत्कालं स्थास्यतीति ? अनेनैव नियतभोगयुक्तानां देवानामकरणशंकापि व्यावर्तिता। दैत्या अस्मान् मारयिष्यन्तीति न शङ्कनीयं यतः स्वकालशक्त्यैव भारं दूरीकरिष्यति। चरेदिति। भारभूता दैत्या नैकत्र तिष्ठन्तीति तदर्थ चरणम्। कालनियमस्य चाज्ञानम्। अज्ञातस्तु न भविष्यतीत्याह भुवीति। न हि भूमौ जातोलौकिकं करोति।।२२।।

अनुवाद – भूमि के पीड़ा की कथा कहकर सुनाने से पहिले ही भगवान् ने पृथ्वी का कष्ट निश्चत रूप से जान लिया था, कारण कि आप पृथ्वी के पति हैं। पुरुष[1] ही स्त्री को स्पर्श करता है। स्पर्श करने से (छूने मात्र से) ज्वर[2] का पता पड जाता है। अतः हम लोगों के द्वारा उसके क्लेश को बताने की कोई आवश्यकता नहीं थी जिससे मैंने केवल पुरुष सूक्त से भगवान् की स्तुति ही की है। इसलिए मेरे, पृथ्वी के दुःख को कहने से पूर्व ही भगवान् ने स्वयं ही आज्ञा की है। ब्रह्माजी वह आज्ञा देवताओं को कहते हैं, भगवान् की प्रकट होंगे, उससे पूर्व भगवान् के प्रकट होने के समय के लगभग आप भी यादवों में प्रकट हो जाओ। आपकी भी आवश्यकता है, कारण कि आप देवता लोग भगवान् का अंश होने से वैसे ही सेवक हो, जैसे हाथ पैर आदि शरीर के होते हैं। स्वामी सदा ही सब जग्ह सेवकों के साथ ही जाते हैं। रामावतार से विलक्षणता[3] दिखाने के लिए यही कहा है कि 'यादवों में' जन्म लेना। उस अवतार में भगवान् ने मनुष्य योनि में और आप लोगों ने वान्नर योनि में जन्म लिया था परन्तु अब भगवान् और आप लोग यादवों में ही प्रकट होंगे यह ही रामवतार और इस अवतार में आपके प्राकट्य की विलक्षणता है। अङ्ग. तथा सेवक पास में ही रक्खे जाते हैं। वैसे तो आप लोक[4] में कहीं अन्य स्थान में भी प्रकट हो तो, इसलिये पास में ही प्रकट होने के लिए स्पष्ट आज्ञा की है कि जहाँ मैं प्रकट होऊँगा, वहाँ ही यादवों में आप भी प्रकट

---

[1] पति

[2] बुखार

[3] विचित्रता

[4] जगत

होवें। कारण कि आपसे इस प्रकार की सेवा लेनी है। इसलिए उसमें थोड़ी भी रुकावट न पड़ें देवता रामावतार में बहुत समय तक रहने से दुःखी हुए थे। इसलिये उनकी इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि जब तक भगवान् यादवों में विचरण करें तब तक आप भी भगवान् के समीप ही रहना। आप प्रभु के साथ स्थिति करोगे तब यदुकुल में पुत्र पुत्रादि रूप से भी स्थिति होगी। इसलिए मूल में 'उप जन्यताम्' पद दिया है। यों करने से स्थिति तो स्वतः होगी ही, अतः 'स्थिति' न कहकर 'जनन' शब्द कहा है। भगवान् स्वयं कितने समय तक बिराजेंगे, इस शङ्का के निवारण के लिए कहते हैं कि वे ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। जब ईश्वर ही स्वतन्त्र होते हैं तो ईश्वरों के (कालादिक सबों के) ईश्वर कितने समय तक रहेंगे वह कौन जान सकता है और उसका नियमन[1] कौन कर सकता है ?

भगवान् ईश्वरों के ईश्वर होने से जो जो कार्य जब तक करेंगे तब तक ये देव कार्य कर सकेंगे वा नहीं यह शङ्का भी इससे ही मिटादी। यद्यपि देवता लोग ईश्वर द्वारा नियमित स्वर्गीय सुख भोगने वाले हैं तो भी हस्त पादादि के समान सेवक होने से ईश्वर के आज्ञानुसार सर्व कार्य कर सकेंगे।

हे देवो! दैत्य हमको मारेंगे, इस प्रकार की शङ्का भी आपको मन में नहीं लानी चाहिए; क्योंकि भगवान् अपनी काल शक्ति से ही भूमि का भार दूर करेंगे। भगवान् एक जगह न रहकर तब तक घूमते ही रहेंगे जब तक सब दैत्यों का नाश नहीं करेंगे। दैत्य एक स्थान पर नहीं हैं इसलिये भगवान् घूमकर जहाँ भी दैत्य वहाँ जाकर उनका नाश करेंगे। प्रभु पृथ्वी पर कब प्रकट होंगे और कब तक विचरण करेंगे, यह तो मैं भी नहीं जान सकता हूँ। तो भी भगवान् का प्राकट्य तथा उनकी लीला अलौकिक होने से छिपी नहीं रहेगी। पृथ्वी पर जन्मा हुआ साधारण जीव तो लौकिक कार्य ही कर सकता है। अलौकिक कार्य तो सर्वेश्वर प्रभु ही कर सकते हैं।।२२।।

आभास -- तथापि क्वावतरिष्यतीत्याकाङ्क्षायामाह वसुदेवगृह इति।

[1] शासन, व्यवस्था

यद्यपि ब्रह्माजी ने भगवान् के प्राकट्य काल अपने लिये अज्ञान प्रकट किया, तो भी कहाँ प्रकट होंगे ? वैसी देवों की आकाङ्क्षा देखकर भगवान् जहाँ प्रकट होंगे उस स्थान का वर्णन नीचे के श्लोक में किया है –

श्लोक – वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः।।२३।।

श्लोकार्थ – वसुदेवजी के घर में साक्षात् भगवान् पुरुषोत्तम प्रकट होंगे। देवताओं की स्त्रियाँ उनकी सेवा के लिये प्रकट होवें।

सुबोधिनी – तस्याप्यंशावतरणव्युदासायाह साक्षाद्भगवानिति। न तु चक्रादिरूपेण सत्त्वव्यवधानेन वावतारः। भगवच्छब्दो गौणेष्वपि वर्तत इति तद्व्युदासार्थं पुरुषः पर इति। पुरुषोत्तम इत्यर्थ.। ब्रह्माण्डात् परस्य कथनादर्थादेव प्रकृतिप्रवर्तकः समागतः तत परस्तु पुरुषोत्तम एव। स च जनिष्यते। अतस्तत्प्रियार्थं तत्सेवार्थं सुरस्त्रियः सम्यव् सर्वसौन्दर्यपुरः सरं तस्य योग्यस्थानेषु सम्भवन्तु। सुरस्त्रियोप्सरसो लक्ष्म्या सहिताः समुद्रादुत्पन्नास्तासां भोगो भगवता न कृत इति स्वजन्मसाफल्यार्थमेव तासामवतरणम्। तत्प्रियार्थमितिवचनादेवानां स्त्रीत्वेनावतरणं निवारितम्।।२३।।

अनुवाद – मूल श्लोक में साक्षात् तथा भगवान् इन दो पदों के कहने का भाव यह है कि भगवान् वसुदेवजी के घर में अंश से, चक्रादि रूप से अथवा सत्य गुण के व्यवधान से (अर्थात् सत्त्वगुण में अपने को छिपाकर) प्रकट नहीं होंगे, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से प्रकटेंगे। यदि यह शङ्का हो कि भगवान् तो नारदादि ऋषियों को भी कहते हैं इसलिये यहां भी वह शब्द गौण है ऐसे क्यों न समझा जाय ? इस शङ्का को मिटाने के लिये मूल में "पुरुष" "परः" ये दो विशेषण दिये हैं। जिनका भावार्थ है कि यहाँ भगवान् शब्द गौण अर्थ में नहीं है किन्तु पुरुषोत्तम समझना चाहिये न कि 'अक्षर' ब्रह्म समझें। कारण कि "पर" पुरुष ये दोनों ही "भगवान्" के विशेषण हैं। 'नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्द शब्दितः' इस प्रमाणानुसार भगवान् शब्द चतुर्थ (तुरीयस्वरूप) नारायण के लिये ही प्रसिद्ध है। और उसकी पुष्टि परः, पुरुषः विशेषणों से की गई है। गीता में जो व्यक्त (ब्रह्माण्ड) से परे अक्षर ब्रह्म को कहा गया है वह भाव रूप से कहा गया है पुरुष रूप से तो, ब्रह्माण्ड से परे पुरुषोत्तम ही हैं जिनको ब्रह्माजी भी नहीं देख सकते हैं। वे ही प्रकृति प्रवर्तक रूप हैं। उनका ही यहाँ वर्णन है। समग्र कहने का भावार्थ यह है कि वसुदेवजी के गृह में प्रकट स्वरूप, अक्षरातीत पूर्ण पुरुषोत्तम ही है अतः उनकी सेवा के

लिये सुर स्त्रियां जो कि लक्ष्मी के साथ समुद्र से उत्पन्न हुई थी, जिनका भोग भगवान् ने नहीं किया था, वे अपना जन्म सफल करने के लिये प्रकट होवें, किस प्रकार और कहाँ प्रकट होवें? वह बताते हुए कहते हैं कि सर्व प्रकार की मनोहर सुन्दरता से अपने को विभूषित कर अपने योग्य स्थान में प्रकट होवें। श्लोक में जो (तत् प्रियार्थं) कहा है। उसका भीतरी भाव यह है कि देवता लोग स्त्री रूप धारण न करें।।२३।।

आभास – भगवदवतरणात् पूर्वमेव सेवासावधानार्थं भगवच्छय्यारूपस्य शेषस्य सङ्कर्षणसहितस्यावतारमाह वासुदेवेति।

अब इस श्लोक में, भगवान् के प्राकट्य से प्रथम ही, सेवा में पूर्ण प्रबन्ध (बन्दोबस्त) करने के लिए, सङ्कर्षण के साथ भगवान् के शय्या रूप शेषजी के प्रकट होने का वर्णन करते हैं।

श्लोक – **वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।**
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया।।२४।।

श्लोकार्थ – प्रभु को प्रिय हो इस प्रकार की सेवा करने की इच्छा से, वासुदेव की कला के रूप, सहस्रवदन[1] स्वयं प्रकाशमान अनन्त[2], भगवान् से प्रथम प्रकट होंगे।।२४।।

भगवान् के प्रकट होने से पहिले, लीला के सम्पादन कार्य में यथा योग्य सावधानी हो। इसलिए, सङ्कर्षण के साथ शय्या रूप शेषजी का प्राकट्य होगा, उनके स्वरूप का स्पष्ट एवं पूर्ण परिचय आचार्य श्री ने नीचे की इन कारिकाओं में कराया है।

कारिका – **सात्त्विकेषु तु कल्पेषु यः शेते सलिले हरिः।**
वासुदेवः स विज्ञेयस्तस्यांशोऽनन्त उच्यते।।१।।

कारिकार्थ – जो हरि सात्त्विक कल्पों में, जल में शयन[3] करते हैं, वह वासुदेव कहलाते हैं, उनका अंश 'अनन्त' में है।।१।।

---

[1] हजार मुख वाले
[2] बलरामजी
[3] स्थिति

व्याख्या – २३वें मूल श्लोक में पुरुषोत्तम स्वरूप का वर्णन करने के अनन्तर इस २४वें श्लोक में 'तत्कला' उसकी कला प्रकट होगी। इतना कहने से विषय समझ में आ जाता था। यों न कहकर 'वासुदेवकला' कहने का क्या आशय है? वह इस कारिका में समझाते हैं। 'यः' जो शब्द को कहकर बताया है कि व्यूहों में मुख्य जो अवताराधिकारी है, वह वासुदेव है। उस वासुदेव हरि का अंश 'अनन्त' में है। इससे समझना चाहिए कि जिस अंशी रूप हरि का अंश अनन्त में है। वह पुरुषोत्तम का दूसरा रूप है अर्थात् वह मूल रूप पुरुषोत्तम नहीं है। इसको समझाने के लिए मूल श्लोक में 'तत्कला' उसकी कला न कहकर 'वासुदेवकला' वासुदेव की कला (अंश) अनन्त में यों कहा है अर्थात् बलदाऊजी में उस पुरुषोत्तम के रूपान्तर वासुदेव का अंश है। न कि 'कृष्णस्तुभगवान् स्वयं' इस मूल स्वरूप का अंश हे।।१।।

कारिका – कालात्मा स विज्ञेयो भूभारहणे प्रभुः।
तत्र सुप्तो हरिश्चापि तदाविष्टो भविष्यति।।२।।

कारिकार्थ – वह कालात्मा है, एवं भूमि के भार हरण में भी समर्थ है। शेष पर सोया हुआ हरि भी उस अनन्त में आविष्ट[1] है।

व्याख्या – मूल में 'वासुदेवकला' और 'अनन्त' दोनों पद साथ में क्यों कहे हैं? उसके उत्तर में कहते हैं दोनों का रूप एक है तथा कार्य भी एक है इसीलिये साथ में कहे हैं तथा कालात्मा भी होने से, उनका साथ में कहना आवश्यक था। जब अनन्त में स्वतः सामर्थ्य है तो वासुदेव के आवेश के बताने की क्या आवश्यकता थी। इस पर कहते हैं कि उस समय वासुदेव की कला अनन्त में प्रवेश होती है। इसके ज्ञात कराने के लिये यह उक्ति है। अनन्त रूप शेष में सङ्कर्षण का आवेश है, सङ्कर्षण में वासुदेव की कला का आवेश है यह ही बलरामजी का स्वरूप सर्वदा है। बलरामजी में तो पूर्ण मूल पुरुषोत्तम का आवेश तो कभी कभी विशेष लीला समय में होता है। उस स्वरूप से की हुई लीला भी मूल रूप से की हुई लीला समझनी चाहिये कारण कि अंश और अंशी का परस्पर भेद नहीं है वे एक ही हैं।

---

[1] भरा हुआ।

कारिका – **अतोऽनुशयनं विष्णोर्बलभद्रेण नात्मनः।**
एकवत् प्रोच्यते कृष्णो द्विवल्लोकैः प्रतीयते।।३।।

कारिकार्थ – इस कारण से बलराम में वासुदेव कला का ही आवेश है न कि श्री पुरुषोत्तम प्रभु का आवेश है। कृष्ण और बलराम एक ही कहे जाते हैं किन्तु लोक में दो की प्रतीति होती है।

व्याख्या – जब संकर्षणाविष्ट* अनन्त (शेष) अवतार होते हैं तब उस स्वरूप में सात्त्विक कल्प में जल में स्थिति करने वाले वासुदेव ही अपनी कला में उनमें प्रविष्ट होते हैं। अतः इससे यह नहीं समझना चाहिये कि दशम् स्कन्ध का अर्थ बलदेवजी में आविष्ट वासुदेव कला की ही लीला है। ऐसी शङ्का के निवारण के लिये ही आचार्य श्री ने इस कारिका में 'न आत्मनः' कह कर बताया है कि अनन्त में पुरुषोत्तम का आवेश न होने से वह (वसुदेव की लीला) दशम स्कन्ध का अर्थ (निरोध लीला) नहीं है। तब बलरामजी को लीला, निरोध लीला, कैसे कही जाती है? इस शङ्का को कारिका के उत्तरार्ध से मिटाया गया है। जैसे कि उसमें कहा है कि बलरामजी में वासुदेव का अंश सदैव रहता है और कृष्ण अंशी है, अंश अंशी का सदा ही अभेद है। अतः दोनों एक ही रूप हैं इसलिये वहां भी एकत्व का ही निरूपण है जिससे जैसे रूप एक है वैसे सर्व चरित्र भी उसी मूल स्वरूप के ही किये हुए समझने, इस प्रकार समझने से दशम स्कन्ध का अर्थ पुरुषोत्तम की निरोध लीला ही सिद्ध है। लोक में तो इस प्रकार देखने में नहीं आता है – इसको समझाकर कहते हैं कि एक रूप होते हुए भी लोक में कृष्ण–बलराम जैसे दो प्रतीत होते हैं वैसे ही चरित्र भी पृथक प्रतीत होते हैं, किन्तु हैं एक ही। जिस भाँति आनन्द मय विद्या, सद्विद्या तथा शाण्डिल्य विद्याओं में ब्रह्म के रूप भिन्न भिन्न वर्णन किये गये हैं किन्तु शास्त्र दृष्टि से वे सब एक ही ब्रह्म के रूप हैं वैसे ही यहां भी जुदे २ होते हुए भी वास्तव में अंशाशी भेद से उनका चरित्र एवं रूप एक ही है।।३।।

कारिका – **देवक्यां शयनस्यैव सम्भवो न हरेः स्मृतः।**

* सङ्कर्षण शेष का आधिदैविक स्वरूप है और वह व्यूह रूप है। – योजना

रोहिण्यामपरस्येति कर्षणान्नैव हीनता।।४।।

कारिकार्थ – देवकीजी के गर्भ में से शय्या रूप संकर्षण का प्राकट्य हुवा है न कि वासुदेव का। वासुदेवांश का रोहिणी में से प्राकट्य है अतः माया के कर्षण (खींच ले जाने) से उसकी कोई हीनता नहीं हुई है।।४।।

व्याख्या – इस कारिका में देवकीजी के गर्भ को माया ने खींचकर रोहिणीजी में स्थापन किया है जिससे वासुदेव, जो मोक्षदाता हैं, उनकी हीनता प्रकट होती है। इस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं कि देवकीजी के गर्भ में वासुदेवांश नहीं था। केवल संकर्षणाविष्ट शेषजी थे। वासुदेवांश तो रोहिणीजी के गर्भ में पहिले ही था। रोहिणीजी इस गर्भ की स्थिति के अनन्तर नन्दरायजी के घर में रही थी, जिससे रोहिणीजी में अचानक गर्भ होने की शंका को भी मिटा दी है। और माया ने देवकीजी के गर्भ से शेषजी को ही लेके रोहिणीजी के गर्भ में स्थित वासुदेवांश में स्थापित किया था। इससे वासुदेवजी की हीनता की शंका का प्रश्न ही निरर्थक है।

सुबोधिनी – तं सङ्क.र्षणमन्यस्माद्भिन्नतया ज्ञातुं विशिनष्टि वासुदेव इति। वासुदेवस्य प्रथमतः कला धर्मरूपः। सोपि शयनरूप इत्यनन्तः कालात्मा। स हि स्वाश्रय एव शेते। तत्राधिदैविकरूपमपि स्थितिमिति ज्ञापयितुमाह स्वस्रवदन इति। सङ्कर्षणो हि सहस्रवदनो वेदात्मा। शेषोपि केवलस्तथा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह स्वराडिति। यः स्वर्गेपि राजते। सङ्क.र्षणरूपो यः 'सितकृष्णकेशः' सोग्रतो भविता। ननु तेनैव चरितार्थत्वे किं भगवदवतारेणेत्याशंक्याह देव इति। स हि देवरूपेणैवावतीर्णो नाधिकं कार्यं करिष्यति। तर्हि किं तदवतारेणेत्याशक्याह हरेःप्रियचिकीर्षयेति। स हि भगवान् सर्वेषां दुःखहर्ता। दैत्यानां सुखार्थे भूभारहणार्थे च साहाय्यकरणाद्भगवतः प्रियं करिष्यतीति।।२४।।

अनुवाद – उस संकर्षण को अन्य (वासुदेव) से पृथक् बताने के लिये मूल श्लोक में 'वासुदेव' शब्द दिया है। संकर्षण, वासुदेव की कला का रूप तथा धर्म रूप है, न कि स्वयं वासुदेव. है वह (सङ्क.र्षण) का रूप भी शय्या रूप अनन्त (शेष) होने के कारण कालात्मक है। वह (वासुदेव भगवान्) अपने आश्रय रूप शय्या पर ही शयन (स्थिति) करते हैं। अतः वह शय्या उनकी कला रूप है। वहाँ उसका (कला रूप शेष का) आधिदैविक सङ्क.र्षण स्वरूप भी विराजमान है। इसलिए मूल में उसको 'सहस्रवदन'[1]

---

[1] हजार मुख वाला

कहा है। सहस्त्रवदन सङ्क.र्षण वेदात्मा (वेद रूप) भी है। सङ्क.र्षण श्रेष्ठ है। कारण कि स्वर्ग में भी वे प्रकाश करते हैं। सङ्क.र्षण का जो 'सितकृष्ण केशरूप' है वह प्रथम ब्रज में प्रकट होगा। यदि वह प्रथम प्रकट होगा तो अनन्तर भगवान् के अवतार की क्या आवश्यकता है ? इस शंका को मिटाने के लिए मूल में संकर्षण का विशेषण 'देव' शब्द दिया है, जिसका भाव यह है कि वह (संकर्षण) साक्षी रूप से वहाँ कार्य करेंगे। विशेष कार्य नहीं करेंगे। अतः प्रभु के प्राकट्य की आवश्यकता है। यदि केवल साक्षी रूप से प्रकट होते हैं तो उनसे कौनसा लाभ होगा ? वा क्या कार्य सिद्ध होगा ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् का प्रिय करने की (सेवा करने की) इच्छा से प्रकट हुआ है। सर्व प्रकार के कार्य का प्रबन्ध करेंगे। समय पर युद्धादि में भी सहायता करेंगे। **संकर्षण भगवान् सबों का दुःख हरने वाले हैं।** दैत्यों[1] के सुख के लिए तथा भूमि के भार के हरण के वास्ते जो कार्य श्रीकृष्णचन्द्र करेंगे, उसमें सहायता देकर उनकी (प्रिय) सेवा करेंगे।।२४।।

आभास – एवं ससामग्रीकस्य गमने सर्वमुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क.यामाह विष्णोरिति।

यदि सर्वसामग्रीसहित[2] प्रभु प्रकट होंगे तो सबकी मुक्ति हो जायगी। सबकी मुक्ति होने से सृष्टि क्रम बन्द हो जायगा ? इस शंका का नीचे के श्लोक से निवारण करते हैं।

श्लोक – विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सा भविष्यति।।२५।।

श्लोकार्थ – विष्णु की माया, कि जिससे सर्व जगत् मोहित है, वह भगवती भी प्रभु से आज्ञा पाकर, उनके कार्य सिद्ध करने के लिए अंश से प्रकट होगी।।२५।।

सुबोधिनी – यो हि विष्णुर्मायोद्घाटनेनावतरिष्यति सा तदंशभूता माया कार्यार्थे भविष्यति। सापि भगवती षड्गुणैश्वर्ययुक्ता भगवत्प्रसादात्। अतस्तस्याः स्वस्थानत्यागेन गमनेपि न दोषः। अत्रापि स्थास्यति कार्यमपि करिष्यतीति सर्वमुक्त्यभावश्च तत एव भविष्यतीत्याह यया सम्मोहितं जगदिति।

[1] दैत्यों के सुख के लिए का आशय है कि भगवान् ने दैत्यों को भी मोक्ष दिया है।
[2] सर्व सामग्री सहित का भावार्थ है कि यदि प्रभु सम्पूर्ण माया को तिरोहित कर आप सर्वत्र प्रकट दर्शन देने लग जायं तो सब की मुक्ति हो जायगी।

कदाचित् तस्या अनागमनशङ्कां व्यावर्तयति आदिष्टा प्रभुणेति। अनेन यत्र सर्वव्यामोहिका भगवदाज्ञयावतीर्णा तत्र के भवन्त इति गर्वाभावोपि ज्ञापितः। कार्यं यशोदाया स्तन्यं सङ्कर्षणं कंसादिव्यामोहो वसुदेवादिमोचनमिति।।२५।।

अनुवाद -- विष्णु, जो सर्व व्यापक हैं तो भी जहां प्रकट होंगे वहां की ही माया का अपसरण करेंगे। और जो माया कार्य सिद्ध के लिये प्रकट होगी, वह इसी माया का अंश है जिसको आपने अपने प्राकट्य स्थान से हटाया है। यह माया अंश रूप होते हुए भी भगवान् की कृपा से भगवती, ऐश्वर्य आदि छः गुणो वाली है। अतः वह अपने स्थान को छोड़ने से दोष वाली नहीं होती है। वह (माया) व्यापि वैकुण्ठ में रहते हुए भी यहां का कार्य सिद्ध करेगी। उस माया ने सम्पूर्ण जगत् को मोह में डाल दिया है जिससे सबों की मुक्ति नहीं होगी। यह भी शङ्का मन में नहीं लानी कि कदाचित् वह माया प्रकट न होवे तो ? वह अवश्य प्रकट होगी, कारण कि प्रभु ने उसको आज्ञा दे दी है। जब सारे जगत् का मोहित करने वाली माया भी आज्ञा मानती है, तो आपको (देवों को) गर्व नहीं करना चाहिये। माया से आप बडे नहीं हो। माया जो कार्य करेगी उसका वर्णन आचार्य श्री करते हैं--१ यशोदा में दूध उत्पन्न करना, २--सप्तम गर्भ को देवकीजी से खींचकर, रोहिणीजी में स्थापना करना, कंस को भुलावे में डालना, वसुदेवजी तथा देवकीजी को कारागृह से छुटकारा कराना।।२५।।

आभास -- एवं सर्वान् ज्ञापयित्वा ब्रह्मा ततो निर्गत इत्याह इत्यादिश्येति।

ब्रह्माजी इस प्रकार देवों को समझाकर वहाँ से चले गये। उसका वर्णन करते हैं-- श्री शुकदेवजी कहने लगे

श्लोक -- इत्यादिश्यामरगणान् प्रजापतिपतिर्विभुः।

आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ।।२६।।

श्लोकार्थ -- श्री शुकदेवजी कहने लगे -- ब्रह्माजी (प्रजापतियों के पति) जैसे भगवान् ने कहा था वैसे ही देवताओं को आज्ञा देकर तथा भूमि को वचनों से आश्वासन देकर अपने परम धाम को चले गये।।२६।।

सुबोधिनी -- अनेकविधा देवाः। ते च स्वस्वमुख्याज्ञाकारिणः। अत एव सर्वानेव गणपतीनाज्ञापितवानित्याह अमरगणानिति। तर्हि ब्रह्मणः कथं नावतार इत्याशङ्क्याह प्रजापतिपतिरिति। प्रजापतीनां स नियन्ता। अन्यथा सृष्टिर्न स्यादित्यर्थः। ननु साक्षाद्भगवता नोक्तमिति देवा न

करिष्यन्तीत्याशङ्क्याह विभुरिति। ब्रह्मा स्वत एव समर्थो देवानाज्ञापयितुम्। अनेनैव वृत्तान्तेन भूमिः कृतार्था जाता तथापि गीर्भिरपि महीमाश्वास्य स्वधाम सत्यलोकाख्यं ययौ। गीर्भिरिति भूमेः प्रशंसावाक्यानि बहून्युक्तानीति ज्ञायते। भूमौ भगवदागमनं पूर्वं न सम्भावितमधुना जातमिति तद्भाग्याभिनन्दनं युक्तमिति।।२६।।

अनुवाद – देव अनेक प्रकार के हैं अतः उनके पृथक् पृथक् गण थे, हर एक गण अपने नेता की आज्ञा मानाता था। अतः ब्रह्माजी को प्रत्येक गण के सरपंच को सर्व विषय समझाना पडता था। श्लोक में 'अमरगणान्' पद में गण शब्द दिया है और बहुवचन भी दिया है। अतः ब्रह्माजी ने सब आगेवानों को सर्व विषय पृथक् २ समझाये। ब्रह्माजी भी देव हैं तो उनने क्यों नहीं अवतार लेने की आज्ञा मानी ? इस शङ्का को निवारण करने के लिये शुकदेवजी ने ब्रह्माजी को 'प्रजापति पति' कहा है कि ब्रह्माजी साधारण देवता नहीं है किन्तु सृष्टि करने वालों के भी स्वामी हैं। अतः भगवान् ने ब्रह्माजी को अवतार लेने की आज्ञा नहीं दी, यदि देते तो सृष्टि कार्य में विघ्न पड जाता।

देवताओं को भगवान् ने साक्षात् आज्ञा नहीं की है किन्तु ब्रह्माजी ने आज्ञा की है ब्रह्माजी की आज्ञा देव लोग नहीं मानेंगे यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि ब्रह्माजी 'विभुः' हैं अर्थात् देवताओं को कार्य करने की आज्ञा देने का अधिकार ब्रह्माजी को है। यद्यपि देवताओं को दी हुई आज्ञा को सुनकर भूमि सन्तुष्ट हो गई थी, तो भी ब्रह्माजी ने पृथ्वी को विशेष प्रसन्न करने के लिये अनेक प्रशंसावचन कहकर आश्वासन दिया। भूमि को यह निश्चय नहीं हुआ था कि भगवान् स्वयं प्रकट होंगे। किन्तु अब ब्रह्माजी के आश्वासन के वचनों से निश्चय हो गया अतः भूमि के भाग्य का अभिनन्दन[1] करना युक्त था।।२६।।

आभास – एवं भूमेः सान्त्वनमुक्त्वा देवक्याः सान्त्वनं वक्तुं, तस्या प्रथमं दुःखप्रापणोपायमाह शूरसेन इति दशभिः।

इस प्रकार भूमि की सान्त्वना हुई, अनन्तर देवकीजी की सान्त्वना करती है किन्तु प्रथम देवकीजी को दुःख हुआ, उसके उपाय का प्रकार बताते हैं। अर्थात्

[1] प्रशसा

देवकीजी को किस कारण के और कैसा दुःख हुआ उसका दश श्लोकों से वर्णन करते हैं –

श्लोकः – शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन् पुरीम्।
माथुरान् शूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा।।२७।।

श्लोकार्थ – पूर्व समय में यादवों का अधिपति राजा शूरसेन मथुरापुरी में रहता हुआ, माथुर तथा शूरसेन देशों को भोगता था अर्थात् राज्य करता था।।२७।।

अनुवाद – सहस्रार्जुन से उत्पन्न हुए पुत्रों में से पांच पुत्र बचे थे उनमें से शूरसेन द्वितीय थे। यादवो का राज्य ययाति ने शाप द्वारा निवृत कर दिया था तदनन्तर वह राजा राज्य कर सके तो भगवदंश हो। इससे भगवान के अनुग्रह से ही राज्य चलता था अर्थात् जिस व्यक्ति वा वश पर भगवान् की कृपा होती वह राज्य करता था। सहस्रार्जुन में भगवान् का अंश था अतः भगवान् के अनुग्रह से वह राजा हुआ। उसने जीते ही अपने द्वितीय पुत्र शूरसेन को माथुर और शूरसेन देश ये दो मण्डल राज्य करने के लिये दे दिये, बड़ा पुत्र तो माहिष्मती मे ही राज्य करता था।

कारिका – **सर्वोत्कर्षे तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्वल्पके स्मृतम्।**
देशतः कालतश्चैव अवस्थातः स्वतोन्यतः।।१।।
द्रव्यतो मानतश्चेति सप्तैव सुखदाः स्मृताः।
तथाभूता शब्दवशात् प्राप्ता दुःखं तदा पतिः।।२।।
प्रतिक्रियां समारेभे नवभिश्च प्रतिक्रिया।।२½।।

कारिकार्थ – देवकीजी को सर्व प्रकार से उत्कर्ष[1] होने पर जो दुःख जरासे कारण होने से हुआ वह स्वल्प था। देवकीजी को देश, काल अवस्था, अपने, दूसरे, द्रव्य और मान, इन सातों से उत्कर्ष हो रहा था किन्तु जब शब्द सुनने से दुःख को प्राप्त हुई, तब उनके पति वसुदेवजी दुःख के निवारण का उपाय करने लगे।।२½।।

व्याख्या – भगवद्भक्तिमार्ग मे भगवत्प्राकट्य तब होता है, जब भक्त दुःखी होता है। देवकीजी का सातो प्रकार से उत्कर्ष सिद्ध हो गया था। जिसमें उन देवकीजी को

[1] सुख बड़ाई

अल्प दुःख भी बहुत देखने में आया है। पूर्ण प्रसन्न तथा सुख सम्पन्न देवकीजी आकाशवाणी सुनते ही घबरा गई थी – स्वल्प कारण से प्राप्त दुःख को भी भगवान् शीघ्र तथा अनायास ही नाश करेंगे। क्योंकि भगवन्मार्गीय शास्त्रों में इस प्रकार का वर्णन है। अतः इस विषय की किसी प्रकार से भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यहाँ तो माताजी के दुःख प्राप्ति के उपाय का ही केवल वर्णन करना चाहिए। वह विवाह कर ससुराल जाते समय आकाशवाणी होने से हो गया। शेष दोषादि से उत्कर्ष का वर्णन करना व्यर्थ है ? इस शंका का निवारण (सर्वोत्कर्षेतु) ये कारिकाये कहकर किया गया है। देवकीजी से उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। प्रथम तो जैसे वसुदेव का जन्म समय आनक तथा दुदुभि घोष होने से उत्कर्ष हुआ। वैसे देवकीजी विवाह कर जब श्वसुर गृह जाती थी, उस समय जो सम्मान हुआ उससे उसका भी उत्कर्ष प्रकट देखने में आया था। अब सात प्रकार के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। १– 'शूरसेनो यदुपतिः' इस श्लोक से उत्तम देश में निवास करने के कारण 'देश' से उत्कर्ष बताया। २–राजधानी 'ततः' इस श्लोक से वह नगर उस समय राजधानी था। इसलिए 'काल से' भी उत्कर्ष बताया। ३– 'तस्यां तु' इस आधे श्लोक द्वारा विवाह होने से अवस्था का उत्कर्ष बताया। ४–'देवक्या सूर्यया' इस पीछे के आधे श्लोक से स्वतः (अपने आप) ही अपना उत्कर्ष बताया। ५– 'उग्रसेन सुतः कस' इस श्लोक में कस रथ का सारथी बनकर पहुँचाने चला। जिससे भी देवकीजी का अन्य से उत्कर्ष हुआ है। ६– 'चतु शत' तथा 'दासीनां' इन दो श्लोक से द्रव्य का उत्कर्ष देखने मे आया है। ७– 'शख्ड्तूर्य' इस श्लोक से मान का उत्कर्ष दिखाया है। इसी भांति सात प्रकार के सुखों से सम्पन्न को आकाशवाणी से प्राप्त थोडा भी दु:ख असह्य होने लगा। इसको बताने के लिए ही सात प्रकार के उत्कर्ष का वर्णन करना आवश्यक था।

वसुदेवजी इस प्रकार आकाशवाणी से घबराई हुई दुःखित देवकीजी के दुःख का प्रतिकार करने लगे। जिसका वर्णन नव श्लोकों से किया गया है।

❁ कारिका व्याख्या सम्पूर्ण ❁

सुबोधिनी – [illegible] द्वितीय शूरसन। यादवाना [illegible] दशा भवति स राजेति। तत्र

सहस्रार्जुनो भगवदशः पुष्ट्या राजा बभूव। स जीवन्नेव शूरसेनाय मण्डलद्वय दत्तवान् मथुराशूरसेनात्मकम्। ज्येष्ठस्तु माहिष्मत्यामेव।

तत्र प्रथम देशस्योत्कर्ष उच्यते। पूर्वं शूरसेन शत्रुघ्ननिर्मिताया मथुरायां तत्रत्यमानन्दमनुभूय निवास कृतवान्। स च यदुपतिः। यादवानां प्रभुः। तन्नाम्ना जातानपि शूरसेनान् विसृज्य मथुरामेवावसन् उभयान् देशान् बुभुजे। अनेन यादवानां मथुरा स्वदेश इत्युक्तम्।।२७।।

अनुवाद – सातों उत्कर्षों में से इस श्लोक में प्रथम देश के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। शत्रुघ्न की बनाई गई मथुरा नगरी में शूरसेन रहकर सर्व प्रकार के सुख भोगने लगे। वह शूरसेन यादवों के स्वामी (राजा) थे और यद्यपि शूरसेन के नाम से वह देश 'शूरसेन देश' कहलाता था तो भी उसको त्याग कर अपना निवास स्थान उन्होंने मथुरा को बनाया। वहां रहकर शूरसेन तथा माथुर दोनों मण्डलों के राज्य को भोगते थे। इससे यादवों का स्वदेश मथुरा नगर हुआ।।२७।।

कालभेदेनापि सा महती जातेत्याह राजधानीति।

काल भेद से भी वह (मथुरा) बड़ी नगरी बन गई।

श्लोक – राजधानी ततः साभूत् सर्वयादवभूभुजाम्।
मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः।।२८।।

श्लोकार्थ – तदनन्तर वह समस्त यादव वंशज राजाओं की राजधानी बन गई, जिसमें सदैव भगवान् हरि विराजमान हैं।।२८।।

सुबोधिनी – ततः प्रभृति यावन्तो राजानः कंसपर्यन्तं स्वबलाज्जाता खण्डमण्डलाधिपतयस्तेषां तत्रात्यन्तं सुखानुभवान्मथुरैव राजधान्यभूत्। सर्वे च ते यादवभूभुजश्च। तत शूरसेनप्रभृति। राजा धीयते प्रीयते यस्यामिति सा राजधानी। निधीयते पट्टाभिषिक्तः क्रियत इति वा। अनेन तत्र राज्यलक्ष्म्या नित्य स्थानमित्युक्तम्। तत्र स्थितानामानन्दे हेतुर्भगवान्। यत्र नित्यं सन्निहित इति।

अनुवाद – उससे (शूरसेन से) लेकर कंस पर्यन्त जितने भी राजा हुए, वे अपनी शक्ति से ही राजा बने थे। किन्तु वे अपनी वीरता से खण्ड मण्डल के अधिपति बने थे, समग्र मण्डल के नहीं बन सके थे उनको वहां ही अत्यन्त सुख की प्राप्ति हुई थी। जिससे उनकी मथुरा ही राजधानी हो गई। वे सब राजा यादव ही थे! जहां राजा आनन्द से रहते हैं वह नगरी राजधानी कही जाती है। अथवा जिस नगरी में राजा का राज्याभिषेक होता है वह नगरी राजधानी मानी जाती है। इससे उस नगरी में राज्य

लक्ष्मी नित्य बिराजती है। जिससे वहां रहने वाले आनन्द में रहते हैं! उस आनन्द मे रहने का कारण भगवान् हैं। क्योंकि भगवान् नित्य 'मथुरा' में विराजते हैं।।२८।।

मथुरा, भगवान् यत्र :-

कारिका — **सर्वतत्त्वेषु यो विष्टः स भूमावपि सङ्ग.तः।**

स नित्यं क्वचिदेवास्ति तत्स्थानं मथुरा स्मृता।।१।।

तत्रस्थित्वा द्वयं चक्रे सर्वेषां सकलं हितम्।

सर्वदुःखनिवृत्तिं च तत्र चेद्दुःखसम्भवः।।२।।

प्रतीकाराः सर्व एव मर्यादामार्गसम्भवाः।

व्यर्था जाताः सर्वथेति ज्ञापनार्थं निरूपितम्।।३।।

देशकालादिमध्यस्थः षडङ्ग.त्वं य आगतः।

सोन्यत्र सर्वदेशेषु शालग्रामादिषु स्थितः।।४।।२८।।

कारिकाओं का स्पष्ट अर्थ – यहां पर विचार किया गया है कि भगवान् हरि, नित्य मथुरा में किस प्रकार बिराजते हैं। जब कि सृष्टि के आरम्भ से 'तदेवानुप्राविशत्' त्रयो विशति तत्त्वानां युगयद् आविशत्' इन श्रुति तथा पुराण के वाक्यों से निर्विवाद सिद्ध है कि परमात्मा सर्व तत्त्वों में प्रविष्ट हुए जिससे उनकी मध्यपाती पृथ्वी में भी प्रविष्ट हुए। वह स्वरूप अन्तर्यामि स्वरूप है अर्थात् सबसे व्याप्त होकर विराजते हैं। तो भी (गुहा प्रविष्टौ) इस श्रुति के अनुसार देह के एक देश 'अन्तःकरण' में ही विशेष रूप से व्यक्त (प्रकट) हैं। वैसे सर्वत्र भूमि में व्याप्त होते हुए भी भूमि के देश मथुरा में नित्य विशेष रूप से अभिव्यक्त होकर विराजते हैं। मथुरा में विराजमान होकर उन्होंने दो कार्य किये। सबका सम्पूर्ण हित तथा सर्व दुःखों की निवृत्ति।

जब भगवान् ने वहाँ विशेष रूप से विराजमान होकर ये दो कार्य किये तब देवकीजी को दुःख क्यों हुआ ? इस शङ्क.ा का समाधान यह है कि भगवान् को शीघ्र अवतार लेकर प्रकट होना था तथा यह भी दिखाना था कि मर्यादा मार्ग के सर्व साधन

व्यर्थ हो जाते हैं जबकि मेरी इच्छा वा कृपा न हो अथवा मेरी सन्निधि न हो। इसलिए भगवान ने उस समय अपना नित्य सन्निहित स्वरूप भी तिरोहित[1] कर दिया था।

आभास - श्रीरङ्ग.ादिष्वपि नारायणस्य ब्रह्माण्डविग्रहस्य सान्निध्यम्।

श्रीरङ्ग. आदि धामों में भी भगवान् का सान्निध्य[2] है किन्तु वहाँ नारायण का सान्निध्य है। तात्पर्य यह है कि वहाँ रङ्ग.ादि धामों में अङ्ग. रूप से अनुप्रविष्ट है और मथुरा मे अङ्ग.ी रूप से अनुप्रविष्ट है। अङ्ग. से अङ्ग.ी अधिक है। उन अङ्ग.ी से ही जब सुख प्राप्ति नहीं है तो अङ्ग.भूत से कैसे होगी ? इससे यह भी बता दिया है कि तापनीय मे जो द्वादश स्वरूप कहे है उनसे भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता है।

मथुरादि के सिवाय अन्यत्र दूसरे स्थान पर भगवत्पूजादि नहीं करनी चाहिए? इसका समाधान ४ कारिका में करते हैं।

देश, काल, द्रव्य, कर्त्ता, मन्त्र और कर्म इन धर्म के ६ अङ्ग.ों में भी भगवान् विराजमान है। वह भगवान् तीर्थ से अन्य देश, शालग्राम, तुलसी, एकादशी व्रतों में भी अङ्ग. रूप से विराजते हैं। अतः समयानुसार वहाँ पूजादि की जा सकती है किन्तु मथुरा में नित्य अङ्ग.ी रूप से विराजते हैं।

आभास – तस्या अवस्थोत्कर्षमाह तस्यामिति।

इस प्रकार देश तथा काल से उत्कर्ष सिद्ध कर अब इस श्लोक से उन देवकीजी की अवस्था 'उत्कर्ष' बताते है।

श्लोक – **तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः।**
देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत्।।२६।।

श्लोकार्थ – शूरसेन के पुत्र वसुदेवजी किसी दिन इस मथुरा नगरी में विवाह कर नवविवाहिता देवकीजी के साथ अपने घर जाने के लिए रथ में बैठे।।२६।।

सुबोधिनी – तुशब्दो दुःखपर्यवसानेन भगवत्कृतसुखव्यावृत्त्यर्थः। सर्वानंशान् सर्वतो भगवान् स्वावतारार्थमाचकर्षेतिज्ञापनार्थं वा तुशब्दः। कर्हिचित् कस्मिंश्चित्काले। पूर्वोक्ते वा। सुमुहूर्तादिकं न भवतीति कर्हिचिदित्युक्तम्। शौरिर्वसुदेवः शूरस्य पुत्रः। अन्येपि वसुदेवाः सन्तीति पितृनाम्ना तन्निवृत्तिः।

---

[1] छिपा लिया
[2] समीपता

वसुदेवभ्रातरोपि बहव इति वसुदेवपदम्। कृत उद्वह उद्वाहो येन। देवक्या सूर्यया नवोढया सार्ध स्वगृहप्रयाणार्थं श्वशुरदत्त रथमारुहत्। विवाहोत्सवसमयो भर्तृसान्निध्य चोत्तमावस्था स्त्रिया। देवक्या सूर्ययेति स्वत उत्कर्ष उक्त। भर्तृप्राधान्यमपि पतिव्रतायामुत्कर्षहेतु। यद्यपि देवको ज्येष्ठस्तथापि मर्यादाराज्य न भवतीति उग्रसेन एव राजा कसो वा।।२६।।

अनुवाद – मूल श्लोक में कहे हुए 'तु' शब्द का भाव यह है कि अब तक देवकीजी को सुख था पर अब वह सुख, दुःख में पलटता है, जिससे सिद्ध होता है कि यह 'सुख' भगवान् ने नहीं दिया है। 'तु' शब्द का भाव दूसरे प्रकार से बताते है कि 'तु' कहने का यह भी आशय है कि भगवान् जो सुखरूप हैं उनके अश भी जहॉ प्रकट विराजते हैं, वहा सुख ही होता है। किन्तु अब स्वय भगवान् को अवतार लेकर पूर्ण आनन्द दान करना है और भगवान् का प्राकट्य तब होता है, जब भक्त आदि सब दुःखी होते हैं। अत अपने अशो को उन्होंने खेंच लिया। जिससे सुख तिरोहित हो गया और दुःख का आविर्भाव हुआ। मूल में 'कर्हिचित्' शब्द देने का आशय यह है कि जिस समय जा रहे थे, उस समय कोई सुन्दर मुहूर्त देखकर तैयारी नहीं की थी। अचानक विवाह हुआ और जाने की तैयारी कर ली। वासुदेव नाम वाले बहुत हैं और वसुदेव के भाई अन्य भी हैं इसलिये वसुदेव के साथ ''शौरि'' विशेषण दिया है जिससे किसी प्रकार भ्रान्ति न होवे। केवल 'वसुदेव' नाम देने से, यह शङ्का रह जाती कि कौनसा वसुदेव हैं? और यदि केवल 'शौरि' कहते तो शूर का कौनसा पुत्र विवाह करके जा रहा है 'दोनो' (शौरि, वसुदेव) पद देने से भ्रान्ति को अवकाश[1] नही रहा है। नवविवाहिता भार्या देवकीजी के साथ अपने गृह जाने के श्वसुर के दिये हुए रथ में बैठे। स्त्री की उत्तम अवस्था वह है जब विवाह का समय हो और अपने पति का साथ हो। इसलिये इस समय देवकीजी को ये दोनों प्राप्त थे अतः देवकीजी का अवस्था से भी उत्कर्ष है। तथा 'सूर्यया' (नवविवाहिता) थी इसलिये 'स्वतः'[2] भी उत्कर्ष हुआ। पति की प्रधानता भी पतिव्रता स्त्रियों के उत्कर्ष होने में कारण है। यद्यपि देवकीजी का पिता देवक बडा था तो भी वह ऐसा समय था जिसमें मर्यादा के अनुकूल राज्य प्राप्ति नहीं होती थी जो

---

[1] स्थान,

[2] अपने आपका खुदका,

बलिष्ठ होता था वह राजा बन बैठता था निर्बल शांति से रहकर व्यवहार चलाता था। इसी कारण से इस विवाह प्रसंग में देवक का नाम नहीं आता है उस समय उग्रसेन अथवा कंस राज्य की कार्यवाही करते थे।।२६।।

आभास – मुख्य एव व्यवहारे सम्बन्धहेतुर्लोकप्रसिद्धः। अत उग्रसेनपुत्रोपि कंसो देवकपुत्र्या देवक्या भ्रातृकार्यं कृतवानित्याह उग्रसेनसुत इति।

लोक में यह प्रथा प्रसिद्ध है कि कोई भी व्यवहार का कार्य होता है तो वह बड़ा व्यक्ति ही करता है। अतः उग्रसेन का पुत्र कंस इस समय मुख्य होने से देवकी के भ्रातापन का सर्व कार्य करने लगा। जिसका वर्णन इस श्लोक में करते है।

श्लोक – उग्रसेनसुतः कंसः स्वसुः प्रियचिकीर्षया।
रश्मीन् हयानां जग्राह रौक्मै रथशतैर्वृतः।।३०।।

श्लोकार्थ – भगिनी[1] के सन्मान करने की इच्छा से, उग्रसेन के पुत्र कंस ने, सोने से मंडित सैकडो रथों के बीच में स्थित रथ के घोड़ों को बागडोरों का अपने हाथ मे ले ली।।३०।।

सुबोधिनी – स्वसुर्भगिन्या देवक्याः सम्मानरूपप्रियचिकीर्षया स्वय हयाना रश्मीन् प्रग्रहान् जगृहे सूतो जात इत्यर्थः। केवलेन प्रेषितेन न भवतीति विशेषणम्। रौक्मैः सुवर्णपरिकरै रथशतैरनेकशतरथैर्वृतो वेष्टितः। अनेन वसुदेव एव मुख्यो राजा कृतः। स्वयमपि दासभाव प्राप्त इति महत् सम्माननम्। अन्यत उत्कर्ष उक्तः।।३०।

अनुवाद – बहिन देवकीजी के सम्मान पूर्वक प्रिय कार्य करने की इच्छा से कस, राजा होते हुए भी स्वयं घोडों की लगामों को लेकर सूत बन गया। यदि कंस अकेला ही घोडों की लगाम ले उसको (रथ को) चलाकर वसुदेव को अपने घर पहुँचाने जाते तो न शोभा होती और न उनका, वसुदेव–देवकी का मान होता जिससे वे प्रसन्न न होते, तथा कंस राजा होकर इस साधारण रीति से बहिन को अकेला छोडने गया। यह कंस के लिये भी शोभास्पद नहीं था। अतः कहते हैं कि 'रौक्मैः रथ शतैः वृतः' सुवर्ण मण्डित सैकडों रथ चारों तरफ थे जिनके मध्य में वसुदेव जी जिस रथ में बैठे थे वह 'रथ' था। कंस ने उसी रथ का सूत बनकर घोड़ों की बागडोरें पकड रक्खी थीं। इस

---

[1] बहिन

दृश्य से सिद्ध होता था कि "वसुदेव" ही मुख्य राजा बन गये हैं, और कंस जो राजा थे वे दास होके बैठे थे। इस प्रकार यह अधिक सम्मान है। इस श्लोक से देवकीजी का दूसरों से अधिक उत्कर्ष बताया गया है।।३०।।

आभास — पितृकृतं द्रव्यकृतमुत्कर्षमाह चतुःशतमिति द्वाभ्याम्।

नीचे के दो श्लोकों से पिता और द्रव्य से देवकी का उत्कर्ष वर्णन करते हैं।

श्लोक — **चतुःशतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम्।**
अश्वानामयुतं सार्धं रथानां च त्रिषट्शतम्।।३१।।
दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलङ्कृते।
दुहित्रे देवकः प्रादात् यानैर्दुहितृवत्सलः।।३२।।

श्लोकार्थ — पुत्री पर प्यार करने वाले देवकजी ने अपनी पुत्री देवकी को विदा के समय दहेज में सुवर्ण मालाओं से सजे हुए चार सौ हाथी, पन्द्रह हजार घोडे, अठारह सौ रथ शृङ्गार सहित सुन्दर सुकुमार दो सौ दासियां पालकियों समेत दी।।३१—३२।।

सुबोधिनी — क्षत्रिया हि चतुरङ्गिणी सेनां विवाहे पारिबर्हं प्रयच्छन्ति वधूवरयोः सन्तोषार्थम्। तत्र पदातीनां स्थाने कन्याप्रीत्यर्थं दास्यो दत्ता। हेम्नो माला येषां गजानाम्। अश्वानां पञ्चदश सहस्राणि। रथानां त्रिषट्शतमष्टादशशतम्।।३१।।

दासीनां सखित्वज्ञापनाय सुकुमारत्वमलङ्करणं चोक्तम्। दास्यः कन्यायै केवलं दत्ता न तद्भर्त्रे। अतो न यथेष्टं तेन विनियोगः कर्तुं शक्यः। ननु देवक्या एव विवाहे कथमेतावद्दत्तवानित्याशङ्क्या देवक इति। अत्यन्तमग्र देवो भगवानत्रावतरिष्यतीतिज्ञानयुक्तः। ता अपि दास्यो यानैर्दोलाभिः सहिताः। तासां तथाकरणे हेतुर्दुहितृवत्सल इति। स हि दुहितृषु वात्सल्ययुक्तः। तासामपि कन्यात्वाद्देवकीवाक्याद्वा तथा कृतवानित्यर्थः।।३२।।

अनुवाद — क्षत्रीय लोग विवाह में वर तथा वधू के सन्तोष के लिये चतुरङ्गिणी[1] सेना दहेज मे देते हैं। किन्तु देवक ने पैदल सिपाहियों के स्थान में कन्या की प्रसन्नता

[1] पैदल सिपाही, घोडे, रथ और हाथी इनकी सेना को चतुरङ्गिणी कहते है।

के लिये दासियां दी थी। सुवर्ण माला से सुशोभित चार सौ हाथी, पन्द्रह हजार घोडे, अठारह सौ रथ दिये।।३१।।

दासियां जो देवक ने दी थी उसका कारण यह था कि ससुराल मे देवकी को मन बहलाव के लिये सखियां अवश्य चाहिये, नहीं तो वहाँ उदास रहेगी अतः उसके समान सुकुमार एवं अलंकृत दासियां भी दी। वे दासियां कन्या, देवकी को दी थी उनमे वसुदेव का कोई अधिकार नहीं था जिससे वसुदेव उन दासियों से कोई भी सेवा न ले सके। देवक ने देवकी के विवाह में ही इतना दहेज क्यों दिया ? इस शङ्का का निवारण उनक 'देवक' नाम से हो जाता है। देवक का अर्थ है 'ज्ञानवान्' ज्ञानवान् होने से इसको पता था कि देवकी के गर्भ से भगवान् का प्राकट्य होगा, इसलिये विशेष दहेज दिया था। कन्या को जो दासियाँ दी थी उनके आने जाने के चढने के वास्ते पालकिया भी दी थी। उनके लिये भी पालकियाँ क्यों दी ? इस शङ्का निवारण के लिये कहते हैं देवक 'दुहितृवत्सलः' कन्याओं में प्रेमवाले थे, वे दासिया भी कन्याएँ ही थीं। अथवा देवकी के कहने से उनको पालकियां दी थी।।३२।।

आभास – सम्माननामाह शङ्खेति।

इस निम्न श्लोक में प्रयाण समय में जो सम्मान से विदा किया उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक : – शङ्खतूर्यमृदङ्गानि नेदुर्दुन्दुभयः समम्।
प्रयाणप्रक्रमे तावद्वरवध्वोः सुमङ्गलम्।।३३।।

श्लोकार्थ – वर बहु के प्रयाण के समय, मङ्गल होने के लिये, शङ्ख सूर्य मृदङ्ग और दुन्दुभि ये चारों साथ में बजने लगे।।३३।।

सुबोधिनी – शङ्खो हि मुखवाद्यम्। तूरी हस्तवाद्यं मृदङ्गानि च। दुन्दुभयो दण्डवाद्यम्। सममेकदा। नैमित्तिकं तदित्याह प्रयाणप्रक्रम इति। वरवध्वोः सुमङ्गलं यथा भवति तथा नेदुः। अनेन शकुनमप्युक्त पर्यवसानस्योत्तमत्वात्।।३३।।

अनुवाद – शङ्ख मुख से बजाया जाता है तुरही और मृदङ्ग हाथ के बाजे हैं, दुन्दुभि डण्डों से बजाई जाती है। ये सब साथ में ही बजने लगे। ये क्यों और कब साथ मे बजने लगे ? जब वर और वधू के जाने का प्रारम्भ हुआ तब बजने प्रारम्भ हुए

और मङ्गल सूचना देने के लिये बजने लगे। इनके बजने से यह मालूम हुआ कि शकुन अच्छे हैं, इसका फल उत्तम होगा।।३३।।

आभास – कालो ह्यत्र प्रतिबन्धको जात इति वक्तु तस्याधिभौतिकः कालनेमिः कंसे निविष्टः शेत इति तत्प्रादुर्भावार्थं तदनुगुणदेवतायास्तदुत्कर्षमसहमानाया अकस्माद् वाक्यं जातमित्याह पथीति।

आनन्द युक्त प्रयाण के समय काल ने आनन्द में रुकावट डाली। कैसे रुकावट डाली ? वहाँ कहते हैं कि काल के आधिभौतिक स्वरूप कालनेमि ने कंस में आकर निवास किया। वह काल, देवकी के उत्कर्ष को सहन नहीं कर सका अतः काल के अनुरूप देवता काल को प्रकट करने के लिये, अचानक रास्ते में आकाशवाणी हुई। जिससे कालनेमि के आवेश के प्रकट होने से कस की बुद्धि विकार वाली होने लगी। उसका वर्णन निम्न श्लोको में करते हैं।

श्लोक – पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक्।
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां नयसेबुध।।३४।।

श्लोकार्थ – घोडों की लगाम को पकड़कर जाने वाले कंस को रास्ते में आकाशवाणी ने कहा कि, हे मूर्ख। जिसको तूँ पहुंचाने जा रहा है उसका आठवा गर्भ तुझे नष्ट करेगा।।३४।।

सुबोधिनी – शोभातिशयो मध्येमार्गं प्रादुर्भूत इति पथ्येवोक्तवती न तु गृहे नापि गमनानन्तरम्। अनेनाधिभौतिकः कालोस्मिन्मार्गे बाधकः स प्रतिविधेय इति ज्ञापितम्। सर्वप्रकारेण प्रग्रहिण रश्मिग्राहिणमाभाष्य रे रे कंसेति सावधानपर्यन्तमुक्त्वा। अशरीवागाकाशवाणी। शरीरात् ताल्वोष्ठपुटाघातेन न निर्गता। तस्या वाक्यमाह अस्या इति। अष्टमो गर्भ इति। सङ्ख्या निरसन्दिग्धा। कन्या पुत्रो वेति न विशेष उक्तः। मध्ये भगवता तथा प्रेरिता। स बालक एव त्वां हन्ता हनिष्यति। दासीषु प्रेक्षिकासु वेतिसन्देहव्युदासायाह यां नयस इति। न चेयं मम भगिनी न तथा कर्तु दास्यतीति वक्तव्यं यतस्त्वमबुधः। कस्यापि तत्त्वं न जानासीत्यर्थः हे अबुधेतिसम्बोधनं वक्तुर्हितत्वज्ञापनाय।।३४।।

अनुवाद – मार्ग मे अतिशय शोभा हो रही थी जिससे देवकी का भी उत्कर्ष प्रकट देखने में आ रहा था, घर में वा पहुँच जाने के बाद होता तो ये दो तो उस समय नहीं होते। परन्तु आकाशवाणी को तो रंग मे भङ्ग और हर्ष में दुःख पैदा करना

था अतः वह आकाशवाणी मार्ग में ही हुई। इससे यह बताया कि आधिभौतिक काल इस मार्ग[1] में बाधक होता है। आकाशवाणी बागडोर पकडे हुए – कंस को, सावधान करने के लिये प्रथम, रे मूर्ख! कंस! संबोधन करती है, जब वह सावधान हो जाता है तब आवाज आती है वह आवाज तालु, होठ आदि के मिलाप से नहीं निकल रहीं थी, योंही वायु में मिश्रित होकर आ रही थी इसलिये श्लोक में 'अशरीर वाक्' पद दिया है जिसका अर्थ है वह वाणी जो शरीर से न निकली हो। उस वाणी से सुनने में आया कि जिसको तूँ प्यार से पहुँचाने ले जा रहा है उस देवकी का आठवां गर्भ[2] तुझे नष्ट करेगा। इस प्रकार स्पष्ट कहने से वह बता दिया कि दासी आदि का गर्भ तुझे नष्ट नहीं करेगा। संख्या तो निश्चय बतादी किन्तु पुत्र व पुत्री यह स्पष्ट नहीं कहा। यों भी न समझना, कि यह मेरी बहिन है और इसकी सन्तान भानेज मुझे कैसे मारेगा, यदि यों समझ लिया तो तूँ मूर्ख है। मैं ऐसा स्पष्ट तुझे मूर्ख इसलिये कहती हूँ कि मैं तेरा हित चाहती हूँ।।३४।।

आभास – ततो यज्जातं तदाह इत्युक्त इति।

आकाशवाणी होने से अनन्तर जो कुछ हुआ उसका वर्णन करते है –

श्लोक – **इत्युक्तः सखलः पापो भोजानां कुलपांसनः।**
भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेग्रहीत्।।३५।।

श्लोकार्थ – आकाशवाणी का इतना कहना सुनते ही भोज कुल के कलङ्क रूप पापी कस ने बहिन को मारने के लिये एक हाथ मे तलवार ली, और दूसरे हाथ में देवकी के केशों को पकड लिया।।३५।।

सुबोधिनी – आकाशवाण्यास्त्वभिप्रायः सा स्वगृह एव स्थापनीयान्यदा वा किञ्चित् कर्तव्यमिति। कसस्तु इत्युक्त एव सखलः कालनेमिसहितः। स प्रसिद्धो दिग्विजयी खलः प्रकृत्या। भगिनी हन्तुं खड्गपाणिर्भूत्वा कचे केशपाशे तामग्रहीत्। ननु महत् पापं कथं करिष्यतीत्याशङ्क्याह पाप इति। निरन्तरपकरणेन स पापात्मैव जातः। तस्मात् तस्य शास्त्रं न बाधकम्। खलत्वाल्लोकोपि न बाधकः। वशजा अपि न तस्य बाधका जाता इत्याह भोजानां कुलपासन इति। भोजवशोद्भवा ये तेषा

---

[1] भक्ति मार्ग तथा विवाहोत्सव दोनो के मार्ग मे आधिभौतिक काल प्रतिबन्धक होता है।

[2] गर्भ से उत्पन्न बाधक

कुले पांसनं मलरूप कलङ्करूप इतियावत्। कुले कलङ्कजनन तस्य स्वरूपम्। अतः कुलविचारेणापि न निवर्तते इतिभाव। कचेषु किञ्चित् कर्तव्यं नास्तीति सप्तमी। स तु भगिनीमेव हन्तुं कालेन समारब्धः आरब्धवान् वा। अपलायनार्थं तस्या ग्रहणम्।।३५।।

अनुवाद – आकाशवाणी का इस प्रकार कहने का तो आशय यह था कि देवकीजी को घर में रखलेंगे अथवा और कोई समुचित[1] उपाय करेगा किन्तु यह कस दिग्विजयी, तथा स्वभाव से खल तो पूर्व था ही, और विशेष में उसके साथ आधिभौतिक कालस्वरूप कालनेमि शामिल हो गया, इससे वाणी सुनते ही हाथ में तलवार लेकर भगिनी को मारने के लिये उसके बालों को पकड़ लिया। केवल वाणी सुनने से इतना बड़ा भारी पाप करने के लिये कैसे उद्यत हुआ ? वहाँ कहते हैं कि वह निरन्तर पाप कर्म करता ही रहता था, जिससे पापात्मा[2] बन गया था। इसी से शास्त्रवचनो की भी उसने परवाह नहीं की है और उसको लोक भी नहीं रोक सके क्योंकि वे खल हैं। इसी प्रकार बान्धव भी रोकने मे असमर्थ थे कारण कि वह कुल कलङ्क था। अतः उसको अपने कुल की मानमर्यादा भी इस घृणित कार्य से नही हटा सकी। बालों को कुछ भी करना नही था इसलिये कच शब्द सप्तमी विभक्ति में दिया है यदि बालों को कुछ करना होता तो सप्तमी विभक्ति न देकर दूसरी देते। उस कंस को तो बहिन को ही मारने के लिये काल ने तैयार किया था। देवकीजी भाग न जावे केवल इसलिये बाल पकड़ रखे थे।

आभास – वसुदेवस्तु शूरोप्यसहायः कंसबलं च जानातीति स्वतो दोषस्तस्य च न भवतीति निश्चित्य सान्त्वनार्थं प्रवृत्त इत्याह तमिति।

यद्यपि वसुदेव शूरवीर थे और साथ में कंस का पराक्रम भी जानते थे, इसके सिवाय स्वयं उस समय शस्त्र तथा सेना आदि नहीं होने से, असहाय थे। एवं यह भी समझते थे कि कस का स्वतः[3] दोष नहीं है। यह निश्चय कर कंस को शान्त करने का उपाय करने लगे। इस श्लोक में उसका वर्णन करते हैं –

---

[1] योग्य, उचित

[2] पापरूप

[3] अपने आपका

श्लोकः – तं जगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम्।
वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन्।।३६।।

श्लोकार्थ – निन्दा के योग्य कर्म करने वाले, निर्दयी और निर्लज्ज कंस को, महाभाग्यवान् वसुदेवजी शान्ति कराते हुए कहने लगे।।३६।।

सुबोधिनी – नाय स्त्रीलोभेन तथा करोति किन्त्वनुचितमिति दयाविष्टस्त परिसान्त्वयन्नुवाचेतिसम्बन्धः। लोकलज्जया स्वयमेव न करिष्यतीति ज्ञात्वा कथं न तूष्णीं स्थितस्तत्राह जुगुप्सितमेव सर्वदा करोतीति तथा। स्वस्य दयया त्यक्ष्यतीत्यपि न यतः नृशंसः क्रूरात्मा। दैत्येष्वपि हीनत्वादपत्रपयापि न करिष्यतीत्यपि न। यतो निर्गता अपत्रपा यस्य। 'लज्जा सापत्रपायन्त'। वसुदेव इति। उपेक्षायामयुक्तः सर्वप्रकारेण मोचयितुं शक्तः। किञ्च महाभाग यस्य जन्मन्यानका दुन्दुभयश्च नेदुरतो महाभाग्यवान्।।३६।।

अनुवाद – वसुदेवजी, कंस की सान्त्वना इस लोभ से नहीं करते हैं कि मेरी स्त्री मर जायगी तो मैं दुःखी हो जाऊंगा वा मेरी हानि होगी, किन्तु यह कंस का कर्त्तव्य अयोग्य है इससे वसुदेवजी के हृदय में दया उत्पन्न हुई कि कंस ऐसा पाप कर्म करेगा तो उसका अनिष्ट[1] होगा और देवकी भी बिना दोष मारी जाती है। इसी दया के कारण वसुदेवजी कंस को शान्त कराने के लिये निश्चय किया। भगिनी की हत्या से मेरी लोक में अपकीर्ति होगी तो मैं समाज में मुख ऊपर कर कैसे चलूंगा, इस प्रकार लज्जा आने से स्वयं यह कार्य न करेगा, यों समझ कर वसुदेवजी को चुप रहना चाहिये था। इस पर कहते हैं कि लज्जा उसको आती है जिसने कभी भी निन्दित कार्य न किया हो, यह कंस तो सदैव निन्दित कर्म करने वाला है। उसको कैसे लज्जा आवेगी? यदि लज्जा में नहीं तो 'भगिनी दयामूर्ति' बहिन दया पात्र है यों समझकर छोड़ देगा। इस पर कहा गया है कि वह कंस नृशंस[2] है अतः उसको कभी दया आती नहीं है इसलिये यह छोडेगा नहीं। इसके सिवाय वसुदेवजी यह भी जानते थे कि कंस, दैत्यों में भी अधम दैत्य होने से निर्लज्ज है, इन सब विषयों का विचार कर वसुदेवजी ने सोचा कि इसकी उपेक्षा[3] करनी अयोग्य है अतः किसी भी प्रकार सान्त्वना कराके देवकी को छुडाना

---
[1] बुरा
[2] निर्दयी
[3] उदासीनता, बेपरवाह

चाहिये, यों करने की वसुदेवजी में शक्ति थी क्योंकि उनके जन्म के समय देवों ने बडे नगाड़े इसलिये बजाये थे कि यह महाभाग्यवान् है।।३६।।

आभास – आकाशवाणीं च श्रुत्वेय च न मरिष्यतीति निश्चित्य कथञ्चित् प्रतीकार कर्तव्य इति प्रतियुद्धादिकमकृत्वा कंस परितः सान्त्वयन् तिष्ठ तिष्ठ मद्विज्ञापना शृण्विति वदन्नाकाशवाण्या. समाधानार्थं वक्ष्यमाणमुवाच। आकाशवाण्युक्तं न मिथ्या। अयं च प्रतीकारार्थ यतते। तत्र क्रियया प्रतीकारो न भवति ज्ञानेनैव प्रतीकारो भवतीति नवभि प्राणश्लोकैस्तस्य सर्व तत्त्वमुपदिशति श्लाघनीयेति।

वसुदेव ने आकाशवाणी सुनकर मन निश्चय पूर्वक समझ लिया कि यह देवकी तो मरेगी नहीं। तो भी व्यवहारानुसार इसका प्रतीकार[1] करना चाहिये। सामासामी[2] शस्त्रों से लड़ाई न करके कंस को पूरी तरह शान्त करने तथा आकाशवाणी के वचनों के समाधान करने के वास्ते कहने लगे कि, ठहरो! ठहरो! मेरी प्रार्थना को पहले सुनलो। वसुदेवजी ने समझ लिया था कि कंस को निश्चय हो गया है कि आकाशवाणी ने जो कहा है वह मिथ्या नहीं है अतः उसका प्रतिकार करने का वह प्रयत्न कर रहा है। अब शस्त्र क्रिया[3] से मेरा कार्य सिद्ध नहीं होगा अतः इस कार्य की सिद्धि ज्ञान रूप प्रतिकार से ही होगी यों निश्चय कर नौ श्लोकों से कंस को सर्वज्ञान का तत्त्व समझाकर शान्त करते हैं। नौ श्लोकों से उपदेश करने का भाव यह है कि 'प्राण' नौ है जिनकी रक्षा करनी है।

वसुदेव उवाच – श्लोक – **श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान् भोजयशस्करः।**
स कथं भगिनीं हन्यात् स्त्रियमुद्वाहपर्वणि।।३७।।

श्लोकार्थ – वसुदेवजी कहने लगे, कि – आपके गुण शूरवीर भी गा रहे हैं, तथा आप भोज भूपति के वंश का यश बढा रहे हो। वैसे आप, इस विवाहोत्सव जैसे शुभ कार्य में स्त्री को वह भी बहिन को कैसे मारते हो ?।।३७।।

सुबोधिनी – यद्ययं मृत्यौ निरभिमानस्तिष्ठेदक्लिष्टकर्मा भगवान् तं न हन्यात्। अत इदमुपदिश्यमानं देवगु:त्वात् प्रतिबन्धकत्वेन फलितम्। वसुदेवोपि भगवता प्रेरित इत्यनधिका–

[1] उपाय

[2] सामने खड़े होकर

[3] लड़ाई करने

रिणमनवसरे बोधयति। आकाशवाणीप्रमाण्येन हि स मारयितुमुद्यतः। सा चेन्मारिता स्यादाकाश–वाण्यप्रमाणैव स्यादतोन्य एवोपायश्चिन्तनीयस्तेनापि। अतोनवसरेपि दयया तद्धितमेवोक्तवान्। नवधा एतदकर्तव्यम्। महतो निन्दितकरणमनुचितम्। नाय च प्रतीकार। नापि प्रतीकार कर्तव्य पूर्वदेहस्य मलत्वात्। नापि देहान्तर दुर्लभम्। नापि पूर्वदेहस्य त्यागे कश्चन प्रयासः। नापि वस्तुतो देहाध्या सव्यतिरेकेण देहिन स्वतो जन्मास्ति। देहाध्यासश्चाज्ञानादिति ज्ञानेन निवर्तते। किञ्च यावदन्यस्मै न द्रुह्यति तावन्न तस्य भयं भवति। द्रोहे मया वा मन्त्रिष्ठेन वा भगवता तव हनन निश्चतमाकाशवाण्या अमिथ्यात्वात्। लोकस्वभावविरुद्धश्चायमिति। तत्राद्यमन्त्यौ च लौकिकौ। मध्ये षट् पारमार्थिका। तत्र प्रथम तव विगर्हितमनुचितमित्याह। शूरैर्जरासन्धादिभिः। श्लाघनीया गुणा यस्य। शूरा हि युद्धमभिमन्यन्ते कातरा एव मृत्यु विचारयन्ति। अतोस्या पुत्रो मारयिष्यतीतिश्रवणे शूराणामुत्साह एव युक्तो न तु स्वशौर्यनाशक तन्मारणमुचित 'द्वौ सम्मताविह मृत्यू दुरापा' वितिवाक्यात्। भवाश्च क्षत्रियधर्मे निष्णात इति सर्वै श्लाघ्यते। किञ्च भोजयशस्करो भवान् भोजवंशे नैतादृशः शूर इति। अत स्वधर्मकीर्तिजनकत्वादाकाशवाणीवाक्यश्रवणेन वधो नोचितः। किञ्चैतादृशयशोधर्मयुक्तो दयापात्रं भगिनी कथं हन्याद् यदर्थं लोका स्वय म्रियन्ते ? किञ्च स्त्रियम्। स्त्रीवधोनुचितः शूराणाम्। भगिन्यपि कदाचित् क्षत्रियवशोद्भवत्वाच्छौर्यमवलम्बते तादृश्यपीय न भवति। सा तु पुम्प्रकृतिका भवति। इय तु स्त्र्येवेति न पुनरुक्तिः। किञ्च वधे कर्तव्येपि कालान्तरे कर्तव्यो न तु विवाहोत्सवे। लौकिका राजानो मारणीय विषादिनापि मारयन्ति। तस्माच्छौर्यादि– धर्मवतस्ते नेदमुचितम्।।३७।।

अनुवाद – आकाशवाणी सुनकर कंस को निश्चय हो गया कि इसके आठवें गर्भ से मेरी मृत्यु होगी। अतः देवकी का ही नाश कर दूंगा तो मेरी मौत नहीं होगी। इस प्रकार के मृत्यु का निश्चय कंस के हृदय से निकालने के लिये वसुदेवजी प्रयत्न करने लगे। जो, वसुदेवजी के उपदेश से कंस के हृदय से मृत्यु का अभिमान[1] जिसका मूल कारण देहाध्यास है वह निकल जाता तो अक्लिष्टकर्मा भगवान् कंस को मारते नहीं। किन्तु यह वसुदेवजी का उपदेश, देवगुह्य, श्रीकृष्ण करके गुह्य है, जिससे कंस समझ न सका। न समझने के कारण उसका मृत्यु में वही अभिमान रहा, अतः उपदेश भी प्रतिबन्धक हो गया। वसुदेवजी का उपदेश देवगुह्य था उसका आशय यह भी था कि यदि देवकी मारी जायगी तो आकाशवाणी का कहना मिथ्या हो जायगा अतः देवकी की मृत्यु भी न हो और आकाशवाणी भी सत्य हो इसके लिये कोई दूसरा उपाय का विचार

[1] उदासीनता, बेपरवाह

करना चाहिये। वसुदेवजी भी भगवान् की प्रेरणा से, उपदेश का समय तथा अपने अधिकारी न होने पर भी उपदेश देने लगे। कंस के कृत्यों को देखते हुए उस पर दया करने का अवसर नहीं था तो भी उसके हित के लिये वसुदेवजी दया के कारण उसको उपदेश देने लगे।

हे कंस! यह जो आप भगिनी–वध का कार्य कर रहे हो वह नौ प्रकार के विचार से सिद्ध होता है कि नहीं करना चाहिये।

१– भगिनी वध जैसा निन्दित कर्म महापुरुषों के योग्य नहीं है, और यह दुष्कर्म मृत्यु से बचने का उपाय भी नहीं है।

२– यदि वह (भगिनी का वध) मृत्यु से बच जाने का उपाय भी हो तो भी नहीं करना चाहिये, कारण कि, मृत्यु के अनन्तर, देह से जीव के चले जाने के पश्चात् यह देह मलरूप गिनी जाती है। जिसका कोई भी स्पर्श करना नहीं चाहता।

३– दूसरी देह की प्राप्ति में किसी प्रकार की दुर्लभता नहीं है।

४– पूर्व देह के त्या में किसी प्रकार का प्रयास[1] नहीं है।

५– वास्तविक[2] रीति से विचारा जाय तो जीव का जन्म[3] ही नहीं होता है। केवल देह के अध्यास से जीव समझता है कि मेरा जन्म हुआ है।

६– देह में जो अध्यास हुआ है वह अज्ञान से हुआ है। वह अज्ञान, ज्ञान से मिटाया जा सकता है।

७– कोई भी जब तक दूसरे से द्रोह नहीं करता है तब तब उसको कोई भय नहीं है।

८– यदि आकाशवाणी सत्य ही समझते हो तो इस प्रकार के द्रोह करने पर भी मुझसे वा मेरे भीतर विराजमान प्रभु के द्वार तेरी मृत्यु निश्चय होगी ही।

९– आपने अपने आपको बचाने के लिए जो उपाय सोचा है वह लोक तथा स्वभाव के विरुद्ध है।

---

[1] परिश्रम

[2] यथार्थ

[3] वा मृत्यु (वा मैं मरूँगा)

इन उपदेश वाक्यो में पहला और अन्त में ८वें व ९वें लौकिक दृष्टि से दिये गये हैं। शेष बीच वाले ६ उपदेश पारमार्थिक हैं।

अब उस प्रथम प्रारम्भ किये निन्दित कर्म (भगिनी–वध) को छोड़ने के लिए कंस को उपदेश देते हैं –

हे कंस! आप थोड़ा विचार करो कि जरासन्ध जैसे शूरवीर भी आपका यश गाते हैं कि आप महाशूर हैं। शूर तो युद्ध ही चाहते हैं। वे मृत्यु से नहीं डरते हैं। कायर ही मृत्यु का विचार करते हैं। अतः शूरवीर होने से आपको तो इसका पुत्र मुझे मारेगा। यह सुनकर शूरवीरता आनी चाहिए। शूरवीर तो लड़ाई सुनकर उत्साहित होते हैं पर आप तो डरपोक बन गये हो। यह आपको उचित नहीं है और बहिन का वध कर अपनी वीरता को नाश करना भी योग्य नहीं है। युद्ध में 'मरने वाले तथा मारने वाले' की मृत्यु दोनों के इच्छानुकूल है किन्तु वैसी मृत्यु क्षत्रियों के लिए दुराप अर्थात् कष्ट से कभी मिलती है। आप तो क्षात्र धर्म को अच्छी तरह जानने वाले हो इस प्रकार आपकी प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि आप भोज के यश को फैलाने वाले हो तथा भोज वंश में आप जैसा शूर दूसरा कोई नहीं हुआ है। अतः आकाशवाणी सुनने मात्र से बहिन का वध उचित नहीं है। इसको छोड़ने से आपका धर्म तथा यश बढेगा। ऐसा धर्म तथा यश वाले आप, दया पात्र भगिनी को कैसे मारोगे ? जिस बहिन के लिए मनुष्य अपना शरीर भी देते हैं। बहिन का विचार छोड़ा जाय तो भी 'स्त्री' जाति तो है। शूरवीरों को स्त्री का वध करना अनुचित है। यदि आप समझो कि यह मेरी बहिन भी क्षत्रिय होने के कारण शूरता आने से मुझसे लड़े वा मुझे मार डाले ? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि यह वैसी नहीं है, जो वैसी होती है वे पुरुष प्रकृति की होती है यह स्त्री प्रकृति वाली है। यदि आपको इसको मारना ही है तो भी अब विवाहोत्सव के समय में तो मत मारो पीछे मार देना। लौकिक राजा लोग जिसको मारना चाहते हैं उसको विषादि से मरवा देते हैं। इन कारणों से शौर्य आदि धर्म वाले आपको इसका वध करना योग्य नहीं है।।३७।।

आभास – किञ्च यदियं हन्यते तन् मृत्युप्रतीकारार्थं नतु वैरभावेन न च मृत्युरस्यां हतायां प्रतिकृतो भवति सहजत्वादित्याह मृत्युरिति।

आप जब इस भगिनी को इसलिये मारते हो, कि मैं मरने से बच जाऊँ परन्तु बहिन से तो किसी प्रकार का वैर है नहीं जिसके लिये उसको मारते हो। तब आपको सोचना चाहिये कि इसको मारने से क्या मेरी मृत्यु टल जायँगी ? यह तो कदापि नहीं होगा, कारण कि मौत तो जन्म के साथ जन्म लेती है।

वसुदेवजी इस नीचे के श्लोक में इसी प्रकार कंस को समझाते हैं –

श्लोक – मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः।।३८।।

श्लोकार्थ – हे वीर! जन्म लेने वालों की मृत्यु उनकी देह के साथ ही उत्पन्न होती है, अतः प्राणी मात्र की मृत्यु होनी निश्चत है। वह मृत्यु कब होगी उसका किसी को पता नहीं है। आज ही अथवा सौ वर्ष के बाद हो, जब आवेगी उसको कोई रोक नहीं सकता है।।३८।।

सुबोधिनी – नापि विलम्बार्थम्। वाणीवचनादेव नेयं हन्ति नापि हनिष्यति। अस्या अप्यष्टमो गर्भः **शीघ्रमेव** हनिष्यतीतिवाक्यमस्ति। अथ कदाचिद्धनिष्यतीतिशङ्का। तन्नित्यमृत्योरनेनान्येन वा हनन सिद्धमिति नाय प्रतीकारः। तदाह जन्मवतामुत्पन्नानां मृत्युर्देहेन सहैव जायते। 'मृत्युनैवेदमावृतमासी' दित्युपाख्याने भगवान् मृत्यो सकाशात् प्राणिनो बहिः कृत्वा तेशामन्तर्मृत्युं पातितवान्। 'अशनाया मृत्युरेवे' तिश्रुतेः। अशनायारूपो मृत्युर्देहेन सहैव जायते। तस्मात् प्रत्यहमनुभूयमानो मृत्युर्नित्य इति। अद्य वाब्दशतान्ते वा प्राणिना मृत्यु सिद्ध एव, वीरेतिसम्बोधनमेवङ्कथनेपि भयाभावाय। अब्दशतान्ते मृत्युः सर्वेषामभिमत इति तदैव वाकाशवाणी सत्या भविष्यतीति न मारणमुचितमितिभाव.।।३८।।

अनुवाद – हे कंस! इसको मारने से तेरी मृत्यु जो अवश्य होने वाली है, वह टलेगी नहीं। इसका गर्भ या किसी दूसरे का गर्भ तुझे मारेगा तो अवश्य ही। यदि कहो कि मृत्यु टलेगी नहीं, किन्तु कुछ समय रुकने से उसमें विलम्ब तो होगी। इस पर कहते हैं कि विलम्ब तो यों भी है ही। यह देवकी तो तुझे नहीं मारती है तथा न मारेगी और मारने वाला इसका आठवां गर्भ भी अब जन्म नहीं लेता है। इसलिये विलम्ब के कारण मारना भी व्यर्थ है। अतः इसका वध करना तो तेरे बच जाने का उपाय नहीं।

मृत्यु तो प्राणियों के जन्म के साथ जन्म लेती है, (मृत्युना एव इदं आवृतं) वृहदारण्यक के प्र. अ. श्री इस श्रुति में कहा गया है कि यह सब मृत्यु से घिरा हुआ

था। भगवान् ने प्राणियों को उस मृत्यु से बाहिर निकाला और मृत्यु को प्राणियों के भीतर स्थापन किया, वह भीतर स्थित मृत्यु का रूप अशना भूख है। यह भूख रूप मृत्यु देह के साथ पैदा होती है इसलिये। (अशना या मृत्युरेव) इस श्रुति में कहा है कि मृत्यु का रूप भूख है। अतः प्राणियों की वह मृत्यु नित्य होती है। इसका प्रत्येक प्राणी को अनुभव है। जब भोजन नहीं मिलता है, भूख सताती है तो प्राणी के मुख से ये शब्द निकलते हैं कि मैं भूखों मरता हूँ जल्दी भोजन दो नहीं तो मेरे प्राण निकलते हैं। इससे निश्चय है कि आज वा सौ वर्ष के अनन्तर मृत्यु तो होने वाली ही है। वसुदेवजी ने कंस को हे वीर! संबोधन देकर यह बताया कि तूं शूरवीर है तुझे भय नहीं करना चाहिये। सौ वर्ष के बाद भी तो मृत्यु सब मानते ही हैं। तब ही आकाशवाणी सत्य होगी। अतः इस प्रकार विचार पूर्वक समझ लेने से आपको इसका वध करना उचित नहीं है।।३८।।

आभास— न च देहत्यागे क्लेशो भविष्यतीति क्लेशनिवृत्त्यर्थमौषधपानवदस्या मारणमुचितमित्याह देह इति।

हे कंस! आप यों भी नहीं समझना कि देह के त्याग करने में जो दुःख होगा वह इसके वध से निवृत[1] हो जायगा। इसके लिये इसका वध मेरे दुःख निवृत्ति की औषधि जानकर यह कर्म करता हूँ। निम्न श्लोक से कंस को समझाते हैं कि देह त्याग में कोई क्लेश नहीं होता है।

श्लोकः — देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोवशः।
देहांतरामनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः।।३९।।

श्लोकार्थ — जब परवश जीव को कर्म के अनुसार इस देह को छोड़ना पड़ता है तब दूसरी देह को प्राप्त करने के पश्चात् पहिली देह का त्याग करता है।।३९।।

सुबोधिनी — देहे पञ्चत्वमापन्ने पञ्चमहाभूतेष्वंशतो लीने सत्ययं देहाभिमानी जीवो देहान्तरं नवीनं कल्याणतरं प्राप्य प्राक्तनं मलप्रायं वपुस्त्यजते। ग्रहणे त्यागे वा नास्य प्रयासोस्ति यतः कर्मानुगः कर्मणैव तथोपस्थाप्यते। नाप्यस्य प्रयत्नापेक्षा यतोवशः। अनुप्राप्येति कालविलम्बो निराकृतः। अतः प्रयासाभावादौषधवदप्यस्या मारणमयुक्तम्।।३९।।

---

[1] मिट जाएगा

अनुवाद – जब जीव इस देह के त्याग की तैयारी करता है तब देह के पांचों तत्त्व पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतों में क्रमशः लीन होने लगते हैं। उसके पश्चात् देहाभिमानी जीव, कल्याणकारी नवीन दूसरी देह को पाकर पहिली मलरूप बनी हुई देह को छोड़ देता है। जूनी देह के त्याग तथा नयी देह के ग्रहण करने में जीव को परिश्रम नहीं करना पड़ता है। कारण कि जीव कर्म के आधीन है। कर्म जहां जीव को ले जाते हैं वहां उसको जाना ही पड़ता है। कर्म को उसको पहिली देह छुड़ाता है और नवीन देह दिलाता है। जीव को परिश्रम करने की भी अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह कर्म के आधीन है। 'अनुप्राप्य' शब्द से यह बताया है कि इस एक देह को छोडकर दूसरी लेने में काल को कुछ भी विलम्ब नहीं होता है। देह के त्याग तथा ग्रहण करने मे परिश्रम न होने से, औषध लेने की तरह भी इसका वध करना अयोग्य है।।३६।।

आभास–किञ्चदेहान्तरप्राप्तौ विलम्बो भविष्यतीत्यपि न शङ्कनीयमित्याह व्रजन्निति।

पहिली देह छोड़कर दूसरी देह की प्राप्ति में विलम्ब होगा, यह भी शङ्का मन में नहीं लानी चाहिये। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः – व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
यथा तृणजलौकैवं देही कर्मगतिं गतः।।४०।।

श्लोकार्थ – जैसे चलता हुआ मनुष्य पृथ्वी पर आगे के एक पैर से देह को टिकाकर पीछे दूसरा पांव उठाता है तथा जैसे तृणकीट अन्य तृण को पकड़कर प्रथम तृण का त्याग करता है वैसे जीव भी कर्म के अनुसार नवीन देह को प्राप्त करने के पश्चात् पहिली देह को छोड़ता है।।४०।।

सुबोधिनी – यथा गच्छन् पुरुष एकेन पदा तिष्ठन्नेकेन गच्छति। प्रथमतः स्थितिः पश्चाद्गतिस्तथा प्रथमतो देहान्तरग्रहणं पश्चादस्य परित्यागः। गमने देशभेदस्य दुर्ज्ञेयत्वाद् दृष्टान्तान्तरमाह यथा तृणजलौकेति। तृणान्तरे स्थित्वा पूर्वतृणं त्यजतीति प्रत्यक्षसिद्धम्। यथात्र बुद्धिप्रयत्नौ तथा देहान्तरे कर्मगतयः। तदाह कर्मगतिं गत इति। कर्मगतिं देवतिर्यगादिदेहम्।।४०।।

अनुवाद – जैसे पैदल जाने वाला मनुष्य प्रथम एक पैर से अगली भूमि पर स्थित होने के बाद, पीछे की भूमि से दूसरा पैर उठाता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि पहले ठहरने का स्थान स्थिर कर पीछे आगे वाला स्थान छोड़ा जा सकता है, यों करने से हो चलने वाला मनुष्य चलने में सफल हो सकता है अन्यथा नहीं। विशेष समझाने

के लिये दूसरा दृष्टान्त देते हैं जैसे तृण कीट (तिनके का कीड़ा) दूसरे तिनके पर ठहरने के पश्चात् पहिले तृण का त्याग करता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

जिस प्रकार इस लौकिक कार्य में प्रयत्न तथा बुद्धि की आवश्यकता है वैसे ही देह धारण करने में कर्म की गति की आवश्यकता है। अर्थात् जीव कुछ नहीं कर सकता है वह कर्म के वश है। कर्म अनुसार देह का त्याग तथा देव तिर्यग् आदि देह की प्राप्ति होती है।।४०।।

आभास– नन्वधिकप्रयासाभावेपि दृष्टान्तानुरोधेनाल्पंप्रयासो भविष्यसि सोपि शीघ्रं मा भवत्विति मारणमिति चेत्तत्राह स्वप्ने यथेति।

यदि कंस कहे, कि अधिक प्रयास नहीं होगा किन्तु दृष्टान्त के अनुसार थोडा प्रयास तो होगा, वह भी जल्दी न हो इसलिये इसका वध करता हूँ। तो इसका उत्तर निम्न श्लोक से देते हैं।

श्लोकः– स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन् प्रपद्यते तत् किमपि ह्यपस्मृतिः।।४१।।

श्लोकार्थ – जीव को कुछ देखता है अथवा शास्त्रों से सुनता है उन विषयों का मन से चिन्तवन करता रहता है, और उसी प्रकार के पदार्थों अथवा देहों की प्राप्ति की इच्छा करता है जिससे उसके मन में वे संस्कार दृढ़ हो जाते हैं। इसी कारण से जीव स्वप्न में वैसी देह मुझे मिली है ऐसा देखता है यहां तक कि अपनी देह को भूल जाता है। जैसे स्वप्न में होता है वैसे ही जाग्रत में भी यों ही होता है इसमें किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता है।।४१।।

सुबोधिनी – न हि स्वप्नदेहग्रहणे परित्यागे वाणुमात्रमपि प्रयास उपलभ्यते। वैलक्षण्यमपि कदाचिदेव प्रतीयते न सर्वदेत्याहेदृशमिति। ननु स्वप्नदेहः कर्मसाध्यो न भवतीति न प्रयास इति चेत्तत्राह मनोरथेनाभिनिविष्ठचेतन इति। मनोरथेन तत्तद्वस्तुभावनया मनोगत्या कर्मणा तादृशे देहे तदुपभोग्ये विषये वाभिनिविष्टा चेतना बुद्धिर्यस्य। मनोरथेनापि स्वप्नो दृश्यते। ज्ञानकर्मणी च तत्र भवतः। यथा लोकान्तरगतौ "तं विद्याकर्मणी समारभेते पूर्वप्रज्ञा चे" ति। ततः स्वप्नदेहलोकान्त–रदेहयोस्तुल्यत्वान्न ग्रहणपरित्यागयोः प्रयासः। न च वक्तव्यं मनोरथस्य तत्र कारणता नास्तीति यतो दृष्टश्रुताभ्यां प्रत्यक्षशास्त्राभ्यां प्रमाणाभ्यां मनसा राजादिदेहमिन्द्रादिदेहं वानुचिन्तयस्तत्र प्रतिपद्यते स्वप्ने राजाहमस्मीन्द्रोहमस्मीति। पूर्वदेहस्य तु स्मरणमपि नास्ति कुत्र ग्रहण परित्यागप्रयास सम्भावना?

तदाहापगता स्मृति पूर्वदेहस्मरणं यस्य। तत् पूर्वानुभूतमेव किमप्यनिर्वचनीयम्। स्वाप्निकस्य मायिकत्वात्। 'तदुदितः स हि यो यदनन्तर' इतिन्यायेन स्वप्नो मनोरथहेतुक इति।।४१।।

अनुवाद – स्वप्न के समय देह के ग्रहण तथा परित्याग में थोड़ा सा भी परिश्रम नहीं होता है और विलक्षणता[1] भी कभी–कभी ही प्रतीत होती है, सदा नही होती है। स्वप्न की देह में इसलिए प्रयास नहीं होता है क्योंकि वह कर्म द्वारा प्राप्त नहीं की जाती है, बिना कर्म के ही मिलती है। इस पर कहते हैं कि वह भी यों ही नही देखने में आती है किन्तु उसके लिए एक प्रकार का कर्म करना पड़ता है। वह कर्म है 'मनोरथ'। जीव मनोरथ से जब जिस–जिस देह वा वस्तु की भावना करता है तब उस जीव की बुद्धि उस देह अथवा उससे भोग्य विषय का रूप बन जाती है। उस ज्ञान और कर्म से ही 'स्वप्न' आते हैं। जैसे दूसरे लोक देह की गति में विद्या, ज्ञान तथा कर्म सहायक होते हैं। उनके द्वारा ही उसका प्रारम्भ होता है। वैसे ही स्वप्न में देहादि का आरम्भ भी ज्ञान एवम् कर्म से युक्त मनोरथ से ही होता है। इस प्रकार दोनो देहों की समानता है और इसलिए दोनों के ग्रहण तथा परित्याग में कोई प्रयास या परिश्रम नहीं है। यों भी आप नहीं कह सकते हो कि स्वप्न की देह में मनोरथ कारण नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा शास्त्र श्रवण द्वारा जो कुछ विषय मन में स्थित होते हैं उनका चिन्तन होता रहता है। जो दिन का चिन्तन किया जाता है वही प्रायः स्वप्न में देखने में आता है यह प्रत्येक का अनुभव है ही। कभी– कभी पूर्व जन्मों के संस्कारों का भी मन में स्मरण ही आता है कि मैं राजा था वा इन्द्र था अथवा युद्ध में सिर कट गया वा किसी कर्म से फाँसी हुई वे संस्कार भी जागृत हो जाते हैं और उनका अनुभव भी स्वप्न में होता है। अतः स्वप्न में मनोरथ रूप कर्म ही कारण है। यदि आप कहो कि पूर्व देह (जन्म) की स्मृति ही नहीं है तो ग्रहण और त्याग की सम्भावना (कल्पना) कैसी होगी ? इस पर कहते हैं 'अपगत स्मृतिः' जीव को देह सम्बन्धी स्मृति नहीं रहती है। 'स्वप्न' तो वह है जो पूर्व काल में कभी भी अनुभव किया गया है। अतः इसको अनिर्वचनीय (जिसका पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता है) कहा जाता है। मन में पहिले मनोरथ पैदा होता है, उससे स्वप्न उत्पन्न होता है, इससे स्वप्न का कारण मनोरथ है। उस

[1] अद्भुतपन

मनोरथ का कारण केवल दृष्ट[1] या श्रुत[2] है और वह स्वप्न निद्रा के समय आने से; मनोरथ किये हुए विषय पूरी तरह से दिखने में नहीं आते हैं, कारण कि निद्रा भी माया का रूप है, उसमें आने से स्वप्न को भी मायिक कहते हैं।।४१।।

आभास– किञ्च देहस्योत्पत्तिमरणे न त्वात्मनः। आत्मा तु तदध्यासाज्जायते म्रियते वा। तदाह यतो यत इति।

'यतोयतः' इस निम्न श्लोक में कुछ और भी समझाते हैं। जैसा कि जीव न उत्पन्न होता है और न नाश होता है, उत्पत्ति तथा नाश देह का होता है, जीव को देह में अध्यास (देह ही मैं हूँ) समझने से अपना जन्म और मरण होना मान लेता है।

श्लोकः – **यतो यतो धावति दैवनोदितं मनो विकारात्मकमाप पञ्चसु।**
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ प्रपद्यमानः सह तेन जायते।।४२।।

श्लोकार्थ – दैव के द्वारा प्रेरित, अनेक विकारों से भरा हुआ मन माया से उत्पन्न जिन २ पञ्चभूतात्मक देहादिकों में से दौड़कर आता है अर्थात् जिन को छोडकर आता है और जिन देहों को प्राप्त करता है अर्थात् ग्रहण करना चाहता है, उनमें अभिनिवेश[3] होने से जीव भी मन के साथ उसमें जन्म लेता है।।४२।।

सुबोधिनी – अस्मिन्सिद्धान्ते मन एव देहग्रहणपरित्यागयोर्हेतुस्तच्च मनो विकारात्मकं नानाविकाराः सङ्कल्पविकल्पात्मका आत्मा यस्य। तस्य प्रेरकं कालकर्मभगवदिच्छानामन्यतरदैवशब्दवाच्यम्। तेन दैवेन प्रेरितं मनो मायारचितेषु विषयेषु मोहेनोत्तमत्वं प्रापितेषु मध्ये यस्माद्यस्माद्यं यमर्थं विहाय यत्र यत्र लग्नं भवति तत्र तत्रैवासौ देही तदेव प्रपद्यमानोहमिति मन्यमानस्तेन सह जायते न तु स्वतः। मनश्च यदा यद्भावयिष्यति तादृशो देहो भविष्यति यच्च त्यक्ष्यति तद्भ्रमिष्यति। विषयास्तु समा एव। एवमपि सति यमेवार्थं मन उत्कृष्टत्वेन मन्यते तदस्मादुत्कृष्टं भवतीति नोत्कृष्टदेहरक्षार्थं इयं मारणीयेत्यर्थः।।४२।।

---

[1] देखा हुआ
[2] सुना हुआ
[3] आग्रह बुद्धि

अनुवाद – इस सिद्धान्त[1] में (असुरों के मत में) मन ही देह के ग्रहण तथा त्याग का कारण है। सङ्कल्प तथा विकल्प रूप, अनेक प्रकार के विकार रूप आत्मावाला मन है। उस मन को प्रेरणा करने वाला दैव है। काल कर्म और भगवदिच्छा प्रत्येक को दैव कहा जाता है। तीनों में से अधिकारानुसार किसी एक से प्रेरित होकर मन, माया से रचित विषयों में, मोह से जिन जिन विषयों के उत्तम समझता है उन २ विषयों में से किसी का त्यागकर, जिनको ग्रहण करना चाहता है उनमें आसक्त हो जाने से उनमें ही मन के साथ जीव जन्म लेता है अपने आप जन्म नहीं लेता है। मन जैसी भावना करता है वैसी देह बनती है और जिस भाव को छोड़ देता है वह देह नष्ट हो जाती है अर्थात् छूट जाती है। यद्यपि सब विषय समान हैं तो भी मन जिसको उत्तम समझता है वह उसके लिये उत्तम है वही विषय उस (मन) को प्राप्त होता है वा वह (मन) उस विषय को ग्रहण करता है। आपके मन को यह देह उत्तम जची इसलिये उसने यह ग्रहण की है। अतः इस उत्तम देह की रक्षा के लिये इस देवकी का वध नहीं करना चाहिये।।४२।।

आभास– एवं मनोऽनुसरणेन देहानुसरणमपि मोहादेव प्रतिबिम्बन्यायेन न त्वात्मनस्तथात्वमस्तीत्याह ज्योतिरिति।

जीव जैसे मन के पीछे चलता है वैसे ही देह का भी अनुसरण मोह से करता है। वह अनुसरण आत्मा का नहीं है किन्तु वह प्रतिबिम्ब या परछाई के समान है। अर्थात् जैसे बिम्ब के चलने से ही प्रतिबिम्ब चलता है अपने आप नहीं चलता है वैसे ही जीव अपने आप जन्म आदि ग्रहण नहीं करता है मन के पीछे घसीटता जाता है। जीव का वास्तविक रीति से देहादि में कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार उसका जन्म आदि होता है उसका प्रतिपादन निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोकः – **ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः समीरवेगानुगतं विभाव्यते।**
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान् गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति।।४३।।

[1] कंस असुर प्रकृति का है अतः वसुदेवजी उसको असुर सिद्धान्त से समझाना योग्य समझ कर इस श्लोक में असुरों का सिद्धान्त कहते हैं।

श्लोकार्थ – जैसे जल से भरे हुए मिट्टी के पात्रों में प्रतिबिम्ब रूप से रहे हुए सूर्य तथा चन्द्र, वायु के वेग से कम्पायमान दीखते हैं इसी प्रकार माया से रचित अन्तःकरण युक्त देहों में राग के कारण आत्मा अर्थात् जीव अपने को कृश और स्थूल समझकर मोहित होता है।।४३।।

सुबोधिनी – उदकयुक्तेषु पार्थिवेषु शरावादिषु तथोदकस्थानीयमन्तःकरणं पार्थिवस्थानीयो देहः। उदकेषु उदकयुक्तेषु पार्थिवेषु काचादर्शादिषु वा समीरवेगाश्चाञ्चल्यमालिन्यादयस्तैरनुगतं सूर्यादिज्योतिर्विभाव्यते। प्रतिबिम्बितस्यैव सूर्यादेस्तत्सम्बन्धो नाकाशादिस्थितस्य। अद इति। सम्बन्धाभावायाकाशादिस्थितः प्रदर्शितः। एवमेव स्वमोहेन रचितेषु सम्यक्तयाभिमतेषु देहेन्द्रियादिष्वसौ जीवः पुमान् भगवानेव रागेणानुगतस्तेन सहैकत्वं प्राप्तः प्रतिबिम्बन्यायेन प्रविष्टो विशेषेण मुह्यति। यस्माद्देहसम्बन्धो भ्रमादतो न तद्वशादात्मनोपकारः कर्तव्यः।।४३।।

अनुवाद – जैसे आकाश में स्थित सूर्य वा चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब[1] नदी के जल में अथवा जल से भरे हुए मिट्टी के बर्तनों में पडता है, तब वायु से जल को हिलते देखकर अज्ञजन[2] समझते हैं कि सूर्य वा चन्द्र हिलता है और न कि प्रतिबिम्ब हिलता हैं यों समझना अज्ञजनों की अज्ञता[3] है। केवल जल हिल रहा है पर उसके द्वारा भ्रम से समझा जाता है कि वे हिलते हैं। वैसे ही यहां अन्तःकरण, जल है और मृत्तिका का बर्तन, देह है मोह, वायु है उस मोह रूप वायु से अन्तःकरण चलायमान होकर देहादि द्वारा अनेक कार्यों में मन को आसक्त कराता है। यों तो जीव भगवद्रूप है किन्तु मोह के कारण मन का अनुगामी[4] होने से देहादिकों में एकत्व को प्राप्त होता है अर्थात् मोह के तथा अज्ञान अथवा अध्यास के कारण अपने को देह इन्द्रियादि समझकर भ्रम में पड़ जाता है। अतः इससे समझना चाहिये कि देह का सम्बन्ध भ्रम से है अतः उस भ्रम के वश होकर आत्मा की हानि नहीं करनी चाहिये।।४३।।

आभास– एवं तत्त्वं निरूप्य देहरागान्नात्मनोऽपकारः कर्तव्य इति यदुक्तं तल्लोकेपि तुल्यमिति वदन् मारणे भेदात्मकं भयं प्रदर्शयति तस्मादिति।

---

[1] परछाई।
[2] नासमझ।
[3] मूर्खता।
[4] पीछे चलने वाला।

वसुदेवजी कंस को इस प्रकार तत्त्व समझाकर निम्न श्लोक में कहते हैं कि देह में प्रेम होने से आत्मा की बुराई नहीं करनी चाहिये। लोक में भी, इस देह के कारण आत्मा (जीव) की बुराई करने को अच्छा नहीं करते हैं। यों कहते हुए वसुदेवजी अब देवकी के वध से भेदात्मक भय होना दिखाते हैं। अर्थात् वध तब किया जाता है जब जिसका वध किया जाता हो उसको अपने से पृथक् दूसरा समझा जावे। यह भेद दृष्टि भयावह[1] है तथा अपकार करने वाली है।

श्लोकः – तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविधः।
आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम्।।४४।।

श्लोकार्थ – जिसकी आत्मा के कल्याण की इच्छा हो वह किसी से द्रोह न करे। क्योंकि द्रोह करने वाले को जिसका वह द्रोह करता है उससे सदैव भय बना रहता है। और उसको यह भी समझना चाहिये कि देह नाशवान् है वह तो नाश होगी ही, फिर उसकी रक्षा के भ्रम में दूसरे का द्रोह क्यों करूं ?।।४४।।

सुबोधिनी–यस्माद्देहो नात्मा तस्माद्देहार्थं कस्यचिदपि द्रोहं नाचरेत्। यतः स तथाविधः। यादृशो हन्यते तादृशः। अनेन स्वसाम्येन दया निरूपिता। यथा स्वरक्षा विचार्यते तथा पररक्षापि विचारणी– येत्युपदेशफलम्। अविचारे बाधकमाहात्मनः क्षेममन्विच्छन्निति। यदि विचारयति तदात्मनोपि क्षेमो भवति सोपि विचारयतीति। यदि न विचारयति तदा द्रोग्धुर्घातकस्य परतो मार्यात् मत्त एव तव भयं भविष्यतीत्यर्थः।।४४।।

अनुवाद – जब यह देह आत्मा नहीं है तब उस देह की रक्षा के लिये किसी का भी द्रोह नहीं करना चाहिये। अपनी देह भी वैसी ही है जैसी अन्य की नाश की जाने वाली देह है अतः उस देह को अपनी देह के समान समझकर उस पर दया ही करनी चाहिये। यों उपदेश करने का फल यह है कि जैसे अपनी रक्षा का विचार किया जाता है कि मेरा कोई भी वध न करे किसी प्रकार भी मैं वध से बच जाऊं तो अच्छा है, इसी प्रकार दूसरों की रक्षा के लिये भी विचार करना चाहिये। जो मनुष्य दूसरे की रक्षा का विचार नहीं करता है तो उसमें जो बाधक (रुकावटें) आते हैं वे बताते हैं। जब मनुष्य

[1] भय पैदा करने वाली

अपने क्षेम (कल्याण–सुख) को चाहता हुआ दूसरे की रक्षा का विचार करता है तो वह अपना भी क्षेम होगा यों विचार करता है अर्थात् दूसरे की रक्षा से (हित से) मेरी भी रक्षा (हित) होगी। नहीं तो द्रोह करने वाले को दूसरे से (जिसको वह मारता है उससे) भय होगा। अर्थात् वह भी इसका (घातक का) द्रोह करेगा अर्थात् इसको मारेगा। इसलिये यदि तुम इसका वध करोगे तो वह मेरा ही वध है कारण कि यह मेरी पत्नी होने से मेरा आधा भाग है अतः मुझसे तुझे भय होगा अर्थात् कभी भी मैं तुझे मार दूँ।।४४।।

आभास–लौकिकव्यवहारेणापि मारणं नोचितमित्याहैषा तवानुजेति।

लोक के व्यवहार से इसका वध करना योग्य नहीं है। इसका वर्णन निम्न श्लोक से कहते हैं।

श्लोकः – **एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा।**
हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः।।४५।।

श्लोकार्थ – यह आपकी छोटी बहिन अभी ८ वर्ष की ही है और दुःखी तथा उदास है एवं आपकी तो यह पुत्री के समान है। आपको, जो दीनों पर प्रेम करने वाले हो, इस कल्याण रूप वाली जिसके शरीर पर अभी विवाह के आभूषण हैं दया तथा स्नेह करने योग्य बहिन का वध करना योग्य नहीं है।।४५।।

सुबोधिनी – लोके कनिष्ठभगिनी स्नेहपात्रं भवति तत्रापि बालाष्टवार्षिकी लालनयोग्या तत्रापीयं दीना भयविह्वला चातुर्यानभिज्ञा च। पुत्रिकोपमा प्रतिमोपमा। तस्मादेषैव परं नेया न तु मारणमुचितमित्याह हन्तुं नार्हसीति। कल्याणीं विवाहालङ्कारयुक्ताम्। इमामिति। प्रदर्शनेन दयामुत्पादयति। त्वं च दीनवत्सलः। अनाविष्टस्वरूपस्य तथात्वात्। स हि तमनाविष्टमेव मन्यते।।४५।।

अनुवाद – लोक में छोटी बहन तो स्नेह करने के योग्य है, उसमें भी वह आठ वर्ष की होने के कारण दुलार करने योग्य है तथा यह भय से व्याकुल है और इसमें चतुराई भी अभी तक नहीं आई है। अतः काष्ठ की पुतली जैसी अबोध है। अतः अपने को वध को छुड़ाने के लिये कुछ प्रार्थना भी नहीं कर सकती है। इसके सिवाय आप से छुड़ा के भाग जाय वह भी शक्ति वा युक्ति इसमें नहीं है और अभी तक विवाह के आभूषण शरीर पर होने से मङ्गल (कल्याण) स्वरूपा है इसीलिए ऐसी का वध करना योग्य नहीं है। इसको तो अब श्वशुरगृह ही लेजाकर छोड़ आना योग्य है कारण कि

आप दीनों पर दया करने वाले हो। वसुदेवजी इस समय कालनेमी का आवेश कंस में न समझकर कहते हैं क आप दीनों पर दया करने वाले हो।।४५।।

आभास–(एवं) शास्त्रार्थनिरूपणेन दयाभयादिजननेपि न मारणान्निवृत्त इत्याहैवमिति।

वसुदेवजी ने कंस को शास्त्रों का तत्त्व बताया और दया भय आदि भी उस कंस में पैदा किया, किन्तु कंस ने मारने का निश्चय छोड़ा नहीं। उसका वर्णन निम्न श्लोक से करते हैं।

श्री शुक उवाच

श्लोक – एवं स सामभिर्भेदैर्बोध्यमानोपि दारुणः।

न न्यवर्तत कौरव्य पुरुषादाननुव्रतः।।४६।।

श्लोकार्थ – श्री शुकदेवजी कहने लगे कि – हे परीक्षित, इस प्रकार वसुदेवजी ने साम और भेद से समझाया तो भी राक्षसों का अनुसरण करने वाला वह क्रूर कंस देवकी के वध से निवृत्त नहीं हुआ।।४६।।

सुबोधिनी – भेदा आत्मानात्मविवेकपरमार्थलौकिकभयरूपाः। साम ज्ञानं साम्यं दया च। एवमनेकप्रकारेणापि बोध्यमानो दारुणो दैत्यात्मा न न्यवर्तत। तस्माद्वधान्निवृत्तो न जातः। तत्र हेतुः पुरुषादान् राक्षसाननुव्रतोनुसृतः। पुरुषादाननु मारणलक्षणं व्रतं यस्येति वा। आविष्टो हि तथैव।।४६।।

अनुवाद – वसुदेवजी नीति के ज्ञाता थे इसलिये उन्होंने साम और भेद से कंस को समझाया। प्रथम भेद नीति समझाई जिसमें उसको कहा कि आत्मा (जीव) का स्वरूप यह है और अनात्मा, (देहादि) का स्वरूप यह है और पाप कर्म से परलोक नरकादि की प्राप्ति तथा लोक में अपकीर्ति होती है इत्यादि भय बताये। उसके पश्चात् साम नीति से समझाया जिसमें ज्ञान, समानता तथा दया का उपदेश दिया। ऐसे अनेक प्रकार से भेद और साम नीति द्वारा समझाने पर भी वह कठोर चित्त दैत्यात्मा इस वध के कार्य करने से रुका नहीं। कारण कि उससे राक्षसों के समान वध का व्रत धारण कर रखा था। कंस में कालनेमि आविष्ट[1] थे अतः उसके तुल्य[2] यह भी करेंगे ही।।४६।।

आभास–एवं पूर्वप्रयास उपदेशात्मके विफले जाते पुनर्भगवदिच्छया प्रकारान्तरेण समाधानार्थं यत्नं कृत वानित्याह निर्बन्धमित्यष्टभिः।

अयं लौकिको नालौकिकेन परमार्थेन निवर्ततेतोस्य लोकिक्येव युक्तिर्वक्तव्या। तस्माद्युक्तेः स्फूर्तिः प्रथममुच्यते। सा च। पुत्रदानात्मिका। तस्याश्चायुक्तत्वमाशङ्क्य युक्त्या युक्तत्वसमर्थनम्। ततः स्फुरितस्योपायस्यानुवादः सोपपत्तिकः। तस्यैव प्रतिकूलतर्कपराहत्या समर्थनम्।

[1] घुसा हुआ, प्रवेश हुआ

[2] बराबर

अशक्तावदृष्टशरणागतिः। तस्याप्युपायस्य ग्रहणार्थं साधनानुष्ठानम्। तत उद्योगः कथनञ्चेति। अलौकिकस्फुरणात् तस्याङ्गीकारः। तेनायमुपाय आपाततः सफलः।

इस प्रकार उपदेशरूप प्रथम प्रयास जब सफल न हुआ तब भगवान् की इच्छा से वसुदेवजी फिर अन्य प्रकार के समाधान करने के लिये प्रयत्न करने लगे। उसका वर्णन (निबंधं तस्य) श्लोक से आठ श्लोकों में करते हैं :–

यह कार्य लौकिक है इसलिये पारमार्थिक एवं अलौकिक युक्तियों से इस कार्य को कंस छोड़ेगा नहीं अतः अब लौकिक युक्ति ही करनी चाहिये। वह युक्ति जिसकी मन में स्वतः स्फूर्ति हो आई प्रथम वह कहते हैं। वह युक्ति यह थी कि, जो पुत्र उत्पन्न होगा वह तुझे उसी समय मैं दूंगा। पुत्र दे देना अयोग्य देखने में आता है, किन्तु उनका समर्थन युक्ति से करते हैं कि पुत्र देना योग्य है फिर जो उपाय ध्यान में आया उसका उपपत्ति[1] पूर्वक अनुवाद करेंगे। उसके बाद में श्लोक में प्रतिकूल तर्क देकर उसका खण्डन करते हुए प्रथम दी हुई युक्ति का समर्थन करेंगे। पांचवें श्लोक में अशक्त होने पर अदृष्ट[2] बलवान है उसके ऊपर भरोसा रखना चाहिये यों कहकर समझाया है। उस प्रारब्ध के उपाय को ग्रहण करने के लिये साधन छठे श्लोक में बताये गए हैं। सातवें श्लोक में उद्योग कहे हैं। आठवें श्लोक में वसुदेवजी के मन में अलौकिक शक्ति की स्फुरणा से आये हुए वचनों की अङ्गीकृति का वर्णन है। तात्पर्य यह है कि वसुदेवजी का यह प्रयत्न भगवान की प्रेरणा से होने के कारण सफल हो गया।

आभास–पूर्वोपायवैयर्थ्यमनुवदति निर्बन्ध तस्येति।

इस श्लोक में प्रथम किये हुए उपाय की विफलता बताते हैं –

श्लोकः – निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्यानकदुन्दुभिः।
प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत।।४७।।

---

[1] हेतु देकर उसका समर्थन

[2] प्रारब्ध

श्लोकार्थ – वसुदेवजी उस[1] का इस देवकी के वध करने का आग्रह देखकर विचार करने लगे कि इस अवसर को युक्ति से टालना चाहिये, इसके टालने के लिये वसुदेवजी के मन में निम्न विचार उत्पन्न हुए।।४७।।

सुबोधिनी – तस्य कंसस्य वधरूपं तं निर्बन्धमवश्यक्रियासाधनयत्नं तच्चेष्टया ज्ञात्वातःपरं किं कर्तव्यमिति विचिन्त्येदमग्रे वक्ष्यमाणमन्वपद्यतेतिसम्बन्धः। विरोधस्त्वनेनाशक्यो दृष्टप्रकारेणा–लौकिकप्रकारेण च। अन्ये उपाया निवर्तिताः। अतः परं द्वयमवशिष्यते। इयं वा देया। अस्या पुत्रा वा। एतस्या दान एतां मारयिष्यत्येव। मत्सम्बन्धिपुत्राणामाकाशवाण्यामश्रुतत्वाद् देवद्वारापि तथात्वशङ्कया मारणमावश्यकम्। इदानी स्वतो मारयति पश्चान्मारणे तु ममापि दोषः स्यादिति। पुत्रदानं चायुक्त यतः स पुत्रो भगवद्रूपो भविष्यतीत्यानकदुन्दुभिपदेन ज्ञापितम्। तस्य जन्मन्यानका दुन्दुभयश्च नेदुरिति तत्र भगवदुत्पत्तिरावश्यकी। सापि न भार्यान्तरे। आकाशवाणीप्रामाण्यात्। एवं सङ्कटे पतित आनकदुन्दुभिः स्वस्मिन् भगवदुत्पत्तिं निश्चित्यास्यामेवेत्यपि पुत्रदानमेव कर्तव्यत्वेन ज्ञातवान्। तदपि न सर्वथा। भगवद्वैमुख्यप्रसङ्गे सति भगवदवतार एव न स्यादिति। तदाह प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिति। इदानीं मृत्युः प्राप्तस्तस्याः स दूरीकर्तव्योयुक्तमप्युक्त्वेतीदं पुत्रदानलक्षणं तत्र तस्मिन् समयेन्वपद्यत। अकस्माद्धृदये समागतमित्यर्थः।।४७।।

अनुवाद – वसुदेवजी ने, कंस की आवश्यक क्रिया, साधन और प्रयत्न रूप चेष्टा से जान लिया कि वह देवकी का वध अवश्य करेगा ऐसा इसका आग्रह[2] है, अब मुझे इसको बचाने के लिये क्या उपाय करना चाहिये। यह जो आगे कहा जायगा उसकी मन की स्फूर्ति हुई। इस कंस के साथ लौकिक व अलौकिक प्रकार से विरोध करना मेरी शक्ति से बाहर है। दूसरे उपाय कर चुका हूँ जो विफल हुए हैं। अब शेष[3] दो उपाय है – (१) एक तो देवकी इसे देदूं अथवा (२) इसको जो पुत्र होंगे वे इसे दे दूंगा। इस देवकी को देदूंगा तो कंस अवश्य इसका वध करेगा। क्योंकि आकाशवाणी के जो शब्द सुने गये हैं उनमें यों तो नहीं कहा गया है कि वसुदेव से उत्पन्न हुआ, आठवां गर्भ तुझे मारेगा। किन्तु देवकी का वह गर्भ, देव द्वारा होने वाला समझकर, कंस इसको अवश्य मारेगा। अब तो वह स्वतः मारता है पीछे मारने में मैं भी दोषी ठहरूंगा।

---

[1] कस

[2] हठ

[3] बाकी

पुत्र देना भी योग्य नहीं, कारण कि वह आठवां पुत्र तो भगवद्रूप होगा। यह ज्ञान इन वसुदेवजी को इसलिये हुआ कि इनके जन्म के समय इसीलिये आनक और दुन्दभि बजने लगे थे कि इनके यहां भगवान् का प्राकट्य अवश्य होगा और वह भी देवकीजी से, न कि दूसरी स्त्री से, देवकीजी से ही होगा उसमें आकाशवाणी प्रमाण है। इस प्रकार विचार करते हुए वसुदेवजी संकट में थे कि क्या करना चाहिये ? वसुदेवजी को यह निश्चय हो गया कि, मेरे द्वारा इस देवकी से ही आठवां गर्भ भगवान् होगा। वह दूंगा ऐसा कहने से मैं भगवद्विमुख होता हूँ जिससे भगवान् अवतार ही न लेवे तो विशेष आपदा होंगी, यों विचार करते हुए अचानक मन में यह युक्ति, जो पीछे कही जायगी स्फुरित हुई कि अभी तो इस अवसर को टालने के लिये कह दूं कि पुत्र होंगे वे आपको दे दूंगा। जब उनसे ही आपको भय है तो देवकी का वध क्यों करते हो। यद्यपि पुत्र दे दूंगा यह कहना ही योग्य नहीं है तो भी इस समय अयोग्य भी बोलकर मृत्यु को तो टाल ही देना चाहिये।।४७।।

आभास—ननु 'प्रक्षालनाद्धि पङ्क.स्ये' त्यादिन्यायेनेदानीमेव कथं न तूष्णीम्भावस्तत्राह मृत्युर्बुद्धिमतापोह्य इति।

'कीचड में पैर डालकर पीछे उसको धोना' यों करने से पहले ही शान्ति क्यों नहीं की, इस पर कहते हैं कि बुद्धिमान को मृत्यु किसी भी प्रकार टालनी चाहिये, यह वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम्।
यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोस्ति देहिनः।।४८।।

श्लोकार्थ — बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि जहां तक अपनी बुद्धि पहुँचे वहां तक तो मृत्यु को टाल ही देने का का प्रयत्न करें। इस प्रकार यत्न करते हुए भी मृत्यु नहीं टली तो यत्न करने वाले को कोई भी अपराधी नहीं कहेगा।।४८।।

सुबोधिनी — अन्यथा भगवान् पश्वादिभ्यो विशिष्टानस्मान् किमित्युत्पादितवान्? अतो बुद्धिमता मृत्युरपोह्यः स्वस्य परस्य वा। ननु कृत एवैकवारमुद्यम इति चेत्तत्राह यावद्बुद्धिबलोदयमिति। [illegible]र्बलस्य च यावदभ्युदय उत्तरोत्तरोद्गतिः। न तु समता ह्रासो वा। तावद्विवेकवता यत्नः कर्तव्यो बुद्धया क्रि[illegible] वा। ननु यथा पूर्वमुद्यमो विफलो जात एवमग्रेपि चेद्भविष्यति तदा किमुद्यमेनेतिचेत्तत्राह यद्यसौ मृत्यु[illegible] निवर्तेत तदोपेक्षालक्षणोपराधो देहाभिमानिनो नास्ति। देहाभिमानी कालादिदण्डमर्हति। अतो

नापराधः कर्तव्यः। शास्त्रञ्च यच्छक्नुयात् तत् कुर्यादिति। फलं तु दैवाधीनमतोयमुपायः कर्तव्य इति निर्धारः।।४८।।

अनुवाद – यदि मनुष्य होकर भी मृत्यु को टालने का प्रयत्न हम नहीं करते हैं तो भगवान् ने हम मनुष्यों को पशु आदिकों से जो विशेष बुद्धिमान् बनाया है वह किसलिये बनाया है। अतः बुद्धिमान् को अर्थात्, मनुष्य[1], को चाहिये कि अपनी अथवा दूसरे की मृत्यु को टाल दे। एक बार यत्न करने पर मृत्यु नहीं टली, तो फिर हम क्या करें ? इस पर कहते हैं कि नहीं, एक बार प्रयत्न कर रुक न जाओ, किन्तु जहाँ तक बुद्धि का बल चले वहाँ तक प्रयत्न करते रहो। बुद्धिमान् को क्रिया से तथा बुद्धि से प्रयत्न करते रहना ही योग्य है। जैसे पहला प्रयत्न विफल हुआ वैसे आगे के प्रयत्न भी विफल होंगे तो बार बार उद्यम करने से क्या लाभ? इस पर कहते हैं कि यदि बार बार उद्यम करने पर भी मृत्यु नहीं टली तो लोग उस मनुष्य के लिये यों नहीं कहेंगे कि उससे उपेक्षा[2] कर इसकी मृत्यु से नहीं बचाया, परन्तु यही कहेंगे कि इसने तो भरसक प्रयत्न किया इसका कोई दोष नहीं है। शास्त्र तो कहते हैं कि जितना बन सके उतना प्रयत्न करो। फल तो दैव के आधीन है। देहाभिमानी तो काल के दण्ड के योग्य होता ही है। वसुदेवजी ने इस प्रकार विचार कर, यह उपाय करना चाहिये ऐसा निर्णय किया।।४८।।

आभास–तमुपायमाह प्रत्यर्प्येति।

इस श्लोक में यह उपाय बताते हैं –

श्लोकः – प्रत्यर्प्य मृत्यवे पुत्रान् मोचये कृपणामिमाम्।
सुता मे यदि जायेरन् मृत्युर्वा न म्रियेत चेत्।।४९।।

श्लोकार्थ – अभी तो पुत्रों को कंस के अर्पण का कहकर इस दीन देवकी को छुड़ा दूं यदि मुझे बालक हो तो वे जीवित रहेंगे या मर जायेंगे अथवा देवकी की मृत्यु मर जाय अर्थात् मृत्यु टल जाय, क्या होगा ? उसका पता नहीं, इसको तो अब छुडा लूं।।४९।।

---

[1] बुद्धिहीन मनुष्य पशु के समान है।

[2] लापरवाही

सुबोधिनी – मृत्युरयं कंसे निविष्टः प्रतीयते। तस्य हि सर्वे भक्ष्याः। अप्रतीकार्यश्च। स तु पुत्रान् कदाचिद्भक्षयिष्यत्येव। स चेदिदानीं मह्यं दास्यत्येतां तदा पुत्रानपि स एव दत्तवानतो दत्तस्य प्रतिदाने न कोपि दोषः। तथाकरणे विशेषमाह मोचये कृपणामिमामिति। इयमिदानीं मोचिता स्यात्। अधिकोस्मिन् पक्षे लाभः। अरक्षायां तु नापि पुत्रा नापीयम्। नन्वेतदप्यनुचितम्। इयमेका पुत्राश्च बहवस्ते च बालका स्वस्यान्तरङ्ग.ा दोषाधिक्यञ्च। अर्पणञ्च न सम्भवति। इदानीं पुत्राणामभावात्। विद्यमानाविद्यमानयोः सिद्धवत्कारेण विषयविभागोप्यसङ्ग.तः। अतो धर्महानिप्रसङ्गाल्लोकापकीर्तेश्च नायमुपाय इति चेत्तत्राह सुता मे यदि जायेरन्निति। तेषां नरकत्राणाभावान्न पुत्रत्वम्। प्रसवाज्जायन्त इति सुतत्वमस्त्येव। पुत्रोत्पादनं स्वाधीनम्। तस्मादियं भिन्नतयैव स्थापनीया। तथा सति न कोपि दोषो भवेत्। प्राणरक्षाया ऋतुकालगमनापेक्षयाधिकफलत्वात्। नन्वेतदप्यशक्यं 'कामाच्चोदनयापि वे' तिचेत्तर्ह्येकः पुत्रो भवतु। नैकः पुत्र पुत्र इतिचेत्तर्हि द्वौ भविष्यतः। पुत्रयोर्जातयोर्नगमनेपि न दोषः। एतावती लौकिक्युपपत्तिः। अथालौकिकी। भगवदिच्छयाकाशवाणीप्रामाण्याच्च यदि मे बहव एव सुता जायेरस्तेपि बहुकालेनोत्पादनीयाः। कालेपि भगवदिच्छा चेत्तदा पुत्ररक्षार्थं मृत्युरेव म्रियेत। प्राणिमात्रे शतं मृत्युवस्तत्रतत्रस्थाने निरन्तरमुत्पद्यन्ते 'अत्रात्र वै मृत्युर्जायत' इतिश्रुतेः। तत्रतत्रैव प्रतीकारः कर्तव्यः। 'यत्रयत्रैव मृत्यर्जायते तत एवैनमवयजत' इतिश्रुतेः। तस्माद्य उत्पद्यते स म्रियत एव। अत इदानीमुत्पन्नो मृत्युः प्रतीकारे कृते म्रियेत। अन्यस्यान्य उपायः कर्तव्यः एको मृत्युरित्यपि पक्ष। तस्मिन्नपि पक्षे स नियतकालः। स चेदिदानीं निवृत्तः पुनस्तस्य कालाभावात् तं प्रति म्रियेतैव। अतः शब्दनित्यत्ववदस्या मृत्युरेव गच्छेत्। नन्वेकमृत्युमरणपक्षे मृत्योर्मरणं न श्रूयते 'लोकाल्लोकादेव मृत्युमवयजते नैनं लोके लोके मृत्युर्विन्दती' तिश्रुते'। तत्राह मृत्युर्वा न म्रियेत चेदिति। तदा नियतत्वात् पुत्रान् समर्पयिष्ये। कंसो मृत्युरित्यपव्याख्यानम्। 'अत्रात्र वै मृत्युर्जायत' इतिश्रुति विरोधात्। मृत्योरधिकरणमेव सः। लक्षणया तत्परः शब्द इतिचेन्मृत्युत्वादेवामरणे सिद्धे व्यर्थोनुवादः प्रसज्ज्येत। अस्तु वा तथा। सोप्याकाशवाणीप्रामाण्यान्न मरिष्यत्येव तथापि दास्यामीतिसम्बन्धः।।४६।।

अनुवाद – विश्वास किया जाता है कि मृत्यु कंस में प्रवेश हो गयी है, मृत्यु तो सबको खा जायगी, और वह मृत्यु टाली नहीं जा सकती है वह तो कभी न कभी पुत्रों को खायगी ही। इसने मुझे अब देवकी दी, तो मैं समझूंगा कि पुत्र भी दे दिये। अतः जो देता है उसको फिर लौटा देने में कोई दोष नहीं है। यों करने से पुत्र दूंगा ऐसा कहने मात्र से इस दीन देवकी को अब छुड़ा लूं। इस तरह का कार्य करने में ही विशेष लाभ है। यदि इसको नहीं छुड़ाता हूँ तो, न यह रहेगी और न पुत्र होंगे। इस प्रकार करना भी अनुचित है, क्योंकि यदि इसको छुड़ाऊंगा तो यह एक बचेगी और पुत्र बहुत देने पड़ेंगे तथा वे मेरे अपने अन्तरङ्ग. अंग है, उनको देना (मरवाना) विशेष दोष है।

और पुत्रों का अर्पण करना भी कठिन है तथा अब तो पुत्र नहीं है। विद्यमान[1] और अविद्यमान[2] दोनों को समान समझ कर विषय का निर्णय कर लेना भी असङ्गत है, अर्थात् जो पदार्थ मौजूद नहीं है उसका अस्तित्व मानकर वह दूंगा वह कहना भी योग्य नहीं है। ऐसा करने से धर्म की हानि का प्रसङ्ग. उपस्थित होगा तथा लोक में अपकीर्ति भी होगी। कारण की यदि पुत्र हुए उस समय मोह के कारण न दे सका तो प्रतिज्ञा लोप होने से अधर्म लगेगा अथवा पुत्र नहीं हुए तो देने की प्रतिज्ञा की पूर्ति न होने से भी अधर्म होगा जिससे लोक में अपकीर्ति[3] होगी। अतः यह भी उपाय ठीक नहीं है। इसके उत्तर में दो प्रकार की युक्ति '१– लौकिकी, २–अलौकिकी' देकर कहते हैं कि १–लौकिकी – जो मुझे बहुत 'सुत' पैदा होवें तो अर्पण करदूं कारण कि वे सुत तो केवल पैदा होते हैं और पिता के जीवित होते ही मर जाते हैं अतः वे पिंडादिदान न देने से नरक से नहीं बचाते हैं जिससे वे पुत्र नहीं कह जाते हैं केवल उत्पन्न होने से 'सुत' कहे जाते हैं उनको देने में मन भी निषेध नहीं करेगा। अन्यथा पुत्र पैदा करना तो अपने अधीन है कैसे कि इस देवकी को अपने से अलग रख लूंगा। यों करने से कोई दोष नहीं लगेगा। दोष तो लगेगा क्योंकि शास्त्र कहता है कि ऋतु के समय पति को स्त्री के पास जाना चाहिये यह शास्त्राज्ञा का न मानना भी दोष है इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ऋतु काल में जाने से प्राण रक्षा करना विशेष धर्म है। कह तो देते हो किन्तु यह भी करना कठिन है कारण कि एक तो शास्त्र की आज्ञा न मानना और दूसरा काम को रोकना दोनों को मनुष्य कर नहीं सकता है। एक पुत्र हो तो वह पिता पुत्रवान् नहीं अतः जब दो पुत्र हो जावें तब पिता पुत्रवान् माना जाता है उसके पश्चात् यदि स्त्री के पास न जावे तो दोष नहीं है। इस प्रकार लौकिक युक्ति कही, अब अलौकिक युक्ति देते हैं –

भगवान् की इच्छा से और आकाशवाणी की प्रमाणिकता से, जो मेरे यहां बहुत सुत होंगे तो भी उसमें विशेष समय लगेगा। इतने समय में यदि भगवान् की इच्छा

---

[1] जो मौजूद है।
[2] जो मौजूद नही।
[3] अपजस, निन्दा

होगी तो मृत्युरूप कंस ही मर जावे। श्रुति[1] में कहा है कि प्राणिमात्र को नित्य मृत्यु लेने आती है उसको टालना प्राणी मात्र का कर्त्तव्य है। जहां २ से भी मृत्यु आवे वहाँ २ से उसको रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रकृति का नियम है कि जो उत्पन्न होता है वह नाश भी होता है। प्रकृति के इस नियमानुसार उत्पन्न होने वाली मृत्यु भी उपाय करने से नाश होती है। अब आयी हुई मृत्यु का प्रतीकार[2] से नाश किया जाय। फिर दूसरी बार आयगी तो दूसरा उपाय किया जायगा। एक पक्ष है कि मृत्यु एक है वह मृत्यु एक बार आती है और नियत समय पर आती है कारण कि वह अपने आने के काल के सिवाय दूसरे काल में नहीं आती है, अतः फिर काल के अभाव में नहीं आवेगी। तात्पर्य यह है कि जिस काल में मृत्यु होने वाली हो उस समय में वह न मरे, मृत्यु से छूट जाय तो समझना चाहिये कि उसके लिये मृत्यु की मृत्यु हो गई अर्थात् मृत्यु टल गई। इस कारण से जैसे शब्द नित्य है तो भी वह अभिव्यक्ति[3] करने वाले वायु के समय निकल जाने से सुनाई नहीं देता है वैसे ही देवकी की मृत्यु भी समय निकल जाने पर अपना कार्य नहीं कर सकेगी अर्थात् देवकी को नहीं मार सकेगी।

(मृत्यु एक है) उसकी मृत्यु होती है ऐसा कहीं भी सुनने में नहीं आया है। श्रुति कहती है कि, मनुष्य जहां से भी मृत्यु[4] आती है वहां से वह उसको हटा देता है, अतः मृत्यु मनुष्य के पास सब स्थानों में पहुँच नहीं सकती है। इस श्लोक में कहा है कि (मृत्युर्वान म्रियेत चेत्) जो मृत्यु न मरे तो, अर्थात् देवकी की मृत्यु न टल सके तो पुत्र देने ही योग्य है क्योंकि मृत्यु तो निश्चित ही है। (कंस) मृत्यु है वह मर जाय, ऐसा अर्थ करना (अत्रात्र वै मृत्युर्जायत[5]) इस श्रुति के विरुद्ध है। आचार्य श्री कहते हैं कि कंस को मृत्यु का अधिकरण[6] यदि लक्षणा से कंस की मृत्यु माना जाय तो भी मृत्यु मरती नहीं है इसलिये वैसा अनुवाद करना व्यर्थ है। वैसा अनुवाद कंस मृत्यु है वह मर

---

[1] अत्रात्र वै मृत्यु जायत इति श्रुतेः।
[2] उपाय
[3] प्रकट
[4] लोकाल्लोका देव मृत्यु भव यजते नैनं लोके लोके मृत्युर्विन्दतीति श्रुतिः।
[5] देवकी के वध से विपरीत कस की मृत्यु क्यो न हो।
[6] रहने का स्थान

जाय मान भी लिया जाय तो भी आकाशवाणी के वचन प्रमाण होने से कंस मरेगा नहीं क्योंकि उसको देवकी का आठवां गर्भ मारेगा। अतः मृत्यु का अर्थ (कंस) करना सर्व प्रकार विरुद्ध है। जब यों है तो मैं (पुत्र) दूंगा।।४६।।

आभास—ननु कथमेवमयुक्तं कर्तुं शक्यते तत्राह विपर्ययो वा किं न स्यादिति।

पुत्रदान, पुत्र को मारने के लिये कंस को देने जैसा अयोग्य कार्य वसुदेवजी कैसे करते हैं ? इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं कि –

श्लोकः – विपर्ययो वा किं न स्यादगतिर्धातुर्दुरत्यया।
उपस्थितो निवर्तेत निवृत्तः पुनरापतेत्।।५०।।

श्लोकार्थ – अथवा जिस प्रकार हम सोच रहे हैं उसके विपरीत[1] क्यों न हो जावे ? कारण कि भगवान् की गति को कोई नहीं जान सकता है। उपस्थित[2] मौत टल जाती है। टली हुई फिर आ जाती है।।५०।।

सुबोधिनी – वाणीप्रामाण्याच्चेत्तस्यामरणं तदा तत एव विपर्यय एव किं न भवेत् मत्पुत्रादेवास्य मरणमिति ? नन्वेतद्युक्तिबाधित बालस्तव पुत्र इति चेत्तत्राह गतिर्धातुर्दुरत्यया। धातुर्भगवतो गतिरुत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपा दुरत्यया दुःखेनाप्यतिक्रमितुं ज्ञातुमशक्यत्वात्। न हि लौकिकयुक्त्या भगवतो वध्यघातकभावो निर्णेतु शक्यः। "अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजये" दितिवाक्यात्। तस्मात् पुत्रदानकथनेन साम्प्रतमियं रक्ष्या पश्चादेतत्पुत्रैरयञ्च वध्यस्तस्मादेतत्कर्तुमुचितम्। तदाहोपस्थितोस्या मृत्युरेवं कृते निवर्ततेति। एतन्मारणेन निवृत्तोप्याकाशवाण्योक्तो मृत्युरेतत्संरक्षायां पुनरापतेत्। तस्मात् कंस वधार्थमेवैवम्मन्त्रणेन संरक्ष्येत्यर्थः। धातुर्गतिरेव विवृतेति केचित्। एतस्याप्यनङ्गीकारे क्षणविलम्बेनेदानीं निवृत्तः पश्चादापतेच्चेत् तदा 'नापराधोस्ति देहिन' इतिपूर्वेणैव सम्बध्यत इति वा।।५०।।

अनुवाद – आकाशवाणी के कहने के अनुसार कंस का तो जब तक इसका मारने वाला आठवां गर्भ उत्पन्न न हो तब तक मरण होगा नहीं अतः इससे विपरीत कार्य ही क्यों न हो जाय ? अर्थात् मेरे पुत्र से कंस का वध क्यों न हो जाय। यह वसुदेवजी का कहना युक्ति विरुद्ध है कारण कि कंस जैसे शूर को उनका पुत्र बालक होने से कैसे मार सकेगा ? इस पर कहते हैं भगवान् की गति को कोई नहीं जान

---

[1] उल्टा, विरुद्ध
[2] आयी हुई।

सकता है। किस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय करता है उसका ज्ञान किसी को नहीं है, कितने भी प्रयत्न करने पर उसका पता लगाना कठिन है। किसी भी लौकिक युक्ति से यह नहीं जाना जा सकता है कि भगवान् किसको मरवाना चाहता है और किसको उसका मारने वाला बनाना चाहता है। अतः शास्त्रों में कहा है कि (अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्) अलौकिक भावों को तर्कों की सहायता से समझने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। क्योंकि वे तर्क से नहीं समझे जा सकते हैं। इस कारण से (पुत्र) दूंगा यों कह कर अब इस देवकी की रक्षा की जाय। पीछे इसके पुत्रों द्वारा यह मारा जायगा। इसलिये यों करना योग्य है। इससे आयी हुई इसको मृत्यु टल जायगी। इसके मारने से छूटी हुई मृत्यु फिर इसकी रक्षा करने वाली हो जाय और कंस की घातक बन जाय। इस विचार से भी यह देवकी रक्षा के योग्य है।

श्रीधर स्वामी का कहना है कि श्लोक के पूर्वार्द्ध में (गतिर्धातुर्दुरत्यया) जो कहा है उस वाक्य का विवरण उत्तरार्ध में किया गया है। आचार्य श्री इस विचार से सम्मत नहीं है।

आचार्य श्री इस उत्तरार्द्ध को सम्बन्ध (नापराधोऽस्ति देहिन) इस ४८ वें श्लोक से बताते हुए कहते हैं कि – जो पुत्र देने का विचार छोड़ा जाय तो जो देवकी की मृत्यु थोड़े समय के लिये भी टाली जाती है वह नहीं टलेगी अतः पुत्र देने का कहकर इसकी मृत्यु अब टाली जाय यदि पुनः आ जायगी तो – ४८वें श्लोक में कहे हुए के अनुसार देही का कोई अपराध नहीं है अर्थात् फिर मैं अपराधी नहीं बनूंगा।।५०।।

आभास–ननु यद्यपि परमार्थोयं तथापि लोकविरुद्धं न कर्तव्यं पुत्रदानमनुचितमिति चेत्त्राहाग्नेरिति।

जो कि यह विचार (पुत्र देने का कह कर देवकी को बचा लेना) उत्तम है, तो भी लोक के विरुद्ध है और पुत्र देना भी उचित नहीं है अतः यह नहीं करना चाहिये। इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं कि –

श्लोकः – **अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयोरदृष्टतोन्यत्र निमित्तमस्ति।**

एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः शरीरसंयोगवियोगहेतुः।।५१।।

श्लोकार्थ – वन के अग्नि दावाग्नि से जैसे समीप वाले वृक्ष नहीं जलते हैं दूरवाले जल जाते हैं इसमें अदृष्ट के सिवाय कोई अन्य कारण नहीं है, वैसे ही मनुष्य के शरीर का जन्म तथा मरण कब होगा, किससे होगा और कैसे होगा यह भी समझ में नहीं आता है क्योंकि जिसका जैसा भाग्य होगा वैसा ही होगा।।५१।।

सुबोधिनी – न हि मया समर्पित इत्येव म्रियते किन्तु यदि तथादृष्टं भविष्यति तदैव मरणम्। तत्रोपपत्तिररण्ये दावानलेन दह्यमाने निकटस्थितः कश्चिन्न दह्यते दूरस्थितश्च दह्यते। तस्मादत्र निमित्तमदृष्टमिति। पुत्रादीना देहवियोगयोगयोरप्यदृष्टमेव निमित्तम्। हि युक्तश्चायमर्थो भरतादिषु दृष्टः। स हि हरिक्षेत्रे हरिणदर्शने मृतः कालञ्जरे हरिणो जात इति। किमत्र हरिणशरीरग्रहणे तत्रापि कालञ्जरे निमित्तं दृष्ट सम्भवति ? जन्तुश्च जीवः सर्वत्र जायमानस्तत्र दृष्टस्य बाधितत्वाच्छरीरसयोगवियोगहेतुर्दुर्विभाव्यः। तस्माददृष्टवशात् पश्चात् किमप्यस्तु। इयं तु साम्प्रतं मोचनीयेति।।५१।।

अनुवाद – मैं कस को पुत्र दूंगा इससे ही वह मरेगा, यों नहीं है क्योंकि यदि पुत्र के भाग्य में कंस के हाथ से मरना लिखा होगा तो मरेगा नहीं लिखा होगा तो वह इसको मार नहीं सकेगा। इस कथन का दृष्टान्त देकर समर्थन करते हैं कि, जैसे दावाग्नि (जंगल मे स्वतः लगी हुई अग्नि) पास के पेड़ों को तो नहीं जलाती है किन्तु दूर खडे हुए वृक्षों को भस्म कर देती है, कारण कि जिनके भाग्य में जलना लिखा था वे जल गये जिनके भाग्य में जलना नहीं लिखा था वे बच गये। यह सब अदृष्ट का खेल है जिसका जैसा अदृष्ट हो उसको वैसा ही फल मिलता है। इसी प्रकार का पुत्र आदि के जन्म तथा मरण में अदृष्ट ही कारण है। श्लोक में (हि) शब्द से बताया है कि (अदृष्ट ही कारण) ऐसा कहना योग्य ही है। अदृष्ट ही कारण है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव भरतादिकों के चरित्र से किया हुआ है जैसा कि भरत ने हरिक्षेत्र में मरण समय में पाले हुए हरिण को देख (उसका ही ध्यान रहने से) शरीर त्यागा था जिससे वह कालिञ्जर में हरिण हुआ। कालिञ्जर में जन्म और हरिण देह प्राप्ति ये दोनों क्या दृष्ट कारण से प्राप्त हुए ? नहीं इन दोनों का कारण पूर्व जन्म में किया हुआ कर्म, जिसको भाग्य, अदृष्ट वा प्रारब्ध कहते हैं वह है। जीव का जन्म सर्वत्र होता है। वहाँ जन्म क्यों हुआ ? इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण दिखने में नहीं आता है। अतः उसके जन्म तथा मरण का

क्या कारण है उसका पता लगाना कठिन है। इसलिये प्रारब्ध के वश पीछे, जो होने वाला होगा, वह भले ही, अब तो इसको छुड़ाना ही योग्य है।।५१।।

आभास–निर्धारितमित्याहैवं विमृश्येति।

वसुदेवजी ने यह विचार कर जो कुछ करने का निर्णय किया उसको श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक में कहते हैं कि –

श्लोकः – एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम्।
पूजयामास वै शौरिर्बहुमानपुरस्सरम्।।५२।।

श्लोकार्थ – शुकदेवजी ने कहा कि वसुदेवजी इस प्रकार विचार कर उस प्रसिद्ध तथा पापी कंस की बहुत आदर से जितनी बुद्धि थी उतनी बुद्धि के अनुसार पूजा करने लगे।।५२।।

सुबोधिनी – स्वकर्तव्येयं विमर्शः। कंसश्चेत्तदङ्गीकुर्यात्तदा सिध्येत्। तस्य सिद्धिर्दुर्घटा तस्य दूषणानि वदन् प्रयत्नाधिक्य कृतवानित्याह। तं प्रसिद्धं दिग्विजयिनं पापमेतादृशकर्मकर्तारं पूजयामास। पूजायां हि स्वस्मिन् स्थितो भावादिः पूज्ये समारोप्यते। ततः कार्यं सेत्स्यतीति। अयमलौकिक उपायः। ननु किमर्थमेतावत् कृतवानित्याह यावदात्मनिदर्शनमिति। आत्मनो निदर्शनं ज्ञान यावद्भवति दृष्टादृष्टभेदेन तावदुपायकरणं युक्तमिति। प्रथममदृष्टोपायं कृतवानित्याह पूजयामासेति। वै निश्चयेनेति। पूजने कार्यसिद्धिं निश्चितां मत्वा। तत्र स्वदेवता समारोपितेति बहुमानपुरस्सर पूजा। इय पूजा स्तोत्रनमस्कारप्रह्वीभावात्मिका। एवङ्करणे ज्ञानप्राप्तेर्हेतुमाह शौरिरिति। शूरो वसुदेवस्य पिता।।५२।।

अनुवाद – वसुदेवीजी ने यही विचार स्थिर किया कि इसको (देवकी को) बचाना मेरा कर्त्तव्य है। किन्तु यह तब सफल होगा जब कंस मेरी प्रार्थना स्वीकार करे। इसकी सफलता होनी तो कठिन दिखने में आती है। क्योंकि एक तो यह प्रसिद्ध दिग्विजयी है जिससे इसमें अहङ्कार भी है और दूसरा पापी भी है जो बहिन को मारने से नहीं डरता है। अतः इसको शान्त कर अपनी प्रार्थना स्वीकार कराने के लिये वसुदेवजी विशेष प्रयत्न करने लगे। वह प्रयत्न कहते हैं कि – उसकी पूजा करने लगे। पूजा करना यह अलौकिक उपाय है कारण कि पूजा में अपने हृदय में स्थित भाव को जिसका पूजन किया जाता है उसमें स्थापित करना पड़ता है तब उस पूजा से कार्य सफल होता है। इतना बडा प्रयत्न क्यों किया? इस पर कहते हैं। कि कार्य की सिद्धि कराने के लिये,

मनुष्य को चाहिये कि जहाँ तक अपनी बुद्धि से उपाय हो सके वहाँ तक उपाय करते रहना चाहिये। वह उपाय दृष्ट तथा अदृष्ट कारण को जानने में समर्थ हो तब तक करना ही चाहिये। प्रथम अदृष्ट का अलौकिक उपाय पूजन किया। पूजन से कार्य सिद्धि अवश्य होगी ऐसा समझ कर पूजन किया इसलिये श्लोक में "वै" शब्द दिया है जिसका अर्थ है 'निश्चय से'। वह पूजा भी साधारण रीति से नहीं की थी किन्तु अत्यन्त मान के साथ पूजन किया जैसे कि अपने देवता को कंस में स्थापित करने के पश्चात् देववत् उसका पूजन किया। यह पूजा स्तोत्र तथा नमस्कार एवं नम्रता[1] से भाव[2] पूर्वक की गई थी। इसी प्रकार की पूजा का ज्ञान वसुदेवजी ने कहाँ से प्राप्त किया था ? इसे उत्तर में कहते हैं कि "शौरि' वसुदेवजी शूरसेन के पुत्र हैं अतः यह ज्ञान उनको पिता से प्राप्त हुआ।।५२।।

आभास—पूजयित्वा विज्ञापनां कृतवानित्याह प्रसार्येति।

पूजा करने के अनन्तर प्रार्थना करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोकः — प्रसार्य वदनाम्भोजं नृशंसं निरपत्रपम्।
मनसा दूयमानेन प्रहसन्निदमब्रवीत्।।५३।।

श्लोकार्थ — वसुदेवजी अपने मुख रूप कमल को विकसित कर, मन में अप्रसन्न थे तो भी हँसते, निर्लज्ज तथा निर्दयी कंस को यों कहने लगे।।५३।।

सुबोधिनी — स्वस्य वदनाम्भोजं प्रसार्य विकसितं कृत्वात्मानमप्रतारकं हि ज्ञापयित्वाधिष्ठानस्य दुष्टत्वादारोपिता देवता तत्र स्थास्यति न वेतिसन्देहाद् दूयमानेन दुःखाविष्टेनान्तःकरणेनोपलक्षितोपि तदाकारसङ्गोपनार्थं प्रहसन्नेतावत्यर्थे किमेतावत् क्रियत वदन्नेवेदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्। अधिष्ठाने दूषणद्वयं येन देवता न सन्निहिता भवति। 0क्रौर्यलज क्रोधकामनिदानभूतौ। तावाह नृशंसं निरपत्रपमिति। कामसेवका एव निरपत्रपा 'पृष्ठस्वकृतह्रीभया' इतिवाक्यात्। नृंशसः क्रूरात्मा तामसक्रोधयुक्तः।।५३।।

अनुवाद — वसुदेवजी ने अपने मुख कमल को इसलिये प्रफुल्लित कि जिससे कंस समझ जावे कि वसुदेवजी मुझे धोखा नहीं देते हैं और मेरा हित ही

---

[1] दीनता
[2] स्नेह

हैं। वसुदेवजी ने अपने इष्ट देवता को कंस में स्थापित तो कर दिया परन्तु मन में सन्देह रह गया था कि इस दुष्ट में मेरे देवता विराजेंगे वा निकल आवेंगे। इस कारण से वे वसुदेवजी दुःखित मन वाले थे, तो भी उस दुःख को छिपाने के लिये अच्छे प्रकार से हँसते हुवे यह वक्ष्यमाण[1] वचन कहने लगे। वसुदेवजी ने अपने देवता को जिस अधिष्ठान (कंस) में स्थापित किया था। उसमें मुख्य दो दोष थे जिससे उसमें देवता का विराजना जचता नहीं। वे दो दोष क्रोध तथा काम के कारण रूप 'निर्दयता' और 'निर्लज्जता' हैं। जो काम के सेवक अर्थात् कामी होते हैं वे निर्लज्ज होते हैं और निर्भय भी होते हैं। तथा जो निर्दयी होते हैं वे क्रूर एवं तामस (क्रोध वाले) भी होते हैं।।५३।।

आभास—आत्मीयतया तं गृहीत्वा हितमिवाह न चास्यास्त इति।

कंस को अपनापन दिखाते हुए मानो उसका हित की बात कह रहे हो, इस प्रकार वसुदेवजी निम्न श्लोक में कहते हैं –

श्लोकः – न चास्यास्ते भयं सौम्य यद्वि त्वाहाशरीरवाक्।
पुत्रान् समर्पयिष्येस्या यतस्ते भयमुत्थितम्।।५४।।

श्लोकार्थ – वसुदेवजी कहने लगे कि हे सौम्य ? जो कुछ आकाशवाणी ने कहा है तदनुसार देवकी से तो आपको भय है ही नहीं।

तो इसको क्यों मारते हो ? यदि कहो कि इसके पुत्र होंगे वे मुझे मारेंगे इसलिये इसको मारता हूँ तो जिनसे आपको भय है वे पुत्र आपको ला दूंगा। अतः इसको छोड दो।

सुबोधिनी – अस्याः सकाशात् ते भयं न चास्ति चकारान्मत्तो भविष्यति वा। वाणीप्रामाण्यादेव। अतो निरपराधवधो न कर्तव्यः। सौम्येतिसम्बोधन सौम्यो भव विज्ञापितं कुर्वितिबोधनार्थम्। अत्रार्थे प्रमाणमाह यद्वि त्वाहेति। एतदुभयत्रापि प्रमाणम्। अतोस्याः पुत्रान् तुभ्यं समर्पयिष्ये। यतः पुत्राद्वाक्यतस्ते भयं सम्यगुत्थितम्। निवेदिते त्वीदयस्त्वां न मारयिष्यति। कापट्यशङ्काभावाय बहुवचनम्।।५४।।

अनुवाद – इससे अथवा मुझसे भी आपको भय नहीं है। क्योंकि आकाशवाणी ने स्पष्ट कहा है कि इसका आठवां गर्भ तुझे मारेगा। जब वाणी ने यों कहा है तब इस

---
[1] जो पीछे कहते हैं।

बिना अपराध वाली का वध क्यों करते हो, ऐसा नहीं करना चाहिये। आप सौम्य बनो और मेरी प्रार्थना स्वीकार करो जिनसे आप को भय है, मैं वे पुत्र आपको समर्पण करूंगा। वे आपके पुत्र हो जायेंगे आपके होने पर आपको नहीं मारेंगे। मैं कपट से नहीं कहता हूँ किन्तु आपके हित के लिये कह रहा हूँ और वाणी ने तो आपकी मृत्यु केवल आठवें गर्भ से कही है मैं तो इतना निष्कपट होकर आपका भला चाहता हूँ जो भी पुत्र होंगे वे आपको दूंगा। क्योंकि आप मेरे सम्बन्धी हो, सम्बन्धी का हित करना सम्बन्धी का कर्त्तव्य है।।५४।।

आभास–एवं दृष्टादृष्टोपायस्य कृतत्वादङ्गीकृतवानित्याह सुहृद्वधादिति।

इस प्रकार दृष्ट एवं अदृष्ट उपाय करने से कंस ने वसुदेवजी का कहना स्वीकार किया, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं –

श्लोकः – **सुहृद्वधान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित्।**
वसुदेवोपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद्गृहम्।।५५।।

श्लोकार्थ – श्री शुकदेवजी कहते हैं कि – वसुदेवजी के वचनों के सार को समझ कंस बहन के वध को निवृत्त हुआ। वसुदेवजी भी प्रसन्न हुए, कंस की प्रशंसा कर घर हो गये।।५५।।

सुबोधिनी – विवेक उत्पन्ने विचारप्रवणं चित्त जातमतः सुहृदियं भगिनी किमिति हन्तव्येति सुहृद्वधान्निववृते। वसुदेव प्रतारयतीति तु शङ्का नास्ति यतस्तद्वाक्यस्य सारं सत्यमयं जानाति वसुदेवो न कदाचिदप्यनृतवादीति। अत एव भगवदवतारः। निवृत्तः। रथं प्रेरयित्वा गृहे नीतावित्यध्यवसीयते। अत एव वसुदेवोपि तन्मनोगतकालुष्यस्य गतत्वात् प्रीतः सन् प्रशस्य पुनः स्तुत्वा मार्गस्यातीतत्वाद् गृहं प्राविशत्। एवमनर्थसमाधान कथञ्चित् कृतम्।।५५।।

अनुवाद – वसुदेवजी के उपदेशों को सुनकर कंस के मन में विवेक (विचार शक्ति, जिससे क्या करना और क्या नहीं करना इसके तत्त्व को जान लेना) उत्पन्न हुआ जिससे उस कंस को यह ज्ञान हुआ कि यह बहिन है इसका वध कैसे किया जाय। यों समझकर बहिन के वध से हट गया।

कंस के मन में इस प्रकार की शङ्का ही उत्पन्न न हुई कि वसुदेवजी मुझे धोखा देते हैं, क्योंकि उसने वसुदेवजी के वचनों का सार समझ लिया जिससे उसने जाना कि यह जो कहते हैं वह सत्य है और उसको यह भी पता था कि वसुदेवजी सत्यवक्ता

है। सत्यवक्ता होने के कारण ही वसुदेवजी के यहां भगवान् प्रकट हुए। तदनन्तर कंस ने दोनों बहिन तथा बहिनोई को घर पहुँचाने के लिये रथ को चलाया। रथ को चलाते देखकर वसुदेवजी ने भी समझ लिया कि कंस के मन से अब कालास निकल गया है जिससे प्रसन्न होकर मार्ग में तब तक कंस की प्रशंसा करने लगे जब तक घर में प्रवेश किया। इस प्रकार वसुदेवजी ने अनर्थ को कैसे भी शान्त करा दिया।।५५।।

आभास—एतद्भगवतैव कृतमिति वक्तुमग्रिमं कार्यं समीचीनमेव जातमित्याह षड्भिरथेति।

यह कार्य वसुदेवजी के कहने से कंस का देवकी के वध से हट जाना भगवान् ने ही किया। यों कहने के लिये कहते हैं कि आगे का कार्य बिना विघ्न के श्रेष्ठ प्रकार से होगा। इसका वर्णन छः श्लोकों से करते हैं।

श्लोकः – अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता।

पुत्रान् प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम्।।५६।।

श्लोकार्थ – अनन्तर गर्भधारण के योग्य काल के आने पर सर्व देवरूप देवकी ने प्रतिवर्ष में एक एक बालक को निर्विघ्न प्रकट किया इस प्रकार आठ वर्षों में आठ पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई।

सुबोधिनी – अथ तदनन्तरमेव शीघ्रमेव। काल ऋतुसमये। उपावृत्ते जातेष्टवर्षमध्ये सर्वानेव पुत्रान् सुषुवे। कन्यायामासक्तिर्जातेति कन्याञ्च। अनुवत्सरमिति। प्रतिवत्सरमेकैकः पुत्रो जातः। पूर्णगर्भाश्च ते। एव निरुपद्रवतया प्रसवे हेतुः सर्वदेवतेति। सर्वा देवता रक्षणार्थं यत्र। कन्या नवमी। चकारस्तज्ज्ञापकः। प्रसवे न कोपि संवत्सरो व्यवहित इत्युपसर्गः।।५६।।

अनुवाद – इसके अनन्तर शीघ्र ही ऋतुकाल आया जिससे देवकीजी गर्भ को धारण करने के योग्य हो गई। ऐसे समय होने पर उनने आठ ही वर्षों में आठ पुत्र उत्पन्न किये तथा उनको कन्या होने की आसक्ति (पूर्ण चाह) थी। अतः एक कन्या को भी जन्म दिया। प्रति वर्ष एक–एक पुत्र हुए। वे सब पूर्ण गर्भ थे अर्थात् पूरे दिन होने पर जन्मे थे। किसी बालक के उत्पन्न होने में किसी प्रकार का विघ्न नहीं हुआ। कारण कि देवकीजी में सर्व देवता विराजमान थे। वे जहां रक्षक होवें वहाँ विघ्न कैसे आवेंगे।

आठ पुत्र हो गये अनन्तर आसक्ति के कारण नवमी कन्या भी हुई। श्लोक में आये 'च'[1] शब्द का यह आशय है और प्रसव में (बालक के उत्पन्न होने में) कोई वर्ष खाली नहीं रहा। यह 'अनु' उपसर्ग से जाना जाता है।

आभास—यथैतया पुत्राः प्रसूतास्तथा वसुदेवोपि स्वोक्तं कृतवानित्याह कीर्तिमन्तमिति।

श्लोकः — **कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः।**
अर्पयामास कृच्छ्रेण सोनृतादतिविह्वलः।।५७।।

श्लोकार्थ — असत्य के भय से अत्यन्त व्याकुल वसुदेवजी ने, प्रथम ही उत्पन्न हुआ कीर्तिमान पुत्र कष्ट से कंस को समर्पित किया।।५७।।

सुबोधिनी — ज्येष्ठो हि पुत्रः सर्वेषामदेयस्तत्रापि महान्। तादृशमपि दत्तवानिति स्वस्य धर्मनिष्ठतां ज्ञापयितुं कीर्तिमन्तं प्रथमजमित्युक्तम्। कंस इतिनाम्ना क्रौर्यज्ञापितम्। आनकदुन्दुभिरिति सत्यवाक्यत्वे हेतुः। स्वयं गृहीत्वार्पयामास। कृच्छ्रेण कष्टेन शोकं संस्तभ्य। ननन्वनृतकथनमप्यधर्मः पुत्रसमर्पणमपि तत्र प्राणसङ्कटेनृतं न जुगुप्सितमिति पुत्रमेव कथं न स्थापितवानित्याशक्याह सोनृतादतिविह्वलः। यतोयमानकदुन्दुभिः। अस्य पुत्रापेक्षयापि सत्यमेव संरक्ष्यं भगवत्प्रापकम्। पुत्रास्तु देहसम्बन्धिनः। सत्यं तु भगवत्सम्बन्धि। तथा सत्यनृते कृते न भगवत्सान्निध्यं भविष्यतीत्यतिविह्वलः।।५७।।

अनुवाद — वसुदेवजी ने अपने धर्म में श्रद्धा तथा स्थिरता बताते हुए पहला उत्पन्न हुआ कीर्तिमान पुत्र, जो ज्येष्ठ और महान् होने के कारण, कोई भी नहीं दे सकता है उसको भी दे दिया। श्लोक में कंस नाम देने का आशय यह है कि वह क्रूर स्वभाव वाला है और आनक दुन्दुभि नाम देकर यह बताया गया है कि यह नाम प्रतिज्ञापालन रूप सत्यधर्म का कारण है। पुत्र को दूसरे के द्वारा कंस के पास न भेजकर स्वयं वसुदेवजी ने ले जाकर अर्पण किया। उस समय वसुदेवजी के मन में स्वाभाविक कष्ट तो हुआ किन्तु कष्ट से उस शोक को मन में ही दबा दिया। यह श्लोक में आये हुए 'कृच्छ्रेण' पद का भाव है।

[1] गो.पु. प्रकाश मे कहते हैं कि श्लोक में आये हुए पहले 'च' का आशय है कि देवकी को कन्या उत्पन्न हो, ऐसी चाह हुई। दूसरे 'च' का आशय है नवमी कन्या हुई और 'तज्ज्ञापकत्व' का आशय है कि वह कन्या सुभद्रा थी।

जैसे असत्य बोलना अधर्म है। अतः वैसे ही मृत्यु के लिये पुत्र का देना भी अधर्म है। ऐसी अवस्था में प्राणों पर जब सङ्कट आता हो तो झूठ बोल देना निन्दित नहीं है, इस विचार से पुत्र को न देना ही ठीक था। इसके उत्तर में कहा गया है कि 'अनृतात् अतिविह्वलः' मैं असत्यवादी न बन जाऊँ, इस भय से वसुदेवजी बहुत व्याकुल थे। कारण कि उन वसुदेवजी के जन्म के समय देवों ने इसलिए बड़े नगारे और नौबत बजाई थी कि वे सत्यवादी हैं। अतः इनके यहाँ भगवान् होंगे। वसुदेवजी को तो पुत्र से भी सत्य की ही रक्षा विशेष अच्छी लगी क्योंकि वह सत्य भगवान् प्राकट्य कराने वाला है। पुत्रों का तो केवल देह से सम्बन्ध[1] है और सत्य का भगवान् से सम्बन्ध है। जब वैसा है तो सम्य की ही रक्षा करनी योग्य है। यदि अनृत[2] करूँगा तो भगवान् प्राकट्य हमारे यहाँ नहीं होगा। इससे विह्वल[3] थे।।५७।।

आभास—ननु पुत्रसमर्पणं दृष्टं सत्यमदृष्टं कथं दृष्टादृष्टयोर्वाध्यबाधकभाव इति चेत्त्राह किं दुस्सहमिति।

पुत्र का समर्पण[4] ंष्ट है अर्थात् इस समर्पण से जो फल (पुत्र की मृत्यु) होने वाला है वह तो प्रत्यक्ष देखने में आता है और सत्य अदृष्ट है अर्थात् सत्य की रक्षा के लिए पुत्र दे देने से जो उस सत्य का फल होगा वह अदृष्ट अर्थात् देखने में नहीं आता है कि क्या होगा ? इस शङ्का निवारण के लिए निम्न श्लोक कहते हैं:—

श्लोकः — किं दुस्सहं तु साधूनां ? विदुषां किमपेक्षितम् ?।
किमकार्यं कदर्याणां ? दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम् ? ।।५७।।

श्लोकार्थ — साधु पुरुष, सबको सहन कर सकते हैं, ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिस को वे सहन न कर सके। जो ज्ञानी हैं उनको किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती है। जो कदर्य[5] है वह किसी भी कुकृत्य करने से नहीं हिचकता है। जिनने अपने

---

[1] देह सम्बन्ध अनित्य है और भगवत्सबन्ध नित्य है। अत वसुदेवजी ने नित्य भगवत्सम्बन्ध को मुख्य मानकर सत्य की ही रक्षा की है। — अनुवादक

[2] असत्य, झूठ

[3] घबराये हुए

[4] देना

[5] सबको सब प्रकार की पीडा देने वाला

मन को वश कर लिया है और भगवान् को हृदय में धारण कर लिया है, वे सब कुछ त्याग कर सकते हैं।।५८।।

सुबोधिनी – पुत्रस्यादाने किं मोहो हेतुर्लौकिकः शास्त्रं वा ? आद्यं दूषयति साधूना शत्रुमित्रोदासीनेषु तुल्यस्वभावानां कि दुस्सहम् ? मोहवशादेव पुत्रादिवियोगो दुस्सहस्तदभावे यथा पुत्रस्तथा कंसः। ततश्च कंसघातकः पुत्रो न रक्ष्य इति युक्तं दानम्। अथ 'पुत्रेण जयते लोकान् पुत्रेण वसुतामेति पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत' इति 'त्वं यज्ञ' इत्यादिवाक्यैः पुत्रकृतोपकारोपेक्षित इति चेत्तत्राह विदुषां ज्ञानयुक्तानां किं बहिःस्थितमपेक्षितमिति ? न साधनं नापि फलम्। ननु तथापि वधार्थं स्वतो बालकमज्ञं समर्पयतीत्ययुक्तमिति चेत्तत्राह किमकार्यं कदर्याणामिति। असमर्पिते वसुदेवमनृतवादिनं ज्ञात्वा कृतसमयबन्धस्य निवृत्तत्वात् सर्वानेव पुत्रान् सर्वा भार्या मां च मारयेदत्तस्त्यजेदेकं कुलस्यार्थ इतिन्यायेनार्पणमेवोचितम्; न चैतन्न करिष्यतीत्याशङ्कनीयम्। यतः कदर्याणां कंसादीनां किमकार्यम् ? सर्वोल्लङ्घनेन लुब्धाः कदर्याः। कुत्सितायां दर्यां हृदयरूपायां सम्भवो येषां स्थितिर्वा। ननु तथापि पलायनमेवोचितं न तु निरपराधबालकस्याज्ञस्य मारणमिति। चेत्तत्राह दुस्त्यजं किं धृतात्मनामिति। धृत आत्मा वासुदेवो यैः सर्वं गच्छतु हरिस्तिष्ठत्विति येषां बुद्धिस्तेषामन्यत्सर्वं त्यक्तव्यं भगवद्बाधकम्। असमर्पणं च सर्वनाशकत्वाद्भगवद्बाधकमिति भगवदीयानां त्याज्यवस्तुषु कोपि गुणदोषविचारो नास्तीति पूर्वं प्रतिज्ञातस्य समर्पणं युक्तमेव।।५८।।

अनुवाद – पुत्र कंस को न दिया जाय। इस विचार के करने में लौकिक मोह कारण है अथवा शास्त्र कारण है। पहला कारण जो मोह है उसमे जो दूषण आते हैं उनका वर्णन करते हैं। साधु पुरुषों के लिए शत्रु, मित्र तथा उदासीन सब समान हैं। अतः उनको सब कुछ सहन करने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है। वे जैसे लौकिक मनुष्य शत्रु का त्याग कर सकते हैं, उसके लिये उनको कोई कष्ट नहीं होता है। वैसे ही सत्पुरुषों को पुत्र आदि के त्याग में भी कोई कष्ट नहीं होता है। कारण कि वे समदृष्टि वाले होते हैं, उनमें मोह का अभाव हो जाता है। इसलिए सत्पुरुष होने के कारण वसुदेवजी ने पुत्र का त्याग कर लिया। वसुदेवजी के लिए जैसा पुत्र है वैसा ही कंस है। अतः कंस का घात करने वाला पुत्र नहीं बचाना चाहिए। इसलिए पुत्र दे देना योग्य है।

यदि पुत्र दोगे तो जो शास्त्रानुसार पिता को पुत्र की अपेक्षा होती है वह रह जायगी। जैसा कि कहा है "पिता पुत्र के द्वारा लोगों को जीतता है, पुत्र से धन की प्राप्ति की जाती है, पुत्र पुंनाम नरक से बचाता है और पुत्र यज्ञ है"। पुत्र के अभाव में

उस अपेक्षा की पूर्ति न होगी अपेक्षा रह जायगी। इसका उत्तर देते हैं कि ज्ञानी पुरुषों को वैसे बाह्य पदार्थों की अपेक्षा[1] नहीं रहती है। वे न तो साधन की तथा न ही फल की अपेक्षा वाले होते हैं। यदि अपेक्षा नहीं भी हो तो भी मरवाने के लिए अपने आप अज्ञ[2] बालक को देना तो योग्य नहीं है। इस तर्क के उपस्थित करने पर उत्तर देते हैं कि मैं यदि बालक[3] को न देकर मिथ्यावादी भी बन जाऊँ, तो भी यह निश्चय नहीं है कि बालक आदि को वह नहीं मारेगा, क्योंकि वह मुझे मिथ्यावादी समझ न केवल बालकों को किन्तु स्त्री देवकी को तथा मुझे भी मार डालेगा। कारण कि कंस कदर्य है। कदर्य का स्वभाव ही है सबको सर्व प्रकार से पीड़ा देना और लोभ के कारण वे लोग सर्व प्रकार की धार्मिक तथा नैतिक मर्यादा का उल्लघंन कर सकते हैं। क्योंकि उनकी (कदर्यों की) हृदय रूप गुफा में ऐसे ही विचार भरे रहते हैं तथा कंस की उत्पत्ति ही वैसे दुष्ट हृदय से हुई है। अतः 'त्यजेत् एकं कुलस्यार्थे' कुल का नाश होने वाला हो तो उसकी रक्षा के लिए यदि एक की बलि देनी पड़े तो दे देनी चाहिए। इस शास्त्राज्ञा के अनुसार पुत्र का दे देना ही योग्य है। यदि आप कंस को ऐसा समझते हो तो आपको (वसुदेवजी को भाग जाना ही उचित है) न कि निरपराध अज्ञ बालक को मरवाना योग्य है। इसका उत्तर देते हैं कि जिन्होंने हृदय में भगवान् को पधरा रखा है, उनको भगवान् के सिवाय सब कुछ त्याग देना सरल है। कारण कि दूसरे पदार्थ पुत्र आदि उनके लिए बाधक हैं। पुत्र न देना, यह सर्व का नाश करने वाला होने से भगवद् बाधक (भगवान के प्राकट्य में रुकावट करने वाला) है। अतः जो भगवदीय (भगवान् के भक्त) हैं। उनको किसी भी वस्तु के त्याग करने में गुण अथवा दोष के विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इससे प्रथम की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार प्रतिज्ञात पुत्र को देना ही उचित है।।५८।।

आभास—भगवत्कृतत्वान्नानिष्टं जातमित्याह दृष्ट्वेति।

---

[1] थोडी भी इच्छा

[2] बेसमझ

[3] देने के लिए जिनकी प्रतिज्ञा की है वैसे पुत्र

वसुदेवजी ने यह सर्व कार्य भगवदिच्छा से ही किया। अतः आगे होने वाले कार्य में कोई विघ्न न आया। यह निम्न श्लोक में कहते हैं –

श्लोकः – दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिम्।
कंसस्तुष्टमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवीत्।।५९।।

श्लोकार्थ – हे राजन्! कंस वसुदेवजी को समता तथा सत्य पर स्थित देखकर प्रसन्न हुआ, अतः हँसते हुए यों नीचे के श्लोक में कहने लगा।।५९।।

सुबोधिनी – शौरेर्वसुदेवस्य पुत्रे स्वस्मिंश्च तुल्यतां दृष्ट्वान्योन्यघातकत्वमुभयोर्ज्ञात्वा स्वस्यौदासीन्येन स्थितिरेव समता सत्ये वाक्ये चैव व्यवस्थितिमचाञ्चल्यमेवमुभयेनापि सन्तुष्टः। राजन्निति सम्बोधनं राजधर्मस्तथैवेतिज्ञापनार्थम्। प्रकर्षेण हास्यं मुग्धोयमितिज्ञापनार्थम्। इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्।।५९।।

अनुवाद – कंस ने विचार पूर्वक देखा कि वसुदेव की दृष्टि समान है जैसा पुत्र को वैसा ही मुझे समझता है, वसुदेव यह भी जानता है कि मैं इसके पुत्र का घातक हूँ और इसका पुत्र मेरा घातक होगा ऐसा जानते हुए भी समता तथा सत्य पर इनकी दृढ़ स्थिति है, अर्थात् वसुदेव का मन डिब्बा नहीं जिससे मेरे पास पुत्र को ले आया है। इनको देख कर प्रसन्न हुआ उपरोक्त श्लोक में परीक्षित को 'राजन्' सम्बोधन कर के यह बताया कि राजा का धर्म ऐसा ही है। कंस अपना भोलापन दिखाने के लिये जोर से अच्छे प्रकार से हँसने लगा और निम्न वाक्य कहे।।५९।।

श्लोकः – प्रतियातु कुमारोयं न ह्यस्मादस्ति मे भयम्।
अष्टमाद्युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे विहितः किल।।६०।।

श्लोकार्थ – यह कुमार घर लौट जावे, कारण कि इससे मुझे कोई भय नहीं है। आप दोनों के आठवें गर्भ से निश्चय मेरी मृत्यु विहित[1] है।।६०।।

सुबोधिनी – अनेन पञ्चवार्षिको नीत इति ज्ञायते। षष्ठश्चोदरस्थः। प्रतियात्विति– वाक्यादन्यथा 'नये' त्येव वदेत्। पुत्रानितिबहुवचनानुरोधेन तावत्कालं स्थापनम्। प्रतियातु व्याघुट्य गृहे यातु। अय ते कुमारो न तु मन्मारकः। अमारणे हेतुर्न ह्यस्मादस्ति मे भयमिति। तर्हि समयबन्धो गत इति नाशङ्कनीयं यस्माद्युवयोरष्टमगर्भान्मे मृत्युर्विहित इति। स समानीय देय इत्यभिप्रायः। अत एव

[1] जताई गई, बताई गई

नारदादीनामेतदसम्मतम्। न हि भगवद्भक्तानामन्यनिष्ठाप्युचिता। अतोन्यथाकरणमप्युचितम्। किलेत्याकाशवाणीप्रतिसन्धानम्।।६०।।

अनुवाद – श्लोक के 'प्रतियातु'[1] शब्द का आशय स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि यह कीर्तिमान पुत्र जब वसुदेवजी ले आये थे तब पांच वर्ष का था, पांच पुत्र हो चुके थे छठा गर्भ में था, यदि वसुदेवजी छोटा ही बालक ले आते तो कंस कहता 'नय' इसको लेजा किन्तु छोटा न होने से कंस ने 'प्रतियातुः लौट जावे कहा। वसुदेवजी ने (५४वें श्लोक में) कहा था कि 'पुत्रान् समर्पयिष्ये' यहां इस बहुवचन के कारण जब पांच पुत्र हुए तब ले आये, तब तक नहीं लाये थे अपने पास ही रखे। इस प्रथम बार एक ही पुत्र इसलिये लाये कि कंस क्या करता है? पश्चात् दूसरे लाऊँगा। इसके लाने पर कंस प्रसन्न होकर कहने लगा कि यह बालक लौट कर घर चला जावे यह तेरा कुमार मेरा घातक नहीं है। इसको नहीं मारा उसका कारण बताया कि इससे मुझे भय नहीं है। यों कहने से यही भी शङ्का नहीं करनी कि आपने जो प्रतिज्ञा की है उसके बन्धन से आप छूट गये हैं। नहीं, वह तो ज्यों की त्यों ही है कारण कि आप दोनों का आठवां बालक मेरा घातक कहा गया है उससे मुझे भय है, अतः कंस का इस प्रकार कहने का अभिप्राय है कि उसको लाकर देना। कंस ने जो इस प्रकार कहा वह नारदजी आदि को सम्मत नहीं था अर्थात् अच्छा नहीं लगा। कारण कि भगवान् के भक्तों को भगवान् के सिवाय दूसरे में (सत्य में) निष्ठा (विश्वास) करना योग्य नहीं है। अतः नारदजी ने कंस के विचार को बदलने के लिये जो कुछ किया वह योग्य ही था। श्लोक में आया हुआ 'किल' शब्द आकाशवाणी के अभिप्राय को सोचना चाहिये यह जताता है।।६०।।

आभास–तत्प्रियार्थमेव नयनमिति प्रकारान्तरेणापि तस्मिन् प्रीते पुत्रत्यागो न युक्त इति तद्वाक्यमङ्गीकृत्य पुनरानीतवानित्याह तथेति।

यदि कंस किसी अन्य प्रकार से (पुत्र देने के सिवाय) प्रसन्न हो सकता तो पुत्र देना उचित नहीं था किन्तु ऐसा होना असम्भव समझ कर ही वसुदेवजी कंस को प्रसन्न

---

[1] लौट जावे

करने के लिये पुत्र को कंस से पास ले गये। पुनः कंस का वाक्य मान कर घर ले गये। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं –

श्लोकः – तथेति सुतमादाय ययावानकदुन्दुभिः।
नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोविजितात्मनः।।६१।।

श्लोकार्थ – वसुदेवजी, जो आपकी आज्ञा, यों कहकर पुत्र को लेकर घर आये, किन्तु झूठे और अनिश्चित विचार वाले कंस के इन वचनों को बखाना नहीं अर्थात् विश्वास नहीं किया।।६१।।

सुबोधिनी – स्वयमेव गृहीत्वा ययौ। अविश्वासे हेतुरानकदुन्दुभिरिति। अतिक्लेश एव भगवदागमनं न स्वास्थ्ये। आनके दुन्दुभयश्च नेदुर्भगवदागमनार्थम्। तदुभयं विरुध्यते। अतो देवकृतस्य सत्यत्वात् कसकृतमेवासत्यमिति मत्वा नाभ्यनन्दत तस्य कंसस्य वाक्यमेनं न मारयिष्यामीत्यभिप्रायपूर्वकम्। तत्र हेतुद्वयमाहासतोविजितात्मन इति। असन् सर्वदा नैकविधः। अस्थिरवाक्च घातकश्च स्वतोयुक्तिदार्ढ्यरहितश्च। अतः केनचित् प्रथम एवाष्टम इति ज्ञापिते मारयिष्यत्येव। तस्मादसतो न विश्वासः कर्तव्यः। किञ्च नान्यवाक्यमपि तस्यापेक्ष्यते। यदैव राक्षसैर्भरस्यार्थे पुरुषाः प्रार्थयिष्यन्ते तदैवैतान् घातयिष्यति। क्रोधोद्गमहेतूना बहुनां सम्भवादजितान्तः –करणत्वादुत्पन्ने क्रोधे न विलम्बः।।६१।।

अनुवाद – वसुदेवजी आप ही पुत्र को अपने साथ घर ले गये। कंस के वचनों पर विश्वास क्यों नहीं आया ? इसके समाधान के लिये वसुदेवजी को यहां आनक दुन्दुभि कहा है। जिससे वह जान गये कि भगवान् का प्राकट्य तो तब होता है जब बहुत क्लेश (दुःख) प्राप्त होता है, सुख की अवस्था में भगवान् का प्रादुर्भाव नहीं होता है, मेरे जन्म के समय बड़े नगारे इसीलिये बजे थे कि मेरे यहां भगवान् प्रकटेंगे। देवताओं और कंस दोनों का कहना परस्पर विरुद्ध है। देवताओं के वचन सत्य हैं। कंस ने जो अब कहा है वह असत्य है। यों समझकर कंस के वाक्यों का अभिनन्दन नही किया। कारण कि कंस असत्यवादी है तथा स्थिर बुद्धि वाला नहीं हैं इसलिये जो कह कि इसको मैं नहीं मारूंगा इस पर मुझे विश्वास नहीं है। झूठा मनुष्य सदा एक जैस नहीं होता है और जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है वह घातक एवं अपनी युक्ति अथवा कहः पर पक्का नहीं रहता है। अतः किसी ने कह दिया कि यह पहला ही आठवा है र इसको मार देगा। इसी कारण से झूठे पर विश्वास नहीं करना चाहिये। जिस सम

इससे राक्षस खाने के लिये पुरुष मागेंगे, उस वक्त किसी दूसरे के वचन की अपेक्षा न कर इनका घात करेंगे। ऐसे लोगों में क्रोध की उत्पत्ति अनेक प्रकार से हो सकती है क्योंकि उन्होंने अन्तःकरण को अपने वश में नहीं किया है अतः क्रोध आते ही मारने में क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करेगा।।६१।।

आभास–'महतामन्तःकरणमेव प्रमाण'मिति तथैव जातमित्याह नन्दाद्या इत्यष्टभिः।

महान् पुरुषों का अन्तःकरण ही प्रमाण है। जैसे वसुदेवजी ने समझा वैसा ही हुआ, उसका वर्णन निम्न आठ श्लोकों से करते हैं।

उन आठों में से प्रथम के तीन श्लोक में नारदजी ने आकर कंस को समझाया है कि तूं ने बालक को छोड़कर भूल की है, व्रज में सर्वत्र देव, दैत्य वधार्थ उत्पन्न हुवे हैं। वसुदेवादि सब देव हैं इत्यादि।

श्लोकः – **नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः।**
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या युदस्त्रियः।।६२।।
सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत।
ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः।।६३।।
एतत् कंसाय भगवान् शशंसाभ्येत्य नारदः।
भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानां च वधोद्यमम्।।६४।।

श्लोकार्थ – व्रज में नन्दादिक जो ग्वाल और उनकी स्त्रियां, तथा यदुकुल में वसुदेवजी आदि यादव और उनकी देवकी आदि स्त्रियां एवं इन दोनों के ज्ञाति, बान्धव तथा स्नेही जो कि तेरा अनुसरण करते रहते हैं, वे सब ही प्रायः देवता रूप हैं। इन देवों ने पृथ्वी के भार रूप दैत्यों के नाश का उद्यम प्रारम्भ किया है।।६२, ६३, ६४।।

सुबोधिनी – वसुदेवे कंसकृतं देवानां हितकारि न भवतीति देवगुह्यकर्ता नारदः पर्यवसानानिष्टकर्तारं वसुदेव पीडयितुं दैत्यरूप कसं चोद्वेजयितुं शीघ्रं भगवदागमनार्थं साधारणान् पीडयितुं वाक्यत्रयमुक्तवांस्तदाह। ये यमुनापारे ब्रजे गोपा नन्दादयोमीषां च स्त्रियः यशोदाप्रभृतयश्चकारादन्याः अपि कुमारिका अस्मिन्नपि कूले वृष्णिवंशोद्भवा वसुदेवादयो देवक्याद्याश्च यदुवंशोद्भवानां स्त्रियः।।६२।।

सुबोधिनी – स्त्रियः पुरुषाः सर्व एव देवताप्राया ईषदसमाप्तदेवाः। मानुषभावस्यापि विद्यमानत्वात्। अतो देवेषु यत् कर्तव्य तदेतेष्वेव कर्तव्यमिति ज्ञापितम्। उभयोरिति। रोधसोर्ये केचित्

तिष्ठन्ति पश्वादयोपि तेपि देवांशा। भारतेतिसम्बोधनमेतदाहेत्यनेन सम्बध्यते। नारदस्य तथाकथनममन्वानस्य विश्वासजनकं देवगुह्यमेतादृशमेवेति। किञ्च न केवलमुदासीना एव देवाः किन्तु कंसनिकटवर्तिनोप्यक्रूरादयो ये ज्ञातयो गोत्रिणः कंसस्य ये बन्धवः सम्बन्धिनो ये वा सुहृदो मित्राणि ये च कंसस्य सेवकाश्चकारात् पित्रादयोपि।।६३।।

सुबोधिनी – नारदस्य दुष्टत्वं व्यावर्तयति भगवानिति। शंसनमेकान्ते कथन युक्तिपूर्वकमुपाख्यानपूर्वकम्। तत्रैवोपाख्याने फलितानि वाक्यान्यत्रोपनिबध्यन्ते। अत आनुपूर्व्यभावो न दोषाय। एतावतैव कार्यसिद्धेः। ननु देवानामागमने किं स्यादित्याशङ्क्याह भूमेरिति। नाकपृष्ठे देवानां मन्त्रणं जातं भूमेर्भारायमाणाः कंसादयो दैत्या जातास्ते हन्तव्या इति। तद्धननार्थमेव देवागमनं वधोद्यमरूप जातम्। वधोद्यमं यथा भवति तथैते देवताप्राया इतिवाक्यम्।।६४।।

अनुवाद – कंस ने वसुदेव से जो शिष्टाचार किया अर्थात् उसको कहा कि, इन तेरे पुत्र से मुझे भय नहीं है यह घर जावे। उसके कंस के कहने पर वसुदेवजी पुत्र को मन में अप्रसन्न होते हुए ले गये। किन्तु नारदजी को यह कंस का कृत्य अच्छा न लगा। कारण कि नारदजी ने जानना कि यह कार्य देवताओं के लिये हितकर नहीं हुवा क्योंकि देवता चाहते हैं कि भगवान् शीघ्र प्रकट होवें। भगवान् शीघ्र तब प्रकट होंगे जब वसुदेव देवकी आदि भक्तों पर विशेष संकट होगा। अतः देवताओं के गुह्य[1] मनोरथ की पूर्ति के लिये नारदजी कंस के पास आये। वसुदेवजी का प्रसन्न रहना अनिष्ट कारक (भगवान् के प्राकट्य में विलम्ब करने वाला) है, अतः मैं ऐसी युक्ति करूँ जिससे वसुदेवादि सर्व साधारण भी पीडित होंवे जिससे भगवान् शीघ्र प्रकट हों यह विचार कर नारदजी ने कंस को बहकाने के लिये तीन वाक्य कहे।

यमुनाजी के परले पार जो व्रज में नंदादि गोप हैं, और यशोदा प्रभृति स्त्रियां है, तथा और भी कुमारिकाएँ हैं, तथा इस किनारे पर यादव वंश में उत्पन्न वसुदेवादि तथा यदुवंश में जन्मी हुई देवकी आदि स्त्रियां हैं। यों प्रथम श्लोक में सब की पहचान कराके अब दूसरे श्लोक में उनका देवपना बताते हैं। ये सब स्त्रियां तथा पुरुष आदि सर्व बहुत करके सब देवता तुल्य अर्थात् देव जैसे हैं। देखने में मनुष्य हैं किन्तु इनमें देवपना छिपा हुवा है, अतः जो बर्ताव आप देवताओं से करते हो वैसा ही इनसे भी

---

[1] गुप्त

करो। अर्थात् आप देवताओं को सदैव पीड़ा देते हो वैसा ही व्यवहार इनसे करो। आप असावधान मत रहो न केवल मनुष्य देवांश है किन्तु दोनों तीरों पर रहने वाले पशु आदि भी देवांश है। यह आशय श्लोक में आये हुए (च) से निकलता है। इस श्लोक में जो परीक्षित को भारत। यह सम्बोधन दिया है उसका सम्बन्ध (६४) श्लोक के (एतत्..... शशंस) से है। नारदजी ने विचारा कि मेरा यह कहना, कंस न माने तो उसका विश्वास कराने के लिये देवों की गुह्य बात एकान्त में ही युक्ति पूर्वक कही जाती है, इसलिये एकान्त में कंस को समझाया गया है। नारदजी ने कंस को कहा कि आप यों भी मत समझो कि जो मुझ में उदासीन[1] है वे केवल देव हैं। नहीं, आपके निकट रहने वाले अक्रूर आदि, जो ज्ञातिवाले तथा गोत्रवाले हैं, एवं जो आपके बान्धव सम्बन्धी तथा मित्र हैं और सेवक हैं विशेष क्या कहें (च) से यह भी बताया है कि आपके पितादि भी देवांश हैं। इस तीसरे श्लोक में नारदजी ने कंस को आदर पूर्वक उपाख्यान के समान यह बात समझा दी है।

कंस को मन में यह शङ्का हो कि नारदजी दुष्ट हैं इसलिये मुझे बहकाकर दुष्कर्म कराते हैं तो इस शङ्का को दूर करने के लिये श्लोक में नारदजी को (भगवान्) विशेषण दिया है जिसका भाव यह है कि नारदजी दुष्ट तो नहीं है किन्तु ऐश्वर्य आदि छ गुणों वाले हैं अतः वह जो कुछ कहते हैं वह हितकर ही है। अतः कंस ने जो कुछ एकान्त में नारदजी से सुना उसका सार यह हुआ कि कंस को मालूम हो गया कि स्वर्ग में देवों ने मन्त्रणा कर हम दैत्यों को नाश करने के लिये पृथ्वी पर जन्म लिया है और हमारे वध के लिये उद्यम कर रहे हैं। और निश्चय से मनुष्य रूप में देवांश ही है।। ६२, ६३, ६४।।

आभास—एवं श्लोकत्रयमुक्त्वर्षौ गते कंसो यत् कृतवांस्तदाह पञ्चभिर्ऋषेर्विनिर्गम इति।

इस प्रकार तीन श्लोक कहकर नारदजी पधार गये अनन्तर जो कुछ कंस ने मन्त्रणा कर कार्य प्रारम्भ किया उसका वर्णन पाँच श्लोकों से कहते हैं –

---

[1] दूर रहने वाले

श्लोकः – ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून् मत्वा सुरानिति।
देवक्या गर्भसम्भूतिं विष्णुं च स्ववधं प्रति।।६५।।
देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे।
जातञ्जातमहन् पुत्रं तयोरजनशङ्कया।।६६।।

श्लोकार्थ – नारदजी के चले जाने के अनन्तर, कंस ने यादवों को देवता समझा और अपने वध के लिये देवकी के गर्भ से विष्णु के प्राकट्य का निश्चय कर लिया, अतः वसुदेव तथा दवेकी के पैरों में बेड़ी डाल घर में ही बंद कर दिया और ज्यों ज्यो बालक उत्पन्न हुवे उनको विष्णु समझ कर मार डाला।।६५, ६६।।

सुबोधिनी – अनुवादेपि येर्थास्ते पूर्वं नारदेनोक्ता इति ज्ञातव्यम्। ऋषिणैव निवारितमिति नर्षेवग्रे किञ्चित् कृतवान्। द्वयं ज्ञातवान्। चतुष्टयं कृतवान्। ज्ञातं द्वयमाह यदून् सुरान् देवान् मत्वा देवक्या गर्भेष्टमे सम्भूतिर्यस्य तादृशं च विष्णुं स्वस्य कंसस्य वधं प्रत्येव देवकीगर्भसम्भूति विदित्वा।।६५।।

सुबोधिनी – प्रथमतो देवकीं वसुदेवं चकारादन्यांश्च तदन्तर्गतान् स्वगृह एव निगडैर्निगृह्य जातञ्जातमानुपूर्व्येण जातमष्टमसङ्ख्याया अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वाद्गणनायामनियमसम्भवादजनशङ्कया विष्णुसन्देहात् षट् पुत्रानहन्। जातञ्जातमिति न कालभेदज्ञापकं किन्तु मारणे देवक्यां जननमेव निमित्तमितिज्ञापयितुमन्यथा .क्षत्रियाणां त्रयोदश एवाह्नि नामकरणसम्भवादुत्पन्नमात्राणामेव मारणे 'कीर्तिमन्तं सुषेणञ्चे' त्यादिनामोक्तिराद्य – स्कन्धेनुपपन्ना स्यात्।।६६।।

अनुवाद – अनुवाद[1] में भी जो अर्थ कहे गये हैं वे प्रथम नारदजी के कहे हुए हैं यों समझना चाहिये। ऋषि की उपस्थिति में कंस ने कुछ नहीं किया उनके जाने के अनन्तर किया, उसका कारण आचार्य श्री कहते हैं कि नारदजी ने कंस को अपने सामने कुछ भी करने का निषेध कर दिया था। अतः उस समय कुछ न कर ऋषि के जाने के अनन्तर कार्य करना प्रारम्भ किया। ऋषि के समझाने से कंस ने जो सार निकाला, उससे दो बात जानने की थी और चार करने की थी।

२–जानी वे ये है। १– यादवादि सर्व देव हैं। २– देवकी के आठवें गर्भ से मेरी मृत्यु होगी। शेष चार जो करनी हैं वे ६६ श्लोक में कही है –

---

[1] (नदाद्या ये) श्लोकों में जो विषय शुकदेवजी ने कहा है वे नारदजी के कहे हुए शब्दों का अनुवाद (फिर कथन) है।
– अनुवादक

१– प्रथम तो देवकीजी और वसुदेवजी को तथा उनके सम्बन्धी यादवों को अपने घर में ही बेड़ी डाल कर कैद में रक्खा। जिस क्रम से उनके बालक जन्मे थे उस क्रम से उन ६ को इसीलिए मार डाला कि इनमें कौन विष्णु है इसका निश्चय नहीं है कारण कि गणना का कोई नियम नहीं है। 'जातं' 'जातं' कहने का भाव मारने के काल का ज्ञान कराना नहीं था किन्तु देवकी से उत्पन्न होना ही मारने का कारण था। यह बताना था अतः जन्म होते ही नहीं मारे गये थे किन्तु पीछे कुछ बड़े हो जाने पर ५ वर्ष के बाद में वे मारे गये थे। जन्मते ही न मारे गये उसका प्रमाण यह है कि क्षत्रियों का नामकरण संस्कार १३ वें दिन होता है। अतः जन्मे हुवे बालकों के 'कीर्तिमान्' और 'सुषेण' आदि जो प्रथम स्कन्ध में लिखे कहे गये हैं वे युक्ति युक्त न होते।।६६।।

आभास—नन्वेवं कथमतिदुष्कृतं कृतवानित्याशङ्क्याह मातरमिति।

कंस ने वैसा दुष्कर्म कैसे किया ? इस शङ्का निवृत्ति के लिये (मातरं) यह श्लोक कहते हैं –

श्लोकः – **मातरं पितरं भ्रातृऋन् सर्वांश्च सुहृदः सखीन्।**
घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि।।६७।।

श्लोकार्थ – पृथ्वी पर अपने प्राणों का ही पोषण करने वाले लोभी भूपति माता, पिता, भ्राता सर्व प्रकार के मित्र तथा स्नेहिओं को भी मार डालते हैं।।६७।।

सुबोधिनी – अयं तु दैत्य एव। येप्यन्ये राजानस्तेप्यसुतृपः केवलं प्राणपोषकास्त्रापि लुब्धाः। लोभः सर्वगुणनाशकोतस्तेषां गुणा न सन्तीतिज्ञापनार्थमुक्तम्। प्रायश इतिलुब्धा इति च पदद्वयेन केचन धर्मात्मानो व्यावर्तिता अम्बरीषादयः। भुव्येषैव व्यवस्था। अतो युधिष्ठिरादयोपि पितामहादीन् मारितवन्तः। स्वस्य यत्रैव मरणसन्देहस्तानतिमान्यानपि मात्रादीन् पञ्चविधान् घ्नन्त्येव।।६७।।

अनुवाद – यह कंस तो दैत्य ही है, किन्तु जो भूपति दैत्य नहीं है वे भी लोभ से अपने प्राणों के पोषण कर्त्ता होते हैं।, लोभ सर्व प्रकार के गुणों को नाश करने वाला है। अतः प्राण पोषक लोभी राजा ही जब, माता पिता, भ्राता, सर्व प्रकार के बान्धव तथा मित्रों का घात करते हैं तो कंस तो दैत्य और प्राण पोषक लोभी होकर बहिन के पुत्रों का वध करे तो उसमें क्या आश्चर्य है ? श्लोक में प्रायशः पद देने का आशय यह है कि कोई २ अम्बरीष आदि धर्मात्मा राजा लोग वैसे नहीं होते हैं। किञ्च पृथ्वी पर यह ही व्यवस्था देखने में आती हैं अतः युधिष्ठिर आदि ने भी पितामह आदि को मार डाला।

राजाओं की जहां कहीं भी किसी के मारे जाने की शङ्का होती है तो चाहे वे माता और भ्राता आदि ही क्यों न हो उन सब को मारने में नहीं हिचकते हैं।।६७।।

आभास–नन्वस्य स्वस्यापि देवत्वसम्भावनया तद्धिताचरणमेव कथं न जातमित्याशङ्क्याहा त्मानमिति।

इस कंस को अपने देवत्व होने की सम्भावना थी तो क्यों नहीं अच्छे कर्म किये? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि –

श्लोक – आत्मानमिह सञ्जातं जानन् प्राग् विष्णुना हतम्।
महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत।।६८।।

श्लोकार्थ – कंस को यह ज्ञान था कि जिस महान् असुर कालनेमि को विष्णु ने आगे मारा था, वह कालनेमि मैं हूँ, यों जानकर भी कंस ने यादवों से विरोध किया।।६८।।

सुबोधिनी – पूर्वममृतमथने भगवता महासुरः कालनेमिर्हतो देवपार्ष्णिग्राहेण स एवायं कंस इत्यात्मानं जानन् पुनर्देवप्रेरणयैव मारणार्थमायातीति यदूनां देवत्वात् तैः सर्वैरेव सह विरोधं कृतवान्।।६८।।

अनुवाद – पूर्वकाल में अमृत मन्थन के समय, देवताओं की सेना के पृष्ठ भाग के रक्षक भगवान् ने महान् असुर कालनेमि को मारा था, वह ही यह कंस है, यों अपने को कंस जानता हुआ भी तथा भगवान् देवताओं की प्रेरणा से ही दैत्यों के वध के लिये आते हैं और ये सब यादव देव हैं इसलिये इन सर्व यादवों से वैर करने लगा।।६८।।

आभास–अन्यदप्यत्यन्तायुक्तं कृतवानित्याहोग्रसेनमिति।

इसके सिवाय दूसरा कार्य जो किया वह भी अत्यन्त अयोग्य है – यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः – उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम्।
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः।।६९।।

श्लोकार्थ – यदु, भोज और अन्धक के अधिपति पिता उग्रसेन को, महाबली कंस ने बान्धकर घर में बन्द कर दिया और शूरसेन देश का राज्य स्वयं भोगने लगा।।६९।।

सुबोधिनी – नाम्नैव महत्त्वं निरूपितम्। स्वस्य पितरं सर्वसहाययुक्तम्। यदुभोजान्धकाधिपं यदवो भोजा अन्धकाश्च। उपलक्षणमेतत् षड्विधानामपि यादवानाम्। तदाज्ञया ते सर्वे विपरीतं

करिष्यन्तीति विशेषतस्तस्य बन्धनम्। बन्धकः स्वयमेव जात इत्याह स्वयं निगृह्येति। शूरसेनदेशस्तस्य भोगार्थं स्थितः। अतस्तस्य पुनर्वचनं शूरसेनान् बुभुज इति। एतत्सर्वकरणे सामर्थ्यं महाबल इति। एवं सर्वेषां देवांशाना भक्तानां महानुपद्रवो निरूपितो भगवदवतारहेतुभूतः।।६६।। इति श्रीमद् भागवतसुबोधिन्यां श्री वल्लभदीक्षित विरचितायां दशमस्कन्धविवरणे प्रथमोध्यायः।।

अनुवाद – (उग्रसेन) नाम ही से महत्त्व प्रकट हो रहा है विशेष महत्त्व उसके विशेषण (यदुभोजान्धकाधिपम्) कहने से जाना गया है। विशेषण में यदु, भोज और अन्धक ये तीन नाम उपलक्षण रूप में दिये गए हैं वास्तव में वह छ प्रकार के यादवों का अधिपति हैं। इसकी आज्ञा से ये सब मेरे विपरीत कार्य करेंगे अतः वैसा होने से पहले ही इनको बन्धन में डालना चाहिये, यह विचार कर स्वयं कंस ने अपने हाथ से पिता को बन्धन में डाल दिया। अनन्तर शूरसेन देश का राज्य करने लगा और सर्व प्रकार से राज्य के सुख भोगने लगा। इतना बडा भारी साहस का कार्य अकेले ने कैसे किया ? वैसी शङ्का नहीं करनी चाहिये ? क्योंकि वह कंस 'महाबल' महान् बलवान् है प्रत्येक बड़ा कार्य अपनी शक्ति से कर सकता है।

इस प्रकार सब उत्पन्न देवांश भक्तों का महान् उपद्रव का निरूपण (वर्णन) हुआ, जो उपद्रव भगवान् के प्राकट्य का हेतुभूत है।।६६।।

इति श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कन्ध, (पूर्वार्ध) प्रथम अध्याय की श्रीमद्वल्लाचार्यचरणविरचित सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

।। श्री कृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः।।

दशम स्कन्धः

श्री सुबोधिनी का सरल – सुबोध – हिन्दी अनुवाद

द्वितीयोध्याय

कारिका – एवं हेतुं निरूप्याथ कृष्णोद्यम उदीर्यते।
महत्त्वज्ञापनार्थाय द्वितीये सविशेषणः।।१।।
दुःखं हेतुरिहागन्तुमितिबोधाय तत्कथा।
पुनर्निरूप्यते स्पष्टा शीघ्रागमनहेतुका।।२।।
सर्वेषां ज्ञापनार्थाय कंसवाक्यं तथा स्तुतिः।
अन्यथा भगवानेव प्रादुर्भूतः कथं भवेत्।।३।।

कारिकाकार्थ – श्रीमदाचार्यचरण इन कारिकाओं में द्वितीयाध्याय का अर्थ, उद्यम बताते हैं। प्रथमाध्याय में यह सूचित किया है कि पृथ्वी पर भगवान् के प्राकट्य का कारण भक्तों को दुःख है अर्थात् पृथ्वी पर भगवान् तब प्रकट होते हैं, जब देखते हैं कि मेरे भक्त दुःखी हैं। इस प्रकार प्रथमाध्याय में प्राकट्य हेतु "भक्त का दुःख" है। यह निरूपण कर अब द्वितीय अध्याय में प्रभु के महत्त्व प्रकट करने के लिए भगवान् का असाधारण[1] धर्म रूप उद्यम कहते हैं।।१।।

भगवान् के प्रकट होने का कारण भक्त का दुःख ही है इसको स्पष्ट समझाने के लिए वह कथा जो भगवान् को शीघ्र प्रकट करने का हेतु है। उसका प्रलम्ब चाणूर आदि (३½) श्लोकों में वर्णन करते हैं।।२।।

इस अध्याय में कंस के वाक्य और ब्रह्माजी की स्तुति भी है। जिससे ही सबको यह ज्ञान हुआ कि भगवान् प्रकट हुए हैं, यदि ये दोनों (कंस के वाक्य और ब्रह्माकृत

---

[1] जिस धर्म को दूसरा धर्म हटा न सके उसको असाधारण धर्म कहते हैं।

स्तुति) नहीं होती तो भगवान् के प्राकट्य का ज्ञान कैसे होता ? अर्थात् नहीं होता।।३।।

व्याख्या – श्री गुसाईजी प्रभुचरण कारिकाओं के आशय को प्रकट करते हुए आज्ञा करते हैं कि भगवान् भक्तों के दुःख निवृत्ति में इतना भी विलम्ब, जो सप्तम बालक के पूरे समय में प्राकट्य होने से होने वाला था सहन नहीं कर सके। अतः अपने शीघ्र प्रकट होने के लिए माया को देवकीजी के उदर से सप्तम गर्भ को लेजाकर रोहिणीजी में स्थापन करने की आज्ञा दी। माया को इस प्रकार की आज्ञा किसी अवतार में नहीं हुई है। जो माया ब्रह्मादिकों को मोह में डाल सकती है। उस माया को कोई दूसरा आज्ञा नहीं दे सकता है तथा वह माया अन्य के आधीन ही नहीं हो सकती है। वैसी माया को आज्ञा देकर भगवान् ने अपना अन्य अवतारों से एक महत्त्व बताया है। भगवान् ने अपना दूसरा महत्त्व वसुदेवजी के मन द्वारा देवकी के हृदय में विराजमान होकर बताया है, जैसे कि मामा कंस देवकी के प्रफुल्लित मुखारविन्द को देखकर जान गया कि इसके भीतर मेरे प्राणों को हरने वाला हरि आ गया है। इतना जानकर भी अपने आसुर भाव को त्याग, देवकी को मारा नहीं। तीसरा महत्त्व ब्रह्मादि स्तुति से अपना पुरुषोत्तमत्व प्रकट जताया है। इस प्रकार प्रभुचरण श्री गुसाईजी ने तीन प्रकार से प्रभु के प्राकट्य का महत्त्व बताया है।

आभास – पूर्व सामान्यतो विरोधमुक्त्वा शीघ्रं भगवदागमनार्थं लोके कंसकृतमत्युपद्रवमाह सार्धैस्त्रिभिः प्रलम्बेति।

प्रथम अध्याय में यादवों के साथ सामान्य विरोध कहा है; तदनन्तर भगवान् के शीघ्र प्राकट्य के लिए कंस ने लोक में जो अत्यन्त उपद्रव किये वे साढे तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोकः – **प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैः।**
मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः।।१।।
अन्यैश्चासुरभूपालैर्बाणभौमादिभिर्युतः।
यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः।।२।।

श्लोकार्थ – बहुत भोजन करने वाले, प्रलम्बासुर, बकासुर, चाणूरमल्ल और तृणावर्त दैत्य मुष्टिक मल्ल, अरिष्टासुर, द्विविद वानर, पूतना, केशीदैत्य, धेनुकासुर और अन्य भी बाणासुर तथा नरकासुर प्रभृति दैत्य रूप राजाओं की सहायता से बलवान कंस यादवों का नाश करने लगा। इस कंस को जरासन्ध का बड़ा आश्रय था।।१–२।।

सुबोधिनी – प्रलम्बो दैत्यो दैत्यरूपेणैव वर्तते। बको दैत्यः पक्षिरूपेण। चाणूरो दैत्यो मनुष्यरूपेण। तृणावर्तो राक्षसो वात्यारूपेण। एत एव महाशना बहुभक्षकाः। अनेन 'यदूना कदनं चक्र' इत्यत्र यादवा भक्षिता इत्यपि ज्ञापितम्। महाशनोघ इति केचित्। तत्र नामसु यौगिकप्रवेशश्चिन्त्यः। मुष्टिकश्चाणूरवत्। यथा प्रलम्बो बलभद्रेण हतः प्रथमनिर्दिष्टस्तथा। अरिष्टो वृषरूपो बकवत्। द्विविदो वानरः। पूतना राक्षसी। केश्यश्चात्मकः। धेनुको गर्दभात्मकः।।१।।

अन्ये चैवंविधाः शतशः सन्त्यसुरा भूत्वा ये भूपालाः। बाणो बलिसुतः नरको भौमः। आदिशब्देन जरासन्धादयः। गुप्तान् यदून् प्रलम्बादयो बाधन्ते। प्रकटान् बाणादयः। एवमेतैर्यदूनां कदनमन्यायनाशं चक्रे। ऐतषामाज्ञाकारित्वे हेतुर्बलीति। मागधो जरासन्धः श्वशुरः सहायभूतः। तेनापि दिग्विजये पराजितेन सुते दत्ते। एतेषामन्यतरेणाप्याज्ञोल्लङ्घने कृते जरासन्धः साधयतीत्याश्रयः।।२।।

अनुवाद – प्रलम्ब आदि दैत्यों के रूप का वर्णन करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि प्रलम्ब दैत्य रूप में, बक पक्षिरूप में, चाणूर मनुष्यरूप में, तृणावर्त वायुरूप में था। ये बहुभोजी थे इसलिये श्लोक में इनको 'महाशन' कहा है। बहुभक्षी होने से इन्होंने बहुत यादवों का भक्षण किया था। कितनेक टीकाकार 'महाशन' का अर्थ 'अघासुर' करते हैं। नामों का यौगिक अर्थ करना विचारणीय है। मुष्टिक दैत्य चाणूर के समान था। जैसे प्रथम बताये हुए प्रलम्ब को बलरामजी ने मारा वैसे ही मुष्टिक को भी बलरामजी ने ही मारा है। अरिष्ट वृक्षरूप था, बक पक्षीरूप था। द्विविध नामक दैत्य वानर रूप था। पूतना राक्षसी थी। केशी दैत्य का रूप घोडे का सा था। धेनुक का रूप गर्दभ का था। और दूसरे भी इसी प्रकार के सैकड़ों असुर थे जो राजाओं के रूप में भी थे। जैसे कि बलि का पुत्र बाणासुर था और भौमासुर था जिसको नरकासुर भी कहते हैं। श्लोक में दिये हुए आदि शब्द के जरासन्ध इत्यादि असुर भूप भी समझ लेने चाहिये। जो यादव गुप्त होकर रहते थे उनको प्रलम्ब आदि असुर तथा जो यादव प्रकट रहते थे उनको बाणासुरादि राजा दुःख देते थे। इसी प्रकार कंस इन राक्षसों द्वारा यादवों का अन्याय से नाश करता था। ये राक्षस, राजा थे तो भी कंस की आज्ञा को

इसलिए मानते थे कि कंस बलवान् था और उसका श्वसुर जरासन्ध भी उसकी सहायता करने वाला था। जरासन्ध ने अपनी दो कन्याएँ कंस को तब दी थी जब दिग्विजय में कंस से पराजित[1] हुआ था। इन असुर राजाओं में से कोई भी यदि कंस की आज्ञा का उल्लङ्घन करता था तो जरासन्ध उस समय कंस की सहायता करता था जिससे वे राजादि दब जाते थे। इस प्रकार कंस को जरासन्ध का आश्रय तथा सहायता थी।।१–२।।

आभास–पीडितानां कृत्यमाह ते पीडिता इति।

इस प्रकार जो यादव दुःखी हुए उन्होंने क्या किया ? उसका वर्णन निम्न १½ श्लोक में करते हैं कि –

श्लोकः – ते पीडितानिविविशुः कुरुपाञ्चालकैकयान्।
शाल्वान् विदर्भान् निषधान् विदेहान् कोशलानपि।।३।।
एके तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते।।३।।

श्लोकार्थ – कंस से पीडित वे यादव कुरु पांचाल, केकय शाल्व, विदर्भ, निषेध, विदेह, काशी और कोशल देशों में चले गये और कितने ही कंस के आज्ञाकारी होकर उसकी सेवा करने लगे।।३½।।

सुबोधिनी – पूर्वोक्तैः पीडिताः कुरुदेशान् हस्तिनापुरदेशान् विविशुः। तथान्ये पाञ्चालदेशान् कम्पिलादिदेशान् कैकयान् चित्रकूटादिदेशान् शाल्वान् पश्चिमदेशान् निषधानुत्तरदेशान् विदर्भान् दक्षिणदेशान् विदेहांस्तैरभुक्तदेशान् कोशलानयोध्यादेशान् नितरां विविशुर्गुप्ततया स्थिताः। एते धर्मात्मानो राजानः। अतः स्वदेशं परित्यज्य सकुटुम्बास्तत्रैव स्थिता इत्यर्थः।।३।।

ये पुनर्निर्गन्तुं न शक्तास्ते कंससेवका एव भूत्वा स्थिता इत्याह एक इति। एकेक्रूरादयस्तमनुरुन्धानास्त संवेष्ट्य तत्सेकत्वेन स्थिता ज्ञातयो गोत्रिणः परित उपासते। एवं सर्वेषां महद्दुःखमुद्यमार्थं हेतुत्वेन निरूपितम्।।३।।

अनुवाद – कंस के अनुचरों से पीड़ित हुए यादवों ने जो किया उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि ये राजा धर्मात्मा थे अतः स्वदेश छोड़कर सकुटुम्ब पृथक् पृथक् प्रदेशों में चले गये। जैसे कि कितने ही कुरु देश में अन्य पाञ्चाल, कैकय, शल्व,

[1] हार गया था।

कोशल आदि देशों में जाकर अत्यन्त गुप्त रीति से वहां पर ही रहने लगे। जो राजा मथुरा से निकल न सके, वे कंस के अनुयायी होकर वहां ही रहने लगे, तथा कितने ही अक्रूरादि एवं ज्ञातिवाले और सगोत्री भी उसके चारों तरफ सेवक के समान रहते हुए उसकी आज्ञा का पालन करते थे। इस प्रकार प्रभु के प्राकट्य के लिये सबों को उद्यम करना पड़ा। इन्होंने दुःख सहन रूप उद्यम किया।।३½।।

आभास–भगवत उद्यमं वक्तुं देवक्या बन्धनावधि चरित्रमाह हतेष्वितिसार्धेन।

भगवान् के उद्यम का वर्णन करने के लिये देवकी के बन्धन तक, जो चरित्र हुवे उनका वर्णन करते हैं।

श्लोकः – **हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना।।४।।**
सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धनः।।५।।

श्लोकार्थ – कंस ने देवकी के छः पुत्र मार डाले, तब विष्णु के धामरूप, कि जिनको अनन्त कहते हैं, वे देवकी के हर्ष और शोक को बढ़ाने वाले होकर उसके गर्भ में पधारे।।४–५।।

सुबोधिनी – देवक्याः षट्सु बालेष्वौग्रसेनिना हतेषु सत्सु। भागिनेयान् हन्तीति पितृनाम्ना निर्देशः। अन्येषां हननमर्थसिद्धमेव। लोके हि भागिनेयोतिमान्यः।।४।।

षड् गुणास्तेन बुद्ध्या हता इति धर्मस्थानभूतोक्षरात्मा समागतस्तस्यापि मारणमाशङ्क्य परिहरति वैष्णवमिति। विष्णोर्व्यापकस्य सर्वरक्षकस्य स्वरक्षाया सन्देहो नास्तीति ज्ञापितम्। सप्तम एव परमावधिः। षड्गुणाः। सप्तमो धर्मी च तदाधारभूतः। पुरुषोत्तमस्तु ततो महान्। अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं धामेति। यतो लोका यमनन्तं कालात्मकमाचक्षते सोनन्तः सप्तमे पर्याये गर्भः प्रकटो बभूव। स चार्धप्रकटितानन्द इति देवक्या हर्षशोकविवर्धनो जातः। महानिति हर्षः। तादृशोपि मारणीय इति शोकः। प्रभावस्यादर्शनात्।।५।।

अनुवाद – श्लोक में कंस का नाम न देकर, उग्रसेन के पुत्र ने देवकी के छः[1] पुत्रों को मारा। यों कहने का भावार्थ यह है कि देवकी, कंस की भगिनी है, तो भी

[1] – प्रभुचरण आज्ञा करते है कि –देवकी को सप्तम गर्भ हुआ तब नारदजी ने कस को कहा कि व्रज मे नन्दादि और उनकी स्त्रिया, तथा वसुदेवादि यादव, स्त्री समेत सब देवता है। इस प्रकार नारदजी के कहने के अनन्तर कस ने देवकी के छ पुत्र मारे और वसुदेव और देवकी को बन्धन मे डाला यह गर्भ देवकी को हर्ष और

उसने उसके पुत्रो को मार डाला। लोक में भगिनी पुत्र भानजे अतीव मान देने योग्य होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कंस दुष्ट है, जो बहिन के पुत्रों को भी मार डालता है, तो उसको दूसरों को मारने में तो कुछ भी संकोच नहीं होता होगा। वह अर्थ सिद्ध ही है।।४।।

कंस ने देवकी के जो छ पुत्र मारे थे, वे भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्यादि छ गुण रूप थे। किन्तु कंस ने उनको भगवद्रूप समझकर मारे थे। देवकी के गर्भ मे सातवें बालक धर्मी, अर्थात् गुणों के स्थानभूत आश्रय अक्षर स्वरूप पधारे थे। उनको भी कंस मारेगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए श्लोक में कहा है कि 'वैष्णव' यह सातवां गर्भ व्यापक विष्णु का स्वरूप है। वह सबकी रक्षा करता है, जो सबकी रक्षा कर सकता है वह अपनी रक्षा करे इसमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं है। यह सप्तम गर्भ अक्षरात्मा होने से यहाँ तक ही आनन्द की गणना की सीमा हुई है। तैत्तिरीय उपनिषद् में आनन्द की गणना की गई है, वहाँ मनुष्य के आनन्द से लेकर गन्धर्वादि देवों तक का आनन्द बताते हुए अन्त में कहा है कि प्रजापति के शत आनन्द के समान अक्षर ब्रह्म का आनन्द है। यहाँ तक ही आनन्द की गणना हो सकी है। छ बालक गुण रूप धर्म है। उन छ धर्मों का आश्रय स्थान सातवां बालक अक्षर स्वरूप होने से धर्मी है। पुरुषोत्तम स्वरूप तो उससे महान् हैं। अतः यह सातवां गर्भ पुरुषोत्तम स्वरूप नहीं है। इसका ज्ञान कराने के लिए श्लोक में सातवें गर्भ के लिए 'धाम' शब्द लिया है। जिसका अर्थ है पुरुषोत्तम का 'निवास स्थान' वा 'चरण रूप' है। जिसको लोक अनन्त, कालात्मा भी कहते हैं। वह अनन्त सातवें गर्भ में प्रकट हुआ। उस अनन्त स्वरूप में आनन्द के पूर्ण रूप से प्रकट न करके उसमें आधा ही आनन्द प्रकट किया है। अतः देवकी को हर्ष भी हुआ और शोक भी हुआ। हर्ष इसलिए हुआ कि वह धर्मी स्वरूप अनन्त महान् है और शोक इसलिए हुआ कि छ बालको के मरने से यह मन में भ्रम हुआ कि कदाचित् कंस दुष्ट है इसको भी न मार डाले। यह भ्रम इसलिए हुआ कि देवकी ने इस स्वरूप का प्रभाव अब तक देखा नहीं था।।५।।

शोक देने वाले हुए। इस आधे श्लोक में यह हेतु इसलिये बताया है कि भगवान् प्रकट होने का शीघ्र उद्यम करे। षट् बाल, असुर वध और गर्भ विषयक दु:ख भगवान का चरित्र ही है।

४–५ श्लोकों का साहित्य का सारांश

(१) देवकी को शोक होने के साथ आनन्दवृद्धि कहना उपयुक्त[1] नहीं। इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहा है कि सातवें गर्भ में पूर्ण आनन्द का प्राकट्य न होने से शोक हुआ, किन्तु सातवां गर्भ गणित आनन्दमय है, इसलिए आनन्द भी हुआ।

(२) देवकी के छ पुत्र कौन थे ? जिनको कंस ने मारा। देवकी के छः पुत्र भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य थे। क्योंकि कृष्णोपनिषद् में कहा है कि जब श्रीकृष्ण का भूतल पर प्राकट्य हुआ, तब श्रीकृष्ण का सर्व परिकर भी प्रकट हुआ है। अतः प्रथम श्रीकृष्ण के छः गुण देवकी के यहाँ पुत्र रूप से प्रकट हुए। अनन्तर श्रीकृष्ण का धाम–अक्षर, बलराम के स्वरूप से देवकी के सप्तम गर्भ में आया। अन्त में श्रीकृष्ण स्वयं प्रकट हुए।

अब शङ्का होती है कि कंस ने भगवान् के ऐश्वर्यादि छः गुणों को नाश किया? इसके उत्तर में कहा जाता है कि नहीं। कारण कि भगवान् के छ गुण भी भगवद्रूप है। अतः उनको कंस मारता तो क्या, स्पर्श भी नहीं कर सकता है। यदि यों है तो कंस ने किनको मारा ? इसका समाधान यह है कि देवकी के गर्भ में साधारण जीवों का प्रवेश नहीं हो सकता है, कारण कि देवकी सर्व देवता रूप है। अतः देवकी के गर्भ में गुणों के साथ मरीचि ऋषि के पुत्र जो वैकुण्ठस्थ दैवी जीव थे उनका प्राकट्य हुआ था। किन्तु इन मरीचि ऋषि के पुत्रों को पूर्व जन्म में ब्रह्माजी ने शाप दिया था कि तुम असुर होवोगे, क्योंकि जब ब्रह्माजी अपनी पुत्री के पीछे कामातुर होकर दौड़े थे उस समय यह क्रिया देखकर ये मरीचि के पुत्र हँसे थे। उस शाप से इनका जन्म, हिरण्यकशिप, के यहाँ हुआ था। अनन्तर वे अब गुणों के साथ देवकीजी के यहाँ प्रकट हुए।

कंस ने, उन मरीचि ऋषि के पुत्रों में, जो शाप से आसुर भाव उत्पन्न हुआ था, उस आसुर भाव को नाश किया। वे देव रूप दैवी जीव तो भगवत्प्रसादी, दुग्धपान करने

[1] योग्य

से मुक्त हुए और गुण तो धर्म रूप होने से अपने धर्मी रूप सप्तम गर्भ अक्षर में स्थित रहे।

आभास–एवं सति भक्तेषुदया स्थापितेति दयापरीतो भगवान् शीघ्रमुपायं कृतवानित्याह भगवानिति।

इस प्रकार देवकीजी को हर्ष तथा शोक एवं यादवों को दुःख का होना देखकर, भगवान् को भक्तों पर दया उत्पन्न हुई, अतः दया से पूर्ण भगवान् ने अपने शीघ्र प्राकट्य होने के लिये उपाय किया उसका वर्णन करते हैं।

श्लोकः – भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत्।।६।।

श्लोकार्थ – विश्वात्मा भगवान्, जिन यादवों के आप नाथ हैं उन का कंस जन्य भय देखकर, योगमाया को आज्ञा देने लगे।।६।।

सुबोधिनी – षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न: पूर्वापराधे प्रतीकारं कर्तुं सप्तमे स्पृष्टे तेनैव हननसम्भवात् प्रतीकारो न भविष्यतीति शीघ्र च स्वयमागन्तुं तं गर्भमन्यत्र नेतुं योगमायां समादिशत्। या जगत्कारणभूता भगवच्छक्तिः सा योगमाया। लोकानां दुःखपरिज्ञानार्थं विश्वात्मेति। यदूनां कंसज भय विदित्वा। सर्वस्यैव स्वरूप जानाति किं पुनर्यादवानाम् ? तेषामेव दुःखे सति प्रतीकारे हेतुर्निजनाथानामिति। निजः स्वयमेव नाथो येषाम्। केवलमिच्छयैव सर्वं न भवतीति दृष्टकारणार्थं योगमायादेश ।।६।।

अनुवाद – षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न भगवान् की यह इच्छा थी कि कंस ने जो पहले अपराध किये है, उनका प्रतिकार[1] कंस से मैं स्वयं लूँ, इसलिए अपने शीघ्र प्राकट्यार्थ, उस सप्तम गर्भ को अन्यत्र स्थापनार्थ ले जाने के लिए योग माया को आज्ञा दी। यदि भगवान् योगमाया को वैसी आज्ञा नहीं देते तो 'सप्तम गर्भ का प्राकट्य कारागृह'[2] में देवकी के यहाँ ही होता और कंस अवश्य उनको भी अन्य पुत्रवत् मारने के लिए हाथ से स्पर्श करता, तो स्पर्शमात्र से ही कंस का नाश हो जाता। वैसा होगा तो मैं प्रतिकार ले न सकूँगा और शीघ्र प्रकट भी नहीं हो सकूँगा। अतः योगमाया को आपने आज्ञा दी।

---
[1] बदला
[2] जेलखाने

जो कि भगवान् की शक्ति जगत् के उत्पन्न करने में कारण हैं और उस शक्ति का ही नाम 'योगमाया' है। आप भगवान् 'विश्वात्मा' समग्र विश्व की आत्मा है। अतः सकल लोकों के दुःखों को जानते हैं। जब सर्व के दुःखों को तथा स्वरूपों को जानते हैं तो कस से प्राप्त यादवों के दुःखों को जाने, इसमें कोई संशय नहीं है। उनके दुःखों का प्रतीकार आप करने लगे। उसका कारण यह है कि आप यादवों के नाथ हैं। यद्यपि भगवान् सर्व समर्थ होने से केवल इच्छा से भी सभी कार्य कर सकते हैं। सप्तम गर्भ को भी इच्छा मात्र से अन्यत्र पहुँचा सकते हैं, किन्तु कार्य करने में प्रत्यक्ष कारण, अन्य होना चाहिए, अतः 'योगमाया' को आज्ञा देकर प्रत्यक्ष कारण दिखाया।।६।।

श्लोक ६ पर प्रकाश तथा लेख का सारांश

प्रभु शरणागत भक्तों पर ही विशेष दया करते हैं, यह तृतीय स्कन्ध में २१वें अध्याय के ३८ वें श्लोक से सिद्ध है। यादव शरणागत अनन्य हैं, आप ही उनके नाथ हैं। अतः आप उन पर दया करके उनके दुःखों को दूर करें। इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं है। दुःखों की पूर्ण निवृत्ति परमानन्द स्वरूप पुरुषोत्तम के प्राकट्य के सिवाय नहीं हो सकती है। इसलिए भगवान् दया वश होकर अपने शीघ्र प्राकट्य के लिए उद्यम करने लगे। भगवान् को जब रमण की इच्छा हुई, तब भी सृष्टि को आपने इच्छा मात्र से स्वयं प्रकट नहीं किया। उसके लिए प्रत्यक्ष में अन्य कारण अर्थात् तपस्या को दिखाया। ब्रह्मा रूप से तपस्या कर सृष्टि उत्पन्न की। वैसे ही यहाँ पर सप्तम गर्भ को अन्यत्र स्थापन करने के लिए जगत् की कारणभूत योगमाया को आज्ञा दी।

कंस ने देवकी के छः पुत्रों को मारा और यादवों को दुःख दिया, उसका प्रतीकार[1] यही है कि कंस का तथा उसको इस कार्य में सहायता करने वाले असुर राजाओं का वध करना। दुःखों का मूल कारण कस था। अतः भगवान् ने प्रथम कंस का वध किया।

[1] बदला

भगवान् की दस प्रकार की शक्तियाँ हैं, उनमें से एक का नाम 'माया' है। वह माया तीन प्रकार की है – (१) जगत् की कारण रूपा–जिसको योगमाया कहते हैं, (२) व्यामोहिका – वह चित्‌रूपा है। (३) क्रिया रूपा – वह सत् रूपा है। अभी यहाँ पर योगमाया का प्राकट्य हुआ है। जिसकी आज्ञा हुई है। अन्य दोनों शक्तियों से दूसरे समय में कार्य लिया है।

श्लोक – गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलंकृतम्।।६½।।

श्लोकार्थ – हे कल्याणी देवी! गोप (गोपी) और गौओं से अलंकृत व्रज में जा।।६½।।

सुबोधिनी – आज्ञामेवाह गच्छ देवीति नवभिः। प्रथमतो व्रजं गच्छ। तत्र गता स्वास्थ्यं प्राप्स्यतीति। मथुरायां दैत्यावेशात्। तेषां च भगवान् मायारूप इतीयमपि तत्र प्रविष्टा तेषामेव कार्यं साधयेत्। अतः केवलं देवाश्रितं गोकुलमेव गच्छेत्याज्ञा। यतस्त्वं देवतारूपा न दैत्यहितकारिणी। अतस्तथा सम्बोधयति। व्रजपदेन जङ्ग.मत्वमुक्तम्। अतः स्थावरान्नगरादुत्कर्षः। ननु तत्र स्थिताना देवाना मायागमने व्यामोहसम्भवाद् वैपरीत्य स्यादितिशङ्क.ा वारयति। भद्र इति। त्वं कल्याणरूपा। देवाना या देवता कल्याणरूपा। ऐहिकसुखदा। सा मुग्धैरत्यन्त सम्मान्यत इति तदर्थमाह गोपगोभिरलंकृतमिति। गोपाश्च गोप्यश्च गोपाः। गोपाश्च गावश्च। ते उभये तस्य स्थानस्यालङ्क.रणभूतास्तैरेव तत्रत्या शोभा। योन्यस्तिष्ठति स तु तदनुगुण एवेति तेषामप्रतिबन्धो निरूपितः। अतो दर्शनादेव तत्र सुख निरूपितम्।।

अनुवाद – भगवान् ने योगमाया को आज्ञा दी कि मथुरा में दैत्य का आवेश है। इसलिए प्रथम तूं व्रज में जा। वहाँ तूं सुख प्राप्त करेगी। दैत्यों का भगवान् माया रूप है। जो माया वहाँ (मथुरा में) रहेगी तो दैत्यों का कार्य सिद्ध कर दे। इसलिए माया को कहा कि तूं देवाश्रित गोकुल में जा। कारण कि तूँ देवता रूप होने से दैत्यों को हितकारिणी नहीं है। इसलिए श्लोक में योगमाया को हे देवि! कहा है। 'गोकुल' को व्रज कहकर यह बताया है कि गोकुल जड़ नहीं है किन्तु चेतन रूप है। इसलिए स्थावर नगर[1] से इसकी उत्तमता दिखलाई है। यदि 'माया' व्रज में आयगी तो वहां के रहने वाले देवों को मोहित करेगी इस शङ्क.ा की निवृत्ति के लिये श्लोक में 'माया' को 'भद्रे' विशेषण दिया है। जिसका भाव है कि वह माया देवों की भी देवता होने से

---

[1] टिप्पणी मे प्रभु चरण आज्ञा करते हैं कि 'नगर' अभिमानी होने से 'स्तब्ध' होते है अत वे 'स्थावर' (जड) है।

कल्याण रूपा है। इस लोक के सुखों को देने वाली है। इस माया का सीधे सादे जीव बहुत सम्मान करते हैं। व्रज में गोप, गोपी और गौ रहते हैं वे सीधे सादे हे इसलिये माया का वहां सन्मान विशेष होगा। अतः भगवान् ने माया को व्रज में जाने की आज्ञा दी। ये गोपादि व्रज के अलङ्कार हैं इन्हीं से व्रज सुशोभित[1] हो रहा है। इनके सिवाय जो अन्य रहते है उन पर भी इनका प्रभाव पड़ता है जिससे उन अन्यों से शोभा में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है अतः व्रज के दर्शन मात्र से ही वहां सुख प्राप्ति होती है यह निरूपण किया है।।६½।।

श्लोकः – रोहिणी वसुदेवस्य भार्यास्ते नन्दगोकुले।
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि।।७।।

श्लोकार्थ – वसुदेवजी की स्त्री रोहिणी नन्दजी के गोकुल में है और कंस के उद्वेग[2] से पीडित दूसरी वसुदेवजी की स्त्रियां तथा अन्य स्त्रियाँ भी गुप्त स्थानों में रहती हैं।।७।।

सुबोधिनी – तत्र गतायाः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह रोहिणीति। वसुदेवस्य भार्या रोहिणी तत्रास्ते। स्थितौ कः सम्बन्ध इत्यत आह नन्दगोकुल इति। नन्दसम्बन्धिगोकुले। अनेन नन्दवसुदेवयोर्भ्रातृत्वं द्योतितम्। अत्र पादद्वयमधिकं किमिति तिष्ठतीत्याकाङ्क्षायां निरूपितम्। अन्याश्च स्त्रियो वसुदेवस्यान्येषां वा। याः कंससंविग्नाः सत्यो विवरेषु गुप्तस्थानेषु वसन्ति। भयदशाया तथैव स्थितिर्युक्तेति हिशब्दार्थः।।७।।

अनुवाद – माया का व्रज में जाने का क्या प्रयोजन था ? उसका कारण इस श्लोक मे बताते हैं। वसुदेवजी की स्त्री रोहिणी व्रज में (गोकुल में) रहती है कारण कि

---

[1] योजनाकार लालू भट्ट जी कहते हैं कि भगवान् ने माया को व्रज मे जाने की आज्ञा की जिसका गूढाशय यह है कि जैसे गोप और गौ तो व्रज को प्रकट रूप से सुशोभित कर रहे है किन्तु गोपिया जो साक्षात् श्रुतिरूपा है वे प्रभु से रासोत्सव मे सङ्गम कर रस प्राप्ति की आशा से व्रज मे स्थिति करती है और परस्पर प्रभु का गुण गान, करती हुई व्रज की शोभा बढाती हैं अतः वे ही मुख्यत व्रज की शोभा रूप हैं। प्रभु अपने लिये उनको प्रकट कर आप आविर्भूत हुवे है। गोपी व्रज की गुप्त रूप से भूषण हैं, कारण कि, शृङ्गार रस की पद्धति के अनुसार उनके साथ गुप्त रीति, से ही रमण प्रभु को इष्ट है। अत श्री शुकदेवजी ने श्लोक मे 'गोप गोभि अलङ्कृतम्' कहा है इसमे गोपी शब्द व्याकरण के नियमानुसार गुप्त रखा है। अत. जिस प्रकार गोपिएँ गुप्त प्रकार से शृङ्गारादि कर तथा गुण गान कर व्रज की शोभा बढाती है वैसे तूं भी वैसी ही होकर व्रज की शोभा की वृद्धि मे सहयोग दे। मुग्ध गोपाल तुम्हारा सन्मान भी करेगे।

[2] दु:ख

वह (गोकुल) नन्द का है इससे यह बताया कि वसुदेव और नन्द का परस्पर भ्रातृत्व सम्बन्ध है इस सम्बन्ध से ही रोहिणी वहां रहती[1] है। अन्य स्त्रियां वसुदेव की तथा अन्य यादवों की जो कंस से पीडित हुई थी वे भी गुप्त स्थानों में रहती हैं। भय की दशा से गुप्त स्थानों में रहना ही योग्य है यह भाव 'हि' शब्द सूचित करता है।।७।।

श्लोकः – देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत् सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय।।८।।

श्लोकार्थ – देवकी के जठर में मेरे 'शेष' संज्ञा (नाम) वाले धाम आये हैं उनको वहां से खींच के रोहिणी के उदर में स्थापित कर।।८।।

सुबोधिनी – ततः किमत आह देवक्या इति। जठर इति। इतरगर्भवैलक्षण्यार्थम्। तदिति प्रसिद्धम्। ततः सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सम्यङ् निवेशय। कि तद्गर्भरक्षायामित्याकाङ्क्षायामाह शेषाख्यमिति। शेष इत्याख्या यस्य। तस्मिन् नष्टे भूमिरेव निमग्ना भविष्यतीति। ननु तस्याकर्षणे नाशशङ्का स्यादित्यत आह मामकं धामेति। भगवत्तेजोरूप भगवतोपि स्थानभूतं वा न नश्यतीति।।८।।

अनुवाद – तदनन्तर क्या हुआ उसका वर्णन करते हैं। सब गर्भ माता के गर्भाशय में स्थिति करते हैं किन्तु यह सातवां गर्भ माता के अन्दर रहे हुए आकाश में अर्थात् जठर में स्थित हुआ है कारण कि अन्य गर्भ (बालकों) से यह विलक्षण विशेष लक्षण वाला अद्भुत, भगवान् का (धाम स्वरूप) गर्भ है। श्लोक में 'तत्' शब्द से सूचित किया है कि यह गर्भ मेरा धाम होने से प्रसिद्ध ही है। देवकी के जठर से इनको खींच कर रोहिणी के उदर में स्थापित कर। यहां से रोहिणी के उदर में स्थापन करने का कारण कंस से इनकी रक्षा करना है। यदि कंस इनको नाश[2] कर दे तो भूमि किसके आधार पर ठहरेगी ? इसीलिये यों करना आवश्यक है। यह मेरा तेज स्वरूप तथा धाम रूप है अतः खींचने से इनका नाश न होगा। इसलिये नाश की शङ्का करना व्यर्थ है।।८।।

श्लोकः – अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि।।९।।

[1] नव श्लोको मे दो पाद अधिक इसी दिखाने के लिये दिये हैं कि रोहिणी यहा रहती है। – सु०
[2] यह कहना केवल लौकिक दृष्टि से है, वास्तव में तो इसके स्पर्श मात्र से कस स्वय नष्ट हो सकता है।

श्लोकार्थ – हे शुभ स्वरूपे! अनन्तर में अंशों के भाग से (परिपूर्ण रूप से) देवकी के पुत्रत्व को प्राप्त करूंगा। और तूं नन्द की स्त्री यशोदा में उत्पन्न होगी।।६।।

सुबोधिनी – तर्हि स्थितावेव कंसभयाभावात् को दोष इति चेत्तत्राहाथाहमिति। अयं पुरुषोत्तमो योगमायामाज्ञापयति। भक्तिमार्गे तस्यैव सेव्यत्वात्। आरम्भे 'यदूनां निजनाथाना' मितिवचनात्। स चतुर्धात्र समायास्यति। तदर्थमाहाथ शीघ्रं तदनन्तरमेव। अहं पुरुषोत्तमः। अंशानां वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां भागेन विभागेन चतुर्धा कार्यकरणाद् देवक्याः पुत्रतां प्राप्स्यामि। भागेनेत्येकवचन प्रद्युम्नांशेनैव पुत्रत्वमितिज्ञापनार्थम्। अथाहमितिसन्दर्भेण यथा त्वं गमिष्यस्यन्यत्रोत्पन्नान्यत्र तथाहमपीति ज्ञापितम्। पुत्रतामिति लोकप्रतीत्या तद्धर्मवत्त्वं ज्ञापितं नत्वहं पुत्रो भविष्यामि। शुभ इतिसम्बोधनेन त्वद्गमनेन मद्रमणस्थानं शोभायुक्तं भविष्यतीत्यग्रिमाज्ञापने हेतुकथनार्थं तस्या भगवदेकशरणाया वैकुण्ठे केवलं स्थातुमयुक्तमिति। तामपि जननार्थमाज्ञापयति त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसीति स्तन्योत्पादनार्थं मोहजननार्थं मारणार्थं च।।६।।

अनुवाद – यदि वह (सातवां गर्भ) आपका तेज रूप है इनको वास्तव में कंस नाश नहीं कर सकता है, यहां ही स्थित हो तो क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि इस श्लोक में जो माया को आज्ञा देते हैं वे ये पुरुषोत्तम हैं, कारण भक्ति मार्ग में वे ही सेव्य हैं। आरम्भ से ही कहा है कि 'यदूनां निजनाथानाम्'। वे पुरुषोत्तम यहां चार प्रकार से (चार व्यूहात्मक स्वरूपों सहित) पधारेंगे। इसलिये कहते हैं कि 'अथ' शीघ्र वा आप इस सप्तम गर्भ को ले जाओगी इसके अनन्तर ही, मैं पुरुषोत्तम, चार प्रकार के कार्यों को पूर्ण करने के लिये, अंशों (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध) के विभाग से, देवकीजी के पुत्रत्व को प्राप्त करूंगा अर्थात् पुत्र रूप से प्रकट होऊंगा। यहां श्लोक में 'अश भागेन' एक वचन का आशय यह है कि भगवान् ने देवकीजी के यहां 'प्रद्युम्न' व्यूह रूप से पुत्रत्व अङ्गीकार किया है। श्लोक में 'अथ अहम्' कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् माया को कहते हैं कि जैसे तू एक स्थान पर, यशोदा के यहां प्रकट होकर अन्य स्थान पर देवकी के यहां जायगी। उसी प्रकार मैं भी एक स्थान पर देवकीजी के यहां प्रद्युम्नांश से प्रकट होकर अन्य स्थान पर यशोदाजी के पास जाऊंगा। श्लोक में 'पुत्रतां' पद कहने का तात्पर्य यह है कि मैं लोकदृष्टि से अपने में पुत्रपने को दिखाता हूँ वास्तव में तो मै किसी का पुत्र नहीं हूँ और नहीं होऊंगा। माया का विशेषण 'शुभे' शब्द श्लोक गें दिया है उसका आशय यह है कि तेरे गोकुल में जाने से मेरा रमण

स्थान गोकुल शोभा युक्त होगा। पहले जाने का यही हेतु है कि गोकुल को शोभा युक्त करना और यह माया वह है जिसका केवल भगवान् ही एक शरण है वैसी माया को वैकुण्ठ मे अकेली छोडना भी अयोग्य है। इसलिये माया को कहा तूं नन्दपत्नी यशोदा में उत्पन्न होगी। यशोदा के यहा क्यों उत्पन्न होगी, उसका कारण बताते हैं कि माया को वहां (१) स्तन्य उत्पन्न करना है, (२) मोह को प्रकट करना है मोहित करना है और मारने का कार्य करना है।।६।।*

श्लोकः — **अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम्।**
धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदाम्।।१०।।

श्लोकार्थ — तूं सकाम पुरुषों को वर देने में समर्थ है और सर्व प्रकार के कामनाओं की पूर्ति का वर देने वाली है, अतः मनुष्य धूप, उपहार और बलि से तेरी पूजा करेंगे।

सुबोधिनी — स्तन्योत्पादनार्थं मोहजननार्थं मारणार्थं च यद्यप्युत्पाद्यते तथापि तस्यास्त-दनिष्टमिति तदनुक्त्वा फलान्तरमाहार्चिष्यन्तीति। मनुष्या इति। देवांशा दैत्यांशाश्च निवारिता। देवांशास्तु भगवत्सेवका एव। दैत्यांशास्तु न भजन्त एव। अर्चनायां फलं हेतुः। सर्वासां कामनानां वराणामीश्वरीमिति। काम्याः सोपाया विषयाः। वरा अनुपायाः। स्त्रियाः साक्षात्सेवा तस्या अपि बाधिकेति तन्निवृत्त्यर्थं धूपोपहारबलिनेति। पूजायां साधनत्रयं निर्दिष्टम्। धूपोदूरादेव सम्भवति। उपहारश्च। दीपस्तु स्वतः प्रकाशमानाया उपयोगी न भवतीति नोक्तः। बलिः पशूनां दानम्। पूर्वं काम्यादीना प्रभुत्त्व उक्तेप्यदातृत्त्वेभजनीया स्यादिति तद्दातृत्वमपि तस्यां भगवान् स्थापयति सर्वकामवरान् प्रकर्षेण ददातीति सर्वकामवरप्रदा।।१०।।

---

*इस ६ वे श्लोक पर प्रकाशकार गो. पुरुषोत्तमजी के प्रकाश का सारांश।

माया का प्राकट्य केवल कस के भय निवारण के लिये नहीं है किन्तु भगवान् की सेवा के लिये भी है। माया, अनेक प्रकार की एव अश सम्बन्धिनी है अत सर्वफल दात्री नहीं है। इसलिये स्वयं भगवान् का प्राकट्य आवश्यक है। भगवान्चतुर्विध कार्य करने के लिए चतुर्व्यूह स्वरूप सहित प्रकटे हैं। प्रत्येक व्यूह का कार्य भिन्न है और प्रकट होने का कारण भी भिन्न है। जैसे कि 'प्रद्युम्न' पुत्र रूप से प्रकट हुए और उसका कारण पृश्नि और सुतपा को दिया हुआ वरदान था। 'सङ्क.र्षण' धर्म रक्षण कार्य के लिये प्रकटे और उसका कारण भूमि और देवताओ की प्रार्थना है, 'अनिरुद्ध' सर्व प्रकार के भक्तो के मोक्षदान रूप कार्य के लिये प्रकटे जिसका कारण भक्तो को मुक्ति देने की भगवान् की इच्छा है। 'वासुदेव ज्ञानोपदेश कार्य तथा देवकी की रक्षा के लिये प्रकटे, यहा भगवदिच्छा ही कारण है। भगवान् और चार व्यूह स्वरूपो के एक ही स्वरूप में दर्शन होने से लोक भगवान् को ही पुत्र समझते है किन्तु भगवान् किसी के पुत्र नही है। 'पुत्रत्व' तो प्रद्युम्न व्यूह मे है अत प्रद्युम्न व्यूह ही पुत्र रूप से देवकी के यहा प्रकटे है। जैसे परशुराम मे ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व दोनो धर्म थे किन्तु ब्राह्मणत्व के कारण ही भार्गवत्व ओर पुत्रत्व है। न कि क्षत्रियत्व मे पुत्रत्व का भार्गवत्व है क्षत्रियत्व तो युद्ध मे प्रकट होता है क्योंकि वह युद्ध के लिये है।।६।।

अनुवाद – स्तन्योत्पादन, मोह उत्पन्न करना और मारना ये कार्य माया को करने हैं किन्तु ये कार्य माया को इष्ट[1] न होवे और इससे वह उत्पन्न होना नहीं भी चाहे तो इसलिये भगवान् माया को कहते हैं कि तूं जाकर ये कार्य करेगी तो सर्व मनुष्य तेरी पूजा करेंगे। जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं, जगत् में जो देवांश हैं वे तो भगवान् के सेवक हैं और जो दैत्यांश हैं वे तो भजन करते ही नहीं हैं, शेष जो मनुष्य हैं वे तेरी पूजा करेंगे कारण कि तूं सब कामनाओं की तथा वरों की ईश्वरी है। कामनाओं की पूर्ति, उपाय करने से होती है और वरदान बिना उपाय के होते हैं। माया की पूजा का प्रकार धूप, उपहार और बलि[2] देना ये तीनों, कार्य दूर से ही किये जाते हैं इसलिये बताया है (माया) स्त्री है उसकी भगवान् के समान साक्षात् श्री अङ्ग.. की सेवा नहीं हो सकती है। करने वाले की तथा स्वयं माया को भी बाधक है। पूजा में (दीप)[3] नहीं कहा इसका कारण यह है कि योगमाया स्वयं प्रकाश रूप है। ऊपर कहा कि सर्व कामनाओं तथा वरों की तूं ईश्वरी है। किन्तु ईश्वरी होते हुए भी यदि फलदातृत्व न हो तो वह पूजनीया नहीं हो सकती है अतः भगवान् ने उसमें फलदातृत्व भी स्थापन किया है जिसमें कहा है कि (सर्व काम वर प्रदाम्) सर्व प्रकार के कामनाओं तथा वरों को देने वाली है।।१०।।

श्लोकः – **नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि।**
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च।।११।।

श्लोक – **कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च।**
माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च।।१२।।

श्लोकार्थ – पृथ्वी पर मनुष्य आपके मन्दिर बनावेंगे और दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका ऐसे नाम धरेंगे।।११–१२।।

---

[1] पसन्द न आवे।
[2] पशुदान।
[3] लेख साराश – यदि स्वरूप सेवा कहते तो वाम मार्गवत् विकार उत्पन्न होता अत वह न कहकर दूर से ही धूपादि से अर्चनादि कहा। दीप की अपेक्षा प्रतिमा में होती है यह तो स्वयं प्रकाश स्वरूप है अतः दीप की आवश्यकता नही है।

सुबोधिनी – तस्याः सान्निध्यार्थं मन्त्ररूपाणि नामानिस्थानान्याह नामधेयानीति। कुर्वन्तीति वर्तमानसामीप्ये। नामस्वेव स्थानान्यपि प्रसिद्धानि भवन्ति। चकारादधिष्ठानानि। नरा इति पूर्ववत्। भुवीति स्थापनार्थम्। नामान्याह दुर्गेति। सर्वत्रेतिशब्दो मन्त्रदेशभेदेन प्रसिद्धिप्रतिपादनार्थः। दुर्गा काश्यां प्रसिद्धा। भद्रकाल्यवन्त्याम्। विजयोत्कले। वैष्णवी महालक्ष्मीः कुल्हापुरे। चण्डिका कामरूपदेशे। मायाशारदे उत्तरदेशे। अम्बिकाम्बिकावने। कन्यका कन्याकुमारी। अन्यान्यपि प्रसिद्धानि स्थानानि तथैव मन्त्रा ज्ञेया ।।११–१२।।

अनुवाद – योगमाया के सान्निध्य[1] बनाने के लिये उसके मन्त्र, रूपनाम तथा स्थान का वर्णन दो श्लोकों में करते हैं। श्लोक में (कुर्वन्ति) यह क्रिया वर्तमान काल की है किन्तु संस्कृत के व्याकरण के अनुसार यह क्रिया, जो कार्य जल्दी होने वाला हो उसके लिये भी दी जाती है अतः यहां इस क्रिया का अर्थ किया जायगा (करेंगे) आपके नामों के साथ स्नान (मन्दिर) भी प्रसिद्ध होंगे। श्लोक में दिये हुए (च) शब्द से (अधिष्ठान) (प्रतिमा) का भी निर्देश किया है। इसके साथ (भुवि) (पृथ्वी पर) शब्द देने का भाव यह है कि मनुष्य[2] आपकी प्रतिमाओं को पृथ्वी पर स्थापन करेंगे। नाम मन्त्र का वर्णन करते हैं – दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका। नामों के साथ श्लोक में (इति) शब्द दिया है जिसका तात्पर्य है कि वे, सर्वत्र मन्त्र तथा देश भेद से प्रसिद्ध है। जैसे कि (दुर्गा) काशी में, भद्रकाली अवन्ती (उज्जैन) में, विजया उत्कल (उड़ीसा) में, वैष्णवी (महालक्ष्मी) कोल्हापुर में, चण्डिका कामरूप (आसाम) में, माया और शारदा उत्तर प्रदेश में, अम्बिका आम्बिका वन में, तथा कन्यका कन्या कुमारी में प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार जैसे अन्य स्थान प्रसिद्ध हैं वैसे ही अन्य नाम मन्त्र भी प्रसिद्ध समझने चाहिये।।११–१२।।

श्लोकः – गर्भसङ्कर्षणात् तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि।
रामेति लोकरमणाद् बलभद्रं बलोच्छ्रयात्।।१३।।

---

[1] समीपता।

[2] इस श्लोक मे दिये हुए नर (मनुष्य) शब्द का भाव भी नहीं समझता जो १० श्लोक मे दिया है। अर्थात् आपके मन्त्र रूप नाम तथा जिनमे आपकी प्रतिमा स्थापन होगी उन मन्दिरो की सेवा केवल मनुष्य करेगे, देव एवं असुर नही करेगे।

गो. वल्लभलालजी लेख मे कहते है कि सुबोधिनी में (अपि) (भी) शब्द देने का भाव है कि शेष मे सङ्कर्षण व्यूह के साथ वसुदेव व्यूह भी है। किन्तु वह गर्भ के स्थिति के समय मे नही है व्यवहार के समय मे है।

श्लोकार्थ – गर्भ के खींचने से उनको पृथ्वी पर सङ्क.र्षण कहेंगे। जगत् को रमण कराते आनन्द देते हैं इसलिये उनको राम कहेंगे है। विशेष बलवान् होने से बलभद्र कहेंगे।

सुबोधिनी – एव तस्या नामान्युक्त्वा शेषस्यापि नामान्याह गर्भसङ्क.र्षणादिति। गर्भरूपस्य तस्य सङ्क.र्षणात् सङ्क.र्षणः सम्यक् कर्षणं यस्येति। प्राहुरितिप्रमाणम्। भुवीत्यवतारदशायामेव। वस्तुतस्तु सङ्क.र्षणश्चतुर्मूर्तेर्भगवतो द्वितीयः। सोप्यत्राविष्टस्तथापि लोका गर्भसङ्क.र्षणादेवसङ्क.र्षणं वदन्ति। नामान्तरमाह रामेति। लोकस्य रमणं यस्मात्। रमयतीति रामः। राम इति वक्तव्येविभक्ति कनिर्देशोसम्मत्यर्थः। सम्बुद्धिरूपो वा व्यवहारार्थः। बलभद्रमपि प्राहुर्बलेन भद्र इति। बालोच्छ्रयात्। न तु बलकार्यात्।।१३।।

अनुवाद – योग माया के नाम कहकर इस श्लोक में शेष के नाम भी कहते हैं। शेषजी को अवतार दशा में पृथ्वी पर सङ्क.र्षण कहेंगे, कारण कि इनके (गर्भ) काल में योगमाया ने इनको खींचकर रोहिणी के उदर में स्थापित किया था। वास्तव में तो भगवान् के चतुर्व्यूह रूप चार स्वरूपों में से द्वितीय व्यूह स्वरूप सङ्क.र्षण भी इनमें प्रविष्ट हैं अतः यह शेषजी सङ्क.र्षण हैं किन्तु लोक में गर्भ खींचने से इनको सङ्क.र्षण कहेंगे। लोक जिनसे आनन्द पाते हैं और जो लोग को रमण कराते हैं अतः उनका दूसरा नाम राम है। श्लोक में (राम) शब्द विभक्ति कि बिना दिया गया है इसका तात्पर्य यह है कि यह नाम भगवान् को रुचिकर नहीं है अथवा (राम) शब्द संबोधन रूप होने से यह नाम व्यवहारिक है। शेषजी ने बल के कार्य किये इसलिये इनका नाम बलभद्र नहीं है किन्तु विशेष बलवान् होने से बलभद्र कहे जाते हैं।।१३।।

श्लोकः – सन्दिष्टैवं भगवता तथेत्योमिति तद्वचः।

प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत् तथाकरोत्।।१४।।

श्लोकार्थ – इसी प्रकार भगवान् ने योगमाया को आज्ञा दी, आज्ञा के वचनों को सादर स्वीकार कर, प्रभु की प्रदक्षिणा करके वह पृथ्वी पर गई और वहाँ जाकर उसने आज्ञानुसार कार्य किया।।१४।।

सुबोधिनी – ईश्वरवाक्यादादेशानन्तरमेव तथा कृतवतीत्याह सन्दिष्टैवमिति। भगवतेत्य–नुल्लङ्घनार्थम्। तथेति करणार्थं जननार्थ च। ओमिति पूजाद्यर्थम्। तस्य भगवतो वचः परिगृह्य परिक्रमण कृत्वा गा भूमि गता सती तथैवाकरोत्।।१४।।

अनुवाद – भगवान् की आज्ञा के अनन्तर माया आज्ञा अनुसार कार्य करने लगी जिसका वर्णन करते हैं। मूल श्लोक में माया को आज्ञा देने वाले के लिये 'भगवान्' शब्द दिया है वह इसीलिये है कि उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता है। और 'तथा' शब्द जैसी भगवान् की आज्ञा गर्भ सङ्क.र्षण तथा अपने (माया के) जन्म लेने के लिये हुई वैसा ही करने के वास्ते दिया है एवं 'ओम्' शब्द पूजा के लिये दिया है। इसी से आज्ञा स्वीकार कर भगवान् की प्रदक्षिणा कर, योगमाया पृथ्वी पर गई और आज्ञा को पालने लगी।।१४।।

श्लोक – गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया।
अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः।।१५।।

श्लोकार्थ – योगमाया ने देवकीजी का गर्भ रोहिणीजी में स्थापित किया तब लोक चिल्लाने लगे कि अहो देवकीजी का गर्भ विस्रंसित[1] हो गया।।१५।।

सुबोधिनी – तत् सर्वं भगवन्निर्दिष्टं तत्कार्यं लोके प्रसिद्धं जातमित्याह गर्भे प्रणीत इति। गर्भे प्रकर्षेण नीते रोहिण्युदरं प्रापिते। योगनिद्रयेति कर्षणप्रापणयोः सर्वाज्ञानं निरूपितम्। अहो इत्याश्चर्ये। विस्रंसित इति 'स्रंसु ध्वंस्वधःपतने'। तेन पञ्चमो मासः षष्ठो वेति ज्ञापितम्। पौराः पुरवासिनः। अनेन सर्वप्रतीतिर्जातेत्युक्तम्। राक्षसैः कंसप्रेरितैः विस्रंसित इति विचूक्रुशुरत्याक्रोशं कृतवन्तः।।१५।।

अनुवाद – भगवान् ने योगमाया को जिस कार्य करने की आज्ञा दी थी वह सब कार्य लोक में प्रसिद्ध हुवा, जिसका वर्णन करते हैं। योगनिद्रा ने सुष्ठु प्रकार से गर्भ को लेजाकर रोहिणीजी के उदर में स्थापित किया। यह कार्य योगनिद्रा ने किया अतः सबको ऐसी निद्रा आ गई जो किसी को भी इस कार्य को (यहां से ले जाने और वहाँ पहुंचने की) सुधि न रही जिससे सबको आश्चर्य हुआ। मूल मे 'अहो' शब्द आश्चर्य प्रकट करने के लिये दिया है। श्लोक में विस्रसित[2] पद संस्कृत के 'स्रंसु' धातु से बना है जिसका अर्थ 'गिरना' होता है। इस शब्द को देने का भाव यह है कि जिस समय योगमाया गर्भ को ले गई उस समय, 'गर्भ' पाचवें या छट्टे मास का था। ''पौराः'' शब्द

---

[1] गिर गया

[2] निद्रा भी माया का रूप है, यहा सबको नीद लानी थी इसलिये 'योगनिद्रा' कहा। – अनुवादक

से पुरवासी चिल्लाने लगे यों कहने से यह बताया कि सबको यह खबर पड गई कि कंस के भेजे हुए राक्षसों ने देवकी जी का गर्भ गिरा दिया है।।१५।।

श्लोक – भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः।
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः।।१६।।

श्लोकार्थ – भक्तों को निर्भय बनाने वाले, विश्वात्मा, भगवान् भी वसुदेवजी के मन में अंशों के भाग से प्रविष्ट हुए।।१६।।

सुबोधिनी – अथाक्रोशानन्तरं विस्त्रंसनज्ञानानन्तरमेव भगवान् वसुदेवद्वारा देवक्यामागत इत्याहाविवेशेति सार्धाभ्याम्। निषेकाभावेपि पूर्व वसुदेवे ततस्तद्द्वारा देवक्यामागमनस्याय भाव। अत्र हि नृसिंहहंसादिवन् न प्राकट्यं किन्तु यदुवंशसम्बन्धित्वेन शूरपौत्रत्वेन वसुदेवपुत्रत्वेन। जीवे शरीरस्यैव वंशसम्बन्धित्वेन तस्य च निषेकजन्यत्वेन तथोत्पत्तिरुच्यते। ईश्वरे प्राकट्यस्यै– वोत्पत्तिपदार्थत्वाद् वक्ष्यमाणप्रकारेण वसुदेवद्वारा देवक्यामाविर्भाव उच्यते। अन्यथा देवक्यामेव तथोच्येतेत्यानकदुन्दुभेर्मनो भगवानाविवेशायोगोलके वह्निरिव। अन्यथानकदुन्दुभित्व व्यर्थ स्यात्। अंशाना भागेन विभागेन। केचित्तुअंशेन नारायणरूपेण भागेन केशरूपेण सह स्वयं प्रद्युम्न आविवेशेत्याहुः। पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव मायया सह जात। अन्यथा 'देवकीजठरभू'–रितिवत् 'तव सुत' इति कथ वदेयुः ? 'तन्मातरा वितिशुकवाक्यं च विरुध्येत। माययैव रूपान्तरमिति मायानिरूपणेनैव चतुर्थाध्याये तस्योत्पत्तिर्निरूपिता। उत्पत्तेरनन्तरमेव नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न' इतिसम्भ्रमः। एवं सति सर्वेषां चरित्राणामभिनिवेशो भवति। जननं मनस इति मन उक्तम्।।१६।।

अनुवाद – लोगों के कोलाहल तथा गर्भ गिरने का ज्ञान सबको हुआ तदनन्तर भगवान् वसुदेवजी के द्वारा देवकीजी में पधारे, जिसका वर्णन २।। श्लोकों में करते हैं। लौकिक प्रकार से, गर्भ धारण की क्रिया न होते हुए भी, भगवान् प्रथम वसुदेवजी के मन में प्रविष्ट हुए अनन्तर वहाँ से देवकीजी में आये। जब लौकिकवत् गर्भ धारण न हुआ तो वसुदेवजी के मन से देवकीजी के जठर में आने की क्या आवश्यकता थी ? इस शङ्का को मिटाने के लिये आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यहाँ भगवान् को नृसिंह तथा हंस के समान केवल अवताररत्व प्रकट नहीं करना था किन्तु अपना यदुवश से सम्बन्ध, शूरसेनजी का पौत्र बना तथा वसुदेवजी का पुत्रत्व भी प्रकट करना था अतः इस प्रकार देवकीजी के जठर में प्रविष्ट होना आवश्यक था। जीव का वशादि सम्बन्ध देह से ही होता है अत. वहां स्त्री पुरुष संयोग से वीर्य द्वारा जो प्रवेश होता है उसको उत्पत्ति कहते है। ईश्वर के प्राकट्य को ही उत्पत्ति कहते हैं। इसलिये ऊपर कहे हुए

प्रकार से ही वसुदेवजी द्वारा देवकीजी में भगवान् का आविर्भाव कहा गया है। यदि वह प्राकट्य भगवान् का न होता तो वसुदेवजी के मन में भगवान् का प्रवेश न होकर लौकिकवत् सीधा देवकीजी में होता वसुदेवजी के मन में भगवान् का प्रवेश है जैसे लोहे के गोले में अग्नि प्रवेश करती है वैसे हुवा है। जब वसुदेवजी का जन्म हुआ था तब देवों ने हर्ष में दुंदुभी बजाई थी कारण कि उनको मालूम था कि इनके यहा भगवान् प्रकट होंगे, तब हमारे संकट नाश होंगे अतः वसुदेवजी का नाम 'आनक दुंदुभी' पड़ा है। उस नाम को सार्थक करने के लिये भी भगवान् प्रथम वसुदेवजी के मन मे पधारे। अंशों (व्यूहों) के विभाग से भगवान् ने प्रवेश किया। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि चतुर्व्यूह रूप भगवान् ने इस समय एक ही प्रद्युम्न व्यूहरूप से वंश सम्बन्ध कार्य सिद्ध करने के लिये प्रवेश किया है। किसी किसी का मत है कि 'अंशेन–भागेन' यों पदच्छेद करके उनका अर्थ 'अंशेन' नारायण रूप और 'भागेन' केश रूप के साथ स्वयं प्रद्युम्न ने प्रवेश किया यों करना चाहिये।

पुरुषोत्तम तो नन्दगृह में माया के साथ ही प्रकट हुए हैं। यदि वहां प्रकट न हुवे होते तो, जैसे भगवान् के लिये 'देवकी जठर भूः' देवकी के जठर से प्रकट हुए हैं ऐसा श्रुतियों ने कहा है वैसे ही यशोदाजी को 'तव सुतः' तेरा पुत्र है इस प्रकार प्रमाण मूर्धन्य श्रुति रूप गोपिकाएँ कदापि नहीं कहती। जो भगवान् का प्राकट्य यशोदा के घर में न हुवा होता तो शुकदेवजी का 'तन्मातरौ' (उनकी दो माताएँ) यह कहना विरुद्ध हो जाता। चतुर्थाध्याय में माया के जन्म निरूपण से ही नन्दालय में 'भगवान्' की उत्पत्ति कही गई है। माया के कारण ही भगवान् की 'मनुष्य' रूप से प्रतीति हो रही है। उत्पत्ति[1] होने के अनन्तर ही पंचमाध्याय में 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने' श्लोक से भगवान् के प्राकट्य का महान् उत्सव मनाया गया है। इस प्रकार अर्थ करने से ही सर्व चरित्रों का

[1] गर्भ को ले जाने के बाद लोगो के कोलाहल (चिल्लाने) के अनन्तर।

समन्वय हो सकेगा। जनन[1] मन से हुवा है इस लिये मूल में 'मन' शब्द दिया है।।१६।।*

श्रीप्रभुचरण टिप्णीजी में आज्ञा करते हैं कि – आचार्य श्री में १६वें श्लोक के आभास में जो (अथा क्रोशानन्तरं) कहा है वह उपयुक्त ही है कारण कि प्रभु के हृदय में जो यह विचार था कि माया सप्तम गर्भ को ले जायगी, तदनन्तर शीघ्र ही मैं वसुदेवजी के मन द्वारा देवकी में प्रविष्ट होऊँगा उसकी श्री शुकदेवजी ने (गर्भप्रणीते[2]) इस श्लोक में स्पष्टता करदी है इस श्लोक में चिल्लाने का भी वर्णन किया हुवा है।

(टि०) आचार्य श्री ने सुबोधिनीजी में पुरुषोत्तम तो नन्दगृह में माया के साथ ही प्रकट हुए हैं, यह फक्किका[3] कही है। पुरुषोत्तम का प्राकट्य नन्दगृह में अवश्य मानना चाहिये। किन्तु वैसा मानने से उलझन यह आती है कि भगवान् वसुदेवजी के यहां भी प्रकटे हैं जब वसुदेवजी भगवान् को नन्दजी के यहाँ ले गये होंगे तब वहां दो स्वरूपों के दर्शन हुवे होंगे ? यदि पधराये हुए स्वरूप का नन्दजी के यहां प्रकट हुए स्वरूप में लीन होना माना जाय तो ले जाना ही व्यर्थ हो जाता। प्रभुचरण इस प्रकार की शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि जिस समय देवकी ने प्रभु की उस चतुर्भुज स्वरूप को छिपा लेने की प्रार्थना की थी उस समय नन्दगृह में प्रकट हुए स्वरुप ने बाल स्वरूप (प्राकृतवत् द्विभुज स्वरूप) से देवकी को दर्शन देते हुए उस अपने चतुर्भुज स्वरूप को अपने बाल स्वरूप में अन्तर्हित कर दिया। जिससे नन्दगृह में पधारने पद दो स्वरूपों के दर्शन की शङ्का व उलझन नहीं रही। उस चतुर्भुज स्वरूप को अपने में अन्तर्हित इसलिये किया कि वहाँ व्रज में भी इस स्वरूप द्वारा अनेक कार्य पूनता वध आदि करने थे।

---

[1] प्राकट्य।

* इस श्लोक पर जो टिप्पणी, प्रकाश, लेख और योजनाकार ने श्री सुबोधिनीजी की पक्तियों का आशव विशद किया है उसका साराश यहा दिया जाता है।

[2] गर्भ प्रणीते– १५ वॉ श्लोक में माया गर्भ को ले गई और लोग चिल्लाने लगे इस श्लोक को श्री शुकदेवजी ने इसीलिये कहा है कि इसके अनन्तर भगवान् पधारेंगे। इस आशय से आचार्य श्री ने आभास में 'अथा क्रोशान्तर' युक्त ही कहा है। – अनुवादक

[3] किसी विषय को साबित करने के लिये जो उक्ति कही जाय उसको 'फक्किका' कहते हैं।

पुरुषोत्तमजी प्रकाश कहते हैं कि – 'अंशभागेन' इस तृतीया विभक्ति के, कारण कारक होने से किनको यह शङ्का होती है, कि भूमि पर भगवान्, केवल चतुर्व्यूह स्वरूप से ही प्रकट हुए हैं। मूल पुरुषोत्तम स्वरूप से नहीं हुए हैं। इस शङ्का को आचार्य श्री सुबोधिनीजी में (पुरुषोत्तमस्तु नन्द गृह एवं मायया सह जातः") पुरुषोत्तम तो नन्दजी के घर में माया के साथ ही प्रकटे हैं, इस फक्किका द्वारा मिटाते हैं। इसके लिये प्रमाण भी दिये हैं कि यदि पुरुषोत्तम नन्दगृह में प्रकट न हुवे होते तो जैसे गोपीजनों ने 'देवकी जठरः भूः' कह कर भगवान् को देवकी का पुत्र माना है वैसे ही 'तव सुतः' कह कर यशोदाजी का पुत्र भी होना स्वीकार नहीं करती, किन्तु स्वीकार करने से सिद्ध है कि यशोदाजी के यहाँ प्रकट होने से ही उनको यशोदाजी का पुत्र कहा है। इसके सिवाय यदि भगवान् केवल देवकीजी के पुत्र होते तो श्री शुकदेवजी 'तन्मातरौ'[1] कहने की भूल कैसे करते ? अतः श्री शुकदेवजी ने 'तन्मातरौ' कह कर सिद्ध किया है कि उनका देवकी तथा यशोदा दोनों के यहाँ प्राकट्य हुवा है अतः उनकी दो माताएँ हैं। इस प्रकार आचार्य श्री ने पृथ्वी पर मूल स्वरूप का प्राकट्य दोनों स्थानों पर होना सिद्ध कर के इस शङ्का को मिटाया है कि मूल रूप से पुरुषोत्तम प्रकट नहीं हुए हैं। श्री सुबोधिनीजी में आचार्य श्री ने 'माययैव रूपान्तर' कहा है, जिसका आशय प्रकट करते हुए प्रकाशकार कहते हैं कि माया से कोई भगवान् का स्वरूप मायिक (झूठा–कल्पित) नहीं बन गया है किन्तु मूल में जो 'प्राकृतः शिशुः' कहा है उसका भाव आचार्य श्री ने इस पंक्ति से बताया है कि भगवान् जो आनन्द स्वरूप हैं उनको माया ने मनुष्यों की दृष्टि में प्राकृत जैसा दिखला दिया जैसे सीप में चांदी को भ्रान्ति रूपान्तर है। वैसे ही रस रूप परमात्मा में प्राकृतत्व की भ्रान्ति ही रूपान्तर है।

गो० वल्लभलालजी लेख में कहते हैं कि – श्री सुबोधिनीजी में 'जननं मनस इति मन उक्तम्' इस पंक्ति का अर्थ यह है कि 'उत्पन्न' करना मन का धर्म है इसलिये मूलं श्लोक में 'मन' शब्द दिया है। जिसका आशय स्पष्ट करते हुए लेखकार कहते हैं कि भगवान् वसुदेवजी के मन द्वारा ही देवकीजी में प्रकटे हैं अन्यत्र जीव के जन्म–प्राकट्य

---

[1] उनकी दो माताएँ हैं।

में वैसा नहीं होता है वहां तो मन में प्रथम काम उत्पन्न होता है जिससे स्त्री पुरुष से संसर्ग होकर वीर्य द्वारा जरायु में गर्भ स्थिति हो, देहादि बनते हैं तदनन्तर जीव उस देह में प्रवेश करता है इत्यादि, यहाँ इस प्रकार से न होकर भगवान् सीधे मन द्वारा देवकीजी के जठर में प्रविष्ट हो गये, इतना भेद है। और भगवान् आत्मभूत होने से स्वयं मन द्वारा पधारे हैं स्वयं देवकीजी ने भगवान् को धारण नहीं किया है। मूल में देवकीजी ने धारण किया है यह जो लिखा है वह केवल अल्पज्ञ लोगों की प्रतीति के लिये कहा है।

लालूभट्ट योजना में कहते हैं कि – जिस प्रकार वसुदेव के यहाँ भगवान् के प्राकट्य का वर्णन 'आविवेशांशभागेन' 'ततो जगन्मङ्गलमच्युतांश' 'अथ सर्व गुणोपेत' 'आविरासीत् यथा प्राच्यां' भागवत के इन उपरोक्त श्लोकों में किया हुआ है इस प्रकार मूल में नन्दरायजी के यहाँ प्राकट्य का वर्णन कहीं भी नहीं किया गया है, तो फिर, वैष्णव, नन्दरायजी के यहाँ पुरुषोत्तम का प्राकट्य क्यों वा कैसे कहते हैं! इस प्रकार पूर्व पक्ष (शङ्का) कर अनन्तर उसका उत्तर पक्ष कहते हैं। भागवत में इस प्रकार वसुदेवजी के यहाँ प्राकट्य का वर्णन इसीलिये किया हुआ है कि वहां वंश सम्बन्धी लीला करने के लिये प्रद्युम्न रूप से वसुदेवजी के मन द्वारा देवकीजी में प्रविष्ट हुए है, तदनन्तर व्यूह विशिष्ट पुरुषोत्तम अकस्मात् स्वयं वसुदेव देवकी के आगे प्रादुर्भूत हुए हैं। नन्दजी के यहॉ वश सम्बन्धी लीला न करने के कारण वहां व्यूह रूप से प्रवेश की आवश्यकता नहीं थी। अतः वहाँ केवल रसात्मा पुरुषोत्तम माया के साथ अपने अधिष्ठान वासुदेव व्यूह में स्थित हो रस स्वरूप होने से गुप्त रूप से प्रकटे हैं। जिसको आचार्य श्री सुबोधिनीजी में 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे एव मायया सह जातः[1]' फक्किका से प्रकट करते हैं उसकी सिद्धि में वहां सुबोधिनीजी में प्रमाण भी दिये हैं तथा माया ने कस के हाथ से अपने को छुडा आकाश में जाते हुए कहा कि 'जातः[2]' खलु तवान्तकृत् यत्र क्वचित् पूर्व शत्रुः, यदि गोकुल में जन्म न हुवा होता और केवल मथुरा में ही हुआ होता तो माया 'जातः' शब्द न कह कर 'गतः' शब्द कहती। क्योंकि 'जातः' का अर्थ है

[1] पुरुषोत्तम तो नन्दगृह मे माया के साथ ही जन्मे है।
[2] हे कस! तेरे पूर्व शत्रु जो तेरा अन्त करेगे वे कही प्रकट हो गये है।

'जन्मा', प्रकट हुआ' और गतः का अर्थ है 'गया'। मथुरा मे केवल जन्म होने से माया कहती है कि यहां से अन्यत्र कहीं गया है। ऐसा न कह कर उसने कहा कि कहीं प्रकट हुवा है इससे सिद्ध होता है कि भगवान् गोकुल में भी जन्मे हैं अतः माया ने यों कहा है।

इस प्रकार योजनाकार ने अन्य प्रमाण देकर 'पुरुषोत्तम प्राकट्य' मथुरा तथा गोकुल दोनों स्थानों पर सिद्ध किया है। माया के साथ प्राकट्य के कारण यशोदा माता को भी उस समय ज्ञान न हुवा। भगवान् के प्राकट्य का ज्ञान दो प्रकार से कहा गया है, एक अलौकिक रूप से अवतार, जो नन्दगृह में निशीथ[1] में हुआ, दूसरा व्यवहार विषयक प्राकट्य का ज्ञान नवमी को हुवा जिससे नन्दमहोत्सव नवमी में हुवा है।

श्लोकः — स बिभ्रत् पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः।
दुरासदोतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह।।१७।।

श्लोकार्थ — भगवान् के तेज स्वरूप को धारण करने से वसुदेवजी सूर्य के समान देदीप्यमान हो गये, जिससे उनके पास कोई भी न आ सकता था अतः वह दुर्धर्ष[2] हो गये।

सुबोधिनी — आविष्टे भगवति यादृशो जातस्तं वर्णयति स बिभ्रदिति। पुरुषस्य भगवतो धाम तेज आत्मनि बिभ्रदिति स्वतोपि स्वकान्तिसामर्थ्यादधिकानुभावो निरूपितस्तदा राजमानो जात। यथा रविरिति सर्वेषां प्रतीत्यर्थमेवोक्तम्। अथवा द्वादशबिम्बान्येव तिष्ठन्ति येषु पुनर्यदा प्रविशति तदा स प्रकाशते तद्वत्। तदा तस्य कंसादीना भयं निवृत्तमितिज्ञापयितुमाह दुरासद इति। कोपि निकटे गन्तु न शक्नोति न वाधिक्षेप कर्तुम्। अतः क्लेशो दूरे ज्ञापित। भूतानां सर्वेषामेव। दुष्टानां वा राक्षसादीनाम्। सम्यग् बभूवेति न कोपि परीक्षार्थमपि बलादप्यागन्तुं शक्त इत्युक्तम्। हेत्याश्चर्ये। सर्वेषु भगवान् यद्यपि वर्तते तथापि नैव तेजोन्यत्रेति।।१७।।

अनुवाद — जैसे देखने में आया वैसा वर्णन इस श्लोक में कहते हैं। वसुदेवजी स्वतः स्वयं अपनी क्रान्ति से तेजवान थे पुनः भगवान् के तेज के प्रवेश से उनमें तेज ग विशेष प्रभाव देखने में आया जैसे सूर्य के द्वादश (१२) बिम्ब है उन्हीं में जब भगवान् आधिदैविक रवि प्रवेश करते हैं तब वह १२ बिम्ब प्रकाशित होते है, वैसे ही वसुदेवजी

---

[1] आधीरात
अजेय

भी भगवान् के प्रवेश से विशेष प्रकाशित होने लगे किन्तु प्रियव्रत राजा के समान तेज नहीं हुवा तो रात्रि को दिन कर दे। इसलिये ही आचार्य श्री ने 'प्रतीत्यर्थ' एव कहा जिसका आशय है कि यह सूर्य का दृष्टान्त प्रतीति के लिये ही दिया गया है। जिससे वे वसुदेवजी दुरासद हो गये। इससे कंसादि का भय ही निवृत्त हो गया। कोई भी उनके पास आने की हिम्मत नहीं करता था अतः सब भूतों की तरफ से वा राक्षसों से जो क्लेश होने थे वे सब दूर चले गये। कोई परीक्षा के लिये बली से भी आ नहीं सकता था। जैसा तेज उस समय वसुदेवजी में था वैसा किसी में भी नहीं था, यों तो भगवान् का तेज सर्वत्र है क्योंकि भगवान् सर्व व्यापक है किन्तु वसुदेवजी जैसा तेज अन्यत्र नहीं है वैसा दिखाने के लिये मूल में 'ह' शब्द देकर आश्चर्य प्रकट किया है।।१७।।

आभास–षट्पुत्रवधात् पूर्वमेव सङ्कर्षणगर्भस्ततः प्रभृति निगडगृहीत एव। अतः प्रकारान्तरेण स्वस्मिन् विद्यमानं भगवन्तं देवक्यामानीतवानित्याह तत इति।

छः पुत्रों के वध से पूर्व ही सङ्कर्षण गर्भ की स्थिति हुई थी। उस समय से वसुदेवजी व देवकीजी कारागृह में ही थे। अतः वसुदेवजी ने अपने में विद्यमान (१७वें श्लोक में कहे हुए) भगवान् को अन्य प्रकार से देवकीजी में स्थापित[1] किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी।**
दधार सर्वात्मकलात्मभूतं काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः।।१८।।

श्लोकार्थ – अनन्तर, जगत् के मङ्गलकारी, सबके आत्मरूप जिसको शूरसेन के पुत्र वसुदेवजी ने श्रेष्ठ प्रकार से स्थापित किया है उस अच्युतांश को देवतारूप देवकीजी ने जिस प्रकार पूर्व दिशा चन्द्रमाजी को धारण करती है उसी प्रकार मन से धारण किया।।१८।।

सुबोधिनी – यद्यपि स्वस्मिन्नेव स्थापनमुचितं तथापि सर्वलोकरक्षार्थं देवक्या स्थापितवानिति ज्ञापयितुमाह जगन्मङ्गलमिति। जगतामेव कल्याणभूतम्। नन्वेवमागमनावेशप्रवेशनिर्गमनेष्वन्यथाभ

[1] विराजमान

न्यूनाधिक्यं वा भविष्यतीत्याशङ्क्याहाच्युतांशमिति। अच्युतश्चासावंशश्च। षष्ठ्यर्थेपि तदर्थमेव विशेषणम्। सम्यगाहितमिति। वैधदीक्षाप्रकारेण। वस्तुतस्तु समाधौ देवकीं भावयित्वा मनसैव तत्र साक्षात् तेजः स्थापितवान्। शूरसुतेनेति। विवेकार्थं पितृनाम्ना निर्देशः। देवीति। तस्या अन्तःप्रवेशेन समाधावपि तत्तेजोग्रहणसामर्थ्यं द्योतितम्। इयं हि देवतारूपा। देवतायाश्च तथासामर्थ्यं सिद्धमेव। अत एव दधार। नन्वेवं परधृतत्वे ब्रह्मत्वं भज्येतेत्याशङ्क्याह सर्वात्मकमिति। स हि सर्वेषामात्मभूतः। सर्वैरेव ध्रियत इति धारणं न दोषाय। तथापि प्रकृते चैतन्यं बीजं वा मानसं प्राप्य तिष्ठतीति दूषणमेवेति चेत् तत्राहात्मभूतमिति। देवक्यामात्मरूपेणैव प्रविष्टो न तु बीजे चैतन्ये वा प्रविश्य तत्र प्रविष्टः। यथा ज्ञानेन स्वात्मानं बिभर्त्यर्यमहमात्माधार इति तथैव भगवन्तमात्मभूतं धृतवतीत्यर्थः। अनेन शुद्धमेव स्वरूपं वसुदेवाद् देवक्यामागतमित्युक्तम्। चैतन्यबीजमन्त्रपक्षा अल्पज्ञानां प्रतीत्यर्थमुक्ताः। वृद्धिराकाशस्येव। क्रमेण मायोद्घाटनात्। तदा मायाया भगवतश्चोभयोरविकृता बुद्धिरुपपन्ना भवति। तदपि न स्वप्रयत्नाद् धारणलक्षणाद् भगवन्तमानीय धृतवती किन्तु यथा स्वत एवागतमुद्यन्तमानन्दकरं चन्द्रं काष्ठा पूर्वा दिग् बिभर्ति। धारणं च मनस्त एव। अविकृतमनसेतिज्ञापयितुं तसिल्प्रत्ययः। समाधाने धारणे च मन एव हेतुः।।१८।।

अनुवाद – यद्यपि आविष्ट हुवा भगवत्तेज वसुदेवजी को अपने में ही स्थापित करना चाहिये था, तो भी वसुदेवजी ने सर्वलोक की रक्षा के लिये देवकीजी में स्थापित किया। कारण कि वह भगवत्तेज लोगों का कल्याणकारी रूप है। वह तेज पहले वसुदेवजी में प्रविष्ट हुआ अनन्तर देवकीजी में आकर स्थापित हुआ। इस प्रकार वैकुण्ठ से यहाँ आने तथा वसुदेवजी के मन में देवकीजी में जाने आदि से उसमें अन्यथा भाव न्यूनता वा वृद्धि आदि विकार हुवे होंगे ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये मूल में उसका 'अच्युतांश' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि आने जाने आदि करने से उसके किसी भी अंश में च्युति नहीं होती है। अर्थात् उसमें कुछ भी करने से विकृति नहीं होती है, वह सदैव अच्युत च्युति[1] रहित है।

वैध दीक्षा के प्रकार से देवकीजी ने सम्यक् प्रकार से उस तेज को धारण किया। वास्तविक तो वसुदेवजी ने समाधि में देवकीजी की भावना कर मन से ही उन देवकीजी में साक्षात् तेज स्थापित किया। यहाँ मूल में वसुदेव नाम न देकर शूरसेन पुत्र कह कर विवेक दिखाया है। देवकीजी को भी 'देवी' इसलिये कहा है कि वह देवता रूप होने से

---

[1] कभी

अन्तःप्रवेश कर, समाधि में भी उस तेज को ग्रहण करने के लिये सामर्थ्य वाली है। देवता में इस प्रकार का सामर्थ्य स्वतः सिद्ध ही है। अतः समाधि के समय में तेज को धारण कर लिया।

इस प्रकार दूसरों के धारण करने से ब्रह्मपने में कमी हुई होगी ? इस शङ्का के मिटाने के लिये श्लोक में 'सर्वात्मक' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि वह तेज सबों की आत्मा है अतः सब उसको धारण करते हैं इसलिये धारण करने में कोई दोष नहीं, इससे ब्रह्मत्व में किसी प्रकार की कमी नहीं होती है। वैसा होने पर भी प्रकृत विषय में चैतन्य, बीज वा मन में प्राप्त होकर रहना दूषण ही है, यदि इस प्रकार का दूषण कोई देवे तो उसको मिटाने के लिये दूसरा विशेषण 'आत्मभूतं' श्लोक में दिया है। जिसका भाव है कि वह तेज देवकीजी में आत्मरूप से ही सीधा प्रविष्ट होकर पीछे देवकीजी में उसने प्रवेश किया है। जैसे ज्ञानी ज्ञान से अपनी आत्मा को अपने में धारण करता है वैसे ही देवकीजी ने भी आत्म-रूप भगवान् को धारण किया है। इससे शुद्ध स्वरूप ही वसुदेवजी से देवकीजी में पधारे हैं। चैतन्य, बीज वा मन्त्र द्वारा पधारना अल्पज्ञों को समझाने के लिये कहा गया है। उसकी वृद्धि आकाश की भांति हुई है जैसे घटाकाश, घट टूटने से मठाकाश हो जाता है, मठ टूटने से महाकाश हो जाता है वैसे ही जैसे गुरु प्रथम मन्त्र देवता को स्थापन कर, अनन्तर 'मन्त्रोपदेश' समय मे उस देवता को शिष्य में स्थापित करते हैं। ज्यों- ज्यों माया का अपसरण[1] होता है वैसे ही तेज भी स्वयं बढता हुआ दिखता है। वैसा ज्ञान होने से भगवान् और उसकी माया दोनों को अविकृत समझा जाता है।

इतना होने पर भी देवकीजी ने अपने प्रयत्न से भगवान् को धारण नहीं किया है किन्तु जैसे पूर्व दिशा में चन्द्रमा स्वतः आकर प्रकट होता है उसको वह दिशा धारण कर लेती है वैसे ही देवकीजी ने पधारे हुए अपनी आत्मारूप भगवान् को धारण किया

---

[1] हटना या दूर जाना।

है। वह धारण अधिकारी मन से किया है इसलिये श्लोक में 'मनसः' पञ्चमी* विभक्ति न देकर उसके बदले में 'मनस्तः' प्रत्ययान्त अव्यय पद देकर मन का अविकारीपन बताया है। लाने और धारण करने में मन ही हेतु है।।१८।।

श्लोकः— सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता नितरां न रेजे।
भोजेन्द्रगेहेग्निशिखेव रुद्धा सरस्वती ज्ञानखले यथा सती।।१९।।

श्लोकार्थ — वह देवकी, सर्वजगत् के निवासरूप भगवान् का निवास रूप हुई, तो भी, कंस के घर में रुकने से अर्थात् बन्धन में पड़ने से वैसी पूर्वतया आनन्द देने वाली प्रसन्न मन वाली नहीं हुई, जैसे घड़े में बन्द दीपक की लौ और अपनी विद्या न बताने वाले खल पुरुष का ज्ञान किसी को प्रकाशित नहीं करते हैं।।१९।।

सुबोधिनी — यथा वसुदेवो भगवदावेशे स्फुरद्रूपो जातो न तथा देवकी जातेत्याह सा देवकीति। पुरुषस्य हि तेजः स्वतन्त्रमिति विवेकादिसहभावाच्चिन्तया नाभिभूयते स्त्रियास्तु परतन्त्र विवेकादिरहितमिति चिन्ताभिभवान् न शोभते। यद्यपि सा देवकी देवतारूपा सर्वजगतां निवासभूतस्य भगवतो निवासभूताधिकरणभूता। न हि स्वस्मिन् विद्यमानेभ्यो लोमभ्याः स्वस्य भयं भवति। तथा भगवति सर्वमस्तीति न सर्वस्माद् भगवतो भयम्। स्वस्य तु सुतरामेव जगतो भगवतश्च भगवन्निमित्तं च न भयम्। एतादृश्यपि सती नितरां न रेजे। भगवच्चिन्तया स्वस्य सर्वेषां च शोकहेतुर्जातेति। बहिरन्तः— करणेपि चिन्तादिना मालिन्यात्। हेत्वन्तरमप्याह भोजेन्द्रगेहे कंसगृहे रुद्धा निगडैर्गृहीता। बहिरागत्य सर्वसुखदायिनी न जाता। यथा कुण्डे ज्वलन्नप्याग्निर्भस्मना रुद्धोन्तर्ज्वाल एव भवत्येवमियमपि चिन्तादिना व्यापृता सम्यङ् न प्रकाशयुक्ता जाता। स्वधर्मैरेवास्फुरणे दृष्टान्तः। अन्यनिरोधेनास्फुरणे दृष्टान्तान्तरमाह सरस्वती ज्ञानखले यथा सतीति। सती सन्मार्गप्रवर्तिनी सरस्वती भागवतादिरूपा ज्ञानखले ज्ञानवञ्चकेन्तः स्वस्यैव तोषं जनयति न बहिःप्रकाशेन सर्वेषां तथा कंसेन रुद्धा गृह एव प्रकाशमाना जाता न बहिः। असती तु स्वतोपि न प्रकाशते। यस्तु स्वयं जानाति सद्विद्यां परोपकारजननीमधिकारिणेपि परस्मै न प्रयच्छति स ज्ञानखलः। तेन स्वान्तरङ्गेष्वपि स्वस्मिन् भगवदाविर्भावस्य सङ्गोपनं सूच्यते।।१९।।

अनुवाद — भगवान् के प्रवेश से जिस प्रकार वसुदेवजी प्रफुल्लित प्रसन्न रूप वाले देखने में आये वैसी देवकीजी नहीं हुई। इसका वर्णन करते हैं, पुरुष का तेज

---

* शब्द, जब, विभक्तियों में दिया जाता है तब उसके रूप बदलते रहते हैं, अतः विभक्ति मे शब्द विकारी कहा जाता है किन्तु जब शब्द प्रत्ययान्त होने से 'अव्यय' होता है, तब वह अधिकारी हो जाता है कारण कि वह बदलता नही है। अतः यहाँ 'मनसः' पञ्चमी विभक्ति न देकर 'मनस्तः' अव्यय दिया है। — अनुवादक

स्वतन्त्र है कारण कि पुरुष में विवेक[1] आदि होने से चिन्ता कम होती है जिससे उसके तेज को स्वल्प चिन्ता दबा नहीं सकती है, किन्तु स्त्री का तेज परतन्त्र है क्योंकि स्त्रियों में विवेकादि अपूर्ण हैं जिससे उनमें चिन्ताएँ विशेष होती हैं जिनसे उनका तेज दब जाने से परतन्त्र है अतः देवकीजी वसुदेवजी के समान प्रफुल्लित प्रसन्न चित्त वाली न हुई। यद्यपि वह देवकी रूप है और सकल जगत् के निवासभूत भगवान् का अधिष्ठान[2] हुई है। अपने शरीर में उत्पन्न हुई रोमावली से अपने को भय नहीं होता है वैसे ही यह सर्व भगवान् में है अतः भगवान् को भी किसी से भय नहीं है।

अपने को तो भगवन्निमित्त जगत् से अथवा भगवान् से निपट भय नहीं है। वैसी देवकी होकर भी पूर्णतया शोभायमान न हुई। भगवान् की चिन्ता से अपने लिये और सबों के लिये चिन्ता का कारण बनी। देवकी में बाहिर और भीतर की दोनों चिन्ताओं से मालिन्य रहा। सुशोभित अथवा अप्रसन्न होने का दूसरा कारण बताते हैं कि, देवकीजी कंस के गृह में बन्धन में होने से बाहिर आकर सबको आनन्द नहीं दे सकती थी। जिस प्रकार कुण्ड के भीतर अग्नि जलती भी रहती है तो भी ऊपर राख आ जाने से प्रकाश नहीं दे सकती है। वैसे ही यह भीतर प्रकाशवती होते हुए भी चिन्ता से व्यग्र[3] होने से सम्यक् प्रकार से बाहिर प्रकाशयुक्त नहीं हुई। यह दृष्टान्त अपने धर्मों से ही प्रकाशमान न होने में दिया हुआ है। अब अन्य धर्मों के कारण अप्रकाश होने से दूसरा दृष्टान्त देते हैं। जिस प्रकार सन्मार्ग का प्रकाश करने वाली भागवतादि शास्त्र रूप सरस्वती ज्ञानखल[4], पुरुष के अन्तःकरण को ही आनन्द देती है बाहिर प्रकाश कर दूसरों को आनन्द नहीं देती है वैसे ही देवकीजी भी कंस के गृह में बन्धन में होने से घर के भीतर ही प्रकाश करने लगी, बाहिर नहीं। इससे अपने में प्रकट हुए भगवान् के आविर्भाव को अपने अन्तरङ्गों से भी छिपाने की सूचना प्राप्त होती है।।१६।।

---

[1] भले बुरे का ज्ञान

[2] रहने का स्थान

[3] घबराई हुई

[4] ज्ञानखल, उसे कहते हैं जो, परोपकार करने वाली सत् विद्या आप जानता है किन्तु दूसरे अधिकारी को भी नही देता है। – सुबोधिनी – १०२- १६।

श्लोक – तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम्।
प्राहै षमे प्राणहरो हरिर्गुहां ध्रुवं श्रितो यन् न पुरेयमीदृशी।।२०।।

श्लोकार्थ – भगवान् के अन्दर विराजमान होने के कारण उत्पन्न हुए प्रभा (प्रकाश) से भवन को प्रकाशित करती हुई और पवित्र स्मित वाली देवकी को देखकर कंस कहने लगा कि निश्चय से मेरे प्राणों को हरण करने वाले हरि ने इसकी गुहा में आश्रय किया है कारण कि यह (देवकी) पहले ऐसी शोभायमान नहीं थी।।२०।।

सुबोधिनी – येन सर्वेषां सुखदा न जाता सा तस्यापि न सुखदा जातेत्याह तां वीक्ष्येति। प्रभयोपलक्षिता ता वीक्ष्य कंस. प्राह। प्रभयैव ज्ञापिकयाजितोन्तरा यस्याः। भगवानस्या मध्ये वर्तत इति दृष्ट्वा प्रभयैव भवनं विरोचयन्तीम्। अजितत्वमपि दर्शने ज्ञातम्। अधृष्यत्वावगमात्। परमानन्दे हृदि प्रविष्टे प्राणी सर्वदु:खनिवृत्तो भवतीतिनिश्चयात्। अस्याः प्रसन्नवदनत्वमपि दृष्ट्वा भगवानस्तीति निश्चितवानित्याह शुचिस्मितामिति। शुचि विशुद्धं बाह्यविकाराजनकमन्तरानन्दोद्भूतं स्मितं यस्याः भगवत्कान्तिर्बहिर्निःसृता तामन्तर्बहिर्गृहं च प्रकाशितवतीत्यतो भगवानस्तीति निश्चित्य तस्य प्रयोजनान्तराभावं प्रकरणेन ज्ञात्वा वदति में प्राणहरो हरिरेष एवास्या उदरे प्रकाशते। ध्रुवं निश्चितम्। यत इय पुरेव न रूपेण सन्तोषादिना च। नन्वत्र भगवांश्चेत् सर्वैः कथं न दृश्यते तत्राह गुहां श्रित इति। उदरे विद्यमानत्वं तस्य न घटते। तस्याजीवत्वात्। तस्मादिदमुदरं गुहैव। 'गुहां प्रविष्टावात्माना' वितिन्यायात्। अतो हरिरेव। हरित्वादेव मे प्राणहरः।।२०।।

अनुवाद – देवकीजी जिस प्रकार दूसरों को सुख देने वाली नहीं है वैसे ही कंस को भी सुखदा न हुई। इसका वर्णन करते हैं। प्रभा से युक्त देवकीजी को देखकर कंस कहने लगा कि इसकी प्रभा से ज्ञान होता है कि इसके अन्दर अजित[1] भगवान् विराजमान है अतः कान्ति से घर को प्रकाशमान कर रही है तथा वह अजित होने से अधृष्य भी (उसका पराभव कोई नहीं कर सकता है) है अतः निश्चिन्त है। ऐसे परमानन्द प्रभु के हृदय में प्रविष्ट हो जाने से प्राणी के सर्व दुःख निवृत्त हो जाते हैं, यह निश्चय ही है। इसका (देवकीजी का) प्रसन्न मुख देखकर भी कंस ने यह निश्चय किया कि इसमें भगवान् हैं। मुख के दो विशेषण (शुचि) और (स्मित) दिये हुवे हैं इनका आशय यह है कि (शुचि) विशेषण से बताया है कि देवकी के भीतर आनन्द उत्पन्न हुवा है। भगवान् की कान्ति (प्रकाश) जो बाहिर निकली उसने बाहिर भीतर घर को प्रकाशित

[1] जिसको कोई न जीत सके।

कर दिया है अतः भगवान् है ऐसा निश्चय कर भगवान् के आने का अन्य कोई कारण नहीं है ऐसा प्रकरण से समझकर कंस कहने लगा कि निश्चय से मेरे प्राणों को हरण करने वाले हरि इस देवकी के उदर में प्रकाशते हैं। कारण कि यह (देवकी) आगे, इस प्रकार रूप से अथवा सन्तोषादि से प्रकाशित नहीं थी। यदि वहां भगवान् है तो सब को उनके दर्शन क्यों नहीं होते हैं – इस शङ्का को मिटाने के लिये कहा है कि (गुहां श्रितः) गुफा में विराजमान हैं। उनका उदर में होना नहीं बन सकता है कारण कि वह जीव नहीं है इस कारण से यह उदर गुहा ही है। उदर को गुहा कहना इसलिये संगत है कि शास्त्र में (गुहां प्रविष्टावात्मानौ) कहा है अतः मेरे प्राणों के हरण करने वाले होने से यह हरि ही है।।२०।।

श्लोकः – किमद्य तस्मिन् करणीयमाशु मे यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम्।
स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोयं यशः श्रियं हन्त्यनुकालमायुः।।२१।।

श्लोकार्थ – कंस ने विचार किया कि अब मैं शीघ्र इसके लिये क्या उपाय करूँ, यद्यपि मैं सब कुछ करने में स्वतन्त्र हूँ तो भी मेरे जैसा पुरुष ऐसा कार्य तो नहीं करे जिससे पराक्रम का नाश हो जाय। यदि इसको (देवकी को) अब मार डालूँ तो, स्त्री जाति, बहिन और गर्भवती का यह वध, यश, श्री और आयु को नाश करेगा।।२१।।

सुबोधिनी – ततः किमत आह किमद्येति। तस्मिन्निति। तस्मिन् भगवति प्राणहरणकार्ये वोपस्थिते पूर्वप्रतीकाराणां वैयर्थ्यादद्य किं कर्तव्यमितिविचारः। तूष्णीं स्थितौ प्राणान् हरिष्यत्येवात आशु मे किं कर्तव्यम्। इयं मारणीयेति चेत् तत्राह यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रममिति। यद् यद्यपि मल्लक्षणो जनोर्थतन्त्रः स्वकार्यतन्त्रः कार्यवशस्तथाविक्रमं न विहन्ति। स्त्रीवधे स्वस्य पराक्रमस्य हानिरेव। अथवायमुदरस्थो भगवान् यद् यस्मादर्थतन्त्रः कार्यार्थमेव समागतोतः स्वस्य विक्रमं न हन्ति न नाशयति। तूष्णीं न स्थास्यतीत्यर्थः। ननु तव जीवनादृष्टे विद्यमानेयं न मारयिष्यतीति तदभावे त्वन्यतोपि त्वया मर्तव्यमित्येतद्द्रोहोनुचितो यद्यपि तथापि जीवनहेतौ सत्येंवागन्तुकेन नाशहेतुना तत्सम्भवात् तत्प्रतीकारे प्रदीपस्येव जीवनसम्भवादस्या मारणमुचितमिति चेत् तत्राह स्त्रिया इति। विद्यमानेप्यदृष्टेत्युत्कटदुःकर्मकरणादायुः क्षीयेतैव। अतो विद्यमानेप्यायुषि मरणसम्भवान् नैतादृशं कर्म कर्तव्यम्। स्त्रिया वधो यशो हन्ति। स्त्रीरक्षार्थं शूराणां स्वप्राणपरित्यागो यशोहेतुः स्वसुर्वधः श्रियं हन्ति। सर्वो हि पुरुषः सोमात्मकः। लक्ष्मीश्च भगिनी। अतो भगिनीवधो धनादिसर्वसम्पत्तिनाशकः। गुरुमती गुर्विणी। सा हि प्राणिनामायुःपोषिका। तस्या वध आयुर्नश्यति। अतःक्रमेण तस्यां वधे स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या यशः श्रियमनुकालं तत्क्षणमेवायुश्च हन्ति।।२१।।

अनुवाद – उस भगवान् के पधारने पर तथा अब मेरे प्राणों के जाने का समय आने पर और आगे के उपाय बेकार होने पर मैं क्या करूं इस प्रकार कंस विचार करने लगा। शान्त होकर बैठ जाऊँगा तो यह मेरे प्राणों को हर ही लेगा, इसलिये मैं शीघ्र क्या उपाय करूँ। यदि देवकी को मारना चाहिये यह निश्चय कर इसको मारूँ तो इस कार्य करने में भी मैं स्वतन्त्र हूँ किन्तु स्वतन्त्र होकर भी मेरे जैसा पुरुष ऐसा कार्य तो न करे जिससे सामर्थ्य नष्ट हो जावे वा पराक्रम को कलङ्क लगे। स्त्री के मारने में अपने पराक्रम की हानि ही होती है। अथवा यह देवकीजी के गुहा रूप उदर में स्थित भगवान् स्वतन्त्र हैं व मेरे नाश के लिये आये हैं। अतः अपने पराक्रम को नाश नहीं होने देंगे अर्थात् चुपचाप नहीं बैठेंगे अवश्य मेरे प्राण ले लेगें। फिर शङ्का रूप में विचार करता है कि यदि मेरे अदृष्ट[1] में मेरी अभी आयु होगी तो यह नहीं मार सकेंगे अन्यथा दूसरा भी मार डालेगा इसलिये यद्यपि देवकी का वधरूप द्रोह करना उचित नहीं है तो भी इसका मारना यदि जीवन का हेतु हो तो, इसको मार डालना उचित है। और यदि दूसरा कोई आगामी नाश का हेतु होगा, तो उसका भी प्रतीकार[2] करने से, वायु से बचा कर दीपक के समान, जीवन की रक्षा संभव होने से, भी इस देवकी का वध करना उचित है यदि कोई ऐसा कहे तो उसको उत्तर कंस स्वयं देता है कि प्रारब्धानुसार आयु हो तो भी अति दुष्कर्म करने से आयु नाश हो जाती है अतः आयु होने पर भी मरण की संभावना से वैसा दुष्कर्म नहीं करना चाहिये। स्त्री जाति का वध यश का नाश करता है। स्त्री जाति की रक्षा करने से शूरवीरों का अपने प्राणों का त्याग यश का हेतु होता है। बहिन का वध, श्री लक्ष्मी का नाशक है। सर्वपुरुष सोमात्मक होने से श्री लक्ष्मी उनकी बहिन है। श्रीरूप बहिन का वध करने से धनादि सर्व प्रकार को सम्पत्ति का नाश होता है। फिर यह बहिन तो गर्भवती है। गर्भवती स्त्री प्राणियों के प्राणों की रक्षा कर रही है, उसक वध, तो वध करने वाले की आयु को नष्ट करने वाला है अतः देवकी के स्त्री, बहिन और गर्भवती होने से मारने से यश, श्री और आयु का क्रम से नाश होता है।

---

[1] प्रारब्ध

[2] उपाय

आभास – अस्तु वा प्रबलजीवनादृष्टं तथापि न हन्तव्येत्याह स एष इति।

अनुवाद – भले प्रारब्ध की प्रबलता से आयु हो वा न हो तो भी इसका वध करना चाहिये ऐसा कोई कहे तो इसका उत्तर कंस इस श्लोक में देता है।

श्लोकः – स एष जीवन् खलु सम्परेतो वर्तेत योत्यन्तनृशंसितेन।
देहेमृते तं मनुजाः शपन्ति गन्ता तमोन्धं तनुमानिनो ध्रुवम्।।२२।।

श्लोकार्थ – जो पुरुष अत्यन्त क्रूर कर्म करता है वह जीने पर भी मृतक है। वह जीवित है तो भी मनुष्य उसका धिक्कारते रहते हैं। यह देहाभिमानी मरने के अनन्तर अवश्य अन्धतम नरक मे जाता है।।२२।।

सुबोधिनी – स प्रसिद्धोपि एष मल्लक्षणोपि जनः शौर्येण राज्यलक्ष्म्या च युक्तोपि जीवन्नेव सम्परेतोमृत यश श्रीगमने केवलं जीवनं मरणतुल्यमेवेति जीवन्नेव सम्परेतः। खल्विति निश्चये। योत्यन्तनृशंसितेन क्रूरकर्मणा वर्तेत जीवेत् स जीवच्छव इति सत्यम्। यतोमृत एव देहे त मनुजा शपन्ति 'म्रियतामयं दुरात्मेति। मृते वा 'सम्यगय दुरात्मा मृत इति'। एवमयं लोकधिक्कारसन्दग्धय परलोके चान्धन्तमो गन्ता। तनुमानिनः सम्बन्धिदेहाभिमानिनो ये नरका अन्धन्तमोन्तास्तानवश्य गच्छतीत्यर्थः। भगवत्सान्निध्याद् भगवदिच्छया तस्य तथाज्ञानमुत्पन्नम्। अतो भगवदिच्छया सर्वेषां ज्ञानप्रकारविशेषश्च ज्ञाने भासते। देवक्याः पुत्रा मारणीया इति प्रथममुपदेशेन ज्ञानोदयः। वसुदेवस्यापि तथाबुद्धि। अतः सर्वस्यापि सर्वज्ञानजनको भगवानेवेति कृष्णो भगवानेवैवांक्यैर्निश्चित। तदर्थमेवैतानि वाक्यानि।।२२।।

अनुवाद – कंस मन में विचार करता है कि वह भी प्रसिद्ध हो, मेरे जैसे लक्षणो वाला मनुष्य, राज्य की लक्ष्मी से युक्त होते हुवे भी यदि जीता है, तो भी मरे हुवे के समान है। कारण कि यश और श्री के चले जाने पर निश्चय से वह जीवन, मरण के समान ही है। यह कहना निपट सत्य है कि जो अत्यन्त दयाहीन, दुष्कर्म करते हुए, जीवन धारण कर रहा है वह जीता शव है। उस जीते शव (मुर्दे) को भी मनुष्य अपशब्द[1] कहते हैं, कि यह दुष्ट मर जावे तो अच्छा हो इत्यादि। जब वह मर जाता है तब कहते हैं कि अच्छा हुवा जो वह मर गया। इस प्रकार लोगों की इस धिक्कार से वह जीते रहने पर भी जलता रहता है और मरने के अनन्तर परलोक में अन्धतम नरक में

[1] गाली देते है

जायेगा। देहाभिमानियों को जो निकृष्ट[1] अन्धतम नरक प्राप्त होता है उसको भी निश्चय से वही मिलता है। कंस को इस प्रकार का ज्ञान भगवान् के सान्निध्य[2] होने से तथा उनकी इच्छा से प्राप्त हुआ है। अतः भगवदिच्छा से सबों को समय पर विशेष प्रकार का ज्ञान बुद्धि में आता है। जैसे देवकी के पुत्रों को मारना ही चाहिये वैसा ज्ञान कंस को प्रथम आया और वसुदेवजी की भी बुद्धि वैसी ही हो गई। अतः सब के, सर्व प्रकार के ज्ञान का जनक[3] भगवान् ही है इससे 'कृष्ण' भगवान् ही हैं, इस प्रकार के वाक्यों से ऐसा निश्चय हो जाता है। इसलिये कंस के मुख से अब इस प्रकार के वाक्य निकले हैं।।२२।।

श्लोक – इति घोरतमाद् भावात् सन्निवृत्तः स्वयम्प्रभुः।
आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरेर्वैरानुबन्धकृत्।।२३।।

श्लोकार्थ – भगवान् के साथ वैर करने वाला कंस यद्यपि देवकी का वध करने में समर्थ था, तो भी, यह वध कर्म अत्यन्त घोर है ऐसा समझ कर इस कर्म से निवृत्त हुआ और भगवान् के जन्म की प्रतीक्षा करने लगा अर्थात् बाट देखने लगा।।२३।।

सुबोधिनी – एवं विमर्शे यज् जातं तदाह इति घोरतमाद् भावादिति अयुक्तवध एव घोरः। तत्रापि भगिन्या घोरतरः। गुरुमत्या घोरतम इति सम्यङ् निवृत्तः नन्वन्यप्रेरणया कथं न मारितवानित्याशङ्क्याह स्वयम्प्रभुरिति। स्वयमेव प्रभुर्नान्योस्य प्रवर्तक इत्यर्थः। जननानन्तरं युद्धं कर्तव्यमिति तज्जन्म प्रतीक्षन्नास्ते। तर्हि भक्तो भविष्यतीत्याशङ्क्याह हरेर्वैरानुबन्धकृदिति। हरेः सर्वदुःखहर्तुरपि पूर्वजन्ममारणलक्षणवैरस्यानुबन्धं निमित्तं तत्सम्बन्धिनां वधादिरूपं करोतीति तथा।।२३।।

अनुवाद – इस प्रकार कंस के विचार करने के अनन्तर जो कुछ हुआ उसका इस श्लोक में वर्णन करते हैं – देवकी का वध करना अयोग्य है क्योंकि यह घोर कर्म है, उसमें भी बहिन का वध, विशेष घोर कर्म है पुनः गर्भवती का वध तो अत्यन्तमेव घोर कर्म है। इस प्रकार के विचार विमर्श[4] से कंस ने यह कर्म करना त्याग दिया। अपने विचार से तो छोड़ दिया किन्तु अन्य दुर्मन्त्री आदि की प्रेरणा से क्यों न मारा ? इसके

---

[1] सबसे नीचा
[2] बहुत पास
[3] पैदा करने वाला
[4] सोच विचार से

उत्तर में, श्लोक के अन्दर कंस को 'प्रभु' अर्थात् सब करने में स्वतन्त्र कहा है जिससे कंस ने किसी की भी प्रेरणा को नहीं माना। खुद स्वामी है इसका कोई दूसरा प्रवर्तक आज्ञा देकर काम कराने वाल नहीं है। वध से निवृत्त होकर भगवान् के जन्म होने की प्रतीक्षा करने लगा। क्या कंस भगवान् की भक्ति करेगा ? जो भगवान् के जन्म की प्रतीक्षा करता था ? इस पर कहते हैं कि भक्त तो उसको नहीं बनता था किन्तु कंस को हरि सर्व दुःखहर्ता से पूर्व जन्म के अपने वध का बदला लेना था इसीलिये प्रतीक्षा कर रहा था कि भगवान् पैदा होवे तो मैं उनका वध करूँ, तब तक उनके सम्बन्धियों का वध अपने नौकर, असुरों द्वारा कराने लगा।।२३।।

आभास – एवं वैरानुबन्धनेनापि भगवच्चिन्तने प्रमाणबलाभावेपि प्रमेयबलेनैव तस्य ज्ञानं जातमित्याहासीन इति।

अनुवाद – इस प्रकार कंस ने अपने असुरों द्वारा भगवान् के सम्बन्धियों का वध कराना प्रारम्भ किया, जिससे वैर दृढ़ होने लगा। वैर दृढ़ होने से अहर्निश कंस को सर्वत्र भगवान् का ही दर्शन होने लगा और भगवान् का ही स्मरण होने लगा। इस प्रकार का ज्ञान जो ज्ञानियों को प्रमाण बल से साधन द्वारा होता है वह इसको प्रमेय बल भगवान् की इच्छा से हो गया। उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भु जानः पर्यटन् पिबन्।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत्।।२४।।

श्लोकार्थ – बैठते, सोते, उठते, भोजन करते और पृथ्वी पर फिरते, जल पीते भगवान् का ही चिन्तन करता था जिससे कंस सर्व जगत् को ब्रह्मरूप देखने लगा।।२४।।

सुबोधिनी – आसीन उपविष्टः संविशन् शयनं कुर्वंस्तिष्ठन्नुत्थित इत्यवस्था उक्ता। क्रिया आह भुञ्जानः पर्यटन् पिबन्निति। एवं सर्वावस्थासु सर्वक्रियासु हृषीकेशं चिन्तयानः। स्वदर्शनार्थमेव सर्वेन्द्रियस्वामी तथा प्रेरितवान्। अतः कृष्णमयमेव जगदपश्यत्।।२४।।

अनुवाद – बैठते, सोते, उठते आदि अवस्थाओं में कंस को भगवान् का दर्शन और स्मरण होता था। भोजन, घूमने और पानी पीने आदि क्रियाओं में भी इसी प्रकार हरि का दर्शन एवं स्मरण होता था। जिससे सर्व अवस्थाओं तथा सर्व क्रियाओं में भगवचिन्तन ही करता था। वैसा क्यों हुआ इस पर कहते हैं कि सर्व इन्द्रियों के स्वामी

भगवान् ने अपने दर्शनार्थ इस प्रकार की अन्तःकरण में प्रेरणा की है। अतः यह जगत् कृष्णमय (कृष्ण रूप) देखने लगा।।२४।।

श्लोकः – ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः।
देवैः सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृषणमीडतुः।।२५।।

श्लोकार्थ – ब्रह्मा, महादेव, नारदादि मुनिगण तथा अनुचरों सहित देवता लोग वहाँ आकर, सुन्दर वाणियों से भगवान् की स्तुति करने लगे।

सुबोधिनी – एवं पूर्वाध्याये मदद्दुःखेन भगवच्चिन्तनमर्थादुक्तम्। कंसादीनामत्र। ब्रह्मादीना वक्तु स्तुतिलक्षणमाख्यानमाह ब्रह्मेति। अनेन सामान्यतः सर्वेषां निरोधोप्युक्तः। भगवदागमनं सर्वेषामेव ज्ञातमभूदिति वक्तु कंसादिगणनाभावाय च देवकीगृहे समागमनमुच्यते। ब्रह्मा। भवो महादेवः। चकारादन्येपि गुणाभिमोनिनो देवाः। अवताराश्च वामनादय इत्येके। मुनयः सनकादयः। नारदादयो भक्ताः। देवा इन्द्रादयः। अनुचरा गन्धर्वादयः। सर्वैः सह। गीर्भिः स्वानुकूलवाणीभिः। वृषणं कामवर्षिण वृषं धर्मं वा नयतीति। ईडतुर्ब्रह्मभवयोरेव मुख्यत्वात्। ऐडयन्निति पाठे सहोक्तानामपि कर्तृत्वेन ग्रहणम्।।२५।।

अनुवाद – पूर्वाध्याय में महत् दुख के मिष से भगवान् के चिन्तन का वर्णन किया है। इस अध्याय में कंसादिक के भगवच्चिन्तन का वर्णन, तथा ब्रह्मादिकों ने भगवान् की स्तुति द्वारा जो भगवान् का चिन्तन किया उसका वर्णन इसी अध्याय में हुआ है। इस प्रकार सबने जो भगवच्चिन्तन किया जिससे यह दिखा कि भगवान् ने सब का सामान्य निरोध किया है। ब्रह्मा आदि देवगण देवकी के गृह में इसीलिये पधारे कि सब को यह ज्ञान हो जावे कि देवकी के गर्भ में भगवान् पधारे हैं अतः ब्रह्मादि देवो ने कंसादिक की कोई परवाह नहीं की है। भगवान् गर्भ में पधारे तब जो देवगण स्तुति करने पधारे हैं उनके मुख्य नाम कहते हैं १. ब्रह्मा, २. महादेव और दूसरे भी गुणाभिमानी देव, सनकादिक मुनि, नारदादिक भक्त, इन्द्रादिक देवगण उनके अनुचर गन्धर्वादि देव ये सब मिल कर आये थे।

(कोई कहते हैं कि वामन आदि अवतार भी आये थे) आकर अपनी–अपनी अनुकूल वाणियों से भगवान की स्तुति करने लगे। यहाँ मूल श्लोक में 'ईडतुः' द्विवचन क्रिया दी गई है उसका आशय यह है कि स्तुति करने वालो में मुख्य ब्रह्मा और महादेव दो हैं। अतः द्विवचन दिया है। किन्तु किसी पुस्तक में 'ऐडयन्' बहुवचनान्त

क्रिया भी है जहाँ बहुवचन हों वहाँ समझना चाहिये कि सबों को स्तुतिकर्ता मान कर बहुवचन दिया है। भगवान् के लिये यहाँ श्लोक में 'वृषण' शब्द दिया है इसका अर्थ आचार्य श्री ने दो प्रकार से किया है। एक अर्थ कामनाओं की पूर्ति करने वाले भगवान् हैं और दूसरा अर्थ, धर्म को नियम से चलाने वाले भगवान् हैं।

श्लोकः— **सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।**
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।।२६।।

श्लोकार्थ — देवता कहने लगे कि आप सत्यव्रत[1], सत्यपर[2], त्रिसत्य[3], सत्य के[4] कारण, सत्य में[5] निहित, सत्य के[6] भी सत्य, ऋतु[7] और सत्यरूप नेत्र वाले और सत्य[8] स्वरूप हो वैसे आपके हम शरण आये हैं।।२६।।

कारिका — **कालात्मा भगवाञ्जात इति ज्ञापयितुं तथा।**
कलाभिः पञ्चदशभिः स्वपक्षख्यापकैः स्तुतिः।।१।।
पक्षपातस्तुतिर्ह्येषा देवानां हितकारिणी।
ध्रुवा तु षोडशी प्रोक्ता वृद्धौ वा तादृशो भवेत्।।२।।

कारिकार्थ — कालात्मा भगवान् प्रकट हुवे हैं, इसका ज्ञान कराने के लिये और अपने शुक्ल १५ दिन के पक्ष की प्रसिद्धि के लिये १५ श्लोकों से देवों ने स्तुति की है। यह देवताओं की कही हुई पक्षपात वाली स्तुति देवताओं का हित करने वाली है। १५ श्लोक में भगवान् की स्तुति की गई है और १६वें श्लोक में देवकीजी को सान्त्वना दी है अतः १६वीं कला ध्रुव है अथवा तिथि वृद्धि से १६ दिन भी होते हैं।।२५।।

कारिका व्याख्या — प्रश्नोपनिषद् में भगवान् को १६ कला वाला कहा है अतः यहाँ भी वही भगवान् १६ कला वाले पधारे हैं यह बताने के लिये उनकी १६ श्लोकों से

---

[1] आपका सङ्कल्प सत्य है।
[2] आपका द्वादश (१२) प्रकार का सत्य उत्कृष्ठ (श्रेष्ठ) है।
[3] आपके तीन लोक और काया भी सत्य है।
[4] आप भी सत्य के कारण (उत्पन्न कर्त्ता) हो।
[5] आपकी सत्य में स्थिति है।
[6] आप सत्य के आधिदैविक स्वरूप हो।
[7] ऋतु और सत्य नेत्रो से आप दृश्य होते हो।
[8] आपका स्वरूप भी सत्य है।

स्तुति की गई है। जिसमें १५ श्लोकों से देवताओं ने पक्षपात से अपने हित करने वाली स्तुति की है और १६वें श्लोक में जो स्तुति की है वह भक्तों के हित करने वाली होने से ध्रुवा (स्थिर) है। इस अध्याय में भगवान् अपने कालरूप सङ्कर्षण को लेकर देवकीजी में पधारे हैं उसका वर्णन है। कारण कि भगवान् को इस अवतार में पृथ्वी पर जो दैत्य नृपतिओं का भार बढ गया था वह उतारना था इसलिये कालरूप सङ्कर्षण स्वरूप को अपने साथ लाना आवश्यक था। स्वयं भगवान् ने गीता में (कालोऽस्मि लोक क्षयकृत्) श्लोक से बताया है कि मैं कालरूप (सङ्कर्षण स्वरूप) से भी प्रकट हुवा हूँ कारण कि स्वयं भगवान् तो सबकी आत्मा है अतः वे सर्व के हितकारी हैं उस स्वरूप से दैत्यों का भी नाश नहीं करते हैं। इस तत्त्व को देवताओं ने समझा था अतः यह गूढोक्ति कही कि हमारे हित के लिये पधारे हैं। काल दो प्रकार का है एक शुक्लपक्ष एक कृष्णपक्ष। शुक्लपक्ष देवताओं का हितकारी है औश्र कृष्णपक्ष दैत्यों का हितकारी है। प्रत्येक पक्ष में १५ दिन होते हैं अतः देवों ने १५ श्लोकों से स्तुति कर यह बताया है कि भगवान् हमारे हित के लिये पधारे हैं अब हमारे शत्रुओं का नाश अवश्य होगा इसलिये भगवान् काल स्वरूप सङ्कर्षण को लेकर आप स्वयं भी पधारे हैं अतः भक्तों का भी हित होगा।।१–२।।

सुबोधिनी – अत्र पञ्चदशभिर्भगवत्स्तोत्रमेकेन देवक्याः सान्त्वनम्। कालः पञ्चदशात्मा भवति। स एवावतीर्ण इति तैर्ज्ञातः। स द्विविधो भवति। दैत्यानां हितकार्यपि पञ्चदशः। देवानामपि। साधारणस्तु त्रिंशदात्मको भवतीति स्वपक्षपात्येव भगवानर्धेन निरूप्यते। स च पक्षपातः कालकृतश्चतुर्धा भवति। लोककृतः स्मृतिकृतः। स्मृतिर्हि लोकवेदात्मिका भवति। वेदकृतस्तृतीयः। भगवन्मार्गकृतश्चतुर्थः। चतुर्विधोपि प्रमाणप्रमेयसाधनफलैश्चतुर्धा। दैत्यकृतात् तस्य विशेषं वक्तुं तथोच्यते।

तत्र प्रथमं चतुर्भिः श्लोकैः प्रमाणप्रमेयसाधनफलान्युच्यन्ते। तत्र लोकसिद्धानि देवपक्षपातरूपाणि निरूप्यन्ते। लोके सत्यमेव प्रमाणम्। परिदृश्यमानं जगदेव प्रमेयम्। गुणाभिमानिनो देवा एव साधनानि। क्षेम एव फलम्। तत्रापि दैत्यपक्षव्यतिरेकश्च साधनीयः।

तत्र प्रथमं देवानां सत्यं दैत्यानामनृतं प्रमाणम्। अतः सत्यरूपो भगवानवतीर्ण इति निरूप्यते। सत्यमपि देवानां हितकार्यष्टविधं भवति। अंशतः षोडशविधम्। वेदे सत्यं पञ्चविधं निरूपितं 'सत्यं पर' मित्यत्र 'प्राजापत्यो हारुणि' रित्यत्रापि। यत् सत्यं तत् परं सर्वेभ्य उत्कृष्टम्। यद्वा सर्वोत्कृष्टं तत् सत्यम्। एवं सत्यत्वसर्वोत्कृष्टत्वयोरैक्यं प्रतिपादनीयम्।

अत एव सत्येन स्वर्गलोकाच् च्युतिः कदापि न भवतीत्यामुष्मिकफलोत्कर्ष उक्तः। ऐहिकेपि सतां सत्यमेव मूलं फलम्। अतः सत्यं प्रमाणप्रमेयसाधनफलरूपमिति ये देवपक्षपातिनस्ते सत्य एव रमन्ते। तथा च श्रुतिः 'सत्य परं परं सत्य सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच् च्यवन्ते कदाचन सता हि सत्यं तस्मात् सत्ये रमन्त' इति। तदत्रापि निरूप्यते।

लोके हि व्रतमुत्कृष्टम्। यस्तु यत् किञ्चन व्रतमातिष्ठति स पर इत्युच्यते। सत्यमपि। भगवतस्तूभयं सत्यम्। सत्यमेव व्रतं यस्य। तादृशं त्वां शरणं प्रपन्ना इतिसम्बन्धः। एवं व्रतसत्ययोरैक्यमुक्तम्। उभयोः परत्वात्।

अतः परं यत् परं लोके वेदे च द्वादशविधं निरूपितं 'सत्यं तपो दमः शमो दानं धर्म प्रजननमग्नयोग्निहोत्रं यज्ञो मौनं संन्यास' श्चेति तत् सर्वं भगवतः सत्यमेव। यथार्थमेव। न तु दैत्यानामिव तद् द्वादशविधमयथार्थम्। अत्र श्रुतिरनुसन्धेया पूर्वनिर्दिष्टा भगवतो व्रतानि 'कौन्तेय प्रतिजानीहि' 'द्विःशर नाभिसन्धत्ते' 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' 'साधवे हृदयं मह्य' मित्यादिवाक्यैः प्रतिपादितानि। लोकानुसारेण देवहितकारिणो नियाम्कं सत्यमेव अन्यथा ईश्वरः केन नियमितः स्यात्? यथा प्रकृते स्वसत्यवाक्यादेव समागतः।

लोके हि त्रयो लोकास्त्रय आत्मानो भूरादयः कायादयश्च। त उभयेपि त्रिशब्देनोच्यन्ते त्रयोपि सत्या यस्य। अनेन साधनफले एकीकृत्य निरूपिते। एवं चतुर्धाष्टविधो निरूपित उपपत्तिरूपः।

उत्पत्तिरूपमष्टविधं निरूपयति सत्यस्य योनिमित्यादि। यत् पूर्वमष्टविधं सत्यमुक्तं तस्य सर्वस्यापि योनिः कारणं भगवानेव कालात्मा। 'श्वो दास्यामी' त्युक्ते यदि श्वो न भवेद् वागसत्यैव स्यात्। एवं सर्वत्र।

न केवलं सत्यस्योत्पादकं किन्तु सत्यस्य रक्षकमपि। तदाह निहितं च सत्य इति। सत्ये नितरां हितः रक्षकः। स्वयं तत्र स्थित एव रक्षां करोतीति निहितपदसमुदायार्थोपि। एव सत्ये स्थित्वा सत्यं पालयतीत्यर्थः अनेन सत्यस्योत्पत्तिविचारे प्रमेय साधनं चोक्तम्। इतरावाद्यन्तयोः। चकार इममेवार्थमाह।

सत्यस्य प्रलयोप्यत्रैवेत्याह सत्यस्य सत्यमिति यथा 'पूर्णस्य पूर्णमादाये'ति। सत्य सत्य एव स्वाधिदैविके लीयते। सत्य एव प्रतिष्ठितम् सत्यं फलम्। तच्चाधिदैविकं सत्यं भगवानेव। अनने यो भगवति प्रतिष्ठितः स सत्यः। यः सत्ये स सत्यद्वारा भगवति प्रतिष्ठितो भविष्यतीत्युक्तम्। एवमुत्पत्तिस्थितिप्रलयप्रसङ्गे पञ्चविधं सत्यमुक्तम्। एतावता त्रयोदशधा क्रियाशक्तिः सत्यत्वेन निरूपिता।

ज्ञानशक्तिं सत्यत्वेन निरूपयति ऋतसत्ये नेत्रे यस्येति। ज्ञानशक्तिर्द्विविधा प्रमाणबलेन प्रमेयबलेन च। प्रमाण वेद। प्रमेयं भगवद्धर्मा। ऋतं सूनृता वाणी। वेदः सत्यप्रतिपादकः। अतः सत्यनिरूपणप्रस्तावेप्यृतनिरूपणम्। ऋतसत्ये नेत्रे प्रापके यस्येति भगवत्प्राप्तिर्द्विधा भवतीत्युक्तम्।

एव शक्तिद्वयं सत्यत्वेन निरूप्य धर्मिणं सत्यत्वेन निरूपयन्ति सत्यात्मकमिति। सत्यमेवात्मा स्वरूपं यस्य। यः सर्वानेव धर्मान् व्याप्य तिष्ठति स आत्मा। स सत्यमबाधितं भगवतः सद्रूपम्। स्वार्थे कः कं फलं वा। सत्यमात्मा कं सुखं च यस्य। सच्चिदानन्दरूपो भगवान्। चिदानन्दयोरपि सत्यरूपतेति तथोक्तम्। तादृशे च जीवैः कर्तव्यं शरणगमनमेव। प्रपन्ना इतिबहुवचनं सर्वेषामेव देवानां सत्यतया संरक्षार्थम्।।२६।।

अनुवाद – यद्यपि १६ वें श्लोक में भी (परः पुमान्) कहने से भगवान् की स्तुति है किन्तु मुख्य रूप से देवकीजी को सान्त्वना ही दी गई है और (परः पुमान्) भी देवकीजी को पूर्ण विश्वास हो इसलिये दिया है अतः आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यहाँ देवों ने १५ श्लोको से भगवान् की स्तुति की है और एक श्लोक से देवकी को सान्त्वना[1] दी है। काल पञ्चदशात्मा है, वे काल ही अवतीर्ण हुए हैं यों देवों ने जाना है। वह दो प्रकार का है; दैत्यों का हितकारी भी पञ्चदशात्मा (१५–दिन का) है और देवताओं का हितकरने वाला भी पञ्चदशात्मा (१५–दिन का) है। साधारण रीति से तो काल त्रिशंदात्मक (३० दिन का) है। अतः देवों ने अपने पक्षपाती ही प्रकटे हैं यों समझ भगवान् की अर्धकाल रूप (१५ दिन रूप) श्लोकों से स्तुति की है।

वह काल कृत पक्षपात चार प्रकार का है।

१–लोककृत २–स्मृतिकृत[*], ३–वेदकृत और ४–भगवन्मार्ग (भक्ति मार्ग) कृत है। इस प्रकार के होते हुए भी पुनः प्रत्येक प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल से चार प्रकार का है। जिससे काल षोडशात्मा[+] हो गया, दैत्यों का काल केवल पञ्चदशात्मक (कृष्णपक्ष) है। उसने (दैत्यों के काल से) देवताओं के काल की विशेषता षोडशात्मकता बताई।

---

[1] आश्वासन।

[*] स्मृतिकृत भी दो प्रकार का है, १–लौकिक और २–वैदिक। कारण कि स्मृति लोक और वेदात्मक होने से दो प्रकार की है।

१ लोककृत। ४ प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल।
२ स्मृतिकृत। ४ प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल।
३ रेदकृत। ४ प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल।
४ भगवन्मार्गकृत। ४ प्रमाण, प्रमेय साधन और फल।

[+] देवताओ का काल इस प्रकार षोडशात्मा है।

उसमें से (षोडश प्रकार में से) प्रथम चार श्लोकों से प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल वर्णन करते हैं। उसमें लोक सिद्ध, जो देवों के पक्षपात वाले हैं उनका निरूपण करते हैं।

लोक में (सत्य हो) प्रमाण है। परिदृश्यमान (जो जगत् देखने में आ रहा है) वह ही प्रमेय है। गुणों के अभिमानी देव ही साधन है। क्षेम ही फल है। इसमें और दैत्य पक्ष में भेद समझना चाहिए।

अब बताते हैं कि देवता सत्य को प्रमाण मानते हैं और दैत्य झूठ को प्रमाण मानते हैं। अतः देवता यह निरूपण करते हैं कि सत्यरूप भगवान् प्रकट हुए हैं। देवताओं का सत्य भी आठ प्रकार का है। वह सत्य पुनः अंशतः १६ प्रकार का है।

वेद में 'सत्य' पांच प्रकार का कहा है। 'सत्यं परं' इस श्रुति में और 'प्राजापत्यो हारुणिः' इस श्रुति में भी सत्य पांच प्रकार का कहा है। जो सत्य है वह पर है, सबसे श्रेष्ठ है अथवा जो सबसे श्रेष्ठ है वह सत्य है। इस प्रकार सत्यत्व और सर्वोत्कृष्टत्व का ऐक्य प्रतिपादन करना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार का सत्य का स्वरूप समझकर उस पर चलता है वह स्वर्ग[1] लोक को प्राप्त कर वहाँ से पुनः कदापि नहीं लौटता है। सत्य पर चलने वाले को यह आमुष्मिक उत्कृष्ट फल मिलता है। इस आमुष्मिक का फल की उत्कृष्टता[2] यह है कि जो वहाँ जाता है वह लौटकर नहीं आता है। इस लोक में भी सत्पुरुष सत्य को ही उत्तम फल समझते हैं। अतः सत्य ही प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल हैं। यों समझकर देव पक्षपाती अर्थात् जो दैवी जीव हैं वे सत्य में ही रमण करते हैं सत्य पर चलने को ही आनन्द समझते हैं और उससे ही प्रसन्न होते हैं। भगवती श्रुति भी यों कहती है जैसे कि – 'सत्यं पर परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सत्तां, हि सत्यं तस्मात् सत्ये रमन्ते' यह सत्य यहाँ निरूपण किया जाता है।

लोक में व्रत (दृढ संकल्प) को उत्कृष्ट कहते हैं जो कोई जो कुछ व्रत करता है वह पर (श्रेष्ठ) कहा जाता है। सत्य को भी पर (श्रेष्ठ) कहते हैं। भगवान् के तो दोनों

---

[1] यहाँ स्वर्ग लोक का अर्थ मुक्ति समझना चाहिए – अनुवादक

[2] विशेषता, उत्तमता।

(व्रत तथा सत्य) सत्य हैं जिनका सत्य ही व्रत है वैसे आपके हम शरण आये हैं। इस प्रकार दोनों पर (सबसे श्रेष्ठ) होने से सत्य और व्रत की एकता कही गई है।

अब जो 'पर' है वह लोक तथा वेद में १२ प्रकार का कहा है। जैसे सत्य तप, दम, शम, दान, धर्म, उत्पन्न करना, अग्नि अग्निहोत्र, यज्ञ, मौन और संन्यास। ये सब १२ ही भगवान् के सत्य हैं। न कि दैत्यों के समान असत्य है। इसकी सत्यता प्रथम कही हुई 'सत्यं परं' श्रुति को विचार में लाना। भगवान् के व्रत (दृढ़ संकल्प) से है। जैसे भगवान् आज्ञा करते हैं कि कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति हे कौन्तेय! मेरी तरफ से तूं जाके प्रतिज्ञा कर, कि मेरे[1] भक्त का नाश नहीं होता है। इसी प्रकार 'द्विशरं नाभिसन्धते' श्री रामावतार ने भी प्रतिज्ञा की है कि किसी भी लक्ष्य वेध करने के लिए एक ही दफा शर चढाऊँगा तथा 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' भगवान् कर्म फल को नहीं भोगते हैं एवम् सत्य से प्रकाशते हैं। 'साधवो हृदयं मह्यं' साधुजन मेरे हृदय हैं। इत्यादि वचनों से भगवान् के व्रत और सत्य उत्कृष्ट (सर्वोत्तम) कहे हुए हैं। लोक के अनुसार भी देवों के हितकारी भगवान् का नियामक सत्य ही है। यदि सत्य नियामक न होवे तो ईश्वर का नियामक कौन होगा ? जैसे कि इस सत्य के नियामकत्व के कारण ही भगवान् ने जो आने का सङ्कल्प किया था उसको पूर्ण करने के लिए आप पधारे हैं।

भगवान् के तीन लोक (भूः, भुवः और स्वर्लोक) तथा तीन आत्मा (शरीर, जीव और परमात्मा भी सत्य है। जिससे साधन और फल की एकता करके निरूपण किया। जिसमें यह उत्पत्ति रूप प्रभु) प्रमाण रूप एवं युक्तियुक्त (उपपत्ति) रूप से रूप सिद्ध कर दिखाये हैं।

अष्ट प्रकार की उत्पत्ति का निरूपण 'सत्यस्य योनिं' शब्द (विशेषण) से करते हैं। जो प्रथम अष्टविध (आठ प्रकार के) सत्य कहे हैं। उन सब आठों प्रकारों के सत्य का कारण भी कालात्मा भगवान् की है। 'श्वोदास्यामि' कल दूँगा—ऐसा कहा जाता है। यदि कल ही न हो तो वाणी असत्य हो जावे। किन्तु कल होता है जिससे वाणी सत्य हो जाती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

---

[1] भगवान् के

भगवान् केवल सत्य के उत्पादक[1] ही नहीं है किन्तु उसके रक्षक भी आप ही हैं। इसीलिए कहा है कि 'निहित च सत्ये' आप सत्य में स्थिति कर उसकी रक्षा[2] करते हैं। इससे सत्य की उत्पत्ति का विचार करते हुए प्रमेय और साधन दोनों कहे हैं। 'निहितं च सत्ये' इस पंक्ति के मध्य में जो 'च' शब्द दिया है उसका यह तात्पर्य है कि शेष, प्रमाण और फल 'ऋत सत्य नेत्रे' तथा 'सत्यात्मकं त्वां' इन दो विशेषणों से कहा है।

जैसे सत्य की उत्पत्ति और रक्षा का कारण भगवान् है, वैसे ही सत्य के लय का स्थान भी आप ही है। इसको 'सत्यस्य सत्यं' पद विशेषण से कहा है। जिस प्रकार 'पूर्णस्यपूर्णमादाय' श्रुति में सबका लय उसमें होता है वैसे ही सत्य भी आधिदैविक सत्य में लीन होता है। सत्य में ही प्रतिष्ठित है और सत्य ही फल है। यह आधिदैविक सत्य भगवान् ही है। इससे जो भगवान् में प्रतिष्ठित है वह सत्य है। जो सत्य में है वह सत्य द्वारा भगवान् में प्रतिष्ठित होगा। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के प्रसंग में 'पञ्चविध' सत्य कहा गया है। इससे १३ प्रकार की क्रियाशक्ति का सत्यपने से वर्णन किया है।

जो भगवान् की शक्ति, ज्ञान उत्पन्न करती है, वह भी सत्य है। इसका निरूपण करते हैं। जिस परमात्मा के ऋत और सत्य रूप नेत्र ही उसकी प्राप्ति कराने वाले या दिखाने वाले हैं अतः भगवान् को 'ऋत सत्य नेत्र' कहा गया है जिससे भगवत्प्राप्ति दो प्रकार से होती है। ज्ञान उत्पन्न कराने वाली शक्ति, प्रमाण तथा प्रमेय बल के कारण दो प्रकार की है। प्रमाण बल वेद है, जैसे कि जगत् में कोई भी कार्य किया जावे वह कार्य युक्त[3] है वा नहीं ? ऐसी शङ्का होने पर उसको सत्य सिद्ध करने के लिए वेद को ही प्रमाण में लाया जाता है। तथा प्रमेय बल भगवद्धर्म है, जैसे कि जहां प्रमाण बल की गति[4] नहीं है अर्थात् जो कार्य प्रमाण बल से नहीं हो सकता है वह कार्य भगवद्धर्म से होता है। अतः इस भगवद्धर्म को प्रमेय बल कहते हैं।

---

[1] पैदा करने वाले
[2] पालन
[3] योग्य, ठीक
[4] पहुँच

सूनृता, सत्य को प्रतिपादन करने वाली वाणी को 'ऋत' कहते हैं। वेद सत्य का प्रतिपादन करने वाला है। अतः सत्य के निरूपण करने के समय ऋत का भी निरूपण किया गया है।

इस प्रकार क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति दोनों सत्य रूप हैं। इनका निरूपण कर अब धर्मीस्वरूप भी सत्य रूप है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'सत्यात्मकं' आप भगवान् की आत्मा स्वरूप सत्य ही है। जो सब धर्मो (पदार्थ मात्र) में व्याप्त होकर[1] रहती है उसको आत्मा कहते हैं। वह (आत्मा) अबाधित[2] सत्य है और वह भगवान् का सत्‌रूप है। 'सत्यात्मक' पद में जो अन्तिम अक्षर 'क' है वह प्रत्यय है। 'क' प्रत्यय स्वार्थ में आता है अथवा 'क' अक्षर का आशय 'फल' भी है। यहाँ 'क' फल बताने वाला है। सत्यात्मा का फल सुख आनन्द है अर्थात् जिसका आत्मा सुखरूप है वह भगवान् सच्चिदानन्द रूप है। भगवान् का जैसे 'सद्रूप' सत्य है वैसे चिद् और आनन्दरूप भी सत्य है। जीवों को वैसे सत्यात्मक सच्चिदानन्द रूप भगवान् के ही शरण जाना चाहिये।

देवों ने श्लोक में 'प्रपन्ना' बहुवचन कह कर यह बताया है कि हम सब आपके शरण इसलिये आये हैं कि आप सत्यव्रत सत्यरूप हो अतः सत्यता से ही हमारी रक्षा करोगे।।२६।।

व्याख्याओं का सार – पुरुषोत्तम भगवान् पूर्ण रूप से प्रकट हुए हैं। प्रश्नोपनिषद् में 'षोडशकलः' पद से १६ कलाओं से पूर्ण स्वरूप को परब्रह्म कहा है।

ब्रह्मादि देव भी कृष्ण को १६ कलाओं से पूर्ण स्वरूप समझ कर ही स्तुति करने के लिये पधारे हैं। 'सत्यव्रतं' इस प्रथम श्लोक में ही परमात्मा का षोडशविध प्रतिपादन किया गया है।

भगवान् के षोडशविध स्वरूप, इस प्रकार हैं। भगवान् में मुख्य दो शक्तियाँ हैं। एक का नाम क्रिया शक्ति है, दूसरी का नाम ज्ञानशक्ति है। क्रियाशक्ति १३ प्रकार की

---

[1] फैल कर
[2] जिसको कोई भी बाध न कर सके।

है और ज्ञानशक्ति दो प्रकार की है तथा एक स्वयं आप धर्मी स्वरूप है। इन सबको मिल कर भगवान् को 'षोडशविध' १६ प्रकार का कहा है।

क्रिया जनक और क्रियात्मक जो भगवान् की सामर्थ्य है उसको भगवान् की क्रियाशक्ति कहते हैं। वह २६वें श्लोक 'सत्यव्रतं' श्लोक में इस प्रकार त्रयोदश विध कही गई है। 'सत्यव्रतं' पद से (१–सत्य और २–व्रत) दो भेद हैं –

आभास – एवं प्रमाणरूपतामुक्त्वा प्रमेयरूपतामाह एकायन इति।
उपरोक्त श्लोक में सत्यात्मक परमात्मा प्रमाण रूप है वह वर्णन कर अब इस 'एकायनौऽसौ' श्लोक में उसकी 'प्रमेय' रूपता का वर्णन करते हैं।

'सत्यपरं'[1] पद से नीचे टिप्पणी में दिये हुए चार भेद हैं – ४
त्रिसत्यम् – भूः, भुवः स्वः तीन लोक, काया, जीव और परमात्मा तीन रूप से दो भेद – २
सत्यस्ययोनिम् – सत्य का उत्पन्न करने वाली (सत्य का कारण) एक भेद – १
निहितं च सत्ये – सत्य में स्थित हो सत्य का रक्षक होने से प्रमेय तथा साधन भेद से दो प्रकार की –
सत्यस्य सत्यम् – प्रभु सत्य का भी सत्य होने से 'लय' भी उस सत्य स्वरूप में क्रियाशक्ति कराती है उसके भी प्रमाण और फल से दो भेद हैं – २
१३

इस श्लोक में 'सत्यस्य सत्यम्' पद तक के पदों द्वारा क्रियाशक्ति के १३ भेद बताये हैं अब शेष 'ऋत सत्यनेत्रं' और 'सत्यात्मकं' दो पदों से ज्ञानशक्ति के ३ भेद बताते हैं।

ऋतसत्यनेत्र– ऋत और सत्य नेत्र वाले प्रभु हैं अतः उस प्रभु की जो शक्ति ज्ञान उत्पन्न करती है उसको ज्ञान शक्ति कहते हैं। वह शक्ति दो प्रकार की है

[1] सत्य सबसे 'पर' उत्तम है। कारण कि सर्व कार्य सत्य के बल से होते है, जैसे कि (१) सत्य से वायु चलती है, (२) सत्य से सूर्य प्रकाश करता है, (३) वाणी सत्य मे रहती है (४) सर्व सत्य में रहते हैं। इस प्रकार ये चार भेद हैं।

'प्रमाण'[1] तथा प्रमेय'[2] जिनसे ज्ञान को प्रकट करती है इसलिये यह दो प्रकार की है। २

सत्यात्मकं – आप सत्यस्वरूप 'धर्मी' एक हैं। १

३

उपरोक्त प्रकार से भगवान् की दोनों शक्तियों के भेद मिलाने से १६ होते हैं अतः परमात्मा जो प्रकट हुवे हैं कि वैदिक रीति से तथा भागवतानुसार षोडश कलायुक्त होने से पूर्ण है उस पूर्ण स्वरुप के पधारने पर ब्रह्मादि देवों ने १६ श्लोकों से स्तुति की है। और अन्त में कहा है कि हे प्रभु! वैसे हम आपकी शरण में आये हैं।

श्लोकः – एकायनोसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः।।२७।।

श्लोकार्थ – यह ब्रह्माण्ड वृक्षरूप है जिसका आश्रय एक भगवान् ही है। उसके सुख और दुःख दो फल हैं, तीन गुण जड़ें हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये रस हैं, पांच कर्म ही प्रकार हैं, छ इन्द्रियाँ ही आत्माएँ हैं, सात प्रकार के वल्कल हैं, आठ प्रकार की प्रकृतियाँ शाखाएँ हैं, देह के नव छिद्र नेत्र हैं, दश प्राणच्छद हैं, वैसा यह ब्रह्माण्ड वृक्ष है।।२७।।

सुबोधिनी – इदं जगत् ब्रह्माण्डात्मक वृक्षत्वेन निरूप्यते। "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं" मितिश्रुतेर्भगवान् वृक्षरूपः। तस्माज् जायमानं जगदपि वृक्षात्मकमेव भवति। अनेन भगवतो महत्त्वं निरूपितम्। यथाश्वत्थादिवृक्ष एकस्मिन् कोटिशः फलानि भवन्ति। सोपि तादृश एव। एवमनादिनिधनो वृक्षो भगवान्। अत एव क्वचिद् ब्रह्माण्डनिर्माणं भगवत एव भवति। क्वचित् तत्त्वद्वारा। अक्षरमत्र फलम्। तस्य तत्त्वान्यंशाः। बीजं ब्रह्माण्डमिति। शकुनिभक्षितमेव ततो निर्गत फलतीति तत्त्वानां चेतनरूपता निरूपिता। तत्र दैत्यादिकल्पे बहुबीजयुक्तादपि फलादेको वृक्ष उत्पद्यते। अत एव बाह्यादिशास्त्रेषु परमाणुभ्यो बहुभ्य एककार्योत्पत्तिर्निरूपिता। पिप्पलादयोपि काकविष्टातो जाता बहुभ्य एकं भवतीत्यध्यवसीयते तद्व्यावृथ्यर्थमाहैकमेवायनं यस्येति। अण्ड

---

[1] प्रमाण 'वेद' हैं प्रमेय 'भगवद्धर्म' है।

[2] यह विषय जटिल है। अतः जहाँ तक बन सका है वहाँ तक सुबोध करने के लिए साहित्य का आवश्यक सार देकर समझाया है। विशेष जिज्ञासु टिप्पणी प्रकाश, लेख और योजना स्वयं पढकर आनन्द रस पान करे
अनुवादक

प्रकृतिरक्षरं वा। काल इत्यन्ये। अनेनायमादिरूपः सद्वृक्ष उक्तः। अतोसाविति। परिदृश्यमानः प्रपञ्चः। द्विफलः। द्वे फले यस्य। सुखदुःखेस्य फले। दैत्यानां तु दुःखमेव फलम्। ते फले नरकस्वर्गवाच्ये। नराणां कं सुखं विषयात्मकम्। स्वस्वरूपं गच्छतीति स्वर्गः। सृष्ट्यन्तरे सर्वे विषयिण इत्यत्र तु द्विविधा अपि। त्रयो गुणाः सत्त्वादयो मूलान्यधःप्ररोहा यस्य। अत्र त्रिविधान्यपि कर्माणि भवन्ति। अन्यत्र तामसान्येव। क्वचिद् वा राजसानि। सात्त्विकानि तु न भवन्त्येव। चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षा रसा यस्य। अन्यत्रार्थकामामेव। पञ्च कर्माणि विधाः प्रकारा यस्य। तानि पञ्चेन्द्रियजन्यान्यप्युत्क्षेपणापक्षेपण प्रसारणाकुञ्चनगमनात्मकानि भवन्ति। अन्यत्रोत्क्षेपणाभाव.। अथवान्नमयादयः पञ्च। "स वा ए पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मे" तिश्रुतेः। ब्रह्माण्डविग्रहोपि तथा। अन्यत्र नानन्दः। षडात्मानो यस्य। षडिन्द्रियाण्यात्मत्वेन निरूपितानि। "अयमात्मा विज्ञानमयः"। ज्ञानं च षड्विधमुत्पत्त्या भिन्नम्। सप्त त्वगादयस्त्वचो वल्कलादीनि यस्य। अष्ट प्रकृतयो विटपाः शाखा यस्य। "भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधे"ति। नव देहच्छिद्राणि नवाक्षा यस्य। दश प्राणाश्छदानि यत्र। द्वौ जीवान्तर्यामिणौ खगौ यत्र। एतस्माद् वैलक्षण्यमन्यत्र ज्ञातव्यम्। हीति सर्वत्र युक्तयः सन्तीति ज्ञापितम्। आदिवृक्ष इति समष्टिरूपः। एवं प्रमेयं निरूपितं भगवदात्मकम्।।२७।।

अनुवाद – इस श्लोक में यह ब्रह्माण्डात्मक जगत् वृक्षरूप से वर्णन किया जाता है। जगत् की वृक्षरूपता सिद्ध करने के लिये आचार्य श्री कहते हैं कि यह जगत् आदि वृक्ष रूप भगवान् से उत्पन्न हुआ है, वृक्ष से उत्पन्न हुआ पदार्थ वृक्ष ही होता है। भगवान् वृक्षरूप हैं इसलिये श्रुति प्रमाण रूप में देते हैं कि 'वृक्ष इवस्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' अर्थ – जो एक आकाश में वृक्षवत् स्थित है उस पुरुष से वह सर्व (जगत्) पूर्ण है, जगत् को वृक्षरूप कहने से भगवान् का महत्त्व निरूपण किया है। जैसे एक ही अश्वत्थ (पीपल) आदि वृक्षों में से करोड़ों फल उत्पन्न होते हैं। वैसे ही भगवद्रूप वृक्ष से असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं अथवा प्रपंच रूप भी वैसा है जिससे अनेक उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भगवद्रूप वृक्ष का न आदि है और न अन्त है। वह सर्वदा ही है। अतएव इस कथन से ही इस ब्रह्माण्ड का निर्माण कभी भगवान् से होता है, और कभी भगवान्, तत्त्वों द्वारा ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं, इसमें 'अक्षर' फल है, उस (फल) के अंश तत्त्व हैं, बीज ब्रह्माण्ड हैं। उस वृक्ष से उत्पन्न फल जब शकुनी[1] खाता है तब वह फल फलता है इससे यह बताया कि ये तत्त्व चेतन हैं। दैत्यों के आदि कल्प में

[1] पक्षी

बहुत बीज वाले फल से भी एक वृक्ष उत्पन्न होता है इस कारण से ही वेद से बाह्यशास्त्रों में बहुत परमाणुओं के संयोग से एक कार्य की उत्पत्ति कही है। पीपल आदि भी काकों[1] के विष्टा से उत्पन्न हुवे थे। बहुतों से एक होता है यों समझा जाता है। इस प्रकार के सिद्धान्त के निवारण के लिये मूल श्लोक में कहते हैं कि 'एकायनोऽसौ' इस प्रपञ्च का एक अयन[2] है। 'ब्रह्माण्ड' पद में दो शब्द हैं, एक ब्रह्म और दूसरा अण्ड, अण्ड कहते हैं प्रकृति वा अक्षर को जिसका तात्पर्य है कि ब्रह्म के साथ जब अक्षर वा प्रकृति[+] सम्मिलित होती है तब उसको ब्रह्माण्ड कहते हैं। कितनेक 'अण्ड' का अर्थ 'काल' भी करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह परिदृश्यमान जगत् एकायन (एक ही ब्रह्मरूप बीज वाला) होने से आदि रूप सत्वृक्ष है। जिसके सुख और दुःख दो फल हैं। वे, दो फल, 'नरक और स्वर्ग' कहे जाते हैं। दैत्यों को तो दुःख रूप फल ही प्राप्त होता है। 'नरक' का अर्थ यहाँ है 'विषयात्मक' सुख क्योंकि मनुष्य विषयों को ही सुख समझते हैं किन्तु वह सुख परिणाम में विषोपम होने से दुःख है अतः वह 'नरक' कहा जाता है। 'स्वर्ग' का अर्थ है अपने स्वरूप (आत्मरूप) की तरफ जाना अतः जो अपने को अपनी आत्मा में ले जाते हैं वे सुख भोगते हैं वह स्वर्ग है। यहाँ तो ये दो प्रकार भी है, अन्य सृष्टि में सर्व विषयी होते हैं, अर्थात् सर्व आसुरी होते होंगे। इस सृष्टि में तो दो प्रकार के दैवी और आसुरी हैं अतः सर्व विषयी नहीं होते हैं 'आसुरी' विषयी और दैवी निर्विषयी होते हैं। सत्त्वादि तीन गुण इस जगत की जड़ें हैं। अतः यहाँ तीन प्रकार के कर्म भी होते हैं। दूसरी सृष्टि में कहीं तामस कर्म और कहीं राजस कर्म होते हैं सात्त्विक कर्म तो वहाँ निपट नहीं होते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार प्रकार के रस भी इस सृष्टि– वृक्ष में है, अन्यत्र अर्थ और काम दो रस हैं। पञ्च इन्द्रियों से जो पाँच कर्म, (१) उत्पेक्षण[3], (२)अपेक्षण[4], (३) प्रसारण[1], (४) आकुञ्चन[2], (५) गमन। ये पाँच

---

[1] कौओं
[2] बीज
[+] प्रकृति से भगवान् की गीता में कही हुई अष्टविधा प्रकृति समझनी चाहिए न कि 'माया' जो अन्यथा प्रतीति कराती है। – अनुवादक
[3] ऊपर फेकना
[4] नीचे फेकना

कर्म के प्रकार भी यहाँ इस सृष्टि में है। अन्यत्र 'उत्क्षेपण' कर्म नहीं होता है अथवा 'अन्नमयादि पांच कोशों को कर्म के पांच प्रकार समझने जैसा कि भगवती श्रुति कहती है कि 'स वा एषः पुरुष. पञ्चधा पंचात्मा, वह यह पुरुष निश्चय पांच प्रकार के हैं और पंचात्मा है। ब्रह्माण्ड विग्रह भी उसी प्रकार का है। अन्य सृष्टिओं में आनन्दमय आत्मा नहीं है। जिस दृश्य जगत् रूप वृक्ष की षड् इन्द्रियाँ आत्मरूप हैं। यह आत्मा 'विज्ञानमय' है। 'ज्ञान' छ प्रकार का है वह उत्पत्ति[3] से भिन्न २ हैं। इस जगत् वृक्ष के सात प्रकार के वल्कल (त्वक्, मांस, रुधिर, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य) हैं। आठ प्रकृति (भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार) शाखाएँ हैं। देह के नवछिद्र अक्ष (कोटर) हैं। दश प्राण – प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कूकल, देवदत्त और धनंजय ये दश प्राण हैं, ये पत्र हैं। जीव और अन्तर्यामी ये दो पक्षी हैं। अन्य सृष्टियों मे इस सृष्टि से विलक्षणता समझनी। श्लोक में जो 'हि' शब्द है उसका आशय यह है कि सर्वत्र युक्तियाँ है। 'आदि वृक्ष, शब्द समष्टि रूप से दिया है। इस प्रकार इस प्रमेय स्वरूप का निरूपण किया गया है।।२७।।

इस श्लोक पर गो. पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि ब्रह्मादि देवों ने स्तुति करते हुए प्रथम श्लोक में भगवान् की प्रमाणरूपता बताई है और तृतीय श्लोक में त्वमेक में साधन रूप भी भगवान् को बताया है। अतः इस मध्य के द्वितीय श्लोक में प्रमेयता बताना आवश्यक होने से भगवान् की प्रमेयरूपता बताई गई है।

यहाँ भगवान् ब्रह्माण्डात्मक वृक्षरूप हैं। उनको प्रमेयरूप कैसे कहा ? इस शङ्का के निवारण के लिए ही आचार्य श्री ने सुबोधिनीजी में 'वृक्ष इवस्तब्ध' श्रुति से भगवान् को 'आदि वृक्ष' सिद्ध किया है वह आदि वृक्ष भगवान् इस दृश्यमान जगत् का कारण रूप है। यह जगत् रूप वृक्ष उससे उत्पन्न होने से कार्य रूप है। कारण कार्य एक होने से ब्रह्माण्डात्मक वृक्ष भगवद्रूप है। अतः उनको प्रमेय कहने में किसी प्रकार की हानि

---

[1] खोलना

[2] लपेटना

[3] श्रोत, चक्षु, वाक्, जिव्हा, घ्राण और मन इन छ इन्द्रियो से ज्ञान की उत्पत्ति पृथक २ प्रकार की होती है। अतः ज्ञान छ प्रकार का है।

नहीं है। तथा श्री पुरुषोत्तमजी ने दूसरी श्रुति 'उर्ध्वमूल .... मृत्युर्मामारयात्' देकर वृक्ष को भगवान् का रूप सिद्ध किया है।

अन्य शङ्का – सद्रूप भगवान् तो 'प्रमेय' रूप हो सकते हैं किन्तु कालात्मक भगवान् प्रमेयरूप कैसे होंगे ? इस शङ्का का निवारण तृतीय स्कन्ध में 'गुणव्यतिकराकारो' श्लोक की सुबोधिनी में किया है। आचार्य श्री ने समझाया है कि गुणों के परस्पर संश्लेषण[1] से काल प्रकट होता है। काल का भी उपादन प्रभु हैं अतः उपादेय उपादानात्मक है। अतः काल भी जगत् का उपादान होने से प्रमेयरूप हो सकता है विशेष विषय इस सम्बन्ध में संस्कृत में देखिये यहाँ सार मात्र दिया गया है।।२७।।

आभास–अत्रोपपत्तिं वदन् साधनरूपमाह त्वमेक एवास्येति।

इस श्लोक में उपपत्ति[2] पूर्वक साधनरूप भी यह है इसका वर्णन त्वमेक एवास्य श्लोक में करते हैं।

श्लोकः– त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये।।२८।।

श्लोकार्थ – इस सद्रूप जगत् के उत्पत्ति स्थान आप एक ही हो, लयस्थान भी आप हो और इसकी स्थिति भी आप में ही है। आपकी माया से जिनका ज्ञान आच्छादित[3] हो गया है वे आपसे भिन्न, जगत् को नाना रूप में देखते हैं जिनकी बुद्धि माया से आच्छादित नहीं हुई है वे विपश्चित[4] नाना रूप में पृथक् न देखकर सब में एक आपको ही देखते हैं।।२८।।

सुबोधिनी – अस्य जगतः सतः सद्रूपस्य। अनेन मायावादादिपक्षा निराकृताः। ते हि वैनाशिकाः 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वर' मितिवाक्यात् तेषामेव मतेस्य जगतोसत्यत्वम्। अन्यथासतोज्ञानकार्यस्य कर्ता भगवान् को वा स्यात्? तस्य सर्वस्यापि सद्रूपस्य त्वमेव प्रसूतिरुत्पत्तिस्थानम्। प्रकर्षेण सूतिर्यस्मादिति। प्रसूतिपदेन पितराविवोत्पादकत्वं सूचितम्। त्वमेव

---

[1] मिलाप
[2] हेतु देकर विषय को सिद्ध करना, उपपत्ति है
[3] ढकी हुई
[4] समझदार, बुद्धिमान

सम्यग् निधीयतेस्मिन्निति सन्निधानं लयस्थानम्। त्वमेवानुगृह्यतेनेनेति पालकः। अत उत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्ता त्वमेव। अन्यथाक्रमेणैवं सूचयति भगवद्रक्षितो न नश्यतीति। नन्वेते गुणाभिमानिन एव ब्रह्मादय उत्पत्त्यादावधिकारिणो नाहमित्याशङ्क्याहुस्त्वन्माययेति। ये त्वन्मायया संवृतं सङ्कुचितं चेतो मतिर्येषा ते त्वा नाना पश्यन्ति न तु विपश्चितः। त एव भगवन्तं परच्छिन्नं जानन्ति ये तस्यैव मायासङ्कुचिता भवन्ति। अल्पेन हि ग्राहकेणाल्पमेव गृह्यते सर्ववस्तुग्रहणार्थं चित्तं पुष्कलमेव भगवत्सृष्टम्। मायया सङ्कोचाभावे कथं परिच्छिन्नं गृह्णीयात् ? अत एव त्वां नाना पश्यन्ति। परिच्छिन्नया दृष्टया गृहीतो देशो भिन्नतया स्वीक्रियत इति मायामोहः। अत एव ये विपश्चितस्ते ब्रह्मादीन् परस्परविलक्षणान् पश्यन्तोपि तत्तत्कार्यानुरोधेन तथाविधं त्वामेव मन्यन्ते न तु भिन्नं पश्यन्ति। य इत्यन्ते तेषां माहात्म्यनिरूपणार्थं निर्देशः। अनेन सृष्टिस्थानां गुणैर्भिन्नानां स्वकार्यसिद्ध्यर्थमेत एव यथारुचि भगवद्रूपाः सेव्या इतिसाधनमुक्तम्।।२८।।

अनुवाद – इस सद्रूप जगत् का उत्पत्ति स्थान, माता पिता के समान आप एक ही हो इसलिये मूल श्लोक में (प्रसूति) पद दिया है जिसका अर्थ है भली भांति जिससे उत्पत्ति हुई है। जगत् को सत्यरूप और भगवान् से उत्पन्न हुआ है यह कहकर सिद्ध किया गया है कि मायावाद आदि मत वाले जो जगत् को विनाशशाली मानते हैं वे (असत्यं अप्रतिष्ठं ते जगत् आहुः अनीश्वरं) इस गीताजी के वचनानुसार असुर हैं। उन असुरों के मत में ही जगत् असत्य कहा जाता है। यदि यह सिद्धान्त असुरों का न हो, शास्त्रीय हो तो उस असत् और अज्ञान का कार्य (जगत्) का भगवान् (ब्रह्म) कर्त्ता कैसे हो ? अर्थात् असत् तथा अज्ञान रूप कार्य का कर्त्ता भगवान् नहीं होता है यह जगत् सद्रूप है। अतः भगवान् इसका कारण (उत्पत्तिस्थान) कहा गया है। न केवल उत्पत्ति स्थान आप (ब्रह्म) हैं किन्तु अन्त में इस जगत् का लय स्थान भी आप (ब्रह्म) है एवं मध्य में उसका पालक स्थिति कर्ता भी आप ही हो। जिसका उत्पत्ति लय और पालक भी आप हो इस कहने का आशय यह है कि भगवान् जिसका रक्षक है वह कदापि नाश नहीं होता है।

इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश गुणाभिमानी देव हैं, मैं तो नहीं हूँ यदि भगवान् यों कहदें तो इसके उत्तर में ब्रह्मादि देव कहते हैं कि आपकी माया से जिनका चित्तसङ्कुचित (सिकुड़ा हुआ, छोटा अल्प तथा अनुदार एवं ज्ञान रहित) हो गया है वे आपको पृथक् पृथक् (नाना) देखते हैं जो विपश्चित (जिनका चित्त माया से सुङ्कुचित नहीं हुवा है) है वे नाना न देखकर सब

को आपका ही रूप समझते हैं। छोटे चित्त वाले वस्तु की छोटी (अल्प) ग्रहण करते हैं। उदार हृदय वाले पुष्कल वस्तु ग्रहण करते हैं। माया से जिनका चित्त अल्प न हुवा है वे कैसे भगवान् को परिच्छिन्न समझेंगे ? वे विपश्चित तो ब्रह्मादि देवों को परस्पर विलक्षण देखते हुए भी उस कार्य के अनुरोध से वैसे बने हुए आपको ही देखते हैं अर्थात् वे भी आप ही हो नहीं कि वे दूसरे हैं, आप उनसे पृथक् अन्य हो। अतः गुणों करके भिन्न सृष्टि के मनुष्यों को अपने अपने कार्य की सिद्धि के लिये ये[1] ही भगवद्रूप देव यथारुचि (जिसका प्रेम जिसमें हो) सेव्य है। इस प्रकार इस श्लोक में (साधन) कहे हैं।।२८।।

आभास–फलमाह बिभर्षीति।

प्रमाण, प्रमेय और साधन कहकर अब इस श्लोक में फल का वर्णन करते हैं।

श्लोकः – बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मन् क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्।।२६।।

श्लोकार्थ – हे ज्ञान स्वरूप आत्मन्! आप ही स्थावर तथा जंगम लोगों के कल्याणार्थ, सत्त्वगुणावाले स्वरूपों को वार वार धारण करते हो। जो स्वरूप सत्पुरुषों को सुखदायी और खलों को दुःखदायी है।।२८।।

सुबोधिनी – त्वमवबोध आत्मनि रूपाणि बिभर्षि। ये त्वां सेवन्ते पूर्वोक्तप्रकारेण तेषां रूपाणि ज्ञानरूप आत्मनि बिभर्षि। सायुज्यं तेभ्यः प्रयच्छंसि। अथवावबोध आत्मनि शुद्धात्मसिद्ध्यर्थं रूपाण्यवतार रूपाणि बिभर्षि येषु भक्ताश्चिद्रूपमात्मानं लभन्ते। रूपाणां ग्रहणस्यान्यदपि निमित्तमित्याह क्षेमाय लोकस्य चराचरस्येति। चराचरशब्देन ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चेति न्यायविदः। चराः प्राणिनः। अचरा भूरादयः। उभयेषामपि क्षेमाय। अनेनैहिकफलदानार्थमपि भगवदवतार इति। गुणैर्ब्रह्मादीनामपि भगवत्त्वाद् रजसा तमसाप्यवतारः सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह सत्त्वोपपन्नानीति। लोकानुसारीणि मत्स्यादीनि। ब्रह्ममहादेवयोरव्याधिदैविकयोरप्यवताराः सत्वरूपा एव। तत्र निदर्शनं सुखावहानीति। ये सर्वप्राणिषु सुखमावहन्ति। पक्षपातस्तोत्रत्वाद् दैत्यानामपि सुखदानि भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह सतामेव सुखदानि। खलानां त्वभद्राणि। लक्षणपूर्वकं दैत्यानां निर्देशः खलानामिति। सर्वदोषनिधानं खला ये परेभ्यो दुःखदातारः। मुहुरिति। सर्वेषां खलानां वारवारम्।।२६।।

---

[1] गोस्वामी वल्लभलालजी आज्ञा करते हैं कि आचार्य श्री ने सुबोधिनीजी में (एतेएव) ये ही भगवद्रूप मनुष्यों को सेव्य है। इस पद में (एव) (ही) कहकर दुर्गा, भैरव आदि देवों का भजन दैवी जीवों को नही करना चाहिये इस आशय को व्यक्त (प्रकट) किया है।

अनुवाद – हे प्रभु! आप अपनी ज्ञान स्वरूप आत्मा में रूपों को धारण करते हो। पूर्व में कहे हुए प्रकार से जो आपकी सेवा करते हैं उन्हीं के रूपों को अपनी ज्ञान रूप आत्मा में धारण करते हो। अर्थात् उनको सायुज्य मुक्ति देते हो। अथवा, ज्ञानरूप आत्मा में शुद्ध आत्मा की सिद्धि के लिये अवतारों को लेते हो। जिससे, उन अवतार स्वरूपों में अपनी चिद्रूप आत्मा को प्राप्त करते हैं। इसके सिवाय आपके अवतारों को धारन करने का दूसरा भी कारण है। वह कारण बताते हैं। चर और अचर प्राणियों के कल्याण के लिये भी आप अवतार लेते हो। चर शब्द से ब्राह्मण और अचर शब्द से क्षत्रिय, यह अर्थ न्यायवेत्ता[*] करते हैं। चर[1] अचर[2] समझने चाहिये। इससे समझा जाता है कि भगवान् ऐहिकफल[3] देने के लिये भी अवतार लेते हैं।

ब्रह्मादि देवता भी ईश्वर कोटि में गिने जाते हैं अतः उनका भी रजोगुण वा तमोगुण से अवतार धारण करना सम्भव है। इसलिये उनके अवतारों की व्यावृत्ति[4] के लिये देव कहते हैं कि आपके अवतार सत्त्वोपपन्न[5] अवतार होते हैं। जैसे लोकानुसारी मत्स्य आदि आपके अवतार भी सत्त्वोपपन्न हैं आधिदैविक ब्रह्मा तथा महादेव के अवतार भी सत्त्वोपपन्न होते हैं कारण कि ब्रह्मा और महादेव के आधिदैविक रूप आप ही हो अतः सत्त्वोपपन्न जो भी अवतार हैं वे आपके ही हैं। क्योंकि सत्य अवतार ही सुखदायी होते हैं। मूलश्लोक में 'सतां' पद देने का आशय यह है कि भगवान् के अवतार सत्पुरुषों को सुख देने के लिये हैं। कारण कि दैत्य खल है इसलिये उनके लिये तो आपके सब अवतार दुःखदायी हैं यह जताने के लिए मूल में 'मुहुः' शब्द दिया है। अतः यह शङ्का नहीं करनी कि भगवान् अवतार लेकर दैत्यों का भी कल्याण तो नहीं करेंगे।

आभास—एवं लौकिकप्रकारेण चतुर्णां निरूपणमुक्त्वा स्मृतिप्रकारेण पुनश्चतुर्णां निरूपणमाह त्वयीति चतुर्भिः।

---

[*] अत्ता चराचर (गृहणात) व्यास सूत्र मे इस प्रकार का अर्थ किया गया है।

[1] चलने वाले प्राणी मात्र।

[2] एक स्थान पर स्थित पृथ्वी आदि पदार्थ।

[3] इस लोक मे सुख रूप फल

[4] निवारण

[5] सत्वगुण से युक्त।

लौकिक प्रकार से प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल चारों का वर्णन कर अब स्मृति प्रकार से उन चारों का चार श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोकः – त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि समाधिनावेशितचेतसैके।।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्।।३०।।

श्लोकार्थ – हे कमल नयन! सर्व जीवों के निवास आप ही हो अतः आप में समाधि द्वारा अपने चित्त को स्थिर कर, महान् पुरुषों की सिद्धि की हुई, आपके चरणारविन्द रूप नौका के आश्रय से वे, संसार रूप समुद्र को, गौ के बछड़े के खुर के समान जल के गड्ढे जैसा बना देते हैं।।३०।।

सुबोधिनी – स्मृतिषु योगो धर्मः। स च योगो बहुविध इति यो देवहितो धर्मरूपस्तं निरूपयति। हे अम्बुजाक्ष! अखिल सत्त्वधाम्नि त्वयि समाधिनावेशितचेतसा करणेन त्वत्पादपोतेन भवाब्धिं गोवत्सपदं कुर्वन्ति। योगे प्रत्यक्षो भगवान् संसारात् तारयतीति सिद्धम्। अम्बुजाक्षेति। दर्शनेनैव पापनाशकत्वमुक्तम्। यो योगस्तृतीयस्कन्धे निरूपितः स सर्वात्मको भगवद्विषयकः। तदाहाखिलसत्त्वधाम्नीति। अखिलानां सत्त्वानां प्राणिनां धाम स्थानम्। सर्वसत्त्वगुणनिधाने वा तादृशे भगवति। आसमन्ताद् वेशितं चित्तं यस्मिंस्तादृशेन समाधिना करणेन कृत्वा त्वत्पादः पोतो भवति। समुद्रतरणसाधनं पोतः। चरणस्य पृथ्वीरूपस्याकाशरूपस्य वाक्षररूपस्य वा पोतत्वम्। भूमिश्चेत् सर्वजनीना। आकाशं च। भगवद्भावकसमाधौ भगवति विद्यमाने पादस्य पोतत्वाभावात् समाधिकल्पितस्यैव च संसारमध्यपातात् कथं पोतत्वमित्याशङ्क्याह महत्कृतेनेति। महद्भिः कृतेन। महान्तो हि सर्वस्यापि पदार्थस्य साध्यसाधनतामवगच्छन्ति। अतः समाधावेव भगवत्स्फूर्तौ स पादः संसारतारकौ भवतीत्यलौकिकसामर्थ्येन न युक्तिविरोधः शङ्कनीयः। "अयं तु परमो धर्मो यद् योगनात्मदर्शन" मितिस्मृतेः। यथा यागादि स्वर्गसाधनं तथेदमप्यदृष्टद्वारा भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणार्थमपि महत्कृतेनेत्युक्तम्। पादपोतो महान् कृतः। हृदयं संसारपारं चाभिव्याप्य यथा तिष्ठति तावान् कृत इत्यर्थः। करणं समाधिरेव। गोवत्सपदमिति। तीर्णसंसारस्यास्थापितत्वाद् वत्सपदकरणम्। अनेन संसारे स्थिता एव ससार तुच्छं मन्यन्ते। अनतिगम्भीरत्वाय वत्सपदम्। समाधौ स्थितः समाधिनिर्वाहकं संसारमतितुच्छत्वेन मन्यते। सिद्धो योगः स्वयमेव सर्वमेव संसारं शोषयित्वा स्वनिर्वाहकमेव स्थापितवान्। न च ते महापुरुषा अन्येषामुद्धारमकृत्वा वत्सपदत्वमात्रे जातेपि स्वयमेव तरन्ति। अतो वत्सपदमेव कृत्वा यावदन्येषामुद्धारो भवति तावत् तूष्णीं तिष्ठन्ति। अत उक्त वत्सपदं कुर्वन्तीति प्रमाणसमाप्तिः।।३०।।

अनुवाद – स्मृतिओं में जो योग कहा है वह अनेक प्रकार का है उनमें से जो योग देवों का हितकारी धर्मरूप है उसका निरूपण करते हैं। हे कमल नयन! भगवान्

के इस नाम से यह बताया है कि आपके दर्शन से ही पाप नष्ट हो जाते हैं। समग्र जीवों के धाम[1] रूप आप में मनुष्य समाधि द्वारा चित्त स्थिर कर, आपके चरण रूप नौका को साधन बना कर, संसार रूप सागर को गौ के बछड़े के खुर के समान जल के गड्ढे जैसा बना देते हैं जिससे यह सिद्ध हुआ कि योग द्वारा प्रत्यक्ष भगवान् संसार से तारते हैं। जिस योग का तृतीय स्कन्ध में वर्णन किया गया है, वह सर्वात्मक तथा भगवत्संबन्धी है : उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आप समग्र जीवों के धाम हो और समस्त सत्त्वगुणों के आश्रम हो वैसे आप में, जिन्होंने समाधि द्वारा पूर्ण रीति से अपना चित्त लगा दिया है एवं आपके चरण रूप नौका को साधन बनाया है उन्होंने संसार रूप सागर को गौ के बछड़े के खुर के समान जल के गड्ढे जैसा कर दिया है। जिससे यह सिद्ध हुआ कि योग द्वारा प्रत्यक्ष भगवान् संसार सागर से तारते[2] हैं। समुद्र से पार जाने का साधन नौका[3] है। भगवान् के पृथ्वी, आकाश और अक्षर रूप चरण भी संसार सागर से पार जाने के लिये पोत[3] है। सब जानते हैं कि यह भूमि सभी के लिये नाव रूप है कारण कि नाव उसको कहते हैं जो अपने ऊपर बिठाकर जल में डूबने न दे और आप जल के ऊपर तैरती रहे इस प्रकार भूमि जल के ऊपर स्वयं स्थिर हो। जनता को जल में डूबने नहीं देती है अतः जनता के लिए वह पृथ्वी भगवान् का चरण रूप पोत[4] मानी जाती है। इसी प्रकार आकाश भी भगवान् का चरण रूप पोत[4] है जो वह तारों को जल में डबनू से बचाकर तारता है। अक्षर भी तब चरण रूप होता है जब भगवान् पुरुष रूप से प्रकट होते है। समाधि में भगवान् पुरुष रूप से प्रकट होकर प्रत्यक्ष होते हैं अतः उस समय भी अक्षर रूप चरण पोत[4] होता है। इस प्रकार पृथ्वी, आकाश और अक्षर ये तीनों ही भगवच्चरण संसार से तारने वाले होने से 'पोत[4]' हैं।

समाधि में कल्पित पुरुष संसार के मध्यपाती होने से उसके चरण कैसे 'पोत[4]' तारक बनेंगे ? इस शङ्का के उत्तर मे कहते हैं कि 'महत्कृतेन' भगवान् के चरण को

---

[1] निवास स्थान
[2] पार कर देते है
[3] जहाज
[4] नाव

महत्पुरुषों ने बनाया है। महान् पुरुष प्रत्येक पदार्थ के साध्य[1] साधक[2] भाव को जानते हैं। समाधि में भगवत्स्फूर्ति होने से वह चरण उस समय भी तारते हैं यह अलौकिक सामर्थ्य है, जिसके आगे युक्ति का विरोध टिक नहीं सकता है। जैसे कि स्मृति में कहा है कि "अयंतु परमोधर्मो यत् योगेन आत्मदर्शनम्" योगद्वारा आत्मा का दर्शन ही परम धर्म है। जिस प्रकार यज्ञादि[3] अदृष्ट द्वारा स्वर्ग के साधन है वैसे ही यह भी होगा? इस शङ्का का निवारण 'महत्कृतय' पद से किया है जिसका आशय यह है कि भगवान का चरण अदृष्ट बनाकर फल नहीं देता है किन्तु सीधा स्वयं पार उतारता है यह महान् पुरुषों ने सिद्ध कर बताया है कि यह पाद पोत[1] महान् है अतः यह हृदय तथा संसार में व्याप्त[4] है। समाधि असाधारण साधन है। समाधि में पाद पोत[1] का आश्रय कर संसार सागर को गोवत्स पद जैसा बना देते हैं। इसका आशय यह है कि जिन्होंने भगवच्चरण का आश्रय लिया है उनके लिये यह संसार तुच्छ है वे संसार में रहते हुवे भी संसार से लिप्त नहीं होते हैं क्यों कि उनकी दृष्टि में संसार बछड़े के खुर के समान जल का छोटा गड्ढा है। योग सिद्ध हो जाने से उनका संसार को स्वयं शुष्क[5] हो गया है। किन्तु योग आदि के निर्वाह के लिये नाम मात्र संसार को रखा है। वे महापुरुष हैं अतः संसार को गोवत्स पद पर केवल आप ही संसार से पार होकर नहीं जाते हैं किन्तु अन्यों के उद्धार के लिये आप तूष्णी होकर बैठते हैं इसलिये ही कहा है कि उन महापुरुषों ने संसार को 'गोवत्सपद' बना दिया है। इस श्लोक से प्रमाण का वर्णन किया।।30।।

आभास–तादृशेन प्रमाणेन यत् सिध्यति तत् प्रमेयमाह स्वयं समुत्तीर्येति।

उपरोक्त श्लोक में वर्णित प्रमाण से जिस प्रमेय की सिद्धि होती है उस प्रमेय का वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।।

---

[1] जिसको सिद्ध करना हो
[2] सिद्ध करने वाला
[3] यज्ञादि
[4] फैला हुआ है।

भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्।।31।।

श्लोकार्थ – हे स्वयं प्रकाश स्वरूप! सफल सौहृद वाले महापुरुष, अत्यन्त दुस्तर तथा भयानक भवसागर को स्वयं भली भांति तैर कर, आपकी चरण रूपी नौका को यहाँ ही छोड़ गये हैं। आप सत्पुरुषों पर अनुग्रह करने वाले हो अतः आप कृपा दृष्टि से उनको तारो।।31।।

सुबोधनीः– तीर्णस्यास्थापनेनैव वत्सपदकरणात् सम्पूर्णानुवादे सुदुस्तरं भवार्णवं भीममित्युक्तम्। मोक्षप्रतिपादकत्वात् सर्वशास्त्राणां मोक्षः सम्प्रदायश्च प्रमेयं भवति। स्वयं समुत्तीर्य भवत्पदाम्भोरुहनावमत्रैव निधाय ते याताः। सम्यगुत्तरणं दुर्घटत्वे सति वक्तव्यमिति दुर्घटत्वमाह। समुद्रो हि दुस्तरः स्वतः। तत्रापि नक्रादिभिः कृत्वा सुदुस्तरः। व्यसनमृत्युजरादिभिरलौकिककरण–सामर्थ्यघातकः। स्वतोपि भीमो भयानकः। द्युमन्निति सम्बोधनं चरणस्त्रिविधदोषनिवारणसमर्थ इति ज्ञापयति। यथा सूर्योन्धकारं सर्वजगत्पूर्णं जाड्यं भयं च स्वत एव निवारयति तथा त्वच्चरणप्रसादात् तेपि संसारमुत्तीर्णाः। तर्हि कथमन्येषामुद्धारः ? का वान्येषामुद्धारे तेषामपेक्षा ? तत्परिहारार्थमाहादभ्रसौहृदा इति। अदभ्रमच्छिद्रं सफलं सौहृदं येषामिति। अनेन पूर्वमेव कृतं सौहृदं सार्थकमेवेति तेषामवश्यमुपायकरणम्। तमुपायमाह भवत्पदाम्भोरुहनावमिति। तेषूत्तीर्णेषु तदनुसरणेनैव भूयान् संसारो गत इति पोतरूपोपि पादः सुखदः सर्वप्रदर्शकः। तत्कृपयानतिगम्भीरोम्भोरुहनौकारूपो जातः समुद्रश्च नदीरूपो जातस्तदाह भवत्पदाम्भोरुहनावमित्यत्रैव निधाय याताः। ननु ते महता प्रयासेन भगवन्तमाराध्य वशीकृत्य चरणमारुह्य सर्वं चरणे निवेश्य यातास्तदुपदेशिनस्तु न तद्विधा इति कथं तरणं भविष्यतीत्याशङ्क्याह सदनुग्रहो भवानिति। सत्स्वनुग्रहो यस्य। भवानिति। अस्मिन्नर्थे सम्मतिरुक्ता।।३१।।

अनुवाद – जो चरणों का आश्रय कर संसार से पार हो गये हैं उनको तीर्ण कहा गया है। वे तो संसार सागर को वत्स पद कर स्वयं पार हो गये, जिससे पार हुए उस पाद रूप नौका को यहाँ धर गये हैं। अन्यथा इस संसार सागर का रूप तो सुदुस्तुर[1] है किन्तु पुनः उसमें रहे हुए व्यसन, मृत्यु, जरा आदि अलौकिक साधन के सामर्थ्य के घातक होने से महा कठिन तथा भीम[2] है जैसे समुद्र यों ही पार करना कठिन है किन्तु मगरमच्छ आदि से महा कठिन तथा भयानक है। सर्व सच्छास्त्र मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं अतः मोक्ष (फलरूप होने से) प्रमेय है ओर भगवान् का चरण रूप

---

[1] जिसको पार करना यों ही कठिन है।

[2] भयानक

भक्ति मार्ग सम्प्रदाय, मोक्ष (भगवत्प्राप्ति) का साधन होने से प्रमेय है। भगवान् को 'द्युमन्' संबोधन दिया है जिसका भावार्थ है कि जैसे सूर्य स्वतः अन्धकार पूर्ण जगत् के अन्धेरे और भय को मिटाता है वैसे आप प्रकाश रूप हैं, अतः आपके चरण तीनों प्रकार के दोषों को निवारण करने में समर्थ हैं जिससे आपके आश्रित भी आपके चरणों के प्रसाद से संसार को पार कर गये हैं। जब वे पार हो गये तो अब अन्यों का उद्धार कैसे होगा वा कौन करेगा ? जो स्वयं पार पहुँच गये उनको दूसरों के उद्धार की क्या चिन्ता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे दूसरों के पार उतारने का भी विचार करते हैं कारण कि उनका हृदय सुन्दर है और वे हृदय से सब से सौहार्द करते हैं अतः उनका सौहार्द सफल इसीलिये हुआ है जब वे दूसरों के लिये भगवच्चरण रूप पोत, भक्तिमार्ग सम्प्रदाय की स्थापना कर गये है, जिससे सभीं के लिये, यह दुस्तर संसार, सागर गोवत्स पद जैसा स्वल्प जल का गड्ढा बन गया है।

वे स्वयं इस भक्ति मार्ग सम्प्रदाय द्वारा पार जा कर सिखा गये हैं कि आप भी इसका अनुसरण करोगे अर्थात् भगवान् के चरण, भक्ति सम्प्रदाय को नाव बनाओगे तो सहज और सरल रीति से पार हो जाओगे। इसलिये श्लोक में भगवान् के चरण को अम्भोरुह [1] कहा है। कमल कोमल ताप निवारक होता है वैसे ही चरण रूप भक्ति–सम्प्रदाय भी है। वे तो इस प्रकार का भक्ति मार्ग स्थापना कर गये, किन्तु अब उस भक्ति मार्ग का उपदेश करने वाले तो वैसे नहीं है तो कैसे आजकल के जीव उस भक्ति मार्ग से पार पहुँचेंगे। इसके उत्तर में श्लोक में कहा है कि 'सदनुग्रहो भवान्' हे प्रभु! आप सत्पुरुषों, जिन्होने भक्तिमार्ग स्थापन किया है, उन पर सदैव अनुग्रह करते हो अर्थात् उनकी कानि से जो भक्तिमार्गानुयायी होगें उनको अपनी कृपा बल से अवश्य तारोगे।।३१।।

सुबोधनीः— साधनं महतामुपदेशप्रकारः। स च अर्थादुक्त इति साधननिरूपणे तदतिरिक्तसाधनान्येव निराकरोति येऽन्येरविन्दाक्षेति।

[1] कमल

इस 'येन्येरविन्दाक्ष' श्लोक में महान् पुरुषों ने जिस प्रकार उपदेश किया है वह प्रकार ही साधन है। उसका वर्णन करते हुए इससे भिन्न प्रकार के साधनों का निराकरण करते हैं।

श्लोकः — **येन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।।**
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोनाऽऽतयुष्मदङ्घ्रयः।।३२।।

श्लोकार्थ — हे कमलनेत्र! जो दूसरे लोग, अपने को ब्रह्म समझ आपकी भक्ति करने से विमुख होते हैं जिससे उनकी बुद्धि भ्रष्ट (मलीन) हो जाती है वे बहुत कष्ट पूर्वक सत्कर्मों के करने से उत्तम स्थान को प्राप्त हुवे हैं तो भी आपके चरणाश्रय रूप भक्ति का अनादर करने से उस स्थान से भी नीचे गिरते हैं।।३२।।

सुबोधिनी — अन्ये निरीश्वरसाङ्ख्यानुवर्तिनः। ते हि पूर्वज्ञानानुसारेण भगवन्तमुपासते। एवं बहुजन्मभिः प्रवृद्धं ज्ञानं विकर्मसहितं भगवदशमात्मत्वेन स्फुरितं त्याजयित्वा निरीश्वरसाङ्ख्य मायावादं वावलम्बन्ते। ते चेत् पूर्ववदपि तिष्ठेयुस्तथा सति कृतार्था भवेयुः। तथाबुद्धिर्विकर्मफला। ते च पूर्वज्ञानेन देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणाध्यासरहिता जाताः। महता कष्टेन सर्वस्वदक्षिणया सर्वबन्धुपरित्यागेन सर्वसुखवैमुख्येन तपसा श्रद्धया ब्रह्मात्मभावनां प्राप्तवन्त। तदेव तेषां परं पदम्। य इति प्रसिद्धाः। अन्ये भगवद्रहिता भगवद्विचारेण यान् भगवानन्यान् मन्यते नत्वात्मीयान्। अरविन्दाक्ष। कमलनयनेतिसम्बोधनेनासुरपक्षपातात् तेष्वदर्शनं सूचितम्। न हि रात्रौ कमले विकासोस्ति येन रात्रिस्थैरामोदोनुभूयेत। अतस्तेन्य एव। पूर्ववासनयात्मानं विमुक्तमेव मन्यन्त इति विमुक्तमानिनो न तु विमुक्ताः। ज्ञान शास्त्रोत्थं विषयत्वेनात्मानं गृह्णाति। अतस्तस्मान्न फलम्। विषयान्तरवत् तस्याप्यभिमानजनकत्वात्। अत एव त्वयि पूर्वस्थितो भावः साधनत्वेन परिग्रहादस्तोस्तं गतो यो भावस्तस्माद्धेतोर्न विशुद्धा बुद्धिर्येषाम्। अन्यथाहङ्कारादिसर्वदोषसम्बन्धे स्वान्तःकरणे दुष्टे जाते महान्तस्ते कथं न जानीयुर्वयं दुष्टा इति। तदा तं मार्गं परित्यज्य यत्नमपि कुर्युः। अतोविशुद्धबुद्धय एव जाता। परमशुद्धया च स्वदोषाः स्फुरन्ति। ज्ञानस्य पूर्वावस्थैषा यत् स्वदोषस्फुरणम्। अतः कृच्छ्रेणापि परं पदं ब्रह्मभावमारुह्यानाऽऽतयुष्मदङ्घ्रयः पतन्त्येव। जीवस्य प्रकृतेरपि परस्य प्राप्तावुच्चगतौ निरालम्बने मार्गे भगवच्चरणातिरिक्तमवलम्बनं न सम्भवति। यतो वियद् विष्णुपदमेव। भगवच्चरणावलम्बनेनैव पुरुषस्योर्ध्वगमनं शृङ्खलद्वीपे श्रीपादारोहणे शृङ्खलापरित्यागवत् अस्य चरणस्य ग्रहणादिक्लेशपरित्यागाभावायाहानाऽऽतेति। आदरण मात्रेणापि न पतन्ति। आदर एव वा चरणस्थितौ हेतु.।।३२।।

अनुवाद – जो अन्य पुरुष निरीश्वर सांख्य तथा मायावाद के अनुयायी होते हुए भी भगवान की उपासना करते हैं उसका कारण यह है कि उन्होंने पूर्व जन्म में जो ज्ञान प्राप्त किया था उस ज्ञान के फल स्वरूप अब भी उनमें सद्बुद्धि रही है। किन्तु वह ज्ञान विकर्म[1] सहित था, अतः उस ज्ञान द्वारा उनको जीव, आत्मस्वरूप से जो स्फुरित होने लगा था, उस ज्ञान को वे निरीश्वर साङ्ख्य और मायावाद के संसर्ग से छोड देते हैं। यदि वे पूर्व की भाँति, जीव का आत्मस्वरूप से अनुसन्धान करते रहते तो भी कृतार्थ हो जाते। किन्तु इस प्रकार न रहना विकर्मों का फल है अर्थात् जो विकर्म किये हैं उनसे इनकी बुद्धि मलीन हो गई है इससे उस ज्ञान को छोड़ दिया है। श्लोक में कहे हुए 'कृच्छ्रेण परं पदं' का आशय स्पष्ट करते हैं कि, पूर्व ज्ञान से उनके चार अध्याय (प्राण, देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण को ही अपना रूप समझना) नाश हो गये और महान् कष्ट से इकट्ठे किये हुए धन का दान कर, सर्व बान्धवों को छोड़ के, सर्व सांसारिक सुखों से मुँह मोड़ कर, तपस्या तथा श्रद्धा से ब्रह्मात्मभावना को प्राप्त हुवे, यही उनका परम पद था। अन्ये और 'अरविन्दाक्ष' दो पदों का आशय प्रकट करते हुए आचार्य श्री, आज्ञा करते हैं, कि दूसरे वे हैं जो कभी भी भगवत्सम्बन्धी विचार मात्र नहीं करते हैं ऐसे मनुष्यों को भगवान् अपना न समझ कर पराया समझते हैं। और आप कमल नयन हैं अतः जो अन्य हैं, वे असुरों के पक्षपाती है, इसलिये उनको दर्शन नहीं देते हैं। दृंष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे कमल रात्रि को विकसित नहीं होता है, यदि रात्रि को विकसित हो, तो रात्रिस्थ भी कमल की गन्ध का अनुभव करेंगे किन्तु वे आमोद ग्रहण करने के योग्य नहीं है, अतः रात्रि को कमल विकसित नहीं होता है। इसी प्रकार जो असुर या असुर पक्षपाती हैं वे दर्शन के योग्य नहीं हैं।

वे अन्य, पूर्व वासना के कारण अपने को विमुक्त मानते हैं, किन्तु वास्तविक विमुक्त नहीं हैं। केवल शास्त्र से उत्पन्न ज्ञान से अपने को आत्मरूप मानते हैं इस प्रकार मानने से कोई लाभ (फल) नहीं है। अन्य विषयों के समान इस प्रकार से अपने को विमुक्त आत्मा मान लेने से अभिमान ही उत्पन्न होता है। अतएव, इस प्रकार अभिमान हो

[1] शास्त्रो में जिन कर्मों के करने का निषेध है। – अनुवादक

जाने से आप में जो पहले भाव (प्रेम) था जो साधन रूप से किया जाता था वह भी अस्त होकर बुद्धि मलीन हो जाती है। यदि बुद्धि मलीन न होवे तो अहङ्कारादि दोषों से अपना अन्तःकरण दूषित हो गया है इसको वे विद्वान् होते हुए भी क्यों न समझ जावे कि हम कुमार्ग पर जा रहे हैं। उस कुमार्ग को छोड़ कर सुमार्ग पर आने का प्रयत्न भी करें किन्तु वैसा नहीं करते हैं इससे निश्चय से जाना जाता है कि उनकी बुद्धि मलीन हो गई है। जब बुद्धि शुद्ध होती है तब अपने दोष स्फुरित होते हैं। ज्ञान की पूर्वावस्था तब समझनी चाहिये जब अपने दोष स्फुरायमान होने लगे। अतः परिश्रम से भी ब्रह्मभाव तक पहुँच कर आपके चरणारविन्द का अनादर करने से उस पद से अवश्य गिरते हैं। जीव अथवा प्रकृति को उच्च गति पर की प्राप्ति, के लिये बिना आश्रय वाले मार्ग में भी भगवान् के चरणों के आश्रय के सिवाय अन्य कोई आश्रय नहीं है। कारण कि वियत् (आकाश–जहाँ कोई आश्रय नहीं है) वहां भी आश्रय विष्णु पद है। भगवान् के चरणारविन्द के आश्रय से ही जीव का उर्ध्वगमन होता है।

शृङ्खद्वीप में जो श्रीपाद पर आरोहण करता है वह शृङ्खला का आश्रय लेता है यदि उसको छोड़कर अपने बल से चढ़ता है तो उसका अधःपतन होता है। इसी प्रकार यहाँ भगवान् के चरणों का आश्रय आवश्यक है। विशेष न कर सके, तो केवल चरणों में आदर रखे तो भी उसका पात नहीं होता है। चरण में जीव का विश्वास तथा प्रेम आदर से ही होता है अतः चरण में स्थिति का कारण आदर ही है।।३२।।

सुबोधिनी – नन्वेवं सति भक्तिमार्गानुसारेणापि भगवद्भजने विकर्मादिना कालान्तरे पुनर्बुद्धिनाशप्रसङ्गः। साधनत्वेनैव भक्तिमार्गस्यापि स्वीकारात्। अतस्तुल्यत्वात् किं मार्गान्तरदू–षणेनेत्याशङ्क्य स्मार्तस्यापि भगवन्मर्गास्य फलमाह तथेति।

अनुवाद – भक्ति मार्ग भी साधन है, अतः उसमें भी विकर्म करने से जब कालान्तर में बुद्धि का नाश हो सकता है तब अन्य मार्गों को दूषित करने से क्या ? इस शङ्का के निवारणार्थ स्मार्त भगवन्मार्ग में स्थित मनुष्यों को जो फल मिलता है। उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः– तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः।।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो।।३३।।

श्लोकार्थ – हे माधव! जो लोग आप ही में स्नेह वाले होने से आपके हो गये हैं वे उनकी भांति जो अपने आपको ब्रह्म मान कर समझते हैं कि हम मुक्त हैं मार्ग से कभी भ्रष्ट नहीं होते हैं किन्तु आपसे रक्षित होने से निर्भय होकर बड़े बड़े अनेक विघ्नों के शिर पर पैर धरके फिरते रहते हैं।।३३।।

सुबोधिनी – हे माधव ते पूर्वं तद्वत् प्रवृत्ता अपि तावकाः सन्तः क्वचिदप्यारोहणावस्थायां भ्रश्यन्त्यपि न। पादोप्यधः प्रमादादपि न पतति। आरुह्यमाणमार्गात् स्वमार्गादपि न पतन्ति। मार्गस्यैव तथात्वात्। यथा वस्तुरक्षकाणां मध्ये सुगन्धरक्षकः सौरभ्यं प्राप्नोत्येव। लशुनादिरक्षकस्तद्विपरीतम्। यद्यपि स्वतन्त्रतया भगवान्न सेवितस्तथापि भगवानिति तस्य पातो न भवत्येव। माधवेतिसम्बोधनं रात्रावपि विलासेन तत्रत्यानां दर्शनार्थम्। तेन विकर्मतुल्यत्वेपि सेवापरत्वाद् भगवद्दर्शन नान्येषामिति निरुपितमत एव तावकाः। अभ्रंशे हेतुस्त्वयि बद्धसौहृदा इति। सौहृदं स्नेहो रज्जुस्थानीयः। स स्वात्मानं जीवं भगवच्चरणे बध्नाति। अतो युक्त एव तेषामभ्रंशः। नन्वन्ये कालादयः कथं तान्न भ्रंशयन्ति भक्तिं वा न नाशयन्तीत्याशङ्क्याह त्वयाभिगुप्ता विचरन्तीति। त्वयाभितो बाह्याभ्यन्तरसर्वभावेन रक्ष्यमाणाः। बुद्ध्यादीनामपि नाशासम्भवादन्यप्रवेशासम्भवाच्च न भ्रश्यन्तीति युक्तम्। अत एव विचरन्ति। सर्वत्र विशेषेणानिन्दया सर्वेषु लोकेषु भ्रमन्ति। कालादिभयरहिता निर्भयाः। यदन्येषां त्यागस्थानं भयस्थानं वा तदेव तेषां परिभ्रमणस्थानमित्याह विनायकानीकपमूर्धस्विति। विनायका विघ्नकर्तारः। विशब्देन विघ्ना उच्यन्ते। तेषा नायका जन्का एव भवन्ति। तेषामनीकं सेना। एकस्मिन् विघ्नार्थे प्रवृत्ते तदशक्तौ तत्सहायार्थं बहवः समायान्ति। ते सर्वे स्वतन्त्रा नियामकाभावात् कार्यं न करिष्यन्तीत्याशङ्क्.य तद्रक्षका अपि समायान्ति तेनीकपाः। तेपि बहवो भ्रंशयितुं समागता भगवदीयसुदर्शनादिभयादस्पृश्यैव निकटे तिष्ठन्ति। यथा प्रह्लादे। तेष्वेवारोहणार्थं भगवद्भक्ताः पाद प्रयच्छन्ति। तेषामधः पातनसामर्थ्याभावात् प्रतिष्ठाहेतव एव भवन्ति। यथा जडभरते मारणार्थमुद्यताः प्रतिष्ठाहेतव एव जाताः। तेषां मूर्धानः सर्वसामर्थ्यस्थानानि परमकाष्ठापन्नानि। एवं तेषां विचरणे हेतुः प्रभो इति। एतत्सामर्थ्यं त्वदीयमेव। अतस्ते समर्था अपि न द्विषन्ति। अतो भक्तिमार्गान्मर्गान्तरं साधनतः फलतश्च न समीचीनमित्युक्तम्।।३३।।

अनुवाद – हे माधव! वे आपके भक्त जिन्होंने पूर्वकाल में ज्ञानियों की भांति अनेक सत्कर्म आदि किये हैं, जिनसे आपने उनको अपने बना लिये हैं अतः वे भक्त आरोहण अवस्था (ऊपर चढ़ने की साधनावस्था) में भी गिरते नहीं है। प्रमाद होने पर भी एक पांव भी नहीं नहीं गिरते हैं अपने ही मार्ग पर स्थिर रहते हैं कारण कि यह भक्ति मार्ग ही ऐसी विशेषता वाला है। जो मनुष्य जैसी वस्तु अपने पास रखता है उसको वैसा ही लाभ होता है जैसे उत्तर फुलेल बेचने वाले को अनायास सुगन्धि मिल ही

जाती है। तथा जो लहसुन बेचने वाला है उसको निरुपाय दुर्गन्धि लेनी ही पडती है। उससे वह अपने को बचा नहीं सकता है। यद्यपि जिसको आपने अपना लिया है उसने स्वतन्त्र आपकी सेवा नहीं की है तो भी उसका पता नहीं होता है कारण कि उसको अपनाने वाला ऐश्वर्यादि षड्गुणयुक्त आप भगवान् है। श्लोक में भगवान् का माधव नाम देने का भाव बताते हैं कि भगवान् रात्रि में उन तत्रत्य भक्तों को विलासपूर्वक दर्शन देते हैं। इससे यह दिखाया कि दोनों विकर्म की तुल्यता होने पर भी इन भक्तों को भगदर्शन होता है अन्यों को नही, कारण कि वे भगवान् की सेवा करने वाले सेवक होने से भगवान् के हैं। वे भ्रष्ट नहीं होते हैं जिसका कारण यह है कि आप भगवान् मे उनका सौहार्द[1] है। स्नेह रज्जू के समान होता है। जैसे रज्जू दूसरे को बान्धते हुए आप भी बद्ध हो जाती है वैसे ही स्नेह भी जीव को तथा अपने को भगवान् के चरणों में बद्ध कर देता है। अतः उन स्नेही सेवकों का न गिरना, योग्य ही है। शङ्का करते हैं कि कालादिक उनको भ्रष्ट क्यों नहीं करते अथवा उनकी भक्ति को क्यों नहीं नाश कर देते हैं ? इस शङ्का निवारण के लिये कहते हैं कि उनको रक्षा आप कर रहे हैं, अतः वे निर्भय फिरते हैं। साधारण प्रकार से उनकी रक्षा नहीं करते हैं किन्तु पूर्ण रीति से करते हैं जिससे बाहिर भीतर सर्वत्र रक्षा होने से उनकी बुद्धि का नाश नहीं होता है और न उनमें कोई दोष भीतर जा सकता है जिससे वे भ्रष्ट हो सके। अतः कालादिकों का भय न होने से तथा कहीं भी निन्दा न होने से वे सर्वत्र निर्भय फिरते रहते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु आपसे रक्षित होने के कारण, जहाँ दूसरों को विघ्नों के कारण भय होता है और दूसरे विघ्नों के भय से, जिस स्थान को छोड़ देना चाहते हैं वहाँ ये उन विघ्न करने वाली सेनापतियों के शिर पर पैर धर कर निर्भय होकर घूमते हैं क्योंकि विघ्नकर्ताओं की सारी सेना विघ्न करने के लिये आकर भी कुछ कर नहीं सकती है। कारण कि आपके सुदर्शनचक्र आदि के भय से उनका स्पर्श तक न कर के दूर ही खड़ी करती है। प्रल्हाद के चरित्र से इसका प्रमाण मिलता है। भगवद्भक्त ऊपर चढ़ने के लिये विघ्नों के शिर को सीढ़ी बनाते हैं। वे विघ्नकर्ता तो इन भक्तों को नीचे गिरा नहीं

[1] LusgA

सकते हैं अतः वे विघ्नकर्ता, भक्तों की प्रतिष्ठा के लिये कारण बन जाते हैं। जैसे जड़ भरत को मारने लगे किन्तु उनको मार न सके जिससे जड़ भरत की प्रतिष्ठा हो बढ़ी।

विघ्नकर्ताओं के मस्तक परम काष्ठापन्न[1] तथा सर्व सामर्थ्य वाले होने से वे आपके बल पर ही सबके पास जा सकते हैं किन्तु समर्थ होते हुए भी भक्तों से द्वेष नहीं करते हैं क्योंकि वहाँ उनका सामर्थ्य स्तब्ध हो जाता है, इससे सिद्ध होता है कि भक्ति मार्ग के साधन और फल से कोई भी अन्य मार्ग उत्तम नहीं है ।।३३।।

सुबोधिनी – एवं स्मृतिमार्गेण भगवत्पक्षपातमुक्त्वा वैदिकमार्गेण पूर्ववदाह सत्वमित्यादि चतुर्भिः।

उपरोक्त श्लोकों में स्मृति मार्ग से भगवत्पक्षपात कह कर अब वैदिक मार्ग से भगवत्पक्षपात का ४ श्लोकों में प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल के भेद से वर्णन करते हैं।

श्लोकः– सत्त्व विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः।
वेदक्रियायोगतपः समाधिभिस्तवार्हणं येन जनः समीहते।।३४।।

श्लोकार्थ – आप, जगत के पालन समय में जीवों को शुभ कर्मो का फलरूप उपहार[2] देने के लिये सत्त्वगुणमय शरीर धारण करते हो जिससे मनुष्य वेद में कही हुई क्रिया, योग, तप और समाधि से आपकी सेवा कर सकते हैं ।।३४।।

सुबोधनीः – वेदो हि द्विविधः प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गप्रतिपादकः। तार्ऽशोपी पुनः प्रत्येकं द्वेधा भिन्नैरधिकारिभिर्द्विविधः। तत्र प्रवृत्तावर्थावबोधोध्ययनमनुष्ठानं चेति ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्य चाधिकारेण सिद्धम्। तप आत्मनि च स्थितिरुत्तमाश्रमस्थयोर्निवृत्तौ क्रमेणैव सिद्धम्। एतद् वेदानुसारेणाश्रमचतुष्टये धर्मानुष्ठानं दैत्यांशानामपि तुल्यमिति भगवान् सत्त्वमूर्तिः स्वसत्त्वं प्रकटीकृत्य सात्त्विकानेव तत्तद्धर्मेषु प्रेरयति विपरीतांश्च निवर्तयति। अन्यथाश्रमस्थेष्वेव केचिदध्ययनादिकं यथाशास्त्रार्थं कुर्वन्ति केचिन्नेतिव्यवस्था न स्यात्। वैदिकाश्च सर्वे धर्माः परिपाल्यमाना एव जगति प्रवर्तन्ते। अतः स्थितौ स्थित्यर्थं यदा भवान् विशुद्ध सत्त्वं सत्त्वगुणं श्रयते तदैव तेन सत्त्वगुणेन लोके प्रसृतेन व्याप्ता आश्रमस्थाः क्रमेण वेदाध्ययनं क्रियायोगः कर्मानुष्ठानं तपो वनवासादिः समाधिरात्मस्थितिश्चेति चतुर्विधान् धर्मान् सम्यगनुतिष्ठन्ति। ततोपि तेन धर्मेण शुद्धान्तःकरणास्तवार्हणं समीहन्ते। शुद्धैरेव हि

---

[1] Å¡poh inoh ij igq¡ps gqosA
[2] भेंट, पारितोषिक।

भगवत्सेवा कर्तुं शक्यत इति। ननु वेदनैव कार्यसिद्धौ किं सत्त्वगुणेनेत्याशङ्क्याह शरीरिणामित्यादि। यदि फलदाता कोपि न स्यात् प्रथमप्रवृत्तं विसंवादिनं दृष्ट्वा कोपि न प्रवर्तेत। नन्वदृष्टादिद्वारा भूतसंस्कारद्वारा वा कार्यसिद्धौ किं सत्त्वमूर्त्येत्याशङ्क्याह शरीरिणामिति। ते हि शरीराभिमानिनो विद्यमानशरीराश्च। यदि प्रथमं शरीरभिन्नतयात्मानं जानीयुस्तदा कर्तृसमानाधिकरणमदृष्टमुत्पद्येतैव। देहान्तरे वा फले प्राप्ये भूतसंस्कारो भवेत्। उभयोश्चाभावात् फलदाता भगवानेवापेक्ष्यते। तदाह श्रेय उपायनम्। उप समीप आनीय समर्पणम्। यस्माद् वपुरिति। दैवगत्या फलसिद्धिज्ञानाभावाय। अस्तु वा फलसिद्धिः। तस्य धर्मस्य भगवद्भजने करणत्वं सहायत्वं वा चेन्न स्यात् तदा क्षयिष्ण्वेव फलमिति पूर्वदोषानिवृत्तिः। अतो वैदिके मार्गे सर्वधर्मप्रवर्तको भगवानिति देवानां पक्षपोषकः। जन इत्येकवचनं जात्यभिप्रायः दुर्लभत्वज्ञापनाय।।३४।।

अनुवाद– प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग के प्रतिपादन के कारण वेद दो प्रकार का कहा जाता है। पुनः प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के दो–दो भेद हैं। जिनके अधिकारी भी भिन्न–भिन्न होते हैं। अतः वे, दो भी पुनः दो–दो प्रकार के हो जाते हैं। उनमें से प्रथम प्रवृत्ति मार्ग के धर्म ब्रह्मचारी तथा गृहस्थों के अधिकारानुसार अर्थविबोध[1], अध्ययन[2] और अनुष्ठान[3] सिद्ध है। द्वितीय, निवृति मार्ग के धर्म, वानप्रस्थी तथा संन्यासी के अधिकारानुसार तपस्या और आत्मा का अनुसन्धान निवृत्ति के समय क्रम से करने के लिये कहे गये हैं।

इस प्रकार चारों आश्रमों के मनुष्यों के लिये वेदानुसार इन धर्मों का आचरण करने के लिये कहा है अतः जिनमें दैत्यांश है वे भी इन धर्मों को करने लगेंगे। इसलिए सत्त्वमूर्ति भगवान् अपना सत्त्व प्रकट कर सात्त्विक (दैवी) जीवों को ही उन धर्मों के करने के लिए प्रेरणा करते हैं तथा अन्यों (आसुरी दैत्यांश वालों) को वहाँ से हटा लेते हैं। जो इस प्रकार भगवान् की प्रेरणा नहीं होवे तो आश्रम स्थितों में भी, कोई शास्त्रार्थानुसार वेदाध्ययन करते हैं तथा कोई नहीं करते हैं, इस भांति की व्यवस्था नहीं होती। वैदिक धर्मों का प्रचार उनके पालन करने से ही जगत् में होता है। अतः जगत् की स्थिति समय में जगत् की स्थिति के लिए जब आप विशेषेण शुद्ध सत्त्व रूप धारण

---

[1] अर्थ का ज्ञान
[2] वेदादि शास्त्रों का पढना
[3] वेद में कहे हुए धर्मों का पालन

करते हो तब लोक में फैले हुए आश्रम धर्म क्रम पूर्वक वेदाध्ययन, क्रिया योग कर्मानुष्ठान, तपस्या, वनवास और समाधि (आत्मा में स्थिति) इन चार प्रकार के धर्मों का जीव सम्यक्[1] प्रकार से सेवन करते हैं। अनन्तर इन धर्मों के पालन से शुद्ध अन्तःकरण होने पर आपकी सेवा कर सकते हैं। शुद्ध जीव ही भगवत्सेवा करने के योग्य है।

वेद से ही जब कार्य की सिद्धि हो सकती है तब सत्त्वगुण की क्या आवश्यकता है ? इस शङ्का के निशकरण के लिये श्लोक में 'जीवा' न कहकर शरीरिणः कहा है जिसका आशय यह है कि जीव जब तक 'शरीराभिमानी' है तब तक वेदाज्ञा का पालन नहीं कर सकता है क्योंकि अभिमान रजो एवं तमो गुण से होता है जिससे बुद्धि भी अन्यथा होती है। अतः उन शरीराभिमानी जीवों के रजो तथा तमो गुण को दबाकर उनमें सत्त्वगुण का आविर्भाव भगवान् आप अवतार द्वारा नहीं करते हो, तब तक आश्रम धर्मों का पालन नहीं हो सकता है, जिससे जगत् की स्थिति भी डावाँडोल हो जाती है, इसलिए वेदों के विद्यमान होते हुए भी, सत्त्वगुण की आवश्यकता है। अथवा यदि कोई वेद से अतिरिक्त[2] चेतन फलदाता न होवे, तो प्रथम प्रवृत्त विसंवादी[3] को देखकर, प्रायः जनता वेदिक कर्मों में प्रवृत्त नहीं होगी। अतः वेद से कार्य की सिद्धि नहीं होने से, श्रेय करने वाले सत्त्वगुणावतार की वैदिक पदार्थ तथा क्रिया के ज्ञान उत्पन्न करने के लिये आवश्यकता है।

वेद से सिद्धि न हो तो भी अदृष्ट द्वारा वा भूत संस्कार द्वारा कार्य की सिद्धि हो जायगी तदपि सत्त्वमूर्ति की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार की शङ्का को इस भांति मिटाते हैं कि अदृष्ट और भूत संस्कार तब बनते हैं जब जीव को देह से भिन्न समझा जाय वे तो शरीर को ही अपना रूप समझते हैं इसलिये उनका प्रारब्ध नहीं बनता है और प्रारब्ध के न होने से भूत संस्कार भी नहीं बनते हैं, दोनों के अभाव में फलदाता भगवान् की अपेक्षा रहती ही है। भगवान् ही फलदाता है इसको सिद्ध करने के लिये श्लोक में 'श्रेयः उपायनं और वपुः' शब्द दिये हैं। जिनका भावार्थ है कि भगवान् स्वयं

---

[1] भली, ठीक

[2] पृथक या भिन्न

[3] अवैदिक

सत्त्वमूर्तिधारण कर कल्याणकारी उपहार आकर भेंट करते हैं। दैवगति[1] से फल की सिद्धि नहीं होती है किन्तु भगवान ने कृपा कर प्रकट हो के यह सत्त्वबुद्धि उपहार मे दी है।

दुर्जन–संतोष[2] से मानी जाय कि, दैवगति से फल की सिद्धि हो भी जाय तो भी वह सिद्धि भगवद्भजन में साधनभूत सहायक न हुई तो उस सिद्धि का फल नाशवान होगा और पूर्व दोषों की निवृत्ति भी नहीं होगी। अतः वैदिक मार्ग में सर्वधर्म प्रवर्त्तक भगवान् ही है। इससे देवों के पक्ष का पोषक है। श्लोक में 'जन' शब्द एक वचन जाति के अभिप्राय से दिया गया है और वह दुर्लभत्व बताने के लिये है।।३४।।

ननु ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्यापि श्रेयोदानार्थमात्मविवेकस्याजातत्वात् सत्त्वाश्रयणं भवतु नाम ज्ञानस्य तु सिद्धफलदातृत्वादसिद्धफलेपि साक्षादेव फलजननसम्भवात् तज्ज्ञाने तत्साधने तपसि वा भगवतः सत्त्ववपुर्नापेक्ष्यत इत्याशंक्याह सत्त्वं न चेदिति।

जिन ब्रह्मचारियों और गृहस्थियों को आत्मविवेक (आत्मा के स्वरूप का ज्ञान) नहीं है उन्हों को श्रेयदानार्थ (सत्त्व प्रकट कर आत्म स्वरूप का ज्ञान देने के लिये अथवा मोक्ष देने के लिये) सत्त्वगुण रूप अवतार लेने की चाहे आवश्यकता हो किन्तु ज्ञान तो सिद्ध फल का दाता है, यदि फल की सिद्धि न भी हुई हो तो भी ज्ञान साक्षात् फल जनक होने से उस ज्ञान के वा उसके साधन अथवा तपस्या के लिए भगवान् के सत्त्वशरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई इस प्रकार पूर्व पक्ष शङ्का करे तो उसके उत्तर में यह श्लोक कहते हैं।

श्लोकः – सत्त्वं न चेद् धातरिदं निजं भवेद् विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः।।३५।।

श्लोकार्थ – हे धातः यदि आप सत्त्वगुणमय वपु को धारण नहीं करो तो अज्ञान को नाश करने वाले विज्ञान की भी स्थिति न हो। गुणों के प्रकाश से ही हम आपका अनुमान कर सकते हैं कि जिसका और जिससे गुणों का प्रकाश होता है।।३५।।

---

[1] प्रारब्धादि

[2] दुर्जन अर्थात् आग्रही को प्रसन्न करने के लिये उसकी बात थोडे समय के लिये मान लेने को 'दुर्जन सतोष' कहते है।

सुबोधिनी: – इदं शुद्धसत्त्वं सर्वरक्षकं सर्वकर्मफलदातृ चेन्न भवेद् विज्ञानमपि न भवेत्। "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान" मिति सत्त्वाभावे ज्ञानं न स्यात्। न च शास्त्रसिद्धेन सत्त्वगुणेन ज्ञानमुपस्थापयितु शक्यते। परीकयत्वात्। यस्मिन् क्षणे शास्त्रानुसन्धानं तदर्थानुष्ठान वा तदैव तत्सत्त्वमाविर्भवति। तद्धर्मत्वन्त्। इदं तु निजम्। न च तैरपि स्वमूलकारणभूतं सत्त्वगुणमुत्पादयितुं शक्यते तेषां कर्तृत्वाभावादिति ज्ञापयति हे धातरिति। विज्ञानमनुभवः। स च सत्त्वैकरूपेन्तः करणे भवति। यथा यथा च विशुध्यते तथा तथाकामहतो भवतीति शुद्धसत्त्वाविर्भाव एव विज्ञानं युक्तं यथोत्पन्ने जगत्यन्ने सत्यां क्षुध्यन्नसम्पादनं सुकरं न तु क्षुदनन्तरं तत्सम्पादनं शक्यम्। अतो भगवता सत्त्व आविर्भाविते तत्कृपया भगवता सह सत्त्वमपि हृदये समागच्छेन्नत्वन्यथा। निषिध्यमानं शास्त्रीयं भविष्यतीत्याशङ्क्य विशिनष्टयज्ञानभिदापमार्जनमिति। अज्ञाननाशकं विज्ञानमात्मानुभवः। भेदनाशकं तु भगवद्विज्ञानम्। उभयोः साक्षात्कारे देहाद्यध्यासनिवृत्तिः शुद्धाद्वैतं च स्फुरति। तच्च ज्ञानं न विषयविषयिभावेन। ताऽंशस्य पुरुषार्थासाधकत्वं पूर्वमुक्तम्। आविर्भावस्तु भगवतः स्वरूपस्य वा शुद्धसत्त्वव्यतिरेकेण न सम्भवति। यदि ज्ञाने सत्त्वापेक्षा सुतरां तपसि तदपेक्षेति न तत् पृथङ् निरूपितम्। न चेद् भवेदिति। इत्पदव्यतिरिक्तं सर्वमावर्तते। "अर्थवशात् पदानां व्यवस्था"। "अज्ञानभिद् विज्ञानं मार्जनमापेति न व्याख्यानम्। नन्वस्य सत्त्वस्य स्वतो ज्ञानरूपत्वाभावात् साधन उपयोगः। यद्यन्यथैव भगवदाविर्भावो भवेदात्मनो वा तदा किं सत्त्वेन ? तत्रेन्द्रियाणां प्रकाशो लोकऽंष्टः स्वकारणप्रकाशमाक्षिपति। तत्र प्रवर्तकस्य भगवतोभिमानिनो जीवस्य न प्रकाशोवश्यम्भावी। अतस्तदनुसन्धानेनैव तद्वयवधायकमलनिवृत्तौ तदुभयोः प्रकाशो भविष्यतीति व्यर्थं सत्त्वमिति चेत् तत्राह। गुणप्रकाशैरनुमीयते भवानिति। गुणानामिन्द्रियविषयादीनां प्रकाशैर्ज्ञानैः प्रेरकोभिमानी चानुमीयतेस्तीति। स ह्यनाविर्भूत एव तथा करोति। आविर्भावस्तु केन कर्तव्यो भवेत् ? – च स्वरूपसत्त्वं कार्यकारणं वा प्रकृते प्रयोजकम्। आविर्भावस्तु सत्त्वाधीन इति पूर्वमवोचाम। न च प्रकाशोपि कार्यव्यतिरेकेण न सम्भवति। अन्यथा गुणप्रकाशो न भवेदिति वक्तव्यम्। यस्य सम्बन्धी वा गुणः प्रकाशते येन वा गुणः प्रकाशते। न तु सम्बन्धिनः करणस्य वा प्रकाशमपेक्षंते। अतः प्रकाशार्थमवश्यं सत्त्वगुणोपेक्षितः।।३५।।

अनुवाद – यदि सर्व रक्षक और सर्व कर्म फल दाता आपका यह शुद्ध स्वरूप न हो तो विज्ञान भी न होवे। कारण कि शास्त्र कहते हैं कि 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानं' सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है यदि सत्त्वगुण नहीं हो तो ज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं हो। यदि कहो कि शास्त्रों से ज्ञान प्राप्त कर लेंगे तो वह भी नहीं हो सकता है। कारण कि शास्त्र पढने से वा उनके अर्थ के मनन करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह शास्त्र का धर्म होने से उस वक्त तक ही रहता है क्योंकि वह ज्ञान पराया होने से टिकता नहीं है। यह ज्ञान जो सत्त्वगुण वपुधारी से दान रूप में प्राप्त होता है वह

अपना होने से स्थिर रहता है अतः इस ज्ञान से सिद्धि होती है। शास्त्र, मूलभूत सतोगुण को प्रकट नहीं कर सकते हैं। कारण कि शास्त्र, कर्ता नहीं है इसको सिद्ध करने के लिये भगवान् को 'हे धात' नाम से संबोधन किया है आप रक्षक हो जिससे आपका स्थापित किया हुआ सतोगुण सदैव रहकर ज्ञान को प्रकट करता है जिससे क्रमशः विज्ञान[1] भी होता है। 'विज्ञान सत्त्वगुणयुक्त अन्तःकरण में होता है। ज्यों–ज्यों ज्ञान द्वारा जीव निष्काम बनता जाता है त्यों–त्यों उसको विज्ञान की प्राप्ति होती है। जैसे जगत् में अन्न उत्पन्न हो गया हो तो क्षुधा होते ही अन्न लाना सरल होता है। न कि भूख लगने के बाद अन्न उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाय। जो यत्न व्यर्थ है। अतः भगवान् द्वारा सत्त्व का आविर्भाव होने से उनकी कृपा से उनके साथ सत्त्व भी हृदय में प्रवेश करता है, अन्य प्रकार से सत्त्व, हृदय में सदैव के लिए नहीं आता है।

यदि इस प्रकार सत्त्व प्राप्त न हो तो शास्त्र से प्राप्त करेंगे। इस शङ्का को 'अज्ञानभिदायमार्जनं' विशेषण देकर निवारण करते हैं। विज्ञान के दो प्रकार हैं – एक प्रकार जो अज्ञान का नाश कर आत्मा का अनुभव कराता है वह आत्म–विज्ञान है। दूसरा प्रकार जो आत्मा[2] और परमात्मा के भेद को मिटाता है उसको भगवद्विज्ञान कहते हैं। जब इस प्रकार जीव और परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब देहादिकों में जो अध्यास[3] है वह नष्ट हो जाता है और सर्वत्र शुद्ध अद्वैत स्फुरित होता है। वह ज्ञान, विषय तथा विषयी भाव से नहीं होता है कारण कि विषय और विषयी भाव द्वैत तक रहता है, अद्वैत में वह भाव नहीं होता है। विषय विषयी भाव पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं करता है यह पूर्व में कह दिया है। भगवान् वा आत्मस्वरूप का आविर्भाव शुद्ध सत्त्वगुण के सिवाय नहीं होता है। यदि ज्ञान में सत्त्वगुण की अपेक्षा[4] है तो तपस्या में भी सत्त्वगुण की अपेक्षा[3] होनी चाहिए। अतः उसका पृथक् निरूपण नहीं किया गया है।

---

[1] अनुभव

[2] जीव स्वरूप

[3] जीव अपने को ब्रह्म का अंशस्वरूप न समझ देह प्राणादि को अपना रूप समझता है।

[4] आवश्यकता

श्लोकों में जो पदों की व्यवस्था अर्थात् अन्वय किया जाता है वह अर्थ के अनुकूल किया जाता है। अतः यहाँ अर्थानुकूल अन्वय इस प्रकार करना चाहिए। अन्यों ने जिस प्रकार अन्वय किया है, वह प्रसंगाानुकूल युक्त नहीं है।

श्लोक के प्रथम आधे का अन्वय –

हे धातः इदं निजं सत्त्वं यदि न भवेत्, अज्ञानभिदापमार्जनं विज्ञानं (अपि) न भवेत्।

अर्थ – हे धातः! यह अपना सत्त्व न हो तो अज्ञान के भेद को नष्ट करने वाला विज्ञान भी उत्पन्न न होवे। इस प्रकार अन्वय करने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

यह सत्त्वगुण स्वयं तो ज्ञान रूप नहीं है। अतः इसका उपयोग ज्ञान के साधन के रूप में किया जाता है। तब अन्य प्रकार से ही भगवान् का और आत्मा (जीव) का आविर्भाव हो जाय तो सत्त्व की क्या आवश्यकता है ? इन्द्रियों का प्रकाश लोकदृष्टि से भी देखा जाय तो अपने कारण रूप भगवान् के प्रकाश का ही आक्षेप[1] करता है। वहां ज्ञान मार्ग में प्रवृत्ति कराने वाले भगवान् और भगवत्रूप होने का अभिमान करने वाले जीव दोनों का प्रकाश अवश्यम्भावी है। अतः अपने कारणरूप, भगवान् के अनुसन्धान करने से विक्षेप करने वाले मल की निवृत्ति हो जायेगी, जिससे आत्मा (जीव) और परमात्मा दोनों का प्रकाश हो जायेगा। अतः सत्त्व की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि इस प्रकार शङ्का की जाय तो उसका उत्तर देते हैं कि 'गुणप्रकाशैः अनुमीयते भवान्' गुण के प्रकाश से अर्थात् इन्द्रियों के विषय ज्ञान से केवल अनुमान किया जाता है कि आप प्रेरक और जीव गुणाभिमानी है। इस अनुमति[2] से उन दोनों की सत्ता का ज्ञान होता है, न कि उनके स्वरूपों का प्रकाश होता है। यदि स्वरूप का प्रकाश हो तो उस समय यह मालूम हो जाय कि यह तो भगवान् है और यह मैं हूँ वह तो होता नहीं है। यह क्यों नहीं होता है वहाँ कहते हैं कि वह (परमात्मा) आविर्भूत न होकर ही कार्य करते हैं। आविर्भाव तो कौन कर सकता है ? यदि कहा जाय कि स्वरूप, सत्ता से ही आविर्भाव हो जायगा। इस पर कहते हैं कि प्रकृत में (पूर्व में कहे हुए प्रकार से परोक्ष

---

[1] अनुसरण

[2] अनुमानज्ञान

के अनुभव में) स्वरूप की सत्ता अथवा कार्यकारण प्रयोजक (प्रेरक—काम में लगाने वाले) नहीं है। आविर्भाव तो सत्त्व गुण के आधीन (आश्रित) है। भगवान् का प्रकाश तो कार्य (गुणों के) प्रकाश के सिवाय भी होता है। यदि इस प्रकार न हो तो यों कहो कि गुणों का प्रकाश भी नहीं होगा। कारण कि जिसके सम्बन्ध वाला गुण, प्रकाश में आता है और जिससे गुण का प्रकाश होता है। इस प्रकार अर्थ करने से सर्व स्पष्ट हो जायगा। यहाँ सम्बन्धी वा करण (साधन) के प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। अतः प्रकाश के लिये सत्त्वगुण की आवश्यकता है ही। जैसे सूर्य की सत्ता हो तो भी, वह सत्ता वाला सूर्य, वस्तु का प्रकाश नहीं कर सकता है। इसका प्रत्यक्ष ज्ञान, ग्रहण के समय में होता है, उस समय सूर्य की सत्ता है किन्तु वह, केवल सत्ता वस्तु को दिखा नहीं सकती है, ग्रहण के अभाव में जब प्रकाश युक्त सूर्य होता है तब वह वस्तु को दिखा सकता है। इसी भांति यहां भी प्रकाश विशिष्ट सत्ता से ही कार्य सिद्धि होती है, अतः प्रकाशार्थ भगवद्वपुरुष सत्त्व गुण की आवश्यकता है क्योंकि उसके बिना उत्तमाश्रयी के हृदय में भी स्वरूप का प्रकाश नहीं होता है। इस प्रकार इस वैदिक मार्ग में, जीवस्वरूप, प्रकाश तथा शुद्धाद्वैत प्रकाश प्रमेय कहा गया है ।।३५।।

सुबोधिनी— एव प्रमाणप्रमेये वैदिकप्रकारेण भगवद्रूपेण भगवद्रूपे विचारिते। साधनं विचारयति न नामरूपे इति।

उपरोक्त श्लोक में वैदिक प्रमाण तथा प्रमेय का भगवद्रूप से विचार कर अब इस श्लोक में साधन का विचार करते हैं।

श्लोकः— न नामरूपे गुणकर्मजन्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि।।३६।।

श्लोकार्थ — उन साक्षी स्वरूप आपके मार्ग का केवल अनुमान होता है कारण कि आपके नाम और रूप, मन तथा वचन के अगोचर है। अतः गुण, कर्म और जन्म निरूपण नहीं किये जा सकते हैं तो भी क्रिया में आपको प्रतीति उपासकों को होती है ।।३६।।

सुबोधिनी — वैदिकमार्गानुसारेण साधनं भगवान् सर्वपुरुषार्थेषु। स च गुणातीत एव। वेदे गुणाभावात्। फलदानार्थं पर भगवान् देवपक्षपातार्थं तथा कृतवान्। अतः सगुण साधनमितिपक्षं निराकरोति न नामरूपे इति। तेनामिरूपे गुणकर्मजन्मभिर्न निरूपितव्ये। साक्षी भगवान्

सर्वकर्मफलदाता कर्माध्यक्षः। स एव साधनम्। गुणैः कृत्वा यानि कर्माणि जन्मानि च तानि तव न सन्त्येव किन्तु क्रियाशक्त्यैव सद्रूपया धर्मरूपेण प्रकटस्य तवाविर्भावः कर्माणि। आनन्द रूपेण प्रकटस्य च जन्मानि। तैरेव च नामरूपे। अन्यथा प्राकृतत्वे सति न कोपि पुरुषार्थः सिध्येत्। भवतु वा भगवतः कल्पान्तरे तथाभूते अपि न तु शास्त्रे साधनत्वेन निरूपितव्ये। तदा तस्य फलदातृत्वं न स्यात्। कर्माध्यक्षत्वाभावात्। किञ्च सगुण चेन् मनसा वचसा च व्याप्य भवति। ततो मानसिकं वाचनिकमेव फलं प्रयच्छेद् न त्वात्मरूपं भगवद्रूपं वा। भगवांश्च मनोवचोभ्यामनुमेयमेव तर्क्यमेव वर्त्म यस्य ताऽंशः। न तु प्रत्यक्षविषयः। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू" रित्यादिश्रुतिवाक्यैः। तर्हि नामरूपाण्येव न सन्तीति चेत् तत्राहुर्देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हीति। हे देव सर्वपूज्य। क्रियायां श्रौत्यां तान्त्रिक्यां च नामरूपे प्रतियन्ति। "विष्णोर्नुकं" "तदस्य प्रियम्" "इदं विष्णुः" "प्रतद् विष्णु" षडक्षरादिरामादिमन्त्राश्च। "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्याद् तां मनसा ध्यायेद् वषट्करिष्य "न्निति श्रुतेर्ध्यानादिविधानाच्च। नामरूपाभावे ध्यानं मन्त्रश्च न भवेताम्। इमामेवोपपत्तिमाह हिशब्दः। अत एव तदन्यथानुपपत्त्या प्रतियन्ति। यतः प्रतियन्त्यतः प्राकृतत्वाभावाद् दिव्यान्येव तान्यायन्दमयानीत्यध्यवसीयन्ते। एवं सर्वाण्येव रूपाणि नामान्यानन्दमयानीति तानि सर्वपुरुषार्थसाधकानि निरूपितानि।।३६।।

अनुवाद – वैदिक मार्ग के अनुसार समस्त पुरुषार्थों के लिये भगवान् ही साधन है। वह (साधन रूप भगवान्) गुणातीत है कारण कि वेद में गुणातीत भगवान् का वर्णन है। किन्तु उस निर्गुण भगवान् ने देव पक्षपात के लिये तथा फलदान करने लिये गुणविशिष्ट स्वरूप धारण किया है जिससे वह सगुण भगवान् यहां साधन रूप है इस प्रकार यदि कहा जाय कि सगुण भगवान् साधन रूप है तो उस सिद्धांत (पक्ष) का निराकरण करते हुए कहते हैं कि आपके नाम तथा रूप गुण कर्म और जन्म के कारण नहीं बनते हैं। कारण कि आप भगवान् तो साक्षी, सर्व कर्मों के फलदाता तथा कर्माध्यक्ष, हो वह ही साधन रूप हो। गुणों से जो कर्म वा जन्म होते हैं वे आपके नहीं होते हैं किन्तु सद्रूप क्रिया शक्ति द्वारा धर्म रूप से जो आपका प्राकट्य है वे ही नाम हैं तथा आनन्द रूप से जो प्राकट्य है वे ही आप के जन्म हैं। इन्हीं से ही आपके नाम तथ जन्म है। यदि वैसे आपके नाम तथा जन्म न होवे तो प्राकृत होने पर कोई भी पुरुषार्थ उन प्राकृत नाम रूपों से सिद्ध न होगा।

इस प्रकार भगवान् के नाम और रूप कल्पान्तर में भले माने जायें, किन्तु शास्त्र में साधन रूप से, निरूपण नहीं करने चाहिये। जो इसी तरह मान लिया जाय, तो

भगवान् में जो फलदातृत्व है वह भी रहेगा नहीं। कारण कि प्राकृत नाम रूप वाले, फलदाता नहीं हो सकते हैं। पुनः जो सगुण माना जाय, तो वह मन एवं वाणी से व्याप्य (मन और वाणी का विषय) होने से, मानसिक और वाचनिक फल ही दे सकेंगे। भगवान् तो मन और वाणी से तथा जिनके मार्ग का केवल अनुमान ही कर सकते हैं वैसे हैं, न कि प्रत्यक्ष विषय है। क्योंकि (यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसासह) (पराञ्चिखानि व्यतृणोत् स्वयम्भूः) इत्यादि श्रुतियों में कहा है, कि मन सहित इन्द्रियां वहां न पहुँचकर, लौट आती है, उस स्वयम्भू को इन्द्रियां प्राप्त नहीं कर सकती हैं। तो उसके नामरूप नहीं है यदि यों कहो तो उसके उत्तर में श्लोक में कहा है कि (देव क्रियायां प्रतिय मन्स्थापि हीति) हे देव! यद्यपि आपके नामरूप इन्द्रियों से नहीं जाने जाते हैं तो भी क्रिया से इनकी प्रतीति होती है जिसका प्रमाण भी शास्त्र ही है। जैसे कि कहा है – (विष्णोर्नुक) विष्णु के वीर्य (पराक्रम) कहते हैं। (तदस्य प्रिय) वह (इसका प्रिय)। (इदं विष्णुविचक्रमे) विष्णु ने यह विश्व तीन पादों में नाप लिया। षडक्षरादि राम आदि मंत्र तथा जिस देवता के लिये हवि अर्पण करने के लिये ग्रहण की है उसका ध्यान करो। इत्यादि क्रियाएँ तब हो सकती हैं जब आपके नाम और रूप हो यदि नाम व रूप न हो तो ध्यान तथा मंत्र भी न होवे। (हि) शब्द से निश्चय पूर्वक यह उत्पत्ति होती है कि, ये आपके नाम और रूप प्राकृत नहीं है किन्तु आनन्दमय (अलौकिक) हैं। अतः वे (आनन्दमय नाम तथा रूप) सर्व पुरुषार्थो के साधक (सिद्ध करने वाले) हैं। ऐसा निरूपण किया गया है।।३६।।

आभास–तैः फलमाह श्रृण्वन् गृणन्निति। साङ्ग.ानि कर्माणि वैदिकान्यवश्यं फलदातृणि

उपरोक्त श्लोक में भगवान् के नामों व रूपों के स्वरूप का वर्णन किया है कि वे नाम और रूप नित्य तथा आनन्दमय हैं, अब इस श्लोक में उनके लेने और ध्यान करने से जो फल मिलता है उसका वर्णन करते हैं।

श्लोकः–श्रृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्ग.लानि ते।

क्रियासु युष्मच्चणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते।।३७।।

श्लोकार्थ – आपके मङ्गलरूप नाम और रूपों को स्मरण करते हुए, सुनते हुए, कहते हुए और चिन्तन करते हुए पुरुष देवार्चनादि क्रियाओं के करने के समय आपके चरणारविन्द में ही चित्त स्थिर रखते हैं। उनका कभी भी पुनर्जन्म नहीं होता है।।३७।।

सुबोधिनी – "यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युत" मितिस्मृतेः। सम्पूर्णं चेज्जातं फलं जनयेदेव। तच्च फलम् मोक्ष एवेति स्वर्गपदविचारे निबन्धे निरूपितम्। तदेवात्राप्याह। ते नामानि शृण्वन्। परैरुच्चारितानि रूपाणि च कीर्त्यमानानि ये शृण्वन्ति तदनु गृणन्ति। उभयविधान्यपि श्रोतरि सति। अन्यदा स्मरन्ति। तदपि स्मरणं ध्यानरूपमिति सस्मरणमुक्तम्। चकारात् स्मारयन्नुपदेशादिदानेन श्रावयन् वादयन्नपि। चिन्तयन् योगाङ्गध्यानत्वेन। तथैव चित्तनिरोधेन नामावृत्तिर्नाम ध्यानम्। अप्रयत्नश्चित्तव्यापारः स्मरण सप्रयत्नश्चित्त–व्यापारश्चिन्तनमितिविशेषः। तदेव रूपपरिकल्पने ध्यानमित्युच्यते। चकाराद् भगवत्सम्बन्धिनामप्यन्येषा श्रवणादिकं फलसाधकमित्युक्तम्। मङ्गलानीति तत्र प्रतिबन्धाभावो निरूपितः। अन्यथा तस्याप्यसिद्धाविच्छायामपि सत्यां कार्यं न स्यात् तदर्थमन्यच्च कर्तव्यमापद्येत। त इति मङ्गलरूपस्य तव। उत्तरत्र वा सम्बन्धः। क्रियासु यज्ञादिषु भगवत्सेवारूपासु वा लौकिकक्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराष्टिचितः स सर्वथा भवाय ससाराय न कल्पते न समर्थो भवति।

कारिका – **स्मरणेन क्रियाः पूर्णाश्चित्तावेशश्च तत्र हि।**
ज्ञानक्रिये यदा विष्णुस्तदा मोक्षो न संशयः।।१।।

सदोष एव हि संसारे कल्पते। एवं कृते सर्वदोषनिवृत्तौ संसारासामर्थ्यं युक्तमेव।।३७।।

अनुवाद – स्मृति शास्त्र इस श्लोक द्वारा कहता है कि 'यस्य स्मृत्या च नामोत्तया तपो यज्ञ क्रियादिषु' न्यूनं सम्पूर्णतांयातिसद्यो वन्दे तमच्युतम्' वैदिक कर्म जब अङ्गों सहित पूर्ण किये जाते हैं, तब वे फल देते हैं। यदि उनमें कुछ त्रुटि रह जाय तो फल नहीं देते हैं। अतः उस त्रुटि की उसी क्षण में ही पूर्ति करने के लिए स्मृतिकार ने कहा है कि तपस्या, यज्ञादि क्रियाओं में रही हुई त्रुटि की पूर्ति, जि अच्युत भगवान् की स्मृति[1] से और नाम लेने से हो जाती है। उस अच्युत भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ। इस श्लोक से यह बताया गया है कि किसी भी वैदिक आदि क्रियाओं की त्रुटि की

[1] याद

पूर्ति के लिए कर्म करने वाले को कर्म करने के अन्त में भगवत्स्मरण और नाम लेना चाहिए जिससे वह कर्म साङ्ग.पूर्ण होकर फलदाता हो जाय। वह फल मोक्ष ही है। आचार्य श्री कहते हैं कि हमने निबन्ध में स्वर्गपद का विश्लेषण करते हुए यह समझा दिया है कि 'स्वर्ग' शब्द का भावार्थ सुख अर्थात् मोक्ष है। उसे ही यहाँ भी कहा है।

जब दूसरे भक्त भगवान् के नामों का उच्चारण करते हैं तथा उनके गुण व रूपों का कीर्तन करते हैं तो उनको (दोनों प्रकारों को) सुनकर जो आप भी उसी भाँति बोलते हैं और स्मरण करते हैं तो वह स्मरण भी ध्यान रूप से करना चाहिए। इसीलिए श्लोक में 'स्मरण' न कहकर "संस्मरणं" कहा है। श्लोक में कहे हुए 'च' का आशय है कि केवल स्वयं न लेकर अन्यों को भी स्मरण करावे तथा उपदेशादि दान से अर्थात् उसका भाव बताते हुए दूसरों को सुनावे और हो सके तो उन्हों से नामध्वनि करावे।

'स्मरण' तथा 'चिन्तन' में क्या भेद है ? उसको समझाते हैं कि सांसारिक विषयों से रोके हुए चित्त से नाम का जप[1] करना ध्यान है, जिस ढंग से चित्त को किसी प्रकार का प्रयत्न न करना पड़े उस प्रकार से अर्थात् बिना प्रयत्न के नाम लेने को 'स्मरण' कहते हैं। प्रयत्न से नाम स्मरण में चित्त लगाने को चिन्तन कहते हैं। उसी चिन्तन के समय में स्मरण करते हुए यदि भगवद्रूप की भी कल्पना की जावे तो वह 'ध्यान' है। श्लोक के दूसरे 'च' का यह आशय है कि यदि भगवान से सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों का श्रवण किया जाय तो उनसे भी फल सिद्धि होती है। यदि फल सिद्धि की इच्छा होते हुए भी फल सिद्धि न हो तो क्या उसके लिए कोई दूसरा उपाय करना चाहिये ? ऐसी शंका ही किसी को मन में नहीं लानी चाहिए क्योंकि भगवान् के नाम, रूप और गुण तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ आपके (भगवान् के) मंगलरूप हैं। अतः उनसे सिद्धि को प्राप्ति में प्रतिबन्ध हो ही नहीं सकता है। क्योंकि आपकी क्रियाएँ (यज्ञादि भगवत्सेवा अथवा लौकिकवत् क्रियाएँ सब) मंगलरूप होने से बिना प्रतिबन्ध के सिद्धि देने वाली हैं।

[1] बार–बार नाम लेते रहना

जिसक चित्त आपके चरणारविन्द में पूर्ण रीति से प्रवेश कर गया है वह कदापि संसार में नहीं आता है अर्थात् वह भक्त मुक्त हो जाता है। संसार में वह आता है जिसमें दोष रहे हों। उपरोक्त क्रिया करने से सर्व दोष की निवृत्ति हो जाती है, तब अहंताममतात्मक संसार निर्बल होना युक्त है। जिससे निर्दोष को मुक्ति हो जाती है।।३७।।

कारिकार्थ – भगवान् के स्मरण से क्रियाओं में पूर्णता आती है और भगवान् में चित्त प्रविष्ट हो जाता है। ज्ञान और क्रिया दोनों जब विष्णु रूप हो जाती है तब मोक्ष होता है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।।१।।

व्याख्या – कारिका में केवल स्मरण कहा गया है किन्तु इस स्मरण शब्द से 'श्रवण, स्मरण, चिन्तन और कहना' ये चार ही समझने अर्थात् इन चारों प्रकार से भगवच्चिन्तनादि करने से भक्त के हृदय में क्रिया रूप भगवान् का अविर्भाव होता है। जब क्रियारूप भगवान् का हृदय में अविर्भाव होता है तब उस आविर्भाव से भक्त का चित्त उनके चरणारविन्द में प्रविष्ट होता है जिससे ज्ञान शक्ति रूप भगवान् का ही हृदय में आविर्भाव होता है। इस प्रकार जब साधक की क्रिया तथा ज्ञान शक्ति विष्णु रूप हो जाती है तब मोक्ष होता है। इसमें संशय नहीं करना चाहिये।।१।।

एवं वैदिकप्रकारेण चतुष्टयमुक्त्वा स्वसिद्धान्तानुसारेण चतुष्टयमाह दिष्ट्येतिचतुर्भिः।

यों वैदिक प्रकार से चारों (प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल) का निरूपण कर अब अपने (देवताओं के) सिद्धान्तानुसारी (प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल) चारों का चार श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोकः – दिष्ट्या हरेस्या भवतः पदो भुवो भारोपनीतस्तव जन्मनेशितुः।

दिष्ट्याङ्कितैस्त्वत्पदकैः सुशोभनैर्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम्।।३८।।

श्लोकार्थ – हे हरे! प्रसन्नता का विषय है कि आपके चरण रूप भूमि का भार, आप (ईश्वर) के जन्म (प्राकट्य) से दूर हुआ। आपके सुन्दर चरणारविन्दों से चिह्नित तथा कृपावाली पृथ्वी और स्वर्ग को हम देखेंगे यह भी हर्ष का विषय है।।३८।।

सुबोधिनी – भगवच्छास्त्रे भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयम्। भगवत्साक्षात्कारः साक्षात्कृतो वा भगवान् प्रमाणम्। भूमिप्रसङ्गाद् वयं कृतार्था जाता इति वदन्तः सर्वमेव जगद् भगवता कृतार्थमासीदित्याहुः। हरे ते पदो भुवः पादरूपाया भूमेस्ते जन्मना भारोपनीतः। मर्दनक्लेशस्तु

परमानन्दप्राकट्येनैव गच्छतीति। भारहानौ जन्मन एव करणत्वं न तु किञ्चित् तत्र कर्तव्यमस्ति। तत्र हेतुरीशितुरिति। ईशप्राकट्यमेव सर्वानर्थनिवर्तकम्। भूमिभारनिराकरणं च तवावश्यकम्। अस्माकं च हितकारि। यतस्तव चरणरूपा भूः। सर्वोपि स्वचरणभारं दूरीकरोति। उपास्ये च दोषाभाव सर्वेषां हितकारी। एतत्करणं चावश्यकं यतो हरिस्त्वम्। भगवज्जन्मनोलौकिकत्वात् क्लृप्तसाधनाभावात् सर्वात्मकत्वाच्च भगवतोसम्भावितमिति दिष्ट्येत्युक्तम्। केचित् त्विदमुदरे समागमनं भूमेर्भारहरणमेव न तु तव जन्मे' त्याहुः। अतो भूमावानन्द एव केवलं प्रकट इति। अन्यदपि जातमित्याह दिष्ट्याङ्कि.तैरिति। देवा अपि भुवं न स्पृशन्ति किं पुनर्भगवान् स्प्रक्ष्यति ? अतोसम्भावितमपि यद् भविष्यति तद् दिष्ट्येति। सर्वरूपत्वाद् भगवतो मनुष्यादिरूपेण भुवं स्पृशत्येव किमाश्चर्यमित्याशङ्क्याहाङ्कि.तैरिति। ध्वजवज्राङ्कुशादिचिह्नैरङ्कि.तैः। अङ्कि.तामितिपाठे शङ्क.ापरिहारार्थम्। सुशोभनैः सर्वलक्षणसम्पन्नैः पादैरङ्कि.तां चिन्हिता गां द्रक्ष्याम इति महद्भाग्यमस्माकम्। भूमिः पदं गृह्णातीत्यपि भाग्यम्। पदं छायामपि जनयतीत्यपि। पुरुषपदमुद्धृता च भूर्ब्रह्मणो दुहितेति सानुरागाया भगवति दर्शनं दिष्ट्या। अत्र तामित्यनुक्त्वा गामिति यदुक्तवांस्तेन पदाङ्कि.ता सती सर्वेषा सकलकामदोग्ध्री भविष्यतीति सूच्यते। अपरं च पूर्वमियमेव या गोरूपाश्रुमुखीत्वादियुक्ता ऽंष्टा सा परमाननन्दरूपपदाङ्कि.ता द्रक्ष्यत इत्यपि महद् भाग्यं न इत्यपि गोपदेन ज्ञाप्यते। किञ्च पादैरेवानुकम्पितां त्वया वा द्यां च द्रक्ष्यामः। देवाना सर्वोपकार–करणाददित्याः कुण्डल दानादिना च द्यौरनुकम्पिता। अतोस्माकमेव भाग्यं यदुभयं द्रक्ष्यामः। दर्शनं प्रमाणमाविर्भावः प्रमेयमिति।।३८।।

अनुवाद – भगवत् शास्त्र में भगवान् ही प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल हैं। भगवान् का साक्षात्कार अथवा साक्षात्कारकृत भगवान् ही प्रमाण है। भूमि के प्रसङ्ग. के कारण हम (देवता लोग) कृतार्थ हुवे हैं यों कहते हुए यह सिद्ध करते हैं कि, केवल, हम ही नहीं किन्तु समग्र जगत् भगवान् के प्राकट्य से कृतार्थ हुआ है। हे हरे! आपकी पाद रूप भूमि का भार आपके प्राकट्य से उतर गया है। पृथ्वी का मर्दन क्लेश[1] तो परमानन्द के प्राकट्य मात्र से दूर हो गया है। पृथ्वी के भार उतरने का साधन आपका जन्म ही है जिसके लिये अन्य प्रयत्न (कर्त्तव्य) करने की आवश्यकता नहीं है। कारण कि जिसका जन्म हुआ है वह सर्वथा समर्थ होने से सर्व अनर्थों को स्वयं निवृत्त करने वाले हैं। हे हरे! भूमि के भार का निराकरण करना आपके लिये आवश्यक है। और वह हमारे लिये हितकर है। कारण कि पृथ्वी आपकी चरण रूपा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने

[1] कुचले जाने का कष्ट

चरणों का भार दूर करता है। अपने उपास्य में दोष न रहे वह समस्तों के लिए हितकर है। इस प्रकार कर्त्तव्य करना आपके लिये आवश्यक है क्योंकि आप हरि (दुःखों को हरण करने वाले) हो।

आपका जन्म (प्राकट्य) अलौकिक है। आपके प्राकट्य के लिये पूर्ण साधनों का भी अभाव है और आप सर्वात्मक हो, यों होते हुए भी जो आप (भूभारहरणाय दैत्यों के नाश के लिये) कृपाकर प्रकट हो, यह हर्ष है। कितनों की राय है कि देवकी के उदर में आना यह पृथ्वी के भार का हरण करना ही है, नहीं कि आपका जन्म है। अतः पृथ्वी पर केवल आनन्द ही प्रकटे हैं। आपके समागमन से और भी जो कुछ हुआ है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि देव भी पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते हैं तो क्या भगवान् उसका स्पर्श करेंगे ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जो न होने वाला है वह भी यदि आपके जन्म से होगा वह भी प्रसन्नता का चिन्ह है।

भगवान् सर्व रूप हैं अतः मनुष्य रूप से पृथ्वी को स्पर्श करते ही हैं, इसमें क्या आश्चर्य है ? यह शङ्का कर देवता उसके उत्तर में कहते हैं कि सर्व लक्षण (ध्वज, वज्र और अंकुशादि चिह्नों वाले) वाले आपके सुन्दर चरण चिह्नित भूमि का हम दर्शन करेंगे। यह हम लोगों का महत् भाग्य है। पृथ्वी पद को, ग्रहण करती है यह इस भूमिका भी भाग्य है। विशेषता यह है कि चरणों की छाया भी पृथ्वी पर पड़ती है। धरा, भगवान् का पद है, भगवान् ने उसका उद्धार भी किया है तथा वह ब्रह्मा की पुत्री है जिससे उसका भगवान् में प्रेम है, प्रेम के कारण भगवान् ने इस प्रकार दर्शन दिये हैं। यह भी प्रसन्नता है। श्लोक में व्याकरणानुसार (तां न देकर (गाँ) शब्द दिया है उसका भाव आचार्य श्री बताते हैं कि भगवान् के पदों से चिन्हित होने से यह भूमि सकल कामनाओं को कामधेनु के समान पूर्ण करने वाली होगी। और पहले यह भूमि ही आंखों से आंसू बहाती हुई, (गौ) रूप धारण करती हुई, हमने देखी थी अब वह ही परमानन्द स्वरूप चरणों से अङ्कित होने के कारण आनन्द में प्रफुल्लित हुई हम देखेंगे, यह भी हमारा महद्भाग्य है। (गो) पद देने से ये दो भाव बताये गये हैं। तथा चरणों द्वारा आपसे अनुकम्पित स्वर्ग को भी देखेंगे। देवों के ऊपर सर्व प्रकार के आपने उपकार किये और अदिति के कुण्डल का दान किया उससे स्वर्ग भी अनुगृहीत है। अतः हमारे भाग्य हैं

जो इन दोनों को (भूमि तथा स्वर्ग को) इस प्रकार देखेंगे। दर्शन प्रमाण रूप हैं और आविर्भाव प्रमेय रूप है।।३८।।

आभास–आविर्भावं समर्थयति नतेभवस्येति।

अब प्रभु के प्राकट्य का समर्थन करते हैं।

श्लोकः –नतेभवस्येशभवस्य कारणं विनाविनोदं बत तर्कयामहे।

भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभवाश्रयात्मनि।।३६।।

श्लोकार्थ – हे ईश! आप, जो कि अजन्मा हो, उनके जन्म लेने का कारण केवल क्रीड़ा बिना दूसरा कोई हमारे विचार में नहीं आता है। जन्म रहित, आपके विषे[1], जन्म, निरोध तथा स्थिति, अज्ञान के कारण, हम देखते हैं।।३६।।

सुबोधिनी – तेभवस्य जन्मरहितस्य भवस्य जन्मनः कारणं विनोदं विना न तर्कयामहे। विनोदो लीला। वेः कालस्य वा नोदः प्रेरणम्। कालो हि स्थिरः सर्वानेव मर्यादया यथासुखं करोति। स जन्मना नोद्यते। अन्यथाक्रियते। विनावि संसारनौकायां वा। अन्यथा संसारनौः पारं न गच्छेत्। अस्मिन्नर्थे नते नम्रे शरणागते पुरुषे भवनिवारकस्य यो भवो जन्म तस्य कारणं विनाविनोदं तर्कयामह इतिसम्बंधो ज्ञेयः यद्वा नतो न इभो गजेन्द्रस्तस्य वममृत मोक्षो यस्माद् ताऽशस्येत्यग्रे पूर्ववत्। तथा च पशुजातीयस्यापि नतिमात्रेण भवनिवारकस्य भवोसम्भावित इति तस्य हेतुं तं तर्कयामह इतिभावः। नौकारहिता वा संसृतिस्तस्यां सत्यां सर्वप्रेरणं तव भवस्य कारणम्। यद्यप्यत्र प्रमाणं नास्ति यथार्थद्रष्टुराप्तस्याभावादद्यापि त्वयाप्यनुक्तत्वादतः स्वयमेव तर्कयामहे। वस्तुतस्तु लीलापि भवति न वेतिसन्देह एव। ननु सर्वस्यापि जीवस्य मदंशस्य यथा भवस्तथा ममापीति कथमभवस्येत्युच्यते ? तत्राह भवो निरोध इति। सर्वस्यापि प्राणिन उत्पत्तिस्थितिप्रलया अविद्यया देहाद्यध्यासेन भवन्ति। स्वतो जीवानां जन्माभावात्। तदपि त्वपि सति भवति। अन्यथा निराधारे जगत्युत्पत्तिर्न स्यात् तत्रापि त्वय्युदासीने नभवति। अनित्य न भवति। असमवायित्वे न भवति। आधारसमवाययोरवश्यापेक्षणात्। तव चोत्पत्तौ जगतोनादित्वं भज्येत। अलीकत्वं च स्यात्। यथा तव भव आकस्मिक एवमेव जगतोपि भवेत्। अतोभव आश्रयरूपे आत्मरूपे सत्येव जीवानामुत्पत्त्यादिर्भवेत्। एवं भगवतो लीलया प्रादुर्भावः। स्वरूपनिमित्ताज्ञानं वा। अन्यथा सर्वमेव जगन्न स्यादित्यानन्दाविर्भावो भगवान् निरूपितः।।३६।।

अनुवाद – जन्म रहित आपके जन्म का कारण विनोद (लीला) के सिवाय, अन्य प्रकार का तर्क हम नहीं कर सकते हैं। अथवा विनोद पद में दो शब्द हैं एक (वि)

[1] आपके विषय में अर्थात् आप में

जिसका अर्थ है काल, दूसरा (नोद) जिसका अर्थ है प्रेरणा करना। काल स्वयं स्थिर है सकलों को ही मर्यादानुसार सुखी करता है उस काल को आप जन्म से प्रेरणा करते हो अर्थात् अन्यथा करते हो। अथवा (बिना विनोद) इन दो पदों को मिलाकर उससे (विनावि) और (नोद) इस प्रकार पदच्छेद करते हैं जिसका अर्थ होता है (विनावि) (संसार नौका में) और (नोद) प्रेरणा अर्थात् यदि आप संसार नौका को प्रेरणा नहीं देवें तो संसार रूप नौका कभी भी पार न जा सके। यों कहने का आशय यह है कि भाव विकारों से रहित यह संसार ब्रह्मात्मक है। संसार एक प्रकार की नौका है जैसा कि एकादश स्कन्ध में (नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं) श्लोक में मनुष्य देह को नौका कहा गया है। इसीसे उस नौका को संसार से पार जाने के लिये प्रेरणा की आवश्यकता देखकर आप प्रेरणा देने के लिये ही अपना आविर्भाव करते हो। यदि आप (भगवान्) भक्तों के यहां पति पुत्रादि के आभिमानिक सम्बन्ध रूप से प्रकट न होवे तो संसार नाव पार न पहुँचे। पुनः अन्य प्रकार से अन्वय करते हैं कि (न) और (ते) ये पद जुड़े हैं उनको मिलाकर एक पद (नते) सप्तमी विभक्ति कर उसका अर्थ करते हैं (न ते) शरणागत पुरुष पर कृपाकर अजन्मा आप जो प्रकट होते ही वह भी संसार नौका को पार करने की प्रेरणा के लिये ही है यों हम तर्क करते हैं। पुनः अन्य प्रकार बताते हैं (न ते भवस्य) इस पद का विच्छेद (न त भ (नत+इभ) और 'वस्य'[1] कर के अर्थ करते हैं कि (नतेभ) नत का अर्थ शरणागत और इभ का अर्थ गजेन्द्र शरण आया है उसको (व) मोक्ष जिससे प्राप्त हुवा उसका जन्म विनाविनोद के अन्य कुछ नहीं हैं ऐसा हम तक करते हैं। यद्यपि वैसे पशु जाति के केवल शरण आने से संसार निवर्त्तक का (अजन्मा का) जन्म असम्भावित है तो भी इस प्रकार की आविर्भाव होने का कारण लीला ही है यों हम तर्क करते हैं। यह संसार नौका रहित है उसको पार पहुँचने की प्रेरणा करने के लिये ही आपका प्राकट्य है। यद्यपि हमारे इस कथन की पुष्टि के लिये कोई प्रमाण नहीं है, तथा यथार्थ द्रष्टा आप्त पुरुष भी कोई नहीं है जो इसकी प्रत्यक्ष सबूत दे और

---

[1] 'वस्य' यह 'व' शब्द षष्ठी विभक्ति का एकवचन है। सारा पद समासान्त है। वह समास इस प्रकार बहुब्रीहि किया गया है 'नतेभवस्य व यस्मात्' सः नतेभव. तस्य नतेभवस्य। जिसका अर्थ होता है शरणागत गज को (व) मोक्ष जिससे प्राप्त हुआ उसका जन्म बिना विनोद अन्य कोई कारण है, ऐसा तर्क नहीं कर सकते हैं।

न ही आपने भी आज तक इस विषय में कहा है, अतः हम स्वयं वैसा तर्क करते हैं। वस्तुतः यह लीला भी है, या नहीं, इसमें भी सन्देह है, तात्पर्य यह है कि आपके प्राकट्य का कारण आप ही जानते हो अन्य सर्व तर्क ही है।

हे देवो! आप मुझे अभव क्यों कह रहे हो, जैसे मेरे अंश रूप जीव का जन्म होता है वैसे मेरा भी मानलो। देवता कहते हैं कि यदि भगवान् यों कहदे तो उसका उत्तर देते हैं कि प्राणी मात्र की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय देहादिकों के अध्यास[1] के कारण होते हैं। स्वतः तो जीवों का भी जन्म नहीं होता है। वह भी तब होता है जब आप हो। यदि आप नहीं होवो तो निराधार जगत् में उत्पत्ति ही नहीं होवे। यदि आप उदासीन होवो तो भी न होवे। अनित्य में भी उत्पत्ति नहीं होती है। कोई समवायी–कारण[2] न हो तो भी उत्पत्ति नहीं होती है। उत्पत्ति के लिए आधार और समवायी की आवश्यकता रहती है। यदि आपको भी उत्पत्ति मानी जाय तो जगत् का अनादिपन न रहेगा तथा जगत् अलीक[3] हो जाएगा।

जैसे आपके जन्म अचानक होते हैं वैसे ही जगत् का भी होगा। अतः आत्मा के आश्रयरूप होने से ही जीवों की उत्पत्ति आदि होते हैं और आपका तो लीला से ही प्राकट्य होता है। भगवान् जीववत्[4] जन्मे हैं। यह कहना भगवान् के स्वरूप का एवम् उनके कारण का अज्ञान ही है। भगवान् का जन्म नहीं है किन्तु आनन्दरूप का प्राकट्य है यह निरूपण किया गया है। भगवान् के जन्म मानने से समस्त जगत् अनादि न रहेगा।।३६।।

स एव साधनमित्याह मत्स्याश्वेति।

वही आनन्दरूप भगवान् साधन है। इसका वर्णन करते हैं।

श्लोकः– मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः।।

---

[1] और को और समझ लेना अध्यास है अर्थात् देह को जीव समझ लेना अध्यास है जैसे जीव जब देह को अपना रूप समझ लेता है तब देह के लिए कहता है कि मैं हूँ इसको 'अध्यास' कहते हैं वैसे ही अन्यत्र भी समझ ले।

[2] 'समवायीकारण' उसको कहा जाता है जिससे वस्तु बने जैसे कि मिट्टी से घडा बनता है तो मिट्टी घडे का समवायीकारण है वैसे परमात्मा से जगत् बना है तो परमात्मा जगत् का समवायीकरण है।

[3] झूठा

[4] जीव की तरह

त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च तथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनंते।।४०।।

श्लोकार्थ – हे यदूत्तम! मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, राजा, ब्राह्मण और देवों में अवतार धारण करके आपने दूसरे समय में जैसे हमारी तथा त्रिलोकी की रक्षा की है वैसे अब भी करो और पृथ्वी का भार उतारो। हे ईश! हम आपको प्रणाम करते हैं।।४०।।

सुबोधिनी – यथा पूर्वं नवावतारा जाता एवमयमपि दशमः। त्रयो जलजाः। त्रयो वनजाः। त्रयो लोकजाः। मत्स्याश्वकच्छपा नृसिंहवराहहंसा राजन्यविप्रविबुधाश्च तमोरजःसत्त्वसमानाकृतयः। अश्वो हयग्रीवः अश्वोपि जलजो ह्यग्रीवोपिजलजः। नृसिंहः। काष्ठजत्वाद् वनजः। वराह आरण्यप्रकृतिक इति। अक्षजोपि बहिर्वायुस्थानत्वादारण्यः। राजन्यो रघुनाथः। विप्रः परशुरामः। विबुधो वामनः। तरतमभावात् त्रित्वम्। मत्स्यादश्व उत्तमः। अश्वादपिकूर्मः। वास्तव्यत्वात्। नृसिंहाद् वराहः। भूम्युद्धारकहिरण्याक्षमारकत्वात्। ततोपि ज्ञानप्रदो हंसो महान्। क्षत्रियब्राह्मणदेवेषुतरतमभावः स्पष्टः। एभिर्नवविधैर्नवविधा अपि रक्षिताः। इदानीमेकेनैव नवविधा रक्षणीयाः। अयमेव भगवान् तत्तज्जात्यनुकूलाकाररूपेष्ववतारं कृत्वा पाति। अधुना ततोप्यधिकं विज्ञापयन्ति। त्वमेतेषु पूर्वं कृतावतारो नोस्मान् त्रिभुवनं चकाराद् धर्मादिकमपि पासि। तथाधुना हे ईश। सर्वसामर्थ्यरूपेणावतीर्णस्तथा। पूर्वोक्तं त्रयं देवत्रैलोक्यधर्मरक्षा भूमेर्भारनिराकरणं चाधिकम्। अस्यापि लोके व्यवहारो यदूत्तमेति। प्रत्युपकारस्ते वन्दनम्। नमस्कार एव प्रत्युपकार इत्यर्थः।

एतान्येव भगवतो दश रूपाणि सर्वपुरुषार्थसाधकानि। अत्र ्ष्टान्तत्वेन मत्स्याद्युक्तेरयं भावः। भूभारभूतासुरराजन्यहननार्थं ह्यवतारः। एवं सति तैः सह युद्धं सम्भाव्यते। तच्च स्नेहातिशयेन भक्तैः सोढुमशक्यम्। अतो "रूपं चेदं पौरुषं जन्म ते मय्यसा" वित्यादिना देवकीवद् ब्रह्मादयो माहात्म्यज्ञानवन्तोपि भक्तत्वेन भूभारहरणे प्रकारविशेष प्रार्थयन्ति। यावत् स्वस्यैश्वर्याद्यप्राकट्येन निगूढत्वेनान्यतो वा शत्रुहननं भवति तावन् न स्वयं युद्धं कार्यमिति। तत्र प्रलयाब्धौ सत्यव्रतादिभक्ता रक्षणीयाः। एवं सति पुरुषादिरूपेण रक्षणे क्रियमाणे लोकरीत्या मकरादिभयसम्भावनया स्नेहेन भक्तानां क्लेशः स्यादिति तदभावाय येन रूपेण जलसञ्चारः सुखावहस्तद्रूपं जगति हीनजातीयमपि मात्स्यमङ्गीकृत्य रक्षितवास्तथाधुनोक्तरीत्येति प्रार्थना। अत एव स्वैश्वार्यादिविरुद्धमपि याचकत्वमङ्गीकृत्य भीमेन जरासन्धं मारितवान् न तु स्वयम्। हयग्रीवो ब्रह्मणः सत्रे प्रादुर्भूतः सन्नसुरहननवेदरक्षादिकं कृतवान्। इहापि राजसूये प्रकटो ब्राह्मणसम्माननेन मर्यादां स्थापयित्वा वेदविरुद्धवादिनं चैद्यमनायासेन मारितवान्। कच्छपस्तु "मेनेङ्ग.कण्डूयन" मित्यादिवाक्यैः सुखसाधनत्वेनैव मन्दरं दधार। तद्वदिहापि वीर्यबलाधिक्यजबाहुकण्डूशान्त्यर्थमेव युद्धं कार्यं न तु प्रतिभटोपस्थितिमात्रतः। तदा त्वन्य एव प्रेरणीय

इतिप्रार्थना। अत एव यत्र युद्धं कृतं तत्र तथैव कृतमिति ज्ञेयम्। क्रीडार्थ मृगयावत्। अत एवं "विक्रीडितं तज्जगदीशयो पर" मितिवचनम्। यथामृतदानार्थमेव मन्दरधारणं तथेहापि स्वस्वरूपामृतदानार्थमेव गोवर्धनोद्धरणं तेन रक्षां च कृतवान्। नृसिंहस्तु भक्तपितरमपि पूर्वभक्तमपि भक्तरक्षार्थमकस्मात् प्रादुर्भूय मारितवान्। लक्ष्म्यादीनामप्यगम्यो दैत्यत्वेपि भक्तमात्रगम्य इत्यपि ज्ञापितवान्। इहापि पाण्डवरक्षार्थं तत्पितामहादीन् भक्तानप्यासुरावेशिनो मारितवान्। तथैव कंसादीनपि। वनवासे पार्थरक्षार्थमकस्मादाविर्भूय शिष्टशाकान्नं भक्षयित्वा सर्वं समाहितवान्। वराहस्तु यदुद्धारार्थं प्रवृत्तस्तत्रैताऽंक्यपक्षपातवान् येन तन्मात्रविशेषगुणग्राहकेन्द्रियस्यैवाधिष्ठाने प्रकटोभवन्न तु नृसिहादिवत्। इहापि पाण्डवरक्षार्थमागच्छंस्तन्मात्रगुणग्राहिविदुरगेह एव स्थितोभवन्न त्वन्यत्र। तथा व्रजस्थानुद्धर्तुं तन्मात्रसम्बन्धिनि स्थले स्वयमाविर्भूय तथा कृतवान् न त्वन्यत्र स्थितः। एवमेव वैदर्भ्युद्धारं कुर्वन् हिरण्याक्षवन्मध्येमार्गप्रतिबन्धकर्तारं रुक्मिणमुपेत्यैव स्वकार्यं कृतवान् न तु तदैव हतवान्। अग्रे च तथा कृतवान्। हंसस्तु तत्त्वमुपदिश्य ब्रह्मादिविषादहन्ता इहापि वेदमर्यादाविरोधिगुरुवधादेर्विमुखस्य तच्चिन्ताविषादं तत्त्वोपदेशेनहृतवान्। अन्यथा भूभारहरणं न स्यात्। राजन्यस्तु मज्जनसाधनं तारकं कृत्वैकभक्तार्थमनेकान् दैत्यानवधीत्। तथेहापि भूमिनित्तमनेके मारणीयाः। एतेनैकस्या भुवो निमित्तमनेकान् कथं वधिष्य इतिशङ्कापास्ता। द्वेषादिभावस्यापि तारकत्व स्पष्टम्। विप्रस्तु ब्रह्मवृत्तिरपि घोरं क्षात्रमूरीकृत्यासुरराजन्यानवधीत्। इहापि ब्रह्मत्वेन समत्वेपि दैत्यवधः कार्य एव। विबुधस्तु मातृप्रार्थनयाविर्भूय ब्रह्माद्यशक्यं त्रिभुवनहरणं वाङ्मात्रेण कृतवान्। एवमत्र वृकासुरवधे स्पष्टम्। देवकीप्रार्थनयाविर्भूय ब्रह्मादिदुरापं स्वानन्दं यदुभ्यो दत्तवान् राज्यलिप्सु कंसं मारयित्वोग्रसेनाय राज्यं दत्तवान् न तु स्वयं गृहीतवानिति एवं नमस्कारान्तं भगवान् स्तुतः। कंसादिवधस्त्वप्रयोजकः। तस्मान्न विशेषेण गणितः।।४०।।

अनुवाद – जैसे प्रथम आपके नव अवतार हुए वैसे ही यह दशवां है। तीन अवतार जल से हुए, तीन वन से हुए और तीन लोक में हुए। मत्स्य, हयग्रीव तथा कच्छप तमोगुण जैसी आकृति वाले हैं।, नृसिंह, वराह और हंस राजस गुण समान आकार वाले हैं। और रामचन्द्रजी, परशुराम और वामन ये सत्त्वगुण सहज रूप वाले हैं। मूल में अश्वपद हयग्रीव का वाचक है। अश्व भी जलज (जल से उत्पन्न) और हयग्रीव भी जलज है। नृसिंह स्तम्भ से प्रकट होने के कारण वनज कहे जाते हैं। वराह की आरण्यक, (जंगली) प्रकृति है अतः वनज है। हंस बाहिर वायु (आकाश) वाले स्थान में रहने की प्रकृति[1] के कारण वनज है। जो (हंस) प्रकट होकर उपदेश द्वारा अन्यों को वनवासी बनाता है।

[1] आकाश वाले (खुले) स्थान मे रहने का कारण यह है कि वहाँ उडने का स्थान मिल सकेगा।

अतः उसको वनज कहना यह योग्य ही है। रघुनाथजी (क्षत्रिय), परशुराम (विप्र), वामन (देव) इन तीनों का तरतम[1] भाव बताने के लिए पृथक वर्णन किया है। मत्स्य से अश्व उत्तम है। अश्व से कूर्म उत्तम है। यह उत्तमता कार्य करने से सिद्ध होती है अतः प्रतीति की है अर्थात् अन्य अवतारों में उत्तमता कार्य समय में देखने में आती है। कूर्म को उत्तमता वास्तविकी है कारण कि कूर्म सदैव जल में रहकर पृथ्वी की रक्षा करते हैं। नृसिंह से वराह इसलिए उत्तम है कि नृसिंहजी ने यथास्थिति प्रह्लाद की रक्षा की थी किन्तु वराह ने जल में डूबी हुई पृथ्वी का जल से उद्धार किया तथा हिरण्याक्ष को मारा था। वराह से हंस ज्ञानप्रद होने के कारण उत्तम है। क्षत्रिय, ब्राह्मण और देव अवतारों में तरतमग भाव स्पष्ट ही है। इन नवविध अवतारों ने नवविधों की रक्षा की है। इस समय आपको एक ही अवतार से नवविधों की रक्षा करनी है। ये ही भगवान् जिस जाति की रक्षा करनी होती है उस जाति के अवतार लेकर उनकी रक्षा करते हैं। अब देवता उससे भी विशेष प्रार्थना करते हैं कि आपने पहले उन्हीं में अवतार धारण करके हम लोगों को, तीनों भुवनों को तथा धर्मादिक की भी रक्षा की है। वैसे ही इस समय भी हे ईश! सर्व प्रकार सामर्थ्य से अवतीर्ण हुए हो। अतः उसी प्रकार देवता, तीन लोक और धर्म की रक्षा करने के साथ विशेष में भूमि का भार भी उतारो। आप ईश होते हुए भी लोक में आपका 'यदूत्तम' नाम से व्यवहार होता है। आपके इन उपकारों का प्रतीकार[2] केवल वन्दन ही हो सकता है।

नव अवतारों के कार्य से अधिक, भूभारहरण कार्य की प्रार्थना की, अवतारों के कार्यों से विशेष अन्य कार्यों की प्रार्थना क्यों नहीं की ? इस शङ्का के उत्तर में आचार्य श्री कहते हैं कि भगवान् के ये मत्स्यादि अवतार ही सर्व कार्य साधक हैं। यहाँ मत्स्यादि अवतारों का वर्णन जो दृष्टान्त रूप से किया है उसका यह भाव है कि पृथ्वी पर जो भार रूप असुर नृपति हुए थे उनके नाश के लिए ही भगवान् अवतार लेते हैं। इसलिए जो अवतार लिये जाते हैं तो उन असुर राजाओं से युद्ध होने की सम्भावना होती है। वह युद्ध भगवान् में अतिशय स्नेह के कारण भक्त लोग नहीं चाहते हैं कारण कि युद्ध

[1] एक से बढ़कर
[2] बदला

में भगवान् को विशेष परिश्रम करना पड़ेगा। वह भक्तों से सहन नहीं किया जा सकता है। 'रूपंचेद पौरूषं जन्मते मय्यसौ' इस श्लोक में देवता कहते हैं कि यह आपका पौरुष जन्म हमारे लिये है। अतः देवकीजी के समान भगवान् का माहात्म्य जानते हुए भी भक्त होने के कारण भूभार का हरण युद्ध बिना अन्य प्रकार से करने की प्रार्थना करते है।

जब तक आपने अपने ऐश्वर्य आदि को प्रकट नहीं किया है तब तक गुप्त रीति से अन्य द्वारा शत्रुओं का नाश हो सके तब तक युद्ध नहीं करना। प्रलयाब्धि के समय में सत्यव्रत आदि भक्त रक्षणीय है।

यदि आपके पुरुष रूप धारण किया है, अतः आप युद्ध द्वारा रक्षा करना चाहोगे तो युद्ध रूप समुद्र में क्लेशादि रूप मकरों से भय की सम्भावना है जिससे स्नेह के कारण भक्तों को दुःख होगा। वह दुःख भक्तों को नही होवे तदर्थ जैसे हीन जाति मत्स्य का रूप धारण कर सुखपूर्वक जल संचार करते हुए रक्षण किया था वैसे अब भी करो वह प्रार्थना है। इसी कारण से अपने ऐश्वर्य के विरुद्ध होते हुए भी भीमसेन ने याचक बनकर जरासन्ध को मारा न कि भीम ने क्षात्र रूप से मारा।

हयग्रीव रूप से ब्रह्मा के सत्र में प्रकट होकर असुर नाश तथा वेद की रक्षा की। यहाँ भी राजसूय यज्ञ के समय प्रकट होकर ब्राह्मणों का सम्मान कर धर्म मर्यादा की स्थपना की। वेद विरुद्ध बोलने वाले शिशुपाल को अनायास[1] मारा। कच्छपावतार में 'मेनेऽङ्ग.कण्डूयनं' इस वाक्यानुसार खुजली मानकर सुखपूर्वक 'मन्दराचल' को धारण किया। वैसे ही यहाँ भी विशेष वीर्य शक्ति के कारण भुजाओं में उत्पन्न हुई खुजली की शान्ति करने के लिए युद्ध करना, न कि सामने आये हुए प्रतिपक्षी योद्धओं को मारने के लिए। जब ऐसा अवसर हो तो, उनको मारने के लिए दूसरों को प्रेरणा कर दें। यही हमारी प्रार्थना है। अतः जहां २ युद्ध हुवा है वहां २ यों ही किया है, अर्थात् अन्यों (व्यूहों) को प्रेरणा की है। जैसे राजा लोग क्रीड़ा के वास्ते शिकार खेलते हैं वैसे ही भगवान् युद्ध करते हैं। इसलिये कहा गया है (विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम्) यह जगत् के दोनों ईशों की क्रीडा है। जिस प्रकार अमृतदानार्थ कच्छपजी ने मन्दराचल को धारण

[1] सहज में, बिना परिश्रम

किया वैसे ही यहां पर अपने स्वरूप अमृतदानार्थ ही गोवर्धन को धारण किया है और उससे व्रज की रक्षा भी की है। नृसिंह अवतार में पूर्व जन्म के भक्त और इस जन्म में भक्त के पिता को भक्त प्रह्लाद की रक्षा के लिए अचानक प्रकट होकर मारा। यह भी जताया कि उस सम दैत्यत्व के तथा क्रूर होने के कारण लक्ष्मी भी आपके पास नहीं जा सकती थी तो भी आपके पास भक्त जा सकते थे कारण कि भक्तों को आनन्द रूप से ही दर्शन देते थे। यहां भी पाण्डवों की रक्षा के लिये आसुरावेशी उनके पितामहादि को मारा। वैसे ही कंसादिकों को मारा। वनमास में पार्थ रक्षार्थ अचानक आविर्भूत होकर शेष बचे हुए शाकान्न को खाकर सबका समाधान किया। वराहजी नृसिंह के समान प्रकट न होकर जिस (पृथ्वी) के उद्धार के लिये आविर्भूत हुए थे उस पृथ्वी के गुण (गन्ध) को ग्रहण करने वाली नासिका इन्द्रिय को अधिष्ठान बनाकर उससे प्रकट हुए जिससे आपने पृथ्वी से अपना पक्षपात प्रकट दिखा दिया। इस कृष्णावतार में भी पाण्डवों के रक्षणार्थ विदुरजी के घर में बिराजे। अन्यत्र नहीं बिराजे। कारण कि विदुरजी पाण्डवों के गुणों के ग्राहक थे। इसी प्रकार व्रज भक्तों के उद्धारार्थ उनके सम्बन्धवाली (श्री गोकुल) में स्वयं प्रकट होकर उनकी रक्षा की। अन्यत्र स्थिति नहीं की। इसी भांति वैदर्भी का (शिशुपाल से) उद्धार करते हुए, हिरण्याक्ष की तरह मार्ग के मध्य में प्रतिबन्धक रुक्मी को रोक कर ही स्वकार्य सिद्ध किया और उस वक्त उसको मारा नहीं। आगे उसको समय आने पर मारा। जैसे हंस ने तत्त्व ज्ञान का उपदेश देकर ब्रह्मादिकों का विषाद नष्ट किया वैसे ही यहां भी यदि वैदिक मर्यादा के विरुद्ध गुरु वध करना पाप समझ कर स्वधर्म युद्ध से विमुख, अर्जुन की चिन्ता तथा विषाद को मिटाने के लिये गीता द्वारा तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया न होता तो पृथ्वी पर हुआ असुर राजाओं का भार नहीं उतरता।

रामावतार में डूबने के साधन पत्थरों को तारने का साधन बनाकर एक भक्त (विभीषण) के लिये अनेक दैत्यों का नाश किया वैसे ही यहां इस कृष्णावतार में एक पृथ्वी के लिये अनेकों को मारे। एक पृथ्वी के लिये अनेकों को कैसे मारा ? इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं कि असुरावेशी राजाओं में जिनको मारा था उनमें द्वेषादिभाव था। जिससे वे मारे तो नाम मात्र के लिये ही गये थे किन्तु उनका उद्धार

हो गया। परशुरामवतार ब्राह्मण वृत्ति होते हुए भी उसमें घोर क्षात्र धर्म स्वीकार कर असुर क्षत्रियों का वध किया है। इस अवतार में ब्रह्मत्व समान होते हुए भी दैत्य वध करना ही है। देवावतार (वामनावतार) ने तो माता की प्रार्थना से आविर्भूत होकर जिस त्रैलोक्य को लेने के कार्य को ब्रह्मादिक भी नहीं कर सके, उस कार्य को केवल वाणी से कर दिखाया। इस प्रकार यहां वृत्रासुर वध में यह स्पष्ट है। देवकी की प्रार्थना से आविर्भूत होकर ब्रह्मादिकों को कठिनाई से मिलने वाला अपना आनन्द यादवों को दान दिया। राज्य के लोभी कंस को मारकर राज्य उग्रसेन को दिया आपने नहीं लिया था। इस प्रकार नमस्कार पर्यन्त भगवान् की स्तुति की गई है। कंसादिवध तो अप्रयोजक है इस कारण से इसकी पृथक् विशेष रूप से गणना नहीं की है।।४०।।

आभास–प्रसङ्गात् तच्चरित्रं फलरूपं निरूपयन् देवकीसान्त्वनमप्याह दिष्ट्याम्बेति।

प्रसङ्ग से श्रीकृष्ण का चरित्र फलरूप है उसका और देवकी के सान्त्वना का भी वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः– दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमानंशेन साक्षाद् भगवान् भवाय नः।

माभूद् भयं भोजपतेर्मुमूर्षोर्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः।।४१।।

हे माता! आपकी कूख में प्रद्युम्नांश (व्यूहरूप) से पूर्ण पुरुषोत्तम पधार गये हैं, वे साक्षात् भगवान् हैं। वे हमारे कल्याण करने के लिये आये हैं। अब आप मरने वाले कंस से मत डरो। ये आपके पुत्र यादवों की रक्षा करेंगे। अतः बधाई है।।४१।।

सुबोधिनी – हे अम्बमातः। सर्वात्मकस्य भगवतो माता मातैव। नृसिंहादिवदकस्मादेवाविर्भावोयुक्तः। यत् ते कुक्षिंगत एतद् दिष्ट्या। उक्तमर्थमुपपादयितुमाह परः पुमानिति। पुरुषोत्तम इत्यर्थः। अंशेन तव कुक्ष्येकदेशेन प्रद्युम्नांशेन पुत्रो वा। साक्षाद् भगवानिति ज्ञानक्रियांशव्यावृत्त्यर्थम्। तवोदरे त्वदर्थं नागतः किन्तु भवाय नोस्माकमेवोद्भवाय तव कुक्षिगतः। तर्हि मम का गतिरितिचेत् तत्राह तव भयं मा भून्न भविष्यति। आशंसायां प्रथमार्थे "छन्दसि लुङ्लङ्लिट" इति लडर्थे लुङ्। "माङि लुङि" तिसूत्रादपि तथा। भोजपतेः कंसात्। स हि वचनेनैव भीषयति। न तु क्रिया कर्तुं शक्तः। वचनं च तस्योपेक्ष्यम्। यतोयं मुमूर्षुः। मुमूर्षूणां विक्लवा गिरो भवन्ति। ननु वचनमात्रेणैव कथं भयनिवृत्तिस्तत्राह गोप्ता यदूनां भविता तवात्मज इति। तव रक्षायां कः सन्देहः ? यदूनां सर्वेषामेव तवात्मजो गोप्ता भविष्यति। अनेन स्वरूपकार्यमानुषङ्गिकं च कार्यमुक्तम्।।४१।।

अनुवाद – सबों की आत्मा भगवान् हैं। अतः उनकी माता सबकी माता है। इसलिए देवों ने देवकीजी को कहा है कि हे अम्बे! हे माताः! आपके यहाँ नृसिंहादि की भांति अकस्मात् प्राकट्य होना योग्य नहीं होने से ही आपकी कूँख में बिराजे हैं यह बधाई है। उनकी कूँख में बिराजने की योग्यता का समर्थन करते हैं कि वे पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। 'अंशेन' शब्द का भाव है कि कूँख के एक देश से अथवा प्रद्युम्नांश से पुत्र रूप होकर विराजते हैं। 'साक्षात्' भगवान् कहने का आशय यह है कि केवल क्रिया शक्ति से आकर नहीं बिराजे हैं। किन्तु साक्षात् ज्ञान क्रिया विशिष्ट आप पधारे हैं। आपके उदर में कहते हैं कि आप अब किसी प्रकार का डर मत करो। क्योंकि कंस को केवल वचन से डरा रहा है वह कुछ नहीं कर सकता है। उसके वचनों पर ध्यान नहीं देना चाहिये, कारण कि वह मरने वाला है। जिसकी मृत्यु समीप होती है उनके वचन घबराहट वाले असम्बद्व होते हैं। यदि देवकीजी कहे कि आपके कहने से मैं निडर कैसे बनूंगी ? तो इसके उत्तर मे कहते हैं कि हम केवल आपके वचनों से नहीं कहते हैं किन्तु हम देव हैं। इसलिये हम जानते हैं कि यह आपके पुत्र कंस को मारकर यादवों के रक्षक होंगे। अतः आप निर्भय रहो। क्योंकि जब सब यादवों की रक्षा करेंगे तो आपकी रक्षा में कौनसा संशय है ? कोई नहीं हो यह आपके पुत्र की ही स्वल्प[1] यादवों की रक्षा करेंगे यों न समझना किन्तु समस्त यादव मात्र की रक्षा करेंगे। इस प्रकार कहने से स्वरूप कार्य और आनुषंगिक दोनों कार्य कहे।।४१।।

आभास–उपसंहरतीतीति।

उपसंहार करते हैं।

श्रीशुक उवाच –

श्लोकः – इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूपमनिदंयथा।
ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम्।।४२।।

[1] थोडे से।

श्लोकार्थ – श्री शुकदेवजी कहते हैं कि देवताओं ने इस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम की स्तुति करी कि, वह स्वरूप था इस भांति है भी और नहीं भी है किन्तु सर्व रूप है। तदनन्तर ब्रह्माजी तथा महादेवजी को आगे कर सब देव स्वर्ग को गये।।४२।।

सुबोधिनी – पुरुषमिति। स्वतन्त्रतया सर्वकार्यकर्तृत्वमुक्तम्। यद् रूपं पूर्वं स्तोत्रे याऽंशं रूपं निरूपितम्। अनिदं यथैतदुक्तं तथा च न भवति। दैत्यानामपि मुक्तिदानेन हितकर्तृत्वात्। इदमेवं भवदपि तथा न भवति। प्रकार भेदेन सर्वमेव सत्यं सर्वमसत्यमित्यर्थः। ब्रह्मेशानौ कथञ्चिदत्रैव स्थास्यत इति शङ्कया तौ पुरोधायाग्रे कृत्वा देवा दिवं प्रति ययुः। प्रतिदिवमिति। एकविंशतिः स्वर्गाः शतं स्वर्गाश्चेतिमतभेदेन स्वस्वस्वर्गे स स देवो गत इत्यर्थः। ययुरिति। मध्ये दैत्यकृतो विघ्नः कोपि न जात इति "या प्रापण" इतिधातुना सूचितम्।।४२।।

अनुवाद – (पुरुष) शब्द से यह बताया है कि परमात्मा सर्व कर्त्ता है। जिस स्वरूप का वर्णन प्रथम स्तुति में जैसा किया है वैसे (उतने ही) वे हैं यों नहीं है अर्थात् देवताओं के ही पक्षपाती है सो नहीं है। किन्तु दैत्यों के ही हितकारी हैं कारण कि उनको भी मुक्तिदान दिया है। यह इस प्रकार का होता भा है, नहीं भी होता है, तात्पर्य यह है कि प्रकार भेद से प्रभु आप सर्व रूप होने से सत्य भी हैं। और असत्य भी है। देवताओं को यह शङ्का हुई कि हम तो जा रहे हैं कदाचित् ब्रह्मा तथा शिवजी यहां ही रूक न जाय, इसलिये इनको आगे करके उनके पीछे सब अपने अपने स्वर्ग में गये। देव अपने अपने स्वर्ग में गये इससे समझा जाता है स्वर्ग एक नहीं है किन्तु बहुत हैं। नृसिंह पुराण में इक्कीस स्वर्ग कहे हैं। अन्य पुराणों में शत स्वर्ग भी कहे हैं। यहां क्रिया पद में (या) धातु देने का आशय यह है कि देवताओं को मार्ग मे किसी प्रकार का विघ्न नहीं हुआ सुख पूर्वक पहुँच गये (या) धातु का अर्थ है पहुँचना।।४२।।

दशम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य कृत श्री सुबोधिनी का सरल भाव बोधक हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।

।। श्री कृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

श्री मद्वल्लभाचार्यचरणेभ्यो नमो नमः परमदयालवे श्री मद्गोस्वामि विट्ठलेशाय नमो नम.

श्री मद्भागवतमहापुराणम्

दशमस्कन्धः (पूर्वार्धः)

श्री मद्वल्लभाचार्य–विरचित–सुबोधिनी (संस्कृत) टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

तृतीयोध्याय

कारिका – जननं वर्णनं स्तोत्रे सान्त्वनं गमनं तथा।
षड्विधो भगवानत्र तृतीये विनिरूप्यते।।१।।
रूपान्तरस्वीकरणमध्यायार्थ इहोदितः।
प्रतीयमानो भगवानिति षड्विध उच्यते।।२।।

कारिकार्थ – इस तृतीय अध्याय में १. 'जनन' (भगवान् का प्रकट होना), २. 'वर्णन' (प्रकट हुए भगवत्स्वरूप का वर्णन करना), ३. 'स्तोत्र' श्री वसुदेव कृत एवं ४. श्रीदेवकी कृत स्तुति (पृथक् २ स्तुति), ५. 'सान्त्वन' (देवकी वसुदेव के प्रति भगवान् के पूर्व जन्म–वृतान्त, वर्णनादि धैर्यप्रद वचन) तथा ६. 'गमन' (श्री भगवान् का गोकुल को पधारना) इन षट् (६) भगवच्चरित्रों का निरूपण हुआ है भगवच्चरित्र भगवत्स्वरूपात्मक हैं। इस श्रुति प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार यहाँ पर षट् प्रकार से भगवान् का निरूपण हुआ है। ऐसा कहा गया है। १–ऐश्वर्य, २–वीर्य, ३–यश, ४–श्री, ५–ज्ञान, ६–वैराग्य ये भगवान् के षड् गुण हैं, जिनकी सूचना इधर वर्णित हुए चरित्रों की षट् संख्या से हो रही है।।१।।

इस अध्याय का मुख्यतया प्रतिपाद्य अर्थ रूपान्तर स्वीकार कहा है। माता पिता के देखते २ भगवान् का प्राकृत[1] शिशु रूप ग्रहण करना ही रूपान्तर का स्वीकार करना है। इस रूपान्तर के स्वीकार करने वाला षड् ऐश्वर्यादि गुणपूर्ण भगवान् ही है जिस रूप में उसकी प्रतीति हो रही है वह रूप देह देही के भेद से रहित है। ऐसी सूचना

टिप्पणी – [1] नन्दालय में भगवत्प्राकट्य के समय ही मथुरा में उसी द्विभुज नन्दनन्दन का दर्शन देवकी वसुदेव को हुआ है जिसे प्राकृत शिशु रूप में कहा गया है। इस मर्म को सूचित करने के लिये भी रूपान्तर स्वीकार को ही प्रधानतया अध्यायार्थ माना है।

देने को जननादि षट्चरित्रों से अध्यायार्थ को समन्वित कर उसकी भगवद्रूपता बतलाई गई है।।२।।

कारिका – अष्टभिश्च चतुर्भिर्वै दशभिश्चाष्टभिस्तथा।
चतुर्दशभिरष्टाभिः षडर्थाः क्रमतोत्र हि।।३।।
ऐश्वर्यमष्टधा यस्मादर्धमात्रा हरौ परा।
सार्धाष्टभिरतः प्रोक्तमैश्वर्यं सर्वमङ्ग.लम्।।४।।
अधिकारिणि काले वै अनन्ता भगवद्गुणाः।
खण्डशस्तेवयवशः सर्वेषां फलबोधकाः।।५।।

कारिकार्थ – यहाँ क्रम से ही 'जनन आदि' ६ अर्थों को कहा है। प्रथम आठ श्लोकों से जनन चरित्र कहा है, चार श्लोकों से वर्णन चरित्र कहा है, दश श्लोकों से वसुदेवकृत स्तुति एवम् आठ श्लोकों से देवकीकृत स्तुति कही गई है, चौदह श्लोकों से सान्तवन चरित्र और आठ श्लोकों से गमन चरित्र कहा है।।३।।

प्रथम जनन चरित्र में भगवान् के प्रथम गुण अष्टविध ऐश्वर्य की सूचना जिन आठ श्लोकों से की है उनका अन्तिम श्लोक 'सार्ध' है, उसमें आधा श्लोक अधिक है साढे आठ श्लोक हैं जिससे अष्टविध ऐश्वर्य की सूचना के साथ–साथ ही भगवान् की परमतत्त्वरूपता भी सूचित हो रही है, ओङ्क.ार की अन्तिम अर्धमात्रा परमत्त्व प्रतिपादिका है। तापनीय श्रुति में 'अर्धमात्रात्मकः कृष्ण' यह स्पष्ट उल्लेख है। 'अर्धचक्षुर्थ मात्रेण 'ओं'– इत्येके नैवा क्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत'', इस प्रश्न श्रुति में भी परम पुरुष के ध्यान में ओंकार की आधी चतुर्थमात्रा को प्रधानता दी है। अतः साढे आठ (८।।) श्लोकों से सूचित होता है कि जो सर्व मङ्ग.ल निधान व अष्ट ऐश्वर्यपूर्ण एवं ओंकार गत अर्धमात्रा प्रतिपाद्य परमतत्त्व है उसी के जन्म का यहाँ पर वर्णन हो रहा है, तभी तो श्री देवकीजी के गर्भ का बढना आदि सर्व धर्म स्त्री साधारण थे तो भी भगवान् के प्रकट होने का प्रकार 'प्रादुरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव' पुष्कलः लोक विलक्षण था एवम् 'तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणम्' स्वरूप भी लोकोत्तर था।

भगवान् का प्राकट्य जिस समय में हुआ है वह समय यद्यपि माङ्ग.लिक कार्यों में प्रशस्त नहीं किन्तु निन्दित ही है उत्तरायण न होकर दक्षिणायन का होना, शुक्ल पक्ष न

होकर कृष्ण पक्ष का होना, दिन न होकर रात्रि का भी निशीथ होना इत्यादि दोषों के होते हुए भी उस समय को सर्वगुणपूर्ण बतलाकर श्री शुकदेवजी ने यह सूचित कर दिया है कि काल भगवान् का एक अधिकार प्राप्त सेवक है। कार्य सचिव है, उसमें उत्तरायण आदि अनन्त शुभ फल सूचक गुण भगवान् के ही हैं उनकी कृपा से ही उसे प्राप्त हुए हैं।।५।।

कारिका – **मूले** समागते कालः **स्वकीयान् सकलान् गुणान्।**
हरौ प्रदर्शनार्थाय प्रकटीकृतवान् यथा।।६।।
देशोऽपि त्रिविधश्चैव भूतान्यपि तथैव च।
तत्रत्या ये विदुस्तेऽपि ज्ञापनार्थं गुणान् स्वकान्।।७।।
प्रकटीकृतवन्तो वै दोषनाशपुरस्सरम्।।७½।।

कारिकार्थ – वह उत्तरायणादि काल गुण भी किसी अंश से सब लोगों को प्राप्त होने वाले अपूर्ण फल का बोध मात्र कराते हैं। फल का दान तो भगवान् के ही हाथ है।।५।।

परन्तु जब काल के स्वामी मूलतत्त्व भगवान् स्वयं पधारते हैं तब तो वह काल अपने आराध्य प्रभु की सेवा में अपने समस्त उत्तरायणादि सद्गुणों को उनके दृष्टिगोचर कराने के लिए आपकी वस्तु इस प्रकार संभाल कर रखी है इस आशय से प्रकट करता है।।६।।[1]

उच्च देश आकाश, मध्य देश दिशा और अधो देश भूमि ने तथा इन देशों में रहने वाले देव मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर, चारण आदि ने भी एवम् जल, अग्नि, वायु

[1] गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी ने 'अधिकं तत्रानु प्रविष्ट न तु तद् हानिः' इस न्याय को उपस्थित कर शका की है कि भगवान् के प्राकट्य का काल यदि उत्तरायण शुक्ल पक्ष एवम् दिन आदि होता तब तो और भी अच्छा ही था। भगवत्सेवक काल तो उन गुणो को प्रकट करता ही उत्तरायण आदि और अधिक रूप से गुणों की वृद्धि में उपयुक्त हो जाते, कोई हानि तो थी नही। उक्त शंका का समाधान करते हुए आप आज्ञा करते हैं कि भगवत्प्राकट्य की देश कालादि सर्व सामग्री आधिदैविक है, आधिभौतिक देश कालादि मे भगवत्प्राकट्य सम्भव नही। यह लीलाकाल भगवत्स्वरूप है। भगवल्लीला का प्रारम्भ होने वाला है। अत यह स्वरूपात्मक लीलाकाल प्रकट हुआ है। इसकी सूचना मूल मे 'अर्थ' शब्द से की है कि अब सब ही प्रकार भिन्न है। जिस प्रकार रास लीला की षड् मास की रात्रियो मे दिन का प्रवेश नही हुआ। यह उन रात्रियो की विलक्षणता थी, आधिदैविकता थी उसी प्रकार इस प्राकट्य काल मे भी आधिभौतिक दक्षिणायनादि का प्रवेश नहीं। यह पुष्टिमार्ग की मर्यादा मार्ग से विलक्षणता और बलिष्ठता हैं। 'सर्वगुणेपेत' इस विशेषण से इस प्राकट्य गुणपूर्ण भगवद्रूपता स्पष्ट होती है।"

आदि भूतों ने भी अपने २ गुणों को प्रकट किया, इन सबके दोषों को नाश तो पूर्व में ही हो चुका था।

श्री सु० आभास – एवं पूर्वाध्याये भगवत उद्यममुक्त्वा सर्वेषां त्रिविधदुःखदूरीकरणाय, रूपान्तरस्वीकरणमुच्यते, अत आदौ रूपं वक्तव्यं, अन्यथा रूपान्तरत्वं न स्यात्, तस्य च प्राकट्ये यद्यधिकारिणां नैमित्तिकगुणप्राकट्यं सर्वं नोच्येत तदा प्राकट्यमपि जननापरपर्यायं स्यात्, न ह्येकस्य जनने सर्वे गुणा प्रकटीभवन्ति महतामन्येषा०च, जनकयोर्वा यदि स्तोत्रं नोच्येत ताऽंशमेव जनितमिति तयोर्बुद्धिः स्यात्, रूपस्य प्रदर्शनमात्रप्रयोजनव्यावृत्यर्थं स्वरूपकथनमपि वक्तव्यं, अन्याथाश्चर्यमात्रत्वेन निदानाज्ञानात् सन्देह एव तिष्ठेत्, रूपान्तरेण कार्यं न भवतीति गमनमावश्यकं, रूपान्तराभावे सर्वमुक्तिरेव स्यात्, लीलाया रसालता च न स्यात्, अलौकिकं लोकाद् दुर्बलमिति ज्ञापयितुं ऽंष्टेप्यलौकिके जनकयोर्भयदर्णनम्।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार पूर्ववर्ती द्वितीयाध्याय में भगवान् के अवतारार्थ उद्यम का वर्णन कर (इस तृतीयाध्याय में भूमि, माता–पिता तथा अन्यान्य भक्त) इन सबके सात्विक, राजस, तामस तीनों प्रकार के दुःख दूर करने के लिए अथवा कंसकृत, कालकृत, अज्ञानकृत इन तीनों प्रकार के दुःख करने के लिए रूपान्तर का स्वीकार कहा जाता है। अतः प्रथम रूप का वर्णन आवश्यक हैं क्योंकि किसी एक रूप का अन्य रूप में परिवर्तित होना ही तो रूपान्तर है। यदि भगवान् के रूप का वर्णन नहीं किया जावे तो उनके रूपान्तर का स्वीकार करना जो कि अध्यायार्थ है वह सङ्ग.त न हो सकेगा और यदि भगवत्प्राकट्य, में काल आदि अधिकारियों के नैमित्तिक (भगवत्प्राकट्यमूलक) शुभसूचक गुणों के प्रकट होने का सर्वांश में वर्णन न किया जाय तब तो भगवत्प्राकट्य को प्राकट्य[1] शब्द से नहीं कहा जा सकेगा। तब तो वह "जनन" शब्द से ही व्यवहृत होगा क्योंकि सर्व गुणों का सर्वांश में प्रादुर्भाव किसी एक के भी जन्म काल में नहीं होता अन्यान्य बड़े २ महानुभाव 'पृथु' महाराज जैसों के भी जन्मकाल में सर्वगुणों का प्राकट्य नहीं हुआ, यदि वसुदेव एवम् देवकीकृत स्तुति का वर्णन न किया जाय तब तो उनके विषय में सर्व साधारण की यही बुद्धि (धारणा) हो सकती है कि इन

[1] परमतत्त्व श्रीकृष्ण के ही जन्म में 'प्राकट्य' शब्द उपयुक्त है, उन्हीं के आविर्भाव काल में सर्व तत्त्वों में आनन्द का आविर्भाव होता है। यही उनकी परमतत्त्वरूपता का साक्षात् हृदय–स्पर्शी प्रमाण है।

माता–पिताओं को इतना ही ज्ञान होगा कि हमारे चतुर्भुज पुत्र उत्पन्न हुआ है यह साक्षात् भगवान् है, इस प्रकार का ज्ञान तो उनकी की हुई स्तुति से ही स्पष्ट होता है। उक्त चतुर्भुज रूप केवल माता–पिता के दिखाने को ही प्रकट किया हो, ऐसी बात नहीं हैं किन्तु पूर्व जन्मों के प्रसङ्गों का स्मरण करा देना आवश्यक है। अतः शुकदेवजी ने 'सान्त्वन' प्रकरण मे भगवत्कृत स्वरूप वर्णन का आवश्यक समझकर उल्लेख किया है, यदि ऐसा नहीं किया जाता तो वह अद्‌भुत स्वरूप दर्शन आश्चर्य ही बना रहता और उसके कारण का ज्ञान न होने के सन्देह ही रह जाना कि यह हमारे पुत्र कैसे हो सकते हैं, रूपान्तर के स्वीकार मात्र से भक्त दुःख निवृत्ति का कार्य बिना गोकुल पधारे नहीं हो पाता, अतः 'गमन' भी अध्याय के अन्तर्गत आवश्यक है।

श्लोकः – अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः।।
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम्।।१।।

मूलार्थ – स्तुति कर देवताओं के चले जाने के अनन्तर परम सुन्दर एवं सर्व गुण सम्पन्न काल प्रकट हुआ जब ही रोहिणी नक्षत्र (आया) एवं उसके सहवर्ती अन्य नक्षत्र ग्रहतारा भी शान्त रूप से शुभ फल की सूचना देने को उपस्थित हुए।।१।।

व्याख्यार्थ – यदि प्राकृत शिशु रूप ग्रहण न किया जाता तो सर्व साधारण की मुक्ति हो जाने का सम्भव था तथा लीला की वह वात्सल्य माधुर्य आदि रसमयता[1] भी सम्पन्न न हो पाती। श्री वसुदेव एवं देवकी के भयभीत होने का वर्णन उनके ही स्तोत्रों में हुआ है, जबकि अलौकिक स्वरूप का दर्शन हो रहा है, ऐसी दशा में भी भय का होना स्पष्टतया सूचित करता है कि लौकिक की अपेक्षा अलौकिक[2] दुर्बल होता है। भगवान् की महिमा का ज्ञान अलौकिक है। उसके होते हुए भी इस बालक का क्रूर कंस

टिप्पणी – प्रकाशकार ने "आविरासीत्" इस अष्टम् श्लोक गत क्रिया पद से सुदूर अन्वय को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि अध्याहार की अपेक्षा दूर अन्वय में लाघव है अतः प्रथम श्लोक गत "अर्थ" का वहीं सम्बन्ध है। लेखकार ने इस पक्ति को प्रकारान्तर से लगाया है उनका कहना है कि "इति" अर्थात् भगवान् प्रकट हुए हैं, इस कारण से (सम्बन्ध) गुणो का काल से सम्बन्ध हुआ।

[1] निज अन्तरङ्ग भक्तो को जिस रस का दान करता है जिस रस की प्राप्ति के बिना उनका ताप क्लेश निवृत्त नही हो सकता उस रसदान मे रूपान्तर स्वीकार अत्यन्त आवश्यक है तभी तो यह ही मुख्यतया तृतीयाध्यायार्थ माना है।

[2] लीला की रसालता में यह भी उपयुक्त है, लोकवत्त् लीला कैवल्यभू–व्यास सूत्र भी लीला की–लोक तुल्यता का निर्देश करता है परन्तु आचार्य श्री की यह पंक्ति हम लोगों (वैष्णवों) को सावधान करने के लिये भी है कि अलौकिक भगवद्भाव की रक्षा सावधानता से करते रहें, लौकिक महान् प्रबल शत्रु है उससे बचते रहें।

से कोई अनिष्ट न हो जावे, इस प्रकार की स्नेहमय लौकिक बुद्धि का बना रहना स्पष्ट कर देता है कि लोक की प्रबलता है, अलौकिक की नहीं।

श्री सु० – प्रथममष्टैश्वर्ययुक्तमाविर्भावमाह, यदैव ते स्तुत्वा गता अथ तदनन्तरमेव भगवानाविर्भूत इतिसम्बन्धः, तदैव सर्वगुणोपेतः कालो जातः, यावन्तो गुणाः काले स्थापितास्ते सर्वे प्रकटीभूता जगवज्ज्ञापनार्थमित्यर्थः, अत एव परमशोभनो जातः, परमस्यापि भगवतः पूर्णगुणस्य शोभाजनकः, कालावयवरूपाणि यानि नक्षत्राणि तेष्वपि केवलगुणाधारभूता रोहिण्येव, भगवता हि स्वगुणप्राकट्यार्थमेव ब्रह्मोत्पादितः।

अनुवाद – शुक मुनि सर्व प्रथम भगवान् के अष्टैश्वर्य सहित प्रादुर्भाव का वर्णन करते हैं कि जब देवगण स्तुति करके चले गये, उसके अनन्तर ही भगवान् प्रकट हुए, उसी समय काल सर्वगुण सम्पन्न हो गया, जितने गुण काल में स्थापित किये थे वे सब प्रकट हो गये, भगवान् को अपनी सेवारत लाने को काल ने गुण प्रकट किये, इसी से काल परम शोभापूर्ण हो गया परम तत्त्व सर्व गुणपूर्ण भगवान् की भी शोभा का हेतु बन गया। काल के अवयव जो नक्षत्र हैं उनमें भी केवल गुणों का आश्रय 'रोहिणी' नक्षत्र ही है, भगवान् ने अपने गुणों को प्रकट करने के लिए ही ब्रह्मा उत्पन्न किया।

श्री सु० – स तु विकारान् दूरीकृत्य गुणानेव प्रकटयितुं तन्नक्षत्रं गृहीतवान् अत एवाजनस्य जन्मरहितस्य पुत्रोपि जन्मरहित एवेति ज्ञापयितुमजनाज् जन्म यस्य तस्य नक्षत्रमित्युक्तं "ततो वै ते सर्वान् रोहनरोहंस्तद्रोहिण्यै रोहिणीत्व" मितिश्रुतेः, यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं जातं, तदैव सर्वगुणोपेतः, कालो जात इतिसम्बन्धः, अनेन नक्षत्रारम्भे जन्मेति सूचितं, तस्य नक्षत्रस्य सर्वेषां सहायवर्तिनामानुगुण्यमाह शान्तर्क्षग्रहतारकमिति, शान्तान्यन्यान्यृक्षाणि ग्रहास्ताराश्च यस्य, अश्विन्यादीनि नक्षत्राणि, आदित्यादयो ग्रहाः, अन्यानि न नक्षत्राणि ताराः, यद्यपि तेषा ज्योतिः, शास्त्रे फलं नोक्तं तथाप्यस्तीति शान्तत्वमुक्तं, अनेन स्वाभाविका आनुषङ्गिकाश्च गुणा निर्दोषाः कालगता निरुपिताः।।१।।

अनुवाद – उस ब्रह्मा ने तो विकारों को दूर कर गुणों को ही प्रकट करने के लिए उस रोहिणी नक्षत्र का ग्रहण किया। (यहाँ दोषाभावपूर्वक सर्व गुणों के प्राकट्य द्वारा जन्म काल की आधिदैविकता का प्रतिपादन करना अभिष्ट है) इसीलिए रोहिणी नक्षत्र की "अजनजन्मा" ब्रह्मा) का नक्षत्र कहा है, जिससे उक्त नक्षत्र के देवता ब्रह्म की निर्विकारता सिद्ध होती है बात ऐसी है कि भगवान् तो जन्मादि विकारों से रहित होने के कारण 'अजन' कहलाते ही हैं। ब्रह्मा उन्हीं भगवान् का पुत्र है अतः वह भी जन्म रहित ही है। इसी से ब्रह्मा को "अज" शब्द से कहा गया है। अतः अजन्मा भगवान् से

जन्म प्राप्त करने के कारण "स्वयंभूः" "अजः" आदि शब्दों से संकेतित हुए ब्रह्मा के नक्षत्र को निर्दोष गुणपूर्ण होना सर्वथा समुचित ही है। श्रुति से 'रोहिणी' शब्द का जो निर्वचन प्राप्त हुआ है वही इस नक्षत्र की महिमा का पर्य्याप्त प्रमाण है भगवती श्रुति कहती है कि "उस[1] नक्षत्र से ही वे लोग सर्व उच्च स्थानों को चढ गये" वे अपने सम्पर्कियों को उच्च स्थान पर चढा देना रोहिणी का रोहिणी नाम से व्यवहृत होने का कारण है, जब रोहिणी नक्षत्र हुआ तब ही सर्वगुणपूर्ण काल हुआ, इस प्रकार की योजना से सूचित होता है कि भगवान् का जन्म रोहिणी नक्षत्र के प्रारम्भ में ही हुआ। उक्त नक्षत्र के सब ही सहायवर्ती अन्यान्य नक्षत्रादि भी अनुकूल थे। ऐसा सूचित करने को 'शान्तर्क्ष' इत्यादि विशेषण का प्रयोग किया है कि इस नक्षत्र के सहचारी अन्य नक्षत्र, ग्रह और तारा भी शान्त थे, अश्विनी आदि नक्षत्र, सूर्य आदि ग्रह एवं उपनक्षत्र तारा सब ही शान्त थे शुभ थे। यद्यपि ज्योतिष शास्त्र में इन का फल नहीं कहा तो भी उनका भी फल होता है। इसीलिए उनकी शान्त अवस्था का निर्देश किया है। इस श्लोक से काल के सब ही स्वाभाविक एवम् सहयोग से प्राप्त होने वाले आनुषङ्गि.क गुणों का निरूपण किया है।।१।।

श्री सु0 – देशस्त्रिविधः, अधः उपरि परितश्चेति, तत्र परितो दिशः उपरि द्यौरधो भूमिः, त्रयाणां दोषाभावपूर्वक गुणा उच्यन्ते, तत्र दिशो देवतात्मिका भूतात्मिकाश्च भवन्ति, तत्र मेघादिना[2] दूरदर्शनलक्षणप्रसादो दिशां भवति, देवताप्रसादस्तु सर्वसाधकः, अतो ज्ञानं सर्वमेव च फलं सिद्ध्यत्वित्युभयविधदिशां प्रसाद उच्यते दिशः प्रसेदुरिति।

व्याख्यार्थ –देश तीन प्रकार का है – नीचा, ऊँचा और सब ओर चारों तरफ, उसमे चारों ओर दिशा ऊपर आकाश और नीचे भूमि इन तीनों की निर्दोषता के साथ गुणों का वर्णन किया जाता है उनमें दिशा देवता रूप भी होता है और भूतात्मक भी होती है। उनमें भूतात्मक पूर्व–पश्चिम आदि दिशाओं का प्रसाद (निर्मल होना) वह है, जिससे दूर देशस्थ वस्तु का भी दर्शन हो सके। मेघ आदि के न होने के कारण वैसी निर्मलता होती है और श्रवण इन्द्रिय की अधिष्ठात्री दिग्देवता का प्रसाद तो सर्व सिद्धि

टिप्पणी [1] यह श्रुति तैत्तरीय शाखाध्यायियो के ब्राह्मण भाग मे रोहिणी की स्तुति रूप से उपलब्ध है, ऐसा योजनाकार लिखते हैं।

[2] मेघादीनां, ऐसा पाठ भी सङ्ग त है, मेघादीना ऐसा पाठ तब सङ्ग त होता है जब "दिशा" के आगे "न" शब्द और इ

का कारण है। अतः[1] ज्ञान भी सिद्ध हो और सर्व फल भी सिद्ध हो, इसलिए भूतात्मक और देवात्मक दोनों प्रकार की दिशाओं की प्रसन्नता 'दिशः प्रसेदुः' इन शब्दों से कही है–

श्लोकः – दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्।।
मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा।।२।।

मूलार्थ – जिस समय दिशाएँ निर्मल हो गई थीं आकाश भी निर्मल तारागणों के उदय से शोभित था। पृथ्वी में भी प्रत्येक नगर और ग्रामों में एवम् गौओं के रहने के स्थान तथा रत्नादिकों के भी उत्पत्ति स्थानों में सर्वत्र ही प्रचुर मङ्गलाचार हो रहे थे।।२।।

श्री सु० – दिशः प्रसेदुरिति, निर्मला उडुगणा यत्र, वर्षाकाले मेघाः सहजास्तैः, कृत्वोडुगणानां प्रकाशो न ऽंश्यत इति नैर्मल्यमुच्यते, उदयेति, उदयकालेपि मेघानामभावः, उदयो दर्शनमेव वा, मही भूमिर्मङ्गलभूयिष्ठा, सर्वत्रैव विवाहपुत्रजन्माद्युत्सवास्तस्मिन् समये जायन्त इति, पुरं नगरं, ग्रामाः साधारणाः, व्रजो गवां स्थानं, आकरा रत्नाद्युत्पत्तिस्थानानि, सर्वाण्येव मङ्गलभूयिष्ठानि यस्याम्।।२।।

व्याख्यार्थ – आकाश निर्मल तारागणों से उनके उदयकाल में भी शोभित था। वर्षाकाल में मेघों का होना स्वाभाविक है। उनके कारण ताराओं का प्रकाश नहीं दिख पाता। इस कारण ताराओं की निर्मलता बतलाई है कि उदयकाल में भी मेघादिकों का अभाव था उदय शब्द से "दर्शन" अर्थ यहाँ पर अधिक उपयुक्त है। आकाश में निर्मल तारागणों का दर्शन हो रहा था पृथ्वी में विवाह, पुत्र–जन्म आदि माङ्गलिक उत्सव होने लगे। बड़े से बड़े नगर, छोटे से छोटे ग्राम, गौओं के निवास तथा रत्न आदि के उत्पत्ति स्थान सब ही बहुविध एवम् अत्यधिक मङ्गलमय ऽंश्यों से पृथ्वी से सज उठे।।२।।

श्लोकः – नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः।।
द्विजालिकुलसन्नादस्तबका वनराजयः।।३।।

---
[1] दूरदर्शिता एवं सर्व इन्द्रियों की सत्प्रवृत्ति के द्वारा जीवन की सफलता इन दो महान् लाभों की सूचना "दिशः प्रसेदः" की व्याख्या मे निगूढाशय आचार्य ने की है।

मूलार्थ – (जिस समय) नदियों का जल निर्मल था, सरोवर भी कमलों से शोभा सम्पन्न हो रहे थे, वन पंक्तियां भी पक्षीवृन्द एवम् भ्रमर पुञ्ज की गुञ्जार से पुष्प गुच्छों को मुखरित कर रही थीं।।३।।

श्री सु0 – एवं देशकालयोर्गुणानुक्त्वा भौतिकानां तत्तद्भूतप्रधानानां गुणानाह, तत्र प्रथममपामाह।

नद्य प्रसन्नसलिला इति, यद्यप्यापो बहुविधा एकोनविंशतिभेदास्तथाप्युभयविधा एव, स्थावरा वहन्त्यो वा, अत उभयानां गुणा उच्यन्ते, नदीषु कालवशात् पङ्किलं जलं भवति, आधिदैविककालवशात् कालनियन्तृभगवद्वशाद् वा स निवर्तते, अतः कालनियन्तरि भगवति समागते नद्यः प्रसन्नं सलिलं यासां ताऽश्यो जाताः, दोषनिवृत्तिपूर्वकः, स्वाभाविक गुण उक्तः, ह्रदाः स्थावराः, जलरुहाणां कमलानां श्रीर्येषु, जलस्य योयं सारांशः स कमलादिः, अतोसाधारणा गुणा अनेनोक्ताः, भूमेर्गुणान् वक्तुं गन्धस्तस्या मुख्यो गुण इति स च पुष्पादिषु प्रसिद्ध इति गन्धरसकार्यकथनपूर्वकं पुष्पादिसम्पत्तियुक्तां वनरूपां भूमिमाह द्विजालीति, द्विजा पक्षिणः, अलयो भ्रमराः, उभयेषां कुलानि, तेषां सन्नादयुक्ताः स्तबकाः पुष्पगुच्छा यासां ताऽश्यो वनराजयो वनपङ्क्.यो जाताः।।३।।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार देश और काल के गुणों का वर्णन कर उन–उन भूतों की प्रधानता रखने वाले भौतिक पदार्थों के गुणों को कहते हैं उनमें प्रथम जलों के गुणों को कहते हैं कि नदी प्रसन्न सलिला हो गई। उनका जल निर्मल हो गया यद्यपि जल अनेक प्रकार के हैं फिर भी मुख्य दो ही प्रकार हैं। एक तो स्थिर रहने वाले और दूसरे बहने वाले। अतः उन दोनों के गुण कहे जाते हैं। नदियों में कालवश जल गंदला हो जाता है। आधिदैविक काल के प्रकट होने से या काल के नियामक भगवान् के सामर्थ्य से वह गंदले होने का दोष दूर होता है अतः काल के नियामक भगवान् के पधारने के समय नदियों का नीर निर्मल हो गया एवम् प्रसाद गुण पूर्ण हो गया। इस प्रसन्न सलिला पद के द्वारा मलांश दोष की निवृत्ति के साथ साथ स्वाभाविक नेत्र सुखकारी सौन्दर्य गुण का निर्देश किया है। सरोवर स्थिर जलाशय होते हैं। जल में प्रकट होने वाले कमलों की शोभा उन जलाशयों में व्याप्त हो रही थी। जल का जो यह सारांश है या उनके हृदय का जो रत्न है वह कमलादि ही है। अतः जल के असाधारण गुणों का वर्णन इस विशेषण से हुआ है। भूमि के गुणों का वर्णन करना है, इसलिए गन्ध की

भूमि का प्रधान गुण है, इस दृष्टि से गन्ध और रस के कार्यों[1] का कथन करते पुष्पादि सम्पत्तिपूर्ण वनरूपिणी भूमिका वर्णन करते हैं कि पक्षियों एवम् भ्रमरों के समूहों की मधुर ध्वनि से शब्दायमान पुष्प गुच्छों द्वारा वन रात्रियाँ भी आनन्दोल्लास से परिपूर्ण हो गई।।३।।

श्लोकः – ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः।।
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत।।४।।

मूलार्थ – (उस समय) पवित्र एवम् शुभसूचक सुगन्धपूर्ण तथा सुस्पर्श वायु बह रहा था और द्विजातियों के शुभ अग्नि देव भी प्रदीप्त हो उठे थे।।४।।

श्री सु० – ववौ वायुरिति, सुखस्पर्शो वायोर्गुणः, गन्धंच भूमेर्वहतीति शुभकार्य, पुण्यं गन्धं वहतीति पुण्यगन्धवहः, शुचिर्गङ्गादिजलसम्बन्धी दोषरहितो वा, योवा वायुः शुभसूचकः स शुचिः, अग्नयो लौकिका वैदिकाश्च, द्विजातीनामिति निषिद्धेतराः, तत्राप्यशुभकार्यस्यव्यावृत्त्यर्थं शान्तास्तस्मिन् समये समिन्धत सम्यग् दीप्ता जाताः, तस्मिन् समये शुभा अग्नयः पिहिता अपि प्रज्वलिता जाता इत्यर्थः।।४।।

व्याख्यार्थ – सुखमय स्पर्श वायु का गुण है और वह वायु पृथ्वी के प्रधान गुण गन्ध का वहन करता ही है परन्तु भगवत्प्राकट्य के सुअवसर पर तो उस वायु ने शुभसूचक पवित्र सुगन्ध को बहा दिया दिशा विदिशाओं को सुगन्ध से सुवासित कर दिया, इस वायु में गंगादि पवित्र नदियों के जल कण व्याप्त थे अतः इसे 'शुचि' कहा है अथवा दोष रहित होने के कारण इसे 'शुचि' कहा गया है या शुभसूचक होने से 'शुचि' है, उक्त सब ही अभिप्रायों को लेकर शुचि पद का प्रयोग हुआ है, वायु के दोषाभाव और गुणों में उसके तीनों विशेषणों का उपयोग है, और स्मृति प्रतिपादित कर्मों के उपयोगी लौकिक अग्नि तथा श्रुति प्रतिपादित अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के उपयोगी वैदिक अग्नि दोनों प्रकार के शुभ अग्नि प्रज्वलित हो उठे "द्विजातीयनाम्" इस पद से अग्नि के ब्राह्मण आदि उच्च श्रेणी के सत्कर्माधिकारियों के सम्बन्धी होने का निर्देश किया है और उसके द्वारा म्लेच्छ आदि से सम्बन्धित निषिद्ध कर्मगत अग्नि का अग्रहण

---

[1] आम्र आदि के पुष्प गुच्छो पर केवल रसना द्वारा रस ग्रहण करने वाले कोकिलादि पक्षियो का और मालती आदि के पुष्प गुच्छो पर गन्ध तथा रस दोनो के ग्राहक भ्रमरो का वर्णन यथा योग्य ज्ञातव्य है।

सूचित किया है अर्थात् म्लेच्छों की अग्नि बुझ गई, यह सूचित किया है "शान्ता" इस विशेषण से अशुभ कार्यगत अग्नि का व्यावर्तन किया है, आशय यह है कि भगवत्प्राकट्य के सुअवसर पर शुभ अग्नि दबी हुई भी जाग उठीं और अशुभ मांसपाकादि क्रियागत अग्नि जगाने से भी नहीं जगी।।४।।

श्लोकः – मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम्।।
जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिवि।।५।।

मूलार्थ – (उस समय) असुरों के विरोधी सब ही सन्मार्गवर्ती साधुओं के मन उल्लासपूर्ण होकर खिल उठे थे, अजन्मा के जन्म काल के अधिक निकट आने पर आकाश मे नगाडे बजने लग गये।।५।।

श्री सुबोधिनी – सात्त्विकाहङ्कारकार्यं मन इति भौतिकगुणसमये मनसोऽपि गुणा उच्यन्ते।

यदा सत्त्वमारूढं भवति तदा मनांसि प्रसन्नानि भवन्ति, मनसो दैत्यसम्बन्धित्वमपि वर्तत इति तन्निवृत्त्यर्थं साधूनामित्युक्तं इदं साधुपदं दैत्यव्यतिरिक्तमात्रपरमिति ज्ञापयितुमसुरद्रुहामित्युक्तं, साधुपदं च व्यवहारे सन्मार्गवर्तित्वाय, इयमवस्था स्थूलकालेपीति निकटकाले विशेषमाह जायमानेजन इति, अजने जायमाने दिवि दुन्दुभयो नेदुः, तस्मिन्निति तन्निकटे, यथा वसुदेवादयः, शृण्वन्ति, आकाशस्य गुणा नृत्यवादित्राणि, दुन्दुभिर्मङ्गलवाद्यं, स्वयमेव नेदुर्न तु कैश्चिद् वादिताः।।५।।

अनुवाद – मन सात्त्विक अहंकार का कार्य है। इस कारण से (तामस अहङ्कार के कार्य) पृथिवी आदि भौतिक पदार्थों के गुण वर्णन के अवसर पर मन[1] के भी गुणों को कहा जाता है, जब सत्त्वगुण[2] मन से आरुढ होता है अर्थात् मन सत्व गुण पर स्थित होता है, तब मन प्रसन्न होते हैं, मन दैत्यसम्बन्धी भी होता है, उस दैत्य सम्बन्धी मन को प्रसन्नता प्राप्त नहीं हुई ऐसा बतलाने की 'साधूनाम्' इस पद का प्रयोग किया है, यह 'साधू' पद दैत्यों के अतिरिक्त सब ही का बोधक है ऐसा सूचित करने को 'असुरद्रुहाम्' इस पद का प्रयोग किया है, व्यवहार में सन्मार्ग पर बर्तने वाला सदाचारी ही साधु है ऐसा बतलाने को 'साधु' पद उपयुक्त है, यह अवस्था स्थूल काल में भी रही अर्थात् भगवान् के जन्म काल से कुछ पूर्व में इस अवस्था का प्रारम्भ हुआ और माया

टिप्पणी – [1] मन सब ही इन्द्रियो का उपलक्षण है समस्त इन्द्रियो की प्रसन्नता में तात्पर्य है।
[2] "तदा रज स्तमोभावाः कामलोभादयश्चये चेत एतैरनाविद्धम् स्थित सत्त्वे प्रसीदति" भा. प्र. स्क. द्वि. अ १९वां श्लोक देखो

के जन्म पर्य्यन्त यह देश काल आदि की प्रसन्नता वाली अवस्था वर्तमान रही परन्तु जन्म के निकट समय मे लो यह विशेषता हुई कि आकाश में दुन्दुभि बज उठीं, अजन्मा भगवान् के प्राकट्यकाल के निकट आते ही आकाश में निगाड़े खड़कने लगे, यह शब्द इतना निकट था जिससे वसुदेवजी आदि सुन सकें आकाश[1] के गुण नृत्य और वाद्य हैं, दुन्दुभि मंगलवाद्य है, आप ही आप दुन्दुभि बजी थीं किन्हीं लोगों ने इन्हें बजाया नहीं था।।५।।

श्लोकः – जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः।।
विद्याधराश्च ननृतुरप्सरोभिः समं मुदा।।६।।

मूलार्थ – (उस समय) किन्नर और गन्धर्व गान करते थे, सिद्ध एवम् चारण लोग स्तुति पढ़ रहे थे और विद्याधर गण अप्सराओं के साथ हर्ष से नाच रहे थे।।६।।

श्री सु० – किन्नरगन्धर्वा अपि स्वत एवोल्लसितहृदया जगुः, अज्ञात्वैवेति ज्ञातव्य, अन्यथा माहात्म्यप्रतिपादकं न स्यात्, सिद्धाश्चारणाश्च तुष्टुवुः, अकस्मादेव स्तोत्रं तत्काले कृतवन्तः, ते हि वैतालिकप्रायाः, विद्याधरा नर्तकाः, चकाराद् विद्याधर्यश्च ननृतुः, अप्सरोभिः सममित्यानन्दावेशेनैव नृत्य, न तु शास्त्रीयं, मुदाऽऽनन्देन, न केनचित् प्रेरिताः, स्वत एवानन्दाविर्भूता[2] अकस्मात् तस्मिन् समये स्त्रियः पुरुषाश्च ननृतुः, अनेन ये केचन यस्यां विद्यायां रतास्तेकस्मान् मुदा तत्तत् कार्य कृतवन्त इत्यर्थः।।६।।

व्याख्यार्थ – किन्नर और गन्धर्व भी गान करने लगे। उनका हृदय स्वतः ही उल्लासपूर्ण हो गया, भगवान् प्रकट हो रहे हैं – इस ज्ञातव्य विषय के ज्ञान के बिना ही उनकी यह रसमत्त दशा हो गई, यदि भगवत्प्राकट्य को जानकर उन्होंने गान किया ऐसा माना जाय तब तो भगवत्प्राकट्य की महिमा का प्रतिपादन न हो सकेगा, उसकी स्वाभाविक चमत्कृति का दिग्दर्शन न हो सकेगा, सिद्ध और चारण स्तुति करने लगे, उस समय अकस्मात् ही माङ्गलिक स्तुति पाठ में प्रवृत्त हो गये, क्योंकि वह लोग इस

टिप्पणी – [1] आकाश प्रधान अन्तरिक्ष लोक के यह नृत्य आदि गुण कहे है। इस श्लोक मे दुन्दुभि वाद्य कहा है आगे श्लोक मे गान और स्तुति कही है। गान और स्तुति तो शब्द रूप से आकाश के गुण स्पष्ट है ही।

[2] आनन्दाभिभूता ऐसा पाठ होना अत्यधिक सम्भव है। लेखकार ने तो स्वत एव जातो य आनन्दस्तेनाविर्भूतास्तेषा गानादि क्रियाइति शेष., इस प्रकार पक्ति के लगाने की सफल चेष्टा की है परन्तु उस प्रयास की आवश्यकता प्रतीत नही होती पूर्वा पर ही वाग्धारा से 'आनन्दाविर्भूता', ऐसा ही प्रयोग अधिक सङ्गत प्रतीत होता है।

माङ्ग.लिक समय के राय भाट जैसे थे, विद्याधर लोक नर्तक (नाचने वाले) थे। विद्याधराश्च इस च शब्द से यह भी सूचित होता है कि विद्याधरों की स्त्रियाँ भी नाचने लगीं, अप्सराओं के साथ सम्पन्न हुआ यह नृत्य आनन्द के आवेश से ही है नाट्य[1] शास्त्र की पद्धति से नहीं अतएव 'मुदा' पद के द्वारा आनन्द की सूचना की है, किन्नर आदि किसी के प्रेरणा से गानादि में प्रवत्त नहीं हुए किन्तु स्वतः ही आनन्द से व्याप्त होकर अकस्मात् स्त्री और पुरुष उस समय नाचने लगे, इससे यह अर्थ निकलता है कि जो भी कोई जिस विद्या में तल्लीन थे वह सहसा हर्ष के साथ उस कार्य को करने लगे।।६।।

श्लोकः — मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः।।
मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम्।।७।।

श्लोकार्थ — (उस समय) मुनि एवम् देवताओं ने प्रसन्नता के साथ सुमन वृष्टि की एवं मेघों ने सागर के निकट मन्द मन्द गर्जना की।।७।।

श्री सु० — देवा ज्ञात्वैव पुष्पवृष्टिं मुमुचुर्मुनयश्च, शब्दबला मुनयः, अर्थबला देवाः, उभये प्रामाणिकाः, स्वसेवामभिज्ञतां च ज्ञापयितुं शुभसूचनार्थं सुमनाँसि पुष्पाणि हर्षेणान्विता मुमुचुः, सर्वथा मेघानामभावे विपरीतः कालधर्मोशुभकर इति तेषामपि कार्यमाह जलधरा मन्द मन्दं सागरनिकटे जगर्जु।।७।।

व्याख्यार्थ — देवगण और मुनिगणों ने भगवत्प्राकट्य को जान[2] कर ही धारा रूप से पुष्पों की वृष्टि की थी मुनियों[3] को शब्द रूप श्रुति का बल है और देवताओं को अर्थ रूप भगवान् का ही बल है, यह दोनों प्रामाणिक है, इन्होंने अपनी सेवा (प्रभु के प्रति सेवक का कर्तव्य) और भगवान् पधारते हैं, इस विषय में अपनी जानकारी प्रकट करने की मङ्ग.ल की सूचना के लिए हर्षपूर्वक पुष्प—वृष्टि की, भगवत्प्राकट्य काल में यदि

[1] शास्त्रीय नृत्य में तो उसके नियमानुसन्धान से व्यग्रता का रहना स्वाभाविक है और व्यग्रता की दशा में आनन्द की स्थिति समुचित साङ्ग.ोपाङ्ग बनी रहे यह सम्भव नहीं।
[2] क्योंकि पुष्प वृष्टि एक ऐसा कार्य है जिसमें गान आदि की भांति अज्ञान पूर्वकता का सम्भव नहीं, गान आदि आनन्द की उमङ्ग. मे स्वतः भी होते है परन्तु पुष्प वृष्टि उनके कारण का ज्ञान होने पर ही हो सकती है।
[3] प्रकाशकार के अनुसार यह व्याख्या है, लेखकार ने तो मुनि औद देव दोनों को क्रम से शब्द और अर्थ के द्वारा वेद के उपजीवी बतलाया है। मुनिगण वेद का स्वाध्याय कर सामर्थ्य—सम्पन्न होते हैं और देवगण अपने प्रतिपादक मन्त्रो द्वारा प्राप्त हुए हवि का भोग का सामर्थ्य सम्पन्न होते हैं। लेखकार का कहना है कि कालादि के गुण जो पूर्व में कहे गये है वह सब रूप लीला सम्बन्धी पदार्थों के ही कहे गये हैं नाम लीला सम्बन्धी पदार्थो के गुण यहाँ देव और मुनियो के पुष्प वृष्टि द्वारा कहे है।

सर्वथा ही मेघ न होवे तब तो वर्षा–ऋतु मे मेघों के न होने से काल–धर्म विपरीत होने से अशुभकारी समझा जावे, अतः मेघों का भी कार्य वर्णन किया है कि समुद्र के तट पर मेघों ने गर्जना की [illegible]

श्री सु० – अथ च मुनयः सुष्ठु निर्दुष्टानि मनांसि पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावात् समाधितो निष्कास्य तदाविर्भावस्थले मुमुचुर्ववृषुरित्यर्थः, देवास्तु पुष्पाणीत्यर्थः, अतएव पुष्पादिपदानि विहायोभयार्थकत्वात् सुमनःपदमुक्त, सुमनसः इतिस्त्रीलिङ्ग.प्रयोगाभावश्च, पुष्पवाचकस्यैव स्त्रीलिङ्ग.निर्देशाद्, अन्यथा भुवि स्थितानां मुनीना नभसि स्थितैर्देवैः सह वृष्टिकर्तृत्वं कथमुपपद्येत ? मनसः पुष्पतया कथनमुज्ज्वलत्वसङ्क.ोचविकासादिधर्मतत्त्वादविरुद्धम्, मुदान्विता इति, तत्रानन्दावेश–लक्षणमकरन्दसम्पत्तिः सूचिता, तदा सुमनोवृष्ट्यपेक्षया जलवृष्टिरल्पा नाद्भुता चेति मत्वा मेघा नववृषु किन्तु तत्र गर्जित नास्तीति तावत् कार्यं कृतवन्त इत्याह मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरिति मेघानामुच्चैर्गर्जनं पूर्वोक्तवाद्यगीतादिश्रवणप्रतिबन्धकतां भवतीति तदभावाय मन्दं मन्द– मित्युक्तं, अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेः'।

अनुवाद – मुनियों ने अपने निर्दोष मानसों को पुरुषोत्तम से सम्बन्ध के न होने के कारण समाधि से निकालकर भगवान् के प्राकट्य स्थल पर छोड़ दिये व रख दिये धारावाहिक रूप से उनकी मनोवृत्ति वहीं पर लग गई, देवताओं ने तो वहाँ पर पुष्पों की वृष्टि की, ऐसा अर्थ है इसीलिए पुष्प आदि पद को छोड़ कर ''सुमनस्'' पद का प्रयोग किया है, क्योंकि ये पद सुन्दर मन और पुष्प दोनों अर्थों का वाचक है, पुष्पवाचक ''सुमनस्'' शब्द स्त्रीलिङ्ग. का ''सुमनसः'' ऐसा प्रयोग न करना सूचित करता है कि द्वितीय अर्थ 'सुन्दर मन' भी यहाँ अभीष्ट है, अन्यथा भूमि में स्थित रहने वाले मुनियों का आकाश में स्थित हुए देवताओं के साथ पुष्प–वृष्टि करना कैसे सिद्ध हो सकेगा मन का पुष्प रूप से कथन पुष्पों के ''उज्ज्वल एवं सङ्क.ोचविकास आदि धर्मों से युक्त होने के कारण विरुद्ध नहीं (किन्तु अनुकूल है उचित है) 'मुदान्विताः'' इस विशेषण से मुनि और देवताओं में आनन्दावेश की सूचना है जिससे पुष्प रूप मुनि मानसों की मकरन्दभरपूर्णता व्यञ्जित होती है, उस समय मेघों ने विचार किया कि इस सुमन वृष्टि की अपेक्षा हमारी की हुई जल–वृष्टि न्यून रहेगी और ऐसी अद्भुत न होगी। अतः उन्होंने जल–वृष्टि नहीं की, किन्तु वहाँ गर्जना नहीं है अतः गर्जना मात्र ही मेघों ने आवश्यक कर्त्तव्य समझकर की, गर्जना भी मन्द–मन्द सुहावने ढङ्ग. से की जिससे वह

किन्नर गन्धर्वों के गान तान सुनने में आ सके, क्योंकि गम्भीर पूर्वोक्त वाद्य गीत आदि के श्रवण में प्रतिबन्ध करने वाली होती है अतः उसमें प्रतिबन्ध न होने पावे इसलिए मन्द गर्जना की ऐसा कहा है, अन्यथा वाद्य गीतों की व्यर्थता हो जाने की आपत्ति थी, इससे यह अभिप्राय सिद्ध होता है कि एक ही साथ वाद्य, गीत और गर्जना हो रहे थे और उनका आपस में मेल मिल रहा था एक दूसरे के उतराव चढाव में सहायक हो रहे थे ऐसी सुव्यवस्था के साथ सब लोगों के सुनने में आ रहे थे।

श्री सु० – तथा च युगपज्जायमानान्यपि वाद्यगीतगर्जितान्यन्योन्यमिश्रितानि सर्वैर्-श्रूयन्तेतिभावः, किञ्च जगर्जुरेव न तु ववृषुः, यतो जलधरा न जलमुचः, अत्रायमाशयः, मेघास्तु भगवत्प्राकट्यात् पूर्वं लोके नीलरूपमश्लाघ्यं मत्वा स्वस्य ताऽंशत्वेन तदभावाय जलमुचो जाताः, इदानी स्वसारूप्यमङ्गीकृत्य भगवान् प्रकट इति कवयोऽग्रे स्वस्योपमां दास्यन्ति तेन स्वजन्मसाफल्यं भविष्यतीति हर्षवशादात्मनो नीलरूपस्यैवाभीष्टत्वेन तद्धेतुभूतं च जलधारणं, अन्यथा शुभ्रता स्यात्, अतो जलधरा जाताः, यद्यपि मरकतेन्दीवरादीनामपि सारूप्यमस्ति तथापि स्वस्य विद्युत्सहभावात् कामिनीतनुकनकलतालङ्करणदशायां द्वैरूप्येपि साऽंश्यमधिकमिति च जलधरपदेन सूचितं, सजलमेघानामेव तडित्सहभावदर्शनाद्, अपि च समुद्रः स्वगाम्भीर्यगुणं प्रभुरङ्गीकृतवानितिगर्वेण गर्जति तस्य तं गर्वमपहन्तुं धर्मापेक्षया स्वरूपसाऽंश्यं स्वस्याधिकमिति ज्ञापयितुमनुसागरमित्युक्तं।

व्याख्यार्थ – वह मेघ जल का धारण करने वाले ही थे वर्षा करने वाले नहीं थे अतः गर्जना ही की वृष्टि नहीं की मेघों का 'जलचर' शब्द के व्यवहार करने में शुकदेवजी का यह आशय है कि भगवत्प्राकट्य से पूर्व में नील वर्ण की प्रशंसा लोक में नहीं थी इस कारण वह अपने नीलरूप को अप्रशस्त समझ कर उसके दूर करने के लिए जल का त्याग करते रहते थे, और शुभ्र हो जाते थे, परन्तु अब तो परम मनोहर श्याम स्वरूप प्रभु प्रकट हो रहे हैं अतः कविगण आगे हमारी उपमा उन्हें देवेंगे, उससे हमारा जन्म सफल होगा इस हर्ष के कारण अपने नील रूप को अभीष्ट होने से उसे बचाये रखने को उस नीलरूपता का कारण जल धारण है, इस विचार से जलधर ही रहे आये, 'जलद' या जलभुक्' नहीं हुए, यदि जल धारण नहीं करते उसकी वृष्टि कर देते तो शुभ्रता हो जाती नीलिमा न रह पाती, यद्यपि मरकत मणि, नील कमल आदि की भी समान रूपता है परन्तु अपना (मेघ) का साथ विद्युत (बिजली) से होता है मरकतादि का नहीं, अतः स्वामीनिओं की सुनहरी तनुलता से जब श्याम तमाल प्रभु

वेष्टित होंगे तब उस दशा में युगलच्छवि के दोनों रूपों में अधिक साम्य अपना ही ठहरेगा, इत्यादि 'जलधर' पद का स्वारस्य है, क्योंकि जल वाले मेघों में ही विद्युत् का साथ देखने में आता है, और भी बात यह है कि समुद्र इस गर्व से गर्जना करता है कि मेरे गाम्भीर्य गुण को प्रभु ने अङ्गीकार किया है, उसके उस गर्व को दूर करने के लिए मेघ गर्जता है कि तेरा तो केवल गाम्भीर्य मात्र धर्म से ही साम्य है और मेरा साम्य तो स्वरूप से है अतः मेरा साम्य अधिक है तू क्या गर्व करता है ऐसा सूचित करने के लिए 'अनुसारगम' यह पद कहा है।।७।।

आभास – एवं देश कालयोस्तत्रत्यानामृतोश्च गुणानुक्त्वा रात्र्यास्तन्मुहूर्तस्य च गुणानाह निशीथे इति।

श्लोकः– **निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने।**
देवक्यां विष्णुरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।।८।।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः।।८½।।

मूलार्थ – (जिस समय) अविद्या नाशक भगवान् जनार्दन प्रकट हो रहे थे अंधकार ऊँचा जा चुका था उस अर्धरात्र के समय विष्णु रूप धारिणी श्री देवकी में सर्वान्तर्यामी पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु का पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्र की भांति जन्म हुआ।।८½।।

श्री सुबोधिनी – अर्धरात्रं निशीथं पञ्चचत्वारिंशत्षट्चत्वारिंशद्घटिकाद्वयं, तस्य दोषाभावः तमउद्भूत इति, तम उद्भूतं, ऊर्ध्वं भूतं निवृत्तं यस्मिन्, योहि निर्गच्छति स ऊर्ध्वो भवति, जायमाने जनार्दने सतीति गुणा उक्ताः, यावता गुणेन जना नामविद्यामर्दयतीति सर्वाविद्यानाशकः प्रादुर्भवति तावंशगुणवान् निशीथ इत्यर्थः, भगवज्जननस्य मूलभूतगुणानां प्राकट्ये भौतिकानां च प्राकट्ये निमित्तत्वं वक्तुं 'जायमानेऽजन' इति मध्ये निरूपितं, अजनत्वान्न कालनिमित्तत्त्वं किन्तु कालस्य तावंशगुणवत्त्वेऽजन एव निमित्तं, अन्ते च पुनर्जायमाने जनार्दन इति सर्वाविद्यानाशनार्थं प्रादुर्भावे सर्वगता गुणाः प्रकटीभवन्तीति प्रकटीभावे हेतुरुक्तः, एवं सन्दर्भे भगवतोऽवतारत्रयमप्युक्तं, सर्वधर्मसंरक्षकोऽनिरुद्धः सर्वमुक्तिदाताऽज्ञाननिवृत्तिद्वारा सङ्कर्षणो देवक्यां प्रद्युम्नो नन्दगृहे वासुदेव इति सर्वरूपेणाप्याविर्भूतो भगवानित्युक्तं।।८½।।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार देश कालों के तथा देश कालस्थ जलवायु आदि तत्त्वों के और वर्षा ऋतु के गुणों का निरूपण करने के अनन्तर 'निशीथे' आदि श्लोकार्ध से रात्रि के और उसके मुहूर्त के गुणों का वर्णन करते हैं रात्रि का मध्य भाग जहाँ उसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मिलते हैं वह अर्धरात्र या निशीथ कहलाता है, जो कि ४५ पैंतालीस[1] और ४६ छयालीसवीं घड़ियों का जोड़ा है, उस समय की निर्दोषता का सूचक 'तम उद्‌भूते' यह विशेषण है क्योंकि उस निशीथ में तम (अन्धकार) उद्‌भूत हो चुका था ऊंचा हो चुका था अर्थात् निवृत्त हो चुका था; रात्रि का दोष अन्धकार है उसकी निवृत्ति से निर्दोषता सिद्ध होती है, ऊँचा होना ही निवृत्त होना है क्योंकि देखा जाता है कि जो निकल जाता है वह ऊँचा होता है (और[2] जो फंसा रह जाता है वह नीचा पड़ा रहता है) जनार्दन के जन्म का वर्तमान काल होने से (जायमाने जनार्दने) के द्वारा उस काल के गुणों का निर्देश किया है जितने गुण से सर्व प्राणियों के अविद्या नाशक जनार्दन प्रभु प्रकट होते हैं वैसे गुणों का आधार वह निशीथ काल था, ऐसा अर्थ है।

श्री सुबोधिनी – निमित्तत्वं च भगवत एव दोषाभावे गुणप्राकट्ये च, ननु तार्ऽशोपि कालः सहजः कश्चिदस्तीत्येकमेव चेन् निमित्तमुच्येत तस्मिन् समयेन्योप्युत्पन्नो भगवत्सऽंशः स्याद्, अतो भगवत्प्रादुर्भाव एव गुणप्राकट्ये निमित्तं भगवत्प्रादुर्भावार्थमेव गुणप्राकट्यं चेति निरूपितं, एवं सर्वांशो भगवान् प्रादुर्भूत इत्याह 'देवक्यामिति'! देवक्यां विष्णुः प्रादुरासीत्, देवानां समूहो देवकी, सम्पूर्ण

टिप्पणी – [1] यद्यपि मेष या तुला राशि पर सूर्य के संक्रमण काल में ही दिन मान और रात्रि मान ३० तीत– तीस घडियों का होता है उसी दिन अर्ध रात्र ४५–४६ घडियों का होता है सिंह राशिस्थ सूर्य के काल मे ४६–४७ घडियों का अर्ध रात्र होता है तो भी ४५–४६ घडियो का निर्देश किस प्रकार हुआ ? इस विषय पर प्रकाश डालते हुए प्रकाशकार ने भगवान् के जन्मकाल का गणित कर इस प्रकार निर्णय दिया है कि कलयुग आने से १२५ वर्ष पूर्व भगवान् का जन्म हुआ था, तथा उस वर्ष में 'आषाढ' मास अधिक था उस दिन का मान घडी ४ पल था एवं रात्रि का मान २८ घडी ५६ पल था रात्रि का पूर्वार्ध १४ घडी २८ पल का था तथा रात्रि का उत्तरार्ध भी १४ घडी २८ पल का ही था तदनुसार अर्धरात्र का काल ४५ घडी के अनन्तर ३२ पल व्यतीत होने पर आता है भगवान् का जन्म उसी समय हुआ था उसी समय चन्द्रमा का भी उदय हुआ था परन्तु अन्धकार की निवृत्ति ४५ वी घडी के आरम्भ होते ही हो गई थी ३२ पलों से पूर्व ही चन्द्र प्रकाश का क्षितिज से सयोग होने पर अन्धकार हट गया था इस अन्धकार के हटने के काल का उल्लेख ४५वीं घडी पर किया है जिससे अन्धकार की निवृत्ति के द्वारा सर्व दोषो की निवृत्ति का बोध कराना अभीष्ट है कि उस समय किसी प्रकार का कोई दोष अवशिष्ट नहीं रहा था – सर्व दोषो की निवृत्ति होने पर ही 'प्रादुरासीद् तथा प्राच्यादिशी-- न्दुरिव पुष्कलः' पूर्ण चन्द्र कृष्ण चन्द्र का प्राकट्य हुआ।

[2] यह आशय है निगूढाशय वाक्‌पति का जीवों की संसारासक्ति के अभाव सम्पादन में।

देवसमूहे पूर्णसत्त्वं भवति, तच्च सत्वं भगवदाविर्भाव आधारत्वेन निमित्तं भवति यथाग्नावरणिः, न केवलमव्यापाराविष्टा निमित्तमरणिरपि भवतीति मथनस्थानीयं किञ्चिन् निरूपणीयं।

व्याख्यार्थ – कालगत मूलं रूप भगवद्गणों के और भौतिक नदी आदि के गुणों के प्रकट होने में भगवान् का प्राकट्य ही निमित्त है, इस तत्त्व को लक्षित कराने के लिए बीच में (जायमानेऽजने) ऐसा पंचम श्लोक में कहा जा चुका है, 'अजन' शब्द के भगवान् का जन्मादि विकारों से रहित होना सूचित कर उसके ऐच्छिक प्राकट्य में विकार हेतु काल निमित्त नहीं हो सकता किन्तु प्राकट्यकाल के सर्व गुण युक्त होने में वह प्रकट होने वाले 'अजन' भगवान् ही निमित्त हैं और फिर अन्त में 'जायमाने जर्नादने' के द्वारा यह सूचित करना अभीष्ट है कि सर्व तत्त्वों के गुणों का प्रकट होना इसलिए अनिवार्य है कि भगवान् सबकी अविद्या का नाश करने को प्रकट हो रहे हैं अतः भगवत्प्राकट्य ही सबके गुणों के प्रकट होने में हेतु है ऐसा बतलाया है। इस प्रकार इस सन्दर्भ में गूढार्थ प्रकाशक पद्धति से विचारित तृतीयाध्याय ग्रन्थ में भगवान् के अवतार त्रय भी कहे हैं सर्व धर्म के संरक्षक श्री 'अनिरुद्धजी'[1] एवं अज्ञान निवृत्ति के द्वारा मोक्षदाता 'सङ्क.र्षण'[2] और देवकी में जो विष्णु रूप है वह 'प्रद्युम्नजी'[3] तथा नन्दालय में 'वासुदेव' (जिनका दर्शन रूपान्तर स्वीकार स्थल पर माता–पिता को हुआ है) इस प्रकार सर्वरूप से प्रकट हुए यही भगवान् हैं, ऐसा कहा गया है।

श्री सुबोधिनी – तदाह विष्णुरूपिण्यामिति, विष्णो रूपमस्यामस्तीति विष्णुरूपिणी, भगवद्रूपमेव तत्र विद्यमानं भगवन्तं प्रकटीकृतवान् न तु प्रयत्नः प्रसूतिवातादिर्वा तत्र निमित्तमिति तन्निराकणार्थमुक्तमिदमेव रूपमिति सिद्धान्तः, देवक्यां विद्यमान आधिदैविक इति केचित्, तदा विष्णुरूपायामित्यर्थो भवति, पाठान्तरेऽपि देवो विष्णुरेव, विष्णुर्व्यापकः पुरुषोत्तमो यो वेदान्ते 'ब्रह्मशब्देनोच्यते, तस्य सर्वत्रैव विद्यमानत्वात् प्रादुर्भावो भाक्त इत्याशङ्क्.य सर्वव्यापकत्वेपि यः सर्वान्तरः

[1] अनिरुद्धव्यूह के प्राकट्य की सूचना 'जायमानेऽजने' इस स्थल पर मिलती है क्योंकि 'अथसर्वगुणोपेत' से लेकर 'जगर्जुरनुसागरम्' पर्य्यन्त कालादि गुणरूप धर्मो का वर्णन है उसी के मध्य मे अजन के जन्म का उल्लेख धर्म संरक्षक स्वरूप का ही परामर्श करता है।

[3] सङ्क.र्षण व्यूह की सूचना 'जायमाने जनार्दने' इस स्थल पर हुई है यहाँ जनार्दन का प्राकट्य उस स्वरूप का प्राकट्य है जो जना नामक अविद्या का 'अर्दन' (विनाश) करता है, विनाश का प्रलय करना सङ्क.र्षण का कार्य है, अविद्या का विनाश करने पर मोक्ष दान भी करते हैं।

[3] देवकी में प्रकट होकर वंश वृद्धि करने वाला स्वरूप प्रद्युम्न व्यूह है।

सर्वान्तरयामी सोन्तः स्थितो बहिरागत इति वक्तुं सर्वेषां गुहा हृदयाकाशं तस्मिन्नासमन्ताच्छेतेऽधितिष्ठतीति गुहाशय इत्युक्तं।

व्याख्यार्थ – दोषों के अभाव सम्पादन में एवं गुणों के प्रकट होने में भगवान् ही कारण हैं, यदि दोषाभाव का सम्पादक एवं गुणों को प्रकट करने वाला कोई स्वाभाविक काल ही है ऐसा मान लिया जावे। तब तो उस समय में उत्पन्न होने वाला कोई अन्य पुरुष भी भगवान् के समान ही होना था क्योंकि उस पुरुष की उत्पत्ति का काल और भगवत्प्राकट्य का काल एक ही है जो कि दोनों स्थलों पर निमित्त रूप से उपस्थित है, अतः यह भी मानना पड़ेगा कि भगवान् का प्राकट्य ही गुण प्राकट्य में निमित्त है और उन गुणों का प्राकट्य भगवान् के प्रकट होने के लिए ही हुआ है, ऐसा निरूपण दो वार 'जायमाने' के कथन से अभीष्ट है। इस प्रकार सर्वांश पूर्ण भगवान् प्रकट हुए ऐसा कहते हैं कि देवकी में विष्णु प्रकट हुए, देवकी सर्व देवता है सर्व देवताओं की समूहात्मक प्रतिमा है, सम्पूर्ण देव समूह में पूर्ण सत्व होता है और वह पूर्ण सत्त्व भगवान् के आविर्भाव में आधार रूप से निमित्त होता है, जैसे अग्नि के विषय में अरणि काष्ठ को आधार रूप से निमित्त देखा गया है यहाँ पर अरणि के ďष्टान्त को लेकर यह विचार उपस्थित होता है कि अरणि भी किसी मंथन व्यापार के आवेश को पाकर ही अग्नि के प्रकट होने में निमित्त होती है इसलिए देवकी में भी मंथन के स्थान पर किसी का निरूपण करना आवश्यक है, उक्त विचार को लक्ष्य कर 'विष्णुरूपिण्याम्' यह देवकी का विशेषण प्रयुक्त हुआ है, देवकी में विष्णु का रूप विद्यमान है अतः उसे विष्णुरूपिणी कहा गया है, आशय यह है कि देवकी के अन्तः स्थित भगवत्स्वरूप ने ही बाहर भगवान् को प्रकट कर दिया है, देवकी का कोई प्रयत्न अथवा प्रसव का वायु आदि कुछ भी भगवत्प्राकट्य में निमित्त नहीं उन प्रयत्न आदि अन्य निमित्तों के निवारण करने के लिए बतलाया गया यह देवकी हृदयगत रूप ही स्वयमेव मंथन स्थानीय होकर अपने आविर्भाव में कारण है, ऐसा सिद्धान्त है।

श्री सुबोधिनी – अनेन सर्वेषां भजनार्थं स्वयं हृदि स्थित्वा तत्पराः कृतार्था भविष्यन्तीति ज्ञापयितुं वेदांश्चकार स इदानीमत्रैव प्रकटीभूत इति च पूर्वप्रक्रियाऽतः परमुपयुज्यते किन्त्वयमेव बहिः सेव्य इति निरूपित्तं, प्रादुरासीत् प्रादुर्भूतो जातः, अकस्मात् प्रकटः, अन्तरनुभूयमानो बहिďक्ष्टः, न तु कश्चन व्यापारो देवक्यास्तत्र जातो निमित्तभूतोपि ज्ञानं सावधानता वा, स सम्पूर्ण एवानन्दमय इति

निरूपयितुमाधारप्रकटीभूतयोर्दृष्टान्तमाह यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिवेति, सर्वोपास्या प्राची दिक् सर्वदेवतामयी साप्यागमने मार्गमात्रं न तु जनने, इन्दुरमृतमयः, 'इदि परमैश्वर्ये' इति परमैश्वर्ययुक्त आनन्दमयः, स प्राच्या दिशि प्रथम पूर्ण एव दृश्यते खण्डास्तु मध्ये प्रान्ते, च उच्चैश्च खण्डोऽपि प्राच्यां दृश्यत इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह पुष्कल इति पूर्ण, पुष्कलशब्देन पुष्टोप्युक्तः, तेन निष्कलङ्को निरूपितः, कलङ्कस्यैव क्षयहेतुत्वात्, तथोक्तरीत्या प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुरित्ये को दृष्टान्तः, नन्वानकदुन्दुभेः पत्निषु बह्विषु सतीषु देवक्यामेवा।

व्याख्यार्थ – कुछ विद्वानों का कहना है कि देवकी में जो आधिदैविक स्वरूप विद्यमान है उसका विष्णु शब्द से निर्देश है, परन्तु उस दशा में विष्णुरूपा देवकी ऐसा अर्थ होता है, विष्णु रूप को धारण करने वाली विष्णु रूपवती देवकी इस प्रकार विष्णु रूप से अतिरिक्त उसकी आधार रूप देवकी ऐसा अर्थ यहाँ पर अभीष्ट है कहीं 'देवरूपिण्याम्' ऐसा पाठ है वहां भी देव शब्द से विष्णु का ही ग्रहण अभीष्ट है विष्णु का अर्थ व्यापक पुरुषोत्तम है जिसे वेदान्त में ब्रह्म कहा जाता है, जब उस व्यापक की सर्वत्र ही सत्ता है तो उसका प्रादुर्भाव वास्तविक नहीं औपचारिक किसी धर्म को लेकर कथन मात्र ही है ऐसी शङ्का के निवारणार्थ 'सर्वगुहाशयः' इस पद का प्रयोग किया है, भगवान् प्राणीमात्र की हृदयरूप कन्दरा में शयन करते हैं विराजते हैं वह सर्व व्यापक होते हुए भी सर्वान्तर हैं सबके अन्तर्यामी हैं अन्तर्देश में स्थित हैं वह बाहर पधारे हैं बाहर पधारना ही उनका प्रादुर्भाव है, अतः पूर्वोक्त शङ्का को स्थान नहीं आपकी व्यापकता और सर्वान्तरता श्रुति सिद्ध हैं अतः उनका अविरोध है, अतः पूर्वोक्त शङ्का को स्थान नहीं आपकी व्यापकता और सर्वान्तरता श्रुति सिद्ध हैं अतः उनका अविरोध है, उक्त गुहाशय स्वरूप के प्राकट्य प्रतिपादन से यह निरूपण किया है कि भगवान् ने अपने भजन के लिए सर्व साधारण लोगों के हृदय में विराजमान होकर इस तत्त्व के समझाने के लिए वेदों की रचना की वेदोक्तं कर्तव्यपरायण लोग कृतार्थ हो जावेंगे, इस समय वह अन्तरस्वरूप बाहर प्रकट हुआ है इसलिए अब इससे आगे भविष्य में वेदोक्त अन्तः स्वरूप चिन्तन आदि की प्रक्रिया का उपयोग नहीं किन्तु इस बाहर प्रकट हुए स्वरूप की ही सेवा करनी चाहिए।

श्री सुबोधिनी – आविर्भावे को हेतुरितिशङ्कानिरासाय यथा प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुरिति द्वितीयो ऽष्टान्तः अत्र प्राच्यादिपदानामावृत्तिर्ज्ञेया, एवं सति पूर्णेन्दुप्राकट्यस्थानं प्राच्येव तथा पूर्णशक्तेः पुरुषोत्तमस्य प्राकट्यस्थानं देवक्येव तथेत्यर्थः, अतः सर्वकलापूर्णो भगवान् सच्चिदानन्दविग्रहोकस्मादग्रे प्रादुर्भूत उपविष्टयोस्तयोर्देवकीवसुदेवयोः सतोः, अतएव तयोराश्चर्यवर्णनं च सङ्गच्छते। दासीना सर्वरक्षार्थं निमित्तीकृत्य ताऽशम्। प्रादुर्भूतो मम स्वामी नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववत्।।१८।।

अनुवाद – भगवान् अकस्मात् प्रकट हो गये देवकी जिस स्वरूप का हृदय में अनुभव कर रही थी वह स्वरूप बाहर दृष्टिगोचर हो गया; देवकी का कोई भी व्यापार उनके प्रकट होने में निमित्त नहीं हुआ, न कुछ ज्ञान ही हुआ कि प्रसव होने वाला है और न उसके लिए सावधानता ही की गई, वह प्रकट हुआ स्वरूप सम्पूर्ण ही आनन्दमय है ऐसा निरूपण करने की आधाररूप देवकी का प्राची दिशा और प्रकट हुए भगवान् का पूर्ण चन्द्र ऽष्टान्त कहा है 'यथा प्राच्यां दिशि इन्दुरिव' प्राची पूर्व दिशा सबकी उपासना करने योग्य है सर्व देवतामयी है, वह भी चन्द्रमा के आगमन में मार्ग मात्र है, चन्द्रमा का उत्पन्न करने में निमित्त नहीं, चन्द्रमा अमृतमय है परम ऐश्वर्यशाली होने से इसे 'इन्दु' भी कहते हैं, यह आनन्दमय हैं; पूर्व दिशा में प्रथम इसका पूर्ण रूप से ही दर्शन होता है, इसके खण्ड को मध्य आकाश में और प्रान्त भाग पश्चिम दिशा में दिखते हैं, और इसका ऊँचा विशाल खण्ड भी पूर्व दिशा में दिखता है, कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा द्वितीया तिथियों के काल में पूर्व दिशा में दीखने वाले अपूर्ण चन्द्र के निवारण करने को 'पुष्कल' शब्द का प्रयोग किया है, इस पूर्ण चन्द्र के ऽष्टान्त से भगवान् की पूर्णता सिद्ध की है, पुष्कल शब्द से परिपुष्टता भी सूचित होती है, जिसके द्वारा निष्कलङ्कता का बोध होता है क्योंकि कलङ्क ही तो क्षय का कारण है, तथा उक्त रीति से पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्र की भांति देवकी में विष्णु का प्राकट्य हुआ, यह एक ऽष्टान्त निकलता है, और इस शङ्का के निवारण करने के लिए कि वसुदेवजी की अनेक पत्नियों के होते देवकी में ही भगवान् का प्राकट्य क्यों हुआ ? दूसरा ऽष्टान्त है कि, जैसे अनेक दिशाओं के होते हुए भी पूर्ण चन्द्र प्राची दिशा में ही उदित होता है उसी प्रकार देवकी में ही भगवान् प्रकट हुए, 'इव' और 'यथा' इन दो ऽष्टान्तवाचक शब्दों की आकांक्षा शान्त करने को 'प्राची–दिशा' और 'पुष्कल–चन्द्र' इन शब्दों का दो वार

उच्चारण जानना आवश्यक है, इस प्रकार व्याख्या करने पर यह अर्थ सिद्ध होता है कि जैसे पूर्ण चन्द्र का प्राकट्य स्थान पूर्व दिशा ही है, उसी भांति सर्व शक्ति परिपूर्ण पुरुषोत्तम का प्राकट्य स्थान देवकी ही है, अतः सच्चिदानन्द स्वरूप, एवं सकलकला परिपूर्ण भगवान् अकस्माद् ही देवकी वसुदेव के सम्मुख प्रकट हो गये वह दोनों तो बैठे थे उनके बैठे–बैठे ही आकस्मिक प्रादुर्भाव हुआ तभी आश्चर्य भी उन दोनों को हुआ और उन्होंने वर्णन भी किया। यह भी सङ्ग.त होता है, भगवान् के प्रकट होने में कुछ श्रुति वाक्यों का विरोध प्रतीत होता है उसके निवारणार्थ आचार्यों ने कारिका में आज्ञा की है कि मेरे स्वामी दासीजनों की सर्व प्रकार से रक्षा करने के हेतु वैसा निमित्त बना कर प्रकट हुए हैं, 'अदृश्यम् अग्राह्यम्' आदि उपनिषद् वाणी में किसी प्रकार की चिन्ता की आवश्यकता नहीं क्योंकि इन्द्रिय सामर्थ्य से उनकी अग्राह्यता एवं अदृश्यता में उसका तात्पर्य है स्वेच्छा से तो वह दृश्य एवं ग्राह्य होते ही हैं अतः प्राकट्य से पूर्व जैसे कोई विरोध नहीं था प्रकट होने पर भी कोई विरोध नहीं है।।८½।।

कारिका – दासीनां[1] सर्वरक्षार्थं निमित्तीकृत्य तादृशम्।
प्रादुर्भूतो मम स्वामी नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववत्।।१।।८½।

।।श्री शुक उवाच।।

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम्।।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्।।९।।

टिप्पणी – [1] इस कारिका के शब्दों से निश्चय होता है कि वल्लभाचार्य ने अपने सर्वस्व प्रभु का जिन्हें गोपजन वल्लभ कहते हैं यहां प्राकट्य माना है मन स्वामी और दासीनाम् इन शब्दों का स्वारस्य इस ओर आकृष्ट करता है, मथुरा में व्यूह सहित पुरुषोत्तम का प्राकट्य है, यह तो सर्व सम्मत है ही, अनिरुद्ध, सकर्षण, और प्रद्युम्न इन तीनों व्यूहों का तो श्री सुबोधिनी में स्पष्ट उल्लेख हुआ ही है, प्रकाशकार पुरुषोत्तम जी महाराज ने श्री सुबोधिनी के ही अक्षरों के आधार पर वासुदेव व्यूह का प्राकाट्य भी मथुरा में हुआ है, ऐसा सिद्ध कर दिया है, लेखकार वासुदेव के प्राकट्य को यहा नहीं मानते हैं उनका मत है कि वासुदेव व्यूह के अतिरिक्त तीनों व्यूहो के साथ पुरुषोत्तम का प्राकट्य मथुरा में हुआ है, वासुदेव का प्राकट्य तो नन्दालय में नवमी के दिन हुआ है, पुरुषोत्तम प्राकट्य में तो कोई मतभेद नही है, पुरुषोत्तम प्राकट्य व्यूहों के सहित मथुरा मे हुआ और व्यूह रहित द्विभुज पुरुषोतम प्राकट्य गोकुल मे हुआ।

मूलार्थ — प्रकट हुआ वह बालक अद्भुत था कमल जैसे नेत्र थे चार भुजायें थीं उनमें भुजाओं शङ्ख गदा आदि आयुध उठे हुवे थे श्रीवत्स का चिन्ह वक्षःस्थल में था, गले में शोभा सम्पन्न कौस्तुभ मणि थी पीताम्बर धारण किये था नीले स्निग्ध मेघ के समान सुन्दरता थी।।६।।

आभास — एवं भगवतः प्रादुर्भावमैश्वर्येण निरूप्य वीर्यनिरूपणार्थं भगवन्तमनुवर्णयति तमद्भुतमितिद्वाभ्याम्।

अत्र निर्वृताः सर्वे श्रोतारो बहिःसंवेदनरहिता जाता इति ज्ञापयितुं पुनः शुकोक्तकथनम्।

व्याख्यार्थ — इस प्रकार भगवान् के प्रादुर्भाव का निरूपण उनके ऐश्वर्य के साथ साथ साढ़े आठ (८½) श्लोकों से करने से अनन्तर उनके वीर्य का निरूपण करने के लिए 'तमद्भुतम्' आदि दो श्लोकों से भगवान् का अनुरूप वर्णन करते हैं, इस वर्णन के पूर्व में 'श्री शुकउवाच' ऐसा कहा गया है, जबकि अध्याय के आरम्भ में ही 'श्री शुकउवाच' ऐसा कहा जा चुका है, साढे आठ श्लोकों में प्रादुर्भाव का वर्णन शुकदेवजी ने ही किया है बीच में कोई अन्य संवाद आया नहीं अब वर्णन भी शुकदेव ही कर रहे हैं ऐसी दशा में फिर 'श्रीशुक उवाच' इस प्रकार का उल्लेख अनुपयुक्त प्रतीत होता है परन्तु वह उल्लेख किसी विशेष दशा की दिशा को दिखला रहा है कि इस भगवत्प्राकट्य प्रसङ्ग में आनन्दमग्न हुए श्रोतागण बाह्यानुसन्धान रहित परीक्षित आदि सबकी लीला तन्मयता हो गई उन्हें सावधान करते हुए शुकदेवजी वर्णन करने लगे इस अभिप्राय से यहाँ 'शुक उवाच' कहा गया है।

कारिका — दशलीलानिरूप्योऽयं पुरुषो द्वादशात्मकः ।
द्विगुणो भगवानत्र प्रादुर्भूत इतीर्यते ।।१।।
सर्वेषां प्राणरूपश्च ऐहिकः पारलौकिकः ।
ज्ञानक्रियोभययुतो दशलीलाप्रवर्तकः ।।२।।
सगुणां नवधाभक्तिं निर्गुणां च प्रवर्तयन् ।
काण्डद्वयार्थं तनुते सोत्र द्वादशधामतः ।।३।।
सर्वप्रकाशकश्चैव कालात्मेन्द्रियनायकः ।
आत्मा कार्यं च भूतानि अहन्तत्वमुभौ त्रयः ।।४।।
अक्षरं भगवांश्चेति द्वादशात्मा हरिः स्वयम् ।।४½।।

कारिकार्थ -- सर्ग, विसर्ग, आदि दश विध लीलाओं से जिसका स्वरूप निरूपण होता है वह ही यह प्रकट हुआ अद्भुत बालक द्वादशात्मक पूर्ण पुरुषोत्तम है, यहां पर प्रकट हुए भगवान् द्विगुण हैं अर्थात् षड् ऐश्वर्यादि गुणयुक्त जो भगवान् कहलाता है उसकी अपेक्षा यह द्विगुण है इस प्रकट हुए स्वरूप में मर्यादा मार्गीय षड्ऐश्वर्यादि और पुष्टिमार्गीय षड् ऐश्वर्यादि मिलकर एक काल में विराजमान हैं अतः इस स्वरूप को द्विगुण भगवान् जानना यह कहा गया है।।१।।

यह प्रकट हुआ स्वरूप सब का दशविध प्राण है और इस लोक एवं परलोक दोनों ओर का परम फल है, एवं ज्ञान शक्ति तथा क्रियाशक्ति दोनों शक्तियों से पूर्ण है और सर्ग आदि दशलीलाओं को प्रवृत्त करने वाला है।।२।।

श्रवण, कीर्तन आदि नवधा सगुण भक्ति और निर्गुण प्रेम लक्षण भक्ति को प्रवृत्त करता हुआ वेद के पूर्व और उत्तर दोनों काण्डों के प्रतिपाद्य कर्म, और ज्ञान का विस्तार करता है वह स्वरूप यहां पर द्वादश प्रकार से माना है।।३।।

द्वादश राशियों के द्वादश सूर्यों की भांति सर्व प्रकाशक हैं, एवं द्वादश भासात्मक काल रूप हैं, तथा एकादश इन्द्रिय और उनका नायक मन यह सब मिलकर द्वादश रूप यही ही है, आत्मा (जीवात्मा[१] और परमात्मा[२]) कार्य (महत्तत्व[३]) भूत (पृथ्वी आदि पञ्च महाभूत[४]) अहन्तत्व (अहङ्कार[५]) दोनों प्रकृति[६] और पुरुष[७] तीनों गुण सत्त्व[८], रज[९], तम[१०], अक्षरब्रह्म[११] और भगवान् (परब्रह्म[१२]) इस प्रकार द्वादशात्मा स्वयं हरि ही सब कुछ है।।४½।।(क)(ख)

श्री सुबोधिनी – तत्र प्रथमं दशधा स्वरूपलक्षणानि वर्णयति तमिति, तं प्रसिद्धं लोकवेदयोः, "अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम" इति, आश्रयभूतः सर्वमूलभूतत्वात्, सृष्टिरूप इति केचिद्, अद्भुतमिति, अलौकिकमेव ह्यद्भुतं, न तु लोकवेदसिद्धं, इदं हि प्रमेयबलं प्रमाणादतिरिक्तं, तदेव हि वीर्यं भवति यल्लौकिकैर्वैदिकैश्चानुल्लङ्घ्यं, आश्चर्यं तदेव भवति, अनेन तद् रूपं द्रष्टुमेवोपपद्यते न तु स्मर्तुं वर्णयितु वा शक्यत इत्युक्तं, एव सर्वैर्वर्णयितुं शक्यमशक्यं चोक्तं पदद्वयेन।

व्याख्यार्थ – उन द्वादश विशेषणों में प्रथम दश प्रकार के स्वरूप लक्षण विशेषणों का वर्णन करते हैं, 'तम्' इस विशेषण से लोक वेद प्रसिद्ध जिसका भगवद्गीता अध्याय

१५ श्लोक १८ में निरूपण किया है जो मूलरूप होने के कारण आश्रय[1] भूत सर्वाधार है उसी का निरूपण हुआ है, कुछ विवेचकों ने 'तम्' इस प्रथम विशेषण से, 'सृष्टि' सर्ग नामक प्रथम लीला का ग्रहण कर भगवान् की सृष्टि रूपता स्वीकार[2] की है, अद्भुत शब्द भगवान् की अलौकिकता का सूचक है क्योंकि पदार्थ लोक अथवा वेद में प्रसिद्ध होता है वह तो दृष्टिगत या श्रवणगत होकर सर्वसाधारण को आश्चर्यजनक नहीं हो सकता, अलौकिक पदार्थ ही आश्चर्यजनक होता है, यही प्रमेयबल[3] कहलाता है, यह प्रमाण से सर्वथा भिन्न हैं, दूरस्थ है, वीर्य वह ही होता है जिसका उल्लङ्घन लौकिक और वैदिकों से न हो सके, तब ही आश्चर्य होता है, 'अद्भुत' विशेषण से सूचित होता है कि भगवत्स्वरूप ऐसा है कि जिसे देखे ही बने उसका स्मरण, या वर्णन नहीं हो सकता, इस प्रकार 'तम्' और 'अद्भुतम्' इन दो पदों से भगवत्स्वरूप के सर्व साधारण लोगों से वर्णित हो सकने की और न हो सकने की सूचना की है।

श्री सुबोधिनी – बालकमिति, बाले बाले को ब्रह्मा ब्रह्माण्डविग्रहो यस्य, अद्भुतश्च बालको न स्वरूपतो वस्तुं शक्यः, बालानामपि कं सुखं यस्मादिति, बालः को ब्रह्मा यस्य, बलसम्बन्धिनो ये बालास्तेषां कं शिरोभूतं, एवमद्भुतपराक्रमत्वेन यशो निरूपितं, अलौकिकशोभां निरूपयत्यम्बुजेक्षणमिति, अम्बुजतुल्ये कमलतुल्ये ईक्षणे यस्य अम्बुजः वा लक्ष्मीरीक्षणे यस्य, अम्बुजौ वा सूर्यचन्द्रमसावीक्षणे यस्य, अम्बुजे वा पञ्चाग्निविद्यया साधितरूपवती क्षणं ज्ञान यस्य, अम्बुजाया इ कामस्तदेव क्षणं सुखं यस्य, अम्बुजे ब्रह्माण्डेवापालनार्थमीक्षणं यस्य, अम्बुजाया लक्ष्म्यामीक्षण सुख यस्य वा भोगायतनत्वात्।

टिप्पणी – (क) उक्त साडे चार कारिकाओं मे 'तमद्भुतम्' इत्यादि श्लोक द्वय मे प्रयुक्त हुए। भगवत्स्वरूप के परिचायक विशेषणो की सख्या का प्रयोजन ८ आठ प्रकार से सूचित किया है, प्रथम श्लोक मे १० और द्वितीय श्लोक मे २ दो विशेषण है, उनका पृथक् और मिलाकर दोनो प्रकार से तात्पर्य वर्णन किया है, एव उसके द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि भगवल्लीलास्थ सर्व सामग्री भगवद्रूप ही है,
(ख) दो श्लोकों से वीर्यगुण का निरूपण भी भगवान् की द्विगुणता का सूचक है।

[1] भगवत गीता अ. ८ श्लोक २२ जिसे भक्ति द्वारा लभ्य कहा है।

[2] क्योकि तमद्भुतं श्लोक के अन्तर्गत दश विशेषणों से सर्ग, विसर्ग आदि दश लीलाओ का ग्रहण उन्हे अभीष्ट है, परन्तु कोई बलिष्ठ प्रक्रिया का निर्देशन मिलने से उनका मन्तव्य चिन्त्य ही है,

[3] जो लोक वेद प्रसिद्ध है वह ही अद्भुत भी है अर्थात् लोक वेद प्रसिद्ध नही भी है, यह तत्त्व प्रमाणयुक्ति द्वारा बुद्धिगम्य नही हो पाता क्योकि उस अद्भुत तत्त्व की अद्भुतता तो यह ही है कि सब प्रमाण उसका अनुसरण करते हैं परन्तु 'इदमित्य' रूप से नही बतला पाते उस प्रमेय स्वरूप परम तत्त्व का यह बल है यह ही उसका वीर्य है कि लोक और वेद दोनो मिलकर या पृथक् २ भी उसका पार नही पा सकते वह अपार है, दो श्लोको द्वारा भगवत्स्वरूप का वर्णन उनके वीर्य का प्रमेय बल की लोक और वेद दोनों से अगम्यता का सूचक है।

व्याख्यार्थ – बालकम्, इस विशेषण के द्वारा भगवान् के यश का निरूपण अभीष्ट है, जिसके बाल बाल में (रोम रोम में) ब्रह्माण्ड शरीर धारी ब्रह्मा है, ऐसे अद्भुत बालक का स्वरूपत यथावत् वर्णन शक्य नहीं, जिससे बालों को (अत्यन्त मुग्धगोप बालकों को) 'क' सुख ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द प्राप्त होता है या होने वाला है ऐसा यह अद्भुत बालक है, तथा 'क' ब्रह्मा भी जिसका बाल (पुत्र) है, एवं बलसम्बन्धी (बलदेव जी के साथ क्रीड़ा करने वाले) बाल सखाओं के 'क' शिर रूप उनमें सर्व श्रेष्ठ सबके शिरोमणि यह बालक है, इत्यादि निर्वचन से आपके पराक्रम को अद्भुतता के द्वारा "यश" का निरूपण हुआ है, "अम्बुजेक्षणम्" इस विशेषण से अलौकिक शोभा का निरूपण करते हैं, कि कमल जैसे आपके नयन हैं, एवं अम्बुजा (समुद्र से उत्पन्न हुई लक्ष्मी) आपके ईक्षण (दर्शन) में है (जो इन्हें देख पाता है अथवा जिस पर आपका ďष्टि पात हो जाता है वह सर्व समृद्धि परिपूर्ण हो जाता है) तथा सूर्य चन्द्र को उपनिषद् में जिसका नेत्र बतलाया है, और श्रुति सिद्ध पञ्चाग्नि विद्या के द्वारा जिस रूप की साधना उच्च कोटि के साधक करते हैं उस रूप वाले पुरुष को "अम्बुज" शब्द से कहा है क्योंकि "पञ्चम्यामा हुता वापः पुरुष वचसो भवन्ति" इस श्रुति में पञ्चम आहुति के होने पर जलों की पुरुष शब्द से व्यवहार्यता का उल्लेख मिलता है, उस अम्बुज नामक पुरुष में जिसका ईक्षण है जिसका ज्ञान उस पुरुष में प्रकट होता है, ऐसा वह अद्भुत बालक है, एवं लक्ष्मी का काम जिसका सुख है, तथा ब्रह्माण्ड में उसकी रक्षा के निमित्त जिनका ďष्टिपात होता है, और लक्ष्मी में जिसका ďग्विलास या सुख है क्योंकि लक्ष्मी आपकी भोग मन्दिर है।

श्री सुबोधिनी – अम्बुजायां[1] पृथिव्यामेवेक्षणं यस्य नान्यत्र, एवमनेकधा भगवतः श्रीर्निरू–पयितव्या ज्ञानात्मिका, मध्येनिविष्टभ्रमरमेवाम्बुजं नेत्रतुल्यं भवति, निश्चलश्च भ्रमरः, तेन मकरन्दपूरस्तत्र निरूपितः, दयामृतादयोऽत्र मकरन्दाः, तत्सम्बन्धे सर्वोपि मधुपो भवतीति निरूपयितुं, प्राकृतैरप्युपमीयते, यथा वा दलेऽद्भुतरूपं भवति कमलमेवं सम्पूर्णेऽपि रूपेद्भुतरूपे नेत्रे भवतः, अनेनाद्भुता ज्ञानशक्तिर्निरूपिता, क्रियाशक्ति निरूपयंश्चतुर्विधमपि ज्ञान।

अद्भ्य, पृथिवी" इस श्रुति से पृथिवी जलों से प्रकट हुई है ऐसा सिद्ध होता है।

व्याख्यार्थ – जल से प्रकट हुई पृथिवी में जिसका दर्शन है अन्यत्र नहीं, (ऐसा सुन्दर सुयोग है कि जिसके दर्शन को अलभ्य या दुर्लभ कहते हैं वह अब यहाँ पृथिवी पर ही दर्शन दे रहा है कहीं अन्यत्र ढूँढने की आवश्यकता नहीं) ऐसे अनेक प्रकार से भगवान् की ज्ञानात्मक[1] श्री का निरूपण किया है कमल के मध्य में भ्रमर के प्रवेश करने पर ही उसे नेत्र की तुलना प्राप्त होती है और वह भ्रमर भी निश्चल हो गया हो, तब ही नेत्र तारा की सदृशता को प्राप्त कर सकता है, कमल में भ्रमर मकरन्द पान मग्न होकर ही निश्चल होता है अतः कमल की समानता नेत्रों में किसी विलक्षण मकरन्द रसपूर को बतलाती है, दया, अमृत आदि ही नेत्रों में मकरन्द स्थानीय हैं, उन दयामृतादि रूप भगवत्कृपाकटाक्ष के सम्बन्ध होने पर ही सब को भगवद्रस के आस्वाद की योग्यता एवं अधिकारिका प्राप्त होती है जैसे बिना मकरन्द सम्बन्ध के भ्रमर को मधुप नहीं कर सकते वह मकरन्द (मधु) पान से ही मधुप कहलाता है इस तथ्य का निरूपण करने के लिये प्राकृत कमलों से भी नेत्रों को समानता दी है, अथवा जल में कमल एक अद्भुत सौन्दर्यशाली पदार्थ होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण रूप में नेत्रों को प्रधानता होती है वह अद्भुत शोभा सम्पन्न होते हैं, इस विशेषण से अद्भुत ज्ञान शक्ति का निरूपण किया है।

श्री सुबोधिनी – क्रियाशक्तिं निरूपयं श्चतुतूर्विधमपि ज्ञानमहि 'चतुर्भुजमिति' चत्वारो भुजाः क्रियाशक्तयो यस्य, चतुर्विधकार्यार्थं हि भगवदवतारः, तान्येव कार्याणि चतुर्भुजरूपेणोच्यन्ते, चत्वारो वा पुरुषार्थाः भूतानि वा धर्मादयो दिक्पाला वा भुजा भुजेषु वा यस्य, अनेन द्विगुणः पुरुष उक्तः, लौकिकोलौकिकश्च।

कारिका – घातकौ रक्षकौ चोक्तौ विरोधेप्यतिसङ्कटे।
वेदोक्तं द्विविधं ज्ञानं भक्तिर्भगवतस्तथा।।१।।
मधुसूदनो माधवश्च त्रिवृन्नारायणस्तथा।।१½।।

[1] नेत्र ज्ञानशक्ति प्रधान है और कमल श्री (शोभा) प्रधान है इन दोनो का साम्य भी अभेद प्रर्यवसायी ही है अत ज्ञानमयी श्री का निरूपण होता है षड् ऐश्वर्यादि गुणो की भी पारस्परिक विभिन्नता ही हो ऐसा नियम नहीं है, ज्ञान गुण, श्री गुण का एव श्री गुण, ज्ञान गुण का कार्य कर सकते हैं अप्राकृत गणो मे ऐसा ही सहज चमत्कार है।

शङ्खगदाद्युदायुधमिति वैराग्यं, शङ्खस्तदादिश्च गदा तदादिश्च, 'अपां तत्त्वं दरवरं,' भुवनात्मकं कमलं, प्राणात्मको वायुर्गदा, "तेजस्तत्त्वं सुदर्शन, एवं शङ्खपद्मगदाचक्राणि क्रमेण निरूपितानि। **मधुसूदनो माधवश्च त्रिवृन्नारायणस्तथा।।१½।।**

व्याख्यार्थ – चतुर्भुजम्, इस विशेषण से भगवान् की क्रिया शक्ति का निरूपण करते हुए उसके मूलभूत ज्ञान[1] की चतुर्विधता[2] का निरूपण करते हैं भगवान् की भुजा चार हैं, भुजाओं से आदान प्रदान आदि क्रिया होती है अतः भुजा क्रिया शक्ति स्वरूप है, भगवान् का अवतार चार प्रकार के कार्य करने को हुआ है, उन्हीं कार्यों को चतुर्भुज रूप से कहा है, अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यह चारों पुरुषार्थ या पृथ्वी, जल, तेज, वायु यह चारों भूत या धर्म, वरुण, इन्द्र, कुबेर, यह चार दिक्पाल भगवान् की भुजा हैं या भुजाओं में यह सब हैं, इस विशेषण से भगवान् की पुरुष रूपता को द्विगुण रूप से कहा है वह लौकिक भी हैं और अलौकिक भी हैं।

श्री सुबोधिनी – शङ्खगदादीन्येवोद्यतान्यायुधानि यस्य, इन्द्रियदेहप्राणान्तःकरणैरेव सर्वमारणमित्याकाशलक्षण शरीरं, अन्यानि महाभूतान्यायुधानि, उदायुधानि वा, तत्रैव सर्वान् मज्जयन्ति न तु च्छित्त्वाऽपि त्यजन्ति, एवं षड्गुणो भगवान् निरूपितः, पुनरैश्वर्यादयो वैदिका उच्यन्ते श्रीवत्सलक्ष्ममित्यादि, श्रीवत्सो लक्ष्म यस्य, श्रीर्वत्सा यस्य, यल्लक्ष्म्या जनकं तद् भगवतश्चिन्हं व्यावर्तकं, सा हि ब्रह्मानन्दो भवति, तस्या मूलं ब्रह्मैव, यत् सर्ववेदप्रतिपाद्यं स भगवतोऽसाधारणो धर्मः, सर्वात्मकस्य भगवतो जगद्ब्रह्मकालादिलक्षणधर्मवतो ब्रह्म हि मुख्यं लक्षण भवति, अतएव हि सर्वब्रह्माधारवतो भृगोः पदं तत्र प्रतिष्ठितं भवति स्वाश्रयत्वाल्लक्ष्म्याश्च स जनको भवति, "भृगोः" ख्यात्यां समुत्पन्ना श्रीः पूर्व मितिवाक्याद्, ब्रह्मलक्षणत्वेनैवैश्वर्य निरूपितं।

टिप्पणी – [1] क्रिया शक्ति के निरूपण में ज्ञान शक्ति का उल्लेख सूचित करता है कि भगवान् की भुजा आदि कर्मेन्द्रिय जीवों की भाति ज्ञान शून्य नही किन्तु ज्ञानपूर्ण ही है।

[2] प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल यह चार प्रकार ज्ञान मे अपेक्षित होते है, किसी वस्तु का ज्ञान प्रमाण के बिना नही हो पाता, काले पीले का ज्ञान आख से और खाटे खारे का ज्ञान रसना से ही होता है अत ज्ञान प्रमाणाधीन है, प्रमाण की अपेक्षा रखता है ज्ञातव्य पदार्थ भी ज्ञान मे अपेक्षित है जिस पदार्थ को जानना अभीष्ट है उसकी भी अपेक्षा ज्ञान रखता है उस ज्ञातव्य पदार्थ को ही प्रमेय कहते है ज्ञान होने पर भी तब तब उस ज्ञान की पूर्णता नही जब तक उसका ज्ञातव्य किस साधन से प्राप्त होता है ऐसा न जान लिया जावे अत ज्ञान मे साधन की भी अपेक्षा रहती है, एव ज्ञातव्य के ज्ञान से और उसकी प्राप्ति के साधन ज्ञान से उपस्थित होने वाला उनका फल तो उस ज्ञान की परिपूर्णता मे मुख्य है ही अत प्रमाणादि चतुष्टय को ज्ञान का प्रकार का अङ्ग जानना चाहिए। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न अनिरुद्ध, इन व्यूहो क क्रमश मुक्तिदान, असुर वध, वश वृद्धि, धर्म रक्षा कार्य है, उन्ही को भुजाओ स सकत हैं। युद्ध आदि क द्वारा शत्रुवध लौकिक चरित्र है, और शकट भङ्ग आदि अलौकिक चरित्र है।

कारिकार्थ – भगवान् की चार भुजाओं में दो २ भुजा घातक हैं और दो २ भुजा रक्षक हैं, एक समय में एक ही स्थान पर घात भी करना और रक्षा भी करना अत्यन्त विरुद्ध है, महाराज परीक्षित को उत्तरा माता के उदर में अश्वत्थामा के अमोघ ब्रह्मास्त्र से आहति कराकर उसके लौकिक बीजांश का घात भी किया और वैष्णवांश गर्भ की रक्षा भी की और उसकी माता को बचाया, महान् सङ्क.ट की अवस्था में भी इस प्रकार भक्तों के दोष विधातपूर्वक रक्षा करने की सूचना चतुर्भुज शब्द से हुई है, अथवा वेदोक्त ज्ञान दो प्रकार का होता है कर्म ज्ञान, और ब्रह्म ज्ञान, या आत्म ज्ञान और परमात्म ज्ञान, तथा भगवद्भक्ति भी द्विविध होती है, साधन भक्ति, और फल भक्ति, या सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति इत्यादि सर्व फल का दान भगवान् के ही हाथ है ऐसी सूचना चतुर्भुज शब्द से होती है।

व्याख्यार्थ – शङ्ख गदाद्युधायुधम्, इस विशेषण से भगवान् के वैराग्य गुण की सूचना है क्योंकि वैराग्य होने पर ही सर्व दुःख निवृत्त होते हैं और भक्तों को दुःख निवृत्ति के लिये ही आयुधों की भगवान् ने उठाया है, शङ्ख जलतत्त्व है, जल से पृथिवी उत्पन्न हुई अतः पृथिवी तत्त्व का जलतत्त्व आदि कारण है, अतः भुवनात्मक कमल पृथिवीतत्त्व का ग्रहण आदि शब्द की योजना से यहां अभीष्ट है, गदा प्राणात्मक वायुतत्त्व है, वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ है अतः अग्नि तत्त्व सुदर्शन का ग्रहण 'गदादि' गत आदि शब्द से अभीष्ट है, इस प्रकार शङ्ख, पद्म, गदा चक्र, इन चारों आयुधों का क्रम से निरूपण किया है, इन आयुधों को ऊंचा उठाये हुए भगवान् प्रकट हुए हैं।

कारिकार्थ – वैष्णव शास्त्र में चतुर्भुज स्वरूप के आयुधों के धारण क्रम में भेद होने से 'मधुसूदन', माधव, नारायण इत्यादि भेद बतलाये हैं, यहां पर प्रकट हुवे स्वरूप को दक्षिण हस्तों में ऊपर शङ्ख और नीचे पद्म तथा वामहस्तों में ऊपर गदा और नीचे चक्र इस प्रकार से मधुसूदन माना है, और कुछ समानता को लेकर माधव और नारायण रूप भी कहा है, तथा संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, रूपता भी है।

श्री सुबोधिनी – वीर्य निरूपयन् कयाचिदवस्थयाऽवस्थितं ब्रह्म जीवाख्य लक्षणान्तरत्वेनाह 'गलशोभिकौस्तुभमिति', गले शोभायुक्त कौस्तुभो यस्य, सहि सर्वजीवाना स्वरूपभूतः, "चैत्यस्य तत्त्व" मितिवाक्यात्, क्रियाशक्तेर्ज्ञानशक्तिरुत्तमेति मुक्तजीवाना सरस्वतीस्थानप्रापणार्थ कण्ठे कौस्तुभस्थापन, जीवानामुभयविधत्वज्ञापनाय मध्ये स्थापन, केचन क्रियानिष्ठाः केचन ज्ञाननिष्ठा इति, अतएव सर्वाङ्ग.

वर्णनायां कौस्तुभो मणिरुभयत्र निरूपितः, 'कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं'' ''चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठ'' इति च, अतएव शोभा द्विविधा, क्रियाकृता ज्ञानकृता च, जीवस्तूभयधर्मयुत इति शोभायुक्त उक्तः, एवं ब्रह्मद्वयसम्बन्धं भगवति निरूप्य जीवानां तथात्वहेतु।

व्याख्यार्थ – उक्त आयुधों के विषय में यह शंका हो सकती है कि शङ्ख, और कमल को किस प्रकार शस्त्ररूप माना जावे उनसे तो शत्रुवध संभव नहीं, उक्त शंका के निवारणार्थ आयुध शब्द के प्रयोग का तात्पर्य समझाते हैं कि यह शङ्ख, पद्म, गदा, चक्र भगवान् के क्रमशः इन्द्रिय, देह, प्राण, अन्तःकरण हैं, इन से ही भगवान् दैत्य वध करते रहते हैं शङ्ख, प्राणात्मक वायु से भरा जाता है उसकी ध्वनि से दैत्यों का दर्प नष्ट होता है अतः शीघ्र ही वे मारे जाते हैं, इन्द्रियों का भी पोषण शङ्ख, की भांति प्राण से ही होता है अतः शङ्ख्स, इन्द्रिय रूप है, और कमल ब्रह्माण्ड रूप होने से भगवान् का स्थूल शरीर ही है, उसको धारण कर सूचित करते हैं कि जैसे अधिक भार युक्त पदार्थ ऊपर गिर पड़ने से साधारण जन्तुओं को पींच कर मार देता है उसी प्रकार ब्रह्माण्डात्मक कमल के फिराने से इन साधारण कीट पतंग जैसे दैत्यों को चाहूँ जहां वहीं पीस देता हूँ अतः शंख कमल की आयुध सत्ता उपयुक्त है, गदा वायु तत्त्व होने से आधिदैविक प्राण रूप है ही, और सुदर्शन चक्र तो तेजः स्वरूप होने के कारण आपका अन्तःकरण है मोक्ष देने की इच्छा से जिसका वध करते हैं तेजःस्वरूप चक्र के द्वारा उसे तेज में ही लय प्राप्त करा देते हैं, अथवा पञ्च महाभूतों में आकाश को छोड़ कर अन्य पृथिवी आदि भूतचतुष्टय ही आपके आयुध हैं, आकाश को निर्लेप होने के कारण आपके शरीर रूप में उपयोग पाता है, पृथिवी, कमल हैं, जल, शङ्ख है, तेज, सुदर्शन चक्र है, वायु गदा है आप तो आकाश की भांति निर्लेप रहते हैं, भूतों से भूतों का वध होता रहता है यह अभिप्राय है, उक्त विशेषण में 'उदायुध' पद का 'उद+आयुध' इस प्रकार पदच्छेद करने से 'उदक जल' इस अर्थ की भी प्रतीति होती है उसके अनुसार भी व्याख्या करते हैं कि जिस प्रकार जल अपने में गिरे हुए भारी पदार्थ को अपने में ही डुबा लेता है उसी प्रकार अभिमान के भार से लदे हुए अविनीत पाषाण तुल्य दैत्यों को भगवान् के आयुध अपने में ही मिला लेते हैं निकाल कर अलग नहीं फेंकते अतः आसुर लोग भूतों मे ही लीन होते हैं मुक्ति को प्राप्त नही कर पाते है।

इस प्रकार उक्त श्लोक के पूर्वाध में षड्गुण सहित भगवान् का निरूपण किया है, अब फिर उत्तरार्ध में वैदिक ऐश्वर्य आदि कहे जाते हैं, श्रीवत्सलक्ष्मम्, इस विशेषण से श्रीवत्स को भगवान् का चिन्ह बतला कर उनकी अक्षर ब्रह्म से प्रधानता सूचित की है, जिसके उनके वैदिक ऐश्वर्य का बोध होता है, क्योंकि उक्त विशेषण में श्री–वत्स–लक्ष्म यह तीन शब्द है, 'श्री' शब्द का अर्थ 'लक्ष्मी' है वह ही ब्रह्मानन्द कहलाती है, वह ब्रह्मानन्द स्वरूप श्री 'लक्ष्मी' जिसकी 'वत्सा' पुत्री है वह (श्री वत्स) सर्व वेद प्रतिपाद्य अक्षर ब्रह्म ही है, वह अक्षर ब्रह्म स्वरूप श्रीवत्स जिसका लक्ष्म 'चिन्ह' है परिचय कराने वाला असाधारण धर्म है, वह परब्रह्म स्वरूप यह अद्भुत बालक है, सर्वात्मा भगवान् के 'जगत्' अक्षर ब्रह्म–काल आदि अनेक लक्षण रूप धर्मों में 'अक्षर ब्रह्म की, मुख्यता है, अतएव आपके वक्षः स्थल में 'भृगुपद' का चिन्ह है, भृगु ऋषि सर्व प्रकार से ब्रह्म का धारण करने वाले थे, जाति से भी ब्राह्मण थे, वेदाध्ययनपरायण थे, अक्षर ब्रह्म के तादात्म्य का अनुभव करने वाले थे, उन्होंने जाति रूप से भी ब्रह्म का धारण किया था, वेद रूप से भी ब्रह्म का धारण किया था, और अभेद चिन्तन की प्रक्रिया से भी ब्रह्म का धारण किया था, सर्व प्रकार से ब्रह्म के धारण करने वाले महात्मा भृगु का पद जहाँ अंकित है वह सर्वथा ही ब्रह्म का आश्रय है क्योंकि आश्रय में ही पद स्थिर हो कर ठहरता है अन्यत्र मार्गादि में तो वह पद गतिशील ही बना रहता है, जब कोई किसी गन्तव्य देश का लक्ष्य कर चलता है जब तक वहाँ पहुँच नहीं पाता तब तक उसके पद व्यापारशील बने रहते हैं ठहरते नहीं, ठहरते तो वहीं पर हैं जहां उसे पहुँचना है जो उसका आश्रय है, सर्वथा ब्रह्म मय भृगु ऋषि के भगवान् ही आश्रय हैं अतः उनकी गति को पर्यवसान भगवान् में ही है वहीं पर उनका पद प्रतिष्ठित हुआ है, "कितना गम्भीर विश्लेषण है पुनः पुनः पढ़ने की आवश्यकता है" इन भृगु ऋषि की ख्याति नामक स्त्री में "श्री" नामक कन्या उत्पन्न हुई थी अतः इनको "श्री वत्स" कहते हैं क्योंकि श्री जिसकी वत्सा (बेटी) हो उसे श्रीवत्सा कहा जाता है, ब्रह्म का लक्षण रूप से अपने परिचायक धर्म रूप से ग्रहण करना भगवान् के ऐश्वर्य का है वेद सिद्ध होने से यह वैदिक ऐश्वर्य का निरूपण हुआ है, "गल शोभिकौस्तुभम्" इस विशेषण से भगवान् के वैदिक "वीर्य" गुण का निरूपण करते हुए बतलाते हैं कि ब्रह्म ही किसी

अवस्था से सम्पर्क प्राप्त कर जीवपदवी को धारण करता है वह भी भगवान् का एक प्रकार का लक्षण विशेष है –

एवं ब्रह्मद्वयसंबन्धं भगवति निरूप्य जीवानां तथात्वहेतुभूतां मायां भगवतः प्रदेशविशेषावरिकां पीताम्बरं निरूपयति, पीताम्बरं यस्येति, आकाशतनोरविकारसम्बन्ध एव शोभाहेतुर्भवति, पीतत्त्वं तामसराजससम्बन्धाद्, अन्यथा त्रिविधमेव रूपमिति पीतत्वं नोपपद्यते, "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच् छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्येति" श्रुतेः, व्यामोहिका तु माया तथैव भवति लयविक्षेपात्मिका।

व्याख्यार्थ – भगवान् ने अपने गले में शोभा युक्त कौस्तुभमणि को धारण किया है वह सर्व जीवों को स्वरूप भूत प्रतिमा है, "चेत्यस्यतत्त्वममलमणिमस्यकण्ठे" इस भा. स्कं. ३ अ. २८ श्लोक २८ में कौस्तुभमणि को जीवतत्त्व बतलाया है, उस मणि को श्रीहस्तादि में स्थान न देकर गले में स्थान देने का अभिप्राय यह है कि क्रिया शक्ति की अपेक्षा ज्ञान शक्ति उत्तम होती है, अतः मुक्त जीवों को सरस्वती का स्थान ही उपयुक्त है भगवान् का कण्ठ प्रदेश ज्ञान शक्ति स्वरूप सरस्वती का आश्रय है अतः वहां मुक्तात्माओं का स्थान है मुक्तीपसृप्य भगवान् मुक्त जीवों को कण्ठाभरण रूप से धारण करते हैं, कौस्तुभमणि का बीच में धारण करना सूचित करता है कि जीव दोनों प्रकार के होते हैं। कोई क्रियानिष्ठ होते हैं जिनका कर्मकाण्ड की पद्धति से ब्रह्म प्राप्ति के लिये उद्यम होता है और कुछ ज्ञाननिष्ठ होते हैं जिनका ज्ञानकाण्ड की पद्धति से ब्रह्म प्राप्ति का उद्यम होता है भगवान् की सर्वाङ्ग. वर्णना श्री भा. स्कं. ३ अ. २८ में हुई है वहां कौस्तुभ का वर्णन दो वार किया है इससे भी द्विविधता स्पष्ट होती है, श्लोः सं २६ कण्ठञ्चकौस्तुभमणेरधि– भूषणार्थम् श्लो. सं २८ चेत्यस्यतत्त्वममलमणिमस्यकण्ठे, यह वह दोनों श्लोकों के अंश हैं, शोभा दो प्रकार की होती है ज्ञानकृत शोभा और कर्मकृत शोभा सत्कर्माचरण से हुई शोभा कर्मकृत शोभा है, और तत्त्वचिन्तनादि से सम्पन्न हुई शोभा ज्ञानकृत शोभा है, जीव के यह दोनों ही, क्रिया और ज्ञान, धर्म हैं अतः जीतत्त्वात्मक कौस्तुभमणि को "शोभि" शोभा सम्पन्न बतलाया है, उक्त प्रकार से भगवान् में अक्षर ब्रह्म एवं जीव ब्रह्म इन दोनों के सम्बन्ध को श्रीवत्स और कौस्तुभ रूप से निरूपण कर जीवों के जीव भाव में करणीभूत माया का भगवान के अमुक अंश को आच्छन्न करने वाली होने के कारण पीताम्बर रूप से निरूपण करते हैं, "पीताम्बरम्

भगवान् का वस्त्र पीतवर्ण है, अतः शोभा का हेतु है क्योंकि नीलवर्ण आपका श्री विग्रह है आकाश का वर्ण भी नील है इसलिए आपको आकाशतनु कहा है कि भगवान् का शरीर आकाश है, नील वर्ण पर पीतवर्ण अधिक शोभादायक होता ही है साथ ही में एक मर्म और भी शोभा में उपयोगी है कि भगवान् का शरीर आकाश है ऐसा "आकाश शरीरं ब्रह्म" आदि श्रुतियों से सिद्ध होता है।

व्याख्यार्थ – आकाश विकार रहित है तो उसकी शोभा भी विकार रहित वस्तु सम्बन्ध होने पर रह पावेगी विकारिवस्तु के सम्बन्ध होने पर निर्विकार की भी शोभा न रह पाती पीताम्बर सर्वांश में विकार रहित है इसमें पीत+और अम्बर दो अंश है, अम शब्द आकाश वाचक होने से निर्विकारिता का सूचक है और पीतवर्ण के सम्बन्ध में इ दिशा से विचार करने पर निर्विकारिता सूचित होती है कि तामस और राजस सम्बन्ध में पीत वर्ण सम्पन्न होता है, इसमें सात्त्विक का सम्बन्ध नहीं है, सात्वि अहंकार को "वैकारिको राजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा, आदि स्थल पर वैकारिक कहा एवं रोमांच आदि सात्त्विक भावों को भी विकार माना है अतः पीत वर्ण में सात्विक सम्बन्ध न होने से निर्विकारता है यदि कहें कि पीत वर्ण स्वतन्त्र है राजस तामस सम्बन्ध से क्यों माना जाय तो इस विषय में तो श्रुति ही प्रमाण है कि रूप तो तीन प्रकार का होता है लाल शुक्ल और कृष्ण, पीतवर्ण आया कहां से श्रुति से स्प उल्लेख है कि "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच् छुकृंतदपायत्कृष्णांतदन्नस्य लालवर्ण तेज का है, शुक्ल वर्ण जलों का है, कृष्ण वर्ण अन्न (पृथ्वी) का है, अतः पी वर्ण भी विकार रहित 'सात्त्विक सम्बन्ध रहित' होने से निर्विकार है तो पीताम्बर नीलवपु की निर्विकार से निर्विकार की शोभा होना सर्वथा सुसंगत है, "सान्द्र पयो सौभगम्" इस विशेषण से भगवान् की 'श्री' प्रभा का वर्णन करते हैं, गाढ नील वर्ण वा मेघ के समान आपकी सुन्दरता है, परमानन्द स्वरूप भगवान् की नीलवर्णता निरूपण चार प्रकार से पूर्व में "निबन्ध" में किया जा चुका है, प्रथम प्रकार यह है जैसे नेत्र रूप वाले पदार्थ को देखते देखते आकाश में किसी वस्तु के न होने पर मे शून्य प्रदेश में दूर जाकर कुछ नीला सा देखते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी अत्यन्त गम्भी होने के कारण नीला जैसा ही दीखता है, द्वितीय प्रकार यह है कि सत्ययुग आदि यु

के अधिष्ठाता देवताओं के शुक्ल, रक्त, पीत, नील, वर्ण है उनके प्रतिबिम्बों की प्रतीति ब्रह्म में होती है, तृतीय प्रकार यह है कि भगवान् भूमि में प्रकट हुए हैं अतः भूमि का नीला वर्ण उन में प्रतिफलित होता है, चतुर्थ प्रकार यह है कि शुद्ध सत्य का वर्ण नील है शुद्ध सत्त्वात्मक वैकुण्ठ में प्रकट हुए ब्रह्म में उस शुद्ध सत्त्व की नीलता झलकती है।

श्री सुबोधिनी – प्रभां वर्णयति सान्द्रपयोदसौभगमिति, सान्द्रो हि स्निग्धो नीलः, पयोदो मेघः, परमानन्दस्य नीलरूपत्वे प्रकारचतुष्टयं पूर्वं निरूपितं, आकाशकालभूमिवैकुण्ठैः। तस्य धर्मा इदानीं निरूप्यन्ते, यस्तु स्वकाले सर्वानन्ददाय्यन्नोत्पादकस्तापनाशकश्च स सान्द्रः पयोदः', एवमेव भगवानपि पृथिव्याः स्वर्गस्य धर्मस्य भक्तानां च सर्वानिष्टनिवृत्तिपूर्वकसर्वेष्टकर्ता, "सर्वत्र पूर्णगुणकोपि बहूपमोभू" दिति प्राकृतोपमा न दोषः', अन्यथा न सङ्ग.च्छेत, 'स्निग्धप्रावृड्घनश्याम' इत्यर्थः, अनेन कान्तिलक्षणा श्रीर्निरूपिता।।६।।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार आकाश, काल, भूमि, और वैकुण्ठ इनके चार प्रकार से नील रूपता का प्रतिपादन किया है, इस समय तो नील मेघ की उपमा के द्वारा उनके धर्मों का निरूपण करना अभीष्ट है, जो मेघ अपने समय पर सर्व साधारण को आनन्द का प्रदान करता है, एवं अन्न का उत्पादन करता है, तथा ताप का नाश होता है वह मेघ गम्भीर और नीलवर्ण होता है, इसी प्रकार ही भगवान भी पृथिवी, एवं स्वर्गलोक, धर्म तथा भक्तों के सर्व अनिष्टों को नष्ट कर सर्व अभीष्टों को सिद्ध करने वाले हैं, भगवान् के विषय में कहा है कि "सर्वत्रपूर्णगुणकोऽपिबहूपमोऽभूत" वह भगवान् सर्वत्र पूर्ण गुणों से सम्पन्न होते हुए भी बहुत उपमाओं को अंगीकार करते हैं, अतः प्राकृत मेघों की उपमा कोई अनुचित नहीं, अन्यथा सर्वथा अप्राकृत ब्रह्म को प्राकृत मेघों की उपमा कैसे संगत हो सकेगी, इस विशेषण से मनोहर वर्षा कालीन मेघ के समान श्याम सुन्दर स्वरूप का वर्णन कर भगवान् की कान्तिस्वरूप श्री का निरूपण किया है।।६।।

श्लोकः – महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम्।।
उद्दामकाञ्च्यङ्ग.दकङ्क.णादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत।।१०।।

मूलार्थ – बहुमूल्य वैदूर्यमणि से जटिल मुकुट और कुण्डलों की कान्ति आपके हजारों केशों से आलिङ्ग.न कर रही थी तथा बन्धन रहित काञ्ची (करधनी) एवं अङ्ग.द (बाजूबन्द) कङ्क.ण आदि आभूषणों से आपकी छबि अधिक छहरा रही थी ऐसे स्वरूप का दर्शन वसुदेव ने किया।।१०।।

श्री सुबोधिनी – एवं मूलभूते ब्रह्मणि स्वयं स्थित्वा स्वांशात् जीवान् कृतार्थान् कृत्वा भूमिष्ठाज् जीवान् व्यामोहेन स्वरूपज्ञानरहितान् विधाय तेभ्यश्चतुर्विधपुरुषार्थान् प्रयच्छतीत्युक्त, तत्र ज्ञानक्रिययोः प्रकारभेदाः सन्तीति ज्ञापयितुं सर्वशास्त्ररूपाणि भगवदाभरणान्यनुवर्ण्यन्ते ज्ञानवैराग्य–रूपेण महार्हेति।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार पूर्वोक्त श्लोक के 'श्री वत्सलक्ष्यम्' आदि चार विशेषणों के द्वारा यह वर्णन किया कि भगवान् मूल भूत अक्षर ब्रह्म में विराजमान होकर, अपने अंश रूप जीवों को कृतार्थ करके, भूमि स्थित जीवों को महामोह से स्वरूप ज्ञान रहित बनाकर उनको चतुर्विध पुरुषार्थ का दान करते हैं, इस श्लोक के द्वारा ज्ञान और वैराग्य के रूप में भगवान् के सर्व शास्त्र रूपी आभूषणों का अनुरूप वर्णन किया जाता है जिससे यह सूचित करना अभीष्ट है कि भगवत्स्वरूप गत ज्ञान, एवं क्रिया यह दोनों शक्ति विविध भाति की हैं, उनके अनेक प्रकार हैं।

श्री सुबोधिनी – महानर्हो मूल्यं यस्य ताऽंशवैदूर्ययुक्तं किरीटं कुण्डले च तेषा त्विषा कान्त्या परिष्वक्तान्यालिङ्गि.तानि सहस्रं कुन्तलानि यस्य, भगवन्मुखनिरीक्षकाः शास्त्राभिज्ञा जीवा भगवन्मुखामोदपानरताः षट्पदा इव भक्तौ परितश्चकासते।

व्याख्यार्थ – बहुमूल्य वैदूर्यमणि से जटिल किरीट एवं कुण्डलों की कान्ति से भगवान् के सहस्त्रशः केश आलिङ्गि.त हो रहे है, इस विशेषण से यह सूचित होता है कि भगवान् के श्री मुख का निरीक्षण करने वाले शास्त्र के मर्मज्ञ जीवगण भगवान् के श्री मुख कमल के मकरन्द रस पान में निरत हुए भ्रमरों की भांति भक्ति के हो जाने[1]+ पर सब ओर से शोभित हो रहे हैं।

श्री सुबोधिनी – तेषां वेदः सांख्ययोगौ च शोभाजनका भवन्ति, वेदसांख्ययोगानां प्राप्तिश्च सर्वलोकप्रसिद्धाद्गुरोरेव भवतीति महार्हवैदूर्यरूपेण निरूपिताः, वेदे काण्डद्वितयं, योगोऽपि साधनफलरूपो द्विविधः, सांख्यमपि न्यासज्ञानभेदेन द्विविधं, एवं षड्शास्त्राणि निरूपितानि भवन्ति, तान्येव पदानि, त्रयाणामपि भेदाः, सहस्रं सन्तीति ज्ञापयितुं कुन्तलानां संख्या निरूपिता, लौकिकज्ञानविस्मरणार्थं परिष्वङ्ग.ो निरूपितः, एवं लोके ज्ञान निरूप्य क्रियां निरूपयत्युद्दामेति,

---

टिप्पण – [1] +इस स्थल पर भक्ति के होने पर ही शास्त्र श्रम की सफलता है, यह सूचित करना अभीष्ट है किसी पुराणादिगत यह भगवद्वचन यहां पर लिखना आवश्यक है, 'यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्य वेत्रा न तु चन्दनस्य, तथैव विप्रा षट् शास्त्र युक्ता मद्भक्ति हीनाः खरवद्वहन्ति।

कर्माण्यनन्तान्येव तथापि त्रिविधानि निरूप्यन्ते काञ्च्यङ्ग.दकङ्क.णरूपाणि तमःसत्त्वरजोरूपाणि, एतानि त्रीणि वेदादिभूतानि स्वसजातीयानि बहुन्येव जनयिष्यन्ति, लोके काञ्ची सदामा भवति, इयं तूद्दामा–

व्याख्यार्थ – उन जीवों की शोभा के सम्पादन में वेद, और सांख्य योगों का उपयोग है तथा वेद सांख्य योगों की प्राप्ति सर्व लोक प्रसिद्ध गुरु से ही होती है इसलिये वैदूर्यमणि को बहुमूल्य[⊕] कहा है, वेद में कर्म और ज्ञान, के प्रतिपादक दो काण्ड हैं, योग भी साधन, फल, भेद से दो प्रकार का है, और सांख्य भी न्यास तथा ज्ञान के भेद से दो प्रकार का है, इस प्रकार षट् शास्त्रों का निरूपण होता है, यह षट् शास्त्र ही षट् पद भ्रमर रूप जीवों के पद हैं, कुन्तलों को संख्या सहस्र शब्द से इसलिये प्रकट की है कि वेद, सांख्य, योग, इन तीनों के भी हजारों भेद हैं शास्त्रज्ञ भक्तों का लौकिक ज्ञान विस्मृत हो जाता है इस आशय को व्यक्त करने के लिए कुन्तलों का किरीट और कुण्डलों की आभा से परिषाङ्ग. (आलिङ्ग.न) बतलाया है, अर्थात् कुन्तल रूप जीव षट् शास्त्र ज्ञान जनित भक्ति भाव से सर्वाङ्ग. परिपूर्ण हो जाते हैं अतः उन्हें लौकिक का अनुसन्धान नहीं रहता है, इस प्रकार लोक में नाना प्रकारों को प्राप्त हुए ज्ञान के निरूपण करने के अनन्तर 'उद्दाम' इत्यादि विशेषण के द्वारा क्रिया का निरूपण करते हैं, यद्यपि कर्म अनन्त ही हैं तो भी तीन प्रकार के ही बतलाये गये हैं, क्योंकि वह सर्व कर्मों का सात्त्विक, राजस, तामस रूप से ही विभाग होता है, अतः यहां पर उनका काञ्ची, अङ्ग.द, कङ्क.ण के रूप में निरूपण हुआ है, काञ्ची तमोमय कर्मरूप है, अङ्ग.द सत्त्वमय कर्म रूप है और कङ्क.ण रजोमय कर्म स्थानीय है।

श्री सुबोधिनी – दामरहिता, हिंसाप्रचुराऽपि वैदिकी कृतिर्न लोकानुसारिणी, भूमौ मायाव्याप्तानामेव तत्राधिकार इति पीताम्बरोपरि काञ्ची तिष्ठति, लौकिकानि तानि व्यावर्तयितुं लौकिकसूत्राभाव उक्तः, उत्कृष्टानि वाऽलौकिकानि तत्र साधनानि निरूपितानि, अङ्ग.दानि बाहुमध्ये तिष्ठन्ति अङ्गं. धुति खण्डयतीति राजसं तद् भवति, सात्त्विकराजसयोर्विभागहेतुत्त्वात्, आदिशब्देन मुद्रिका अङ्गदस्थानीयान्यन्यान्याभरणानि क्षुद्रघण्टिकानूपुरादीनि च निरूप्यन्ते, तैः सर्वैरेव

⊕ अमूल्य न कहकर बहुमूल्य कहना वस्तु की प्राप्ति के साधन की सत्ता का सूचक है और उसकी महत्ता का भी सूचक है अतः किरीट आदि से सूचित वेदादि शास्त्र भी बहुमूल्य सद्गुरुकृपा से प्राप्त होते हैं।

धर्ममार्गवर्तिभिर्भगव– त्सम्बन्धिभिर्विरोचमानो भगवान् भवति, "वेदे रामयणे चैव पुराणे भारते तथा आदावन्ते तथा मध्ये हरिः सर्वत्र गीयत" इति, नन्वेताऽंशो भगवानिति किमर्थमुच्यते ? तत्राह

व्याख्यार्थ – यह भगवान् के आभरण रूप त्रिविध कर्म वेदादि शास्त्रों से प्रतिपाद्य हैं, और यावत् कर्म मात्र के आदि भूत (पूर्ववर्त्ती कारण) हैं, अपने समान जातीय अनन्त सात्त्विक आदि कर्मों को भविष्य में प्रकट करते रहते हैं, क्योंकि कर्मों का स्वभाव है कि उत्तरोत्तर अपने जैसे कर्मो को उत्पन्न करते रहना, (कङ्कणादिभिः), का आदि शब्द, काञ्ची, अङ्गद और कङ्कण तीनों से सम्बन्धित है अतः तामस कर्म, तामस कर्मों को सात्त्विक कर्म, सात्त्विक कर्मों को और राजस कर्म, राजस कर्मो को जन्म देते रहते हैं यह सूचना अभीष्ट है। लोक में काञ्ची दाम सहित होती है (किसी बन्धन सूत्रादि के आधार पर अवलम्बित होती है) परन्तु यह भगवदासरण काञ्ची तो उद्दाम है बन्धन रहित है, वैदिक क्रिया यद्यपि हिंसात्मक होती हैं क्योंकि पशु का बलिदान वहां पर प्रधानतया किया जाता है फिर भी वह लौकिक हिंसा की तरह निन्द्य या पाप जनक नहीं बन्धन हेतु नहीं इस अभिप्राय को 'उद्दाम' विशेषण से व्यक्त किया है, साथ ही वैदिक कृति के हिंसात्मक होने की सूचना से काञ्ची की वैराग्य रूपता× भी स्पष्ट हो जाती है क्योंकि राग प्रयुक्त हिंसा ही पाप हैं एवं बन्धन कारण है वैदिक हिंसा पाप नहीं क्योंकि वह शुद्ध विधि प्रयुक्त ही है अतः राग के अभाव की या वैराग्य की स्पष्टता हो ही जाती है, पीताम्बर के ऊपर काञ्ची (करधनी) स्थित है, वह यह सूचित कर रही है कि जो लोग भूमि मे माया से व्याप्त हैं उनका ही वैसे हिंसात्मक कर्मों में अधिकार है क्योंकि भगवान् के चरण रूप भूलोक पर पीताम्बर रूपिणी माया है और उसका काञ्ची रूप वैसे कर्मो से निकट सम्बन्ध है, भगवान् में लौकिक कर्मों का सर्वथा अभाव है अतः उन लौकिक कर्मों की व्यावृत्ति करने के लिये उनके अभाव बतलाने के लिये लौकिक सूत्र

श्री सुबोधिनी – वसुदेव ऐक्षतेति, तत्पूर्वोक्तानां धर्माणां लौकिकत्वमलौकिकत्वं च सम्भवति, यदि वसुदेवो न ज्ञास्यति तदा लौकिकान्येवैतानीति मंस्यते, अथ ज्ञास्यति तदोक्तं व्याख्यानमुभयार्थं तादृशधर्मयुक्तं ऽंष्टवानिति शुक आह, एतज् ज्ञानं स्तोत्रे स्पष्टं भविष्यति।।१०।।

टिप्पण – × वैदिक कृति लौकिक दुःख को निवृत्त करती है अतः वैराग्य रूप है ऐसा प्रकाशकार लिखते है।

(डोरे) का अभाव 'उद्दाम' शब्द से कहा है, अथवा 'उद्दाम' शब्द के अन्तर्गत 'उद्' शब्द का उत्कृष्ट अर्थ होने के कारण उस काञ्ची रूप वैदिक कर्म में अलौलिक[1] साधनों का निरूपण 'उद्दाम' शब्द से किया है, अङ्ग.द बाहुओं के मध्य में रहते हैं, यह सात्त्विक कर्मों के मूल भूत है क्योंकि 'अङ्ग.द्यति खण्डत्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अङ्ग. का खण्डन करने वाला ही अङ्ग.द शब्द का वाच्यार्थ है, देहाध्यास की निवृत्ति या विदेह कैवल्य की प्राप्ति में अङ्ग. का खण्डन (देह का अनुसन्धान न रहना) स्वाभाविक है यह देह स्मृति की अवस्था सात्त्विक है अतः इस अवस्था का प्रयोजन कर्म की सात्त्विक ही है, चंचल होने के कङ्ग.ण राजस कर्म स्थानीय है, यद्यपि[2] शास्त्र विहित कर्म रूप अङ्ग.द और कङ्क.णों की क्रिया शक्ति रूप भगवद्धुत्ताओं में स्थिति होने से उनके सात्त्विक या राजस होने में कोई स्थूल कारण नही दीखता परन्तु एक ही कर्म की सकाम निष्काम कर्त्ताओं के आधार पर सात्त्विकता और राजसत्ता गीता अध्याय १८ श्लोक २३–२४ में कही है उस दिशा से सात्त्विक और राजस (निष्काम और सकाम) कर्ता ही कर्म के सात्त्विक और राजस इस विभाग के कारण है अतः उक्त विषय में कोई शङ्क.ा नहीं,

श्री सुबोधिनी – एवं भगवन्तं ंष्ट्वा शुद्धसत्त्वात्मको वसुदेवः क्रिया ज्ञानं च प्रकटीकृतवानित्याह द्वाभ्या, दानं क्रिया, स्वरूपज्ञानबोधक स्तोत्रं, कर्मण्याधिकारचतुष्टयं, श्रद्धा चाङ्ग.म्, 'अर्थी विद्वान् समर्थः शास्त्रेणापर्युदस्तश्च, इदं च कर्म नैमित्तिकं, तस्यापेक्षाज्ञापको हर्षः, स चासाधारण एव भगवन्निष्ठो भवति, तदाह स विस्मयोत्फुल्लविलोचन इति।

व्याख्यार्थ – आदि शब्द से मुद्रिका (अंगूठी) एवं अङ्ग.द (बाजूबन्द) के स्थान पर धारण करने योग्य अन्य आभरण तथा क्षुद्र घण्टिका नूपुर आदिका निरूपण किया है, उन सब ही धर्म मार्गीय भगवत्सम्बन्धी कर्म रूप आभूषणों से भगवान् शोभा सम्पन्न होते हैं, 'वेदे रामायणे चैव'[3], इस हरिवंशोक्त पद्य का उद्धरण इस ंष्टि से किया गया है कि

[1] लेखकार ने साधनो की अलौकिकता पर प्रकाश डालते हुए वैदिक साधनों की भगवद्रूपता (तत्साधनञ्च स हरि प्रयाजादि स्त्रुगादियत्) इस निबन्ध के अनुसार बतलाई है।

[2] टिप्पण के लिये पृष्ठ ३२ पर टिप्पण १ पढें।

[3] यह प्रकाशकार का अभिप्राय है, लेखकार तो (तमद्भुतम्) आदि श्लोक द्वय द्वादश विशेषणो के अभिप्राय का सिहावलोकन इस पद्य से किया है ऐसा बतलाते है, वेद मे आदि', मध्य", और अन्त", में तथा रामायण में आदि",

सर्व शास्त्रों में आमूल चूल भगवान् की महिमा का ही गान हुआ है अतः शास्त्रोक्त कर्म रूप आभरणों से भगवान् का शोभित होना सर्वथा सङ्ग.त ही है, उक्त श्लोक में 'वसुदेव ऐक्षत' वसुदेवजी ने उक्त स्वरूप भगवान् को देखा, ऐसा कहा गया है, शुक मुनि का ऐसा कथन एक शङ्क.ा के निवारणार्थ हुआ है, कि प्रकट हुए भगवान् का दर्शन को अनुक्त सिद्ध है उसके कथन की क्या आवश्यकता जो स्वरूप प्रकट हुआ उसका दर्शन होना तो स्वाभाविक ही है एवं 'सविस्मयोत्फुल्ल' श्लोक में 'विलोक्य' पद से दर्शन का अनुवाद आगे किया ही है ऐसी स्थिति में भगवान् ऐसे हैं देखकर वसुदेव ने दान, स्तोत्र आदि किये इतना कथन ही पर्याप्त था, परन्तु बात ऐसी है कि वसुदेवजी को भगवत्स्वरूप का सर्वांश में यथार्थ ज्ञान हो चुका है, इस रहस्य की सूचना के लिये वह कथन किया है, बात ऐसी है कि पूर्वोक्त ऐश्वर्यादि भगवद्धर्मों की लौकिकता का भी सम्भव है और अलौकिकता का भी सम्भव है, इस समय वसुदेवजी को यदि यथार्थ ज्ञान न होगा तो वह उन ऐश्वर्यादिकों को लौकिक ही मानेंगे, और यदि यथार्थ ज्ञान होवेगा तो[×] हमने लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के ऐश्वर्यादिकों का प्रतिपादक जो व्याख्यान पूर्व में कहा है उसी प्रकार का आगे भी उनको भगवल्लीलाओं में अनुभव होता रहेगा, अतः शुकदेव कहते हैं कि वसुदेवजी ने वैसे धर्मों के सहित भगवान् को देखा उनका लौकिक वैदिक उभय विध ऐश्वर्यादि परिपूर्ण स्वरूप उसी समय पहिचाना, वसुदेवजी का वह ज्ञान उनके किये हुए स्तोत्र में स्पष्ट हो जावेगा।।१०।।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार भगवान् का दर्शन कर शुद्ध सत्त्व गुण के प्रतीक श्री वसुदेवजी ने क्रिया और ज्ञान को प्रकट किया, यह दो श्लोकों से कहते हैं, गोदान रूप क्रिया है, और स्तोत्र भगवत् स्वरूप के ज्ञान का बोधक है, कर्म में चार प्रकार का अधिकार और श्रद्धा अंग है, कर्ता अर्थी होना चाहिये जिस निमित्त से वह कर्म करता है उस निमित्त की उसे अभिलाषा होनी चाहिये, तथा वह विद्वान भी हो उसे निमित्त का

मध्य[५], अन्त[६] मे एव पुराण मे आदि[७], मध्य[८] और अन्त[९] मे और भारत मे भी आदि[१०], मध्य[११] और अन्त[१२] मे हरि भान किया है अतः यहा प्रकट हुए भगवान् वह ही हैं जिनका निरूपण वेदादि सर्व शास्त्रो मे हुआ है।

[×] वागधीश श्री वल्लभाचार्य ने उक्त श्लोको के व्याख्यान द्वारा जैसा भगवत्स्वरूप कहा है वसुदेवजी को उस स्वरूप का साक्षात्कार इसी समय हुवा और आगे भी होता रहेगा।

और नैमित्तिक कर्म का ज्ञान भी हो, अन्यथा कर्म नहीं कर सकेगा, एवं ऐसे सामर्थ्यशाली भी होना आवश्यक है, क्योंकि सामर्थ्य के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता है, और शास्त्र से उसे कर्म करने में वर्जन या निषेध प्राप्त न होना चाहिये, इस प्रकार यह चार कर्त्ता के विशेषण कर्म में अधिकार रूप हैं, और यह दान रूप कर्म नैमित्तिक है। पुत्र जन्म आदि के निमित्त से किया जाने वाला है, वसुदेवजी को भगवान् के जन्म की अपेक्षा है, इसकी सूचना उनका हर्ष ही कर रहा है, वह हर्ष भगवद् विषयक होने से असाधारण ही होता है, उसे (सविस्मयोत्फुल्ल) आदि दो श्लोकों से कहते हैं,

श्लोकः –स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा।
कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोस्पृशन् मुदा द्विजेभ्योयुतमाप्लुतो गवाम्।।१।।

मूलार्थ – उस समय हरि रूप पुत्र को देखकर वसुदेवजी के नयन विस्मय से खिल उठे, कृष्ण के अवतार होने के कारण आनन्दातिरेक से संभ्रान्त होकर प्रसन्नता से स्नान कर ब्राह्मणों को दश सहस्र गौओं के दान का मानस संकल्प किया।

श्री सुबोधिनी – एतत्सर्वपरिज्ञाने स इति पूर्वोक्तो वसुदेवो हेतुः, अलभ्यलाभाद् विस्मयः, स विस्मयोन्तःप्रविष्ट उत्फुल्ले विलोचने करोति, पूर्वं हरिः सुतो भविष्यतीति श्रुतं, इदानीं हरिं सुतं विलोक्य, अनेन विद्वत्तोक्ता, निमित्तज्ञानेनैव नैमित्तिकमपि ज्ञातमपि ज्ञानं करणात् स्पष्टं भविष्यति, आनकदुन्दुभिरिति, असामर्थ्ये आनका दुन्दुभयश्च कथं नेदुः ? कृष्णास्यावतारे य उत्सवो मनसो विलासस्तस्मिञ् जाते सम्यग् भ्रमो यस्य ताऽंशश्च भगवच्छास्त्रे स्मृतिशास्त्रे चोत्सवाविष्टः, ताऽंशे कर्मणि शास्त्रेणापर्युदस्तः, पुत्रस्य सर्वलक्षणसम्पत्तावेव तथाधिकार इति कृष्णपदं।

व्याख्यार्थ – उक्त श्लोक में 'स' शब्द से पूर्वोक्त वसुदेवजी का परामर्श कर उनके दान, स्तोत्र, और स्वाधिकार सम्बन्धी परिज्ञान में हेतु का निर्देश किया है कि यह वह वसुदेव है जिनने भगतत्साक्षात्कार किया है एवं जो विशुद्ध सत्त्वात्मक है, अतः इनके सर्व विध ज्ञान सम्पन्न होने मे किसी प्रकार की शङ्का का अवकाश नहीं, उनको अलभ्य लाभ[*] होने के कारण विस्मय हुआ, वह विस्मय अन्तः प्रदेश हृदय में प्रवेश कर

[*] अलभ्य वस्तु का लाभ विस्मय जनक ता होता ही है साथ ही मे उस वस्तु की तीव्र प्राप्ति की इच्छा का भी द्योतक है जिसके प्राप्त करने की पूर्ण अभिलाषा हो पर अपने साधन बल को देखकर प्राप्त होने की आशा न हो, लाभ होने

नेत्रों को खिला देता है यह उसका स्वभाव है, वसुदेवजी के नेत्र विस्मय से खिल उठे, उन्होंने पूर्व में यह सुना था कि भगवान् हरि पुत्र रूप से प्रकट होंगे, इस समय तो पुत्र रूप से प्रकट होंगे, इस समय तो पुत्र रूप से प्रकट हुए हरि को देख रहे हैं, इस प्रकार के दर्शन से उनकी विद्वत्ता स्पष्ट होती है जो कि कर्माचरण के अधिकारों में एक है, प्रस्तुत गोदान कर्म में भगवत्प्रादुर्भाव निमित्त है, इस निमित्त के ज्ञान से वसुदेवजी का नैमित्तिक (गोदान कर्म) विषयक ज्ञान भी सिद्ध होता है, उनका वह ज्ञान आगे गोदान करने से स्पष्ट होगा, (आनक दुन्दुभिः) वसुदेवजी को इसलिये कहते हैं कि इनके जन्म समय में आनक और दुन्दुभि बजे थे, इस कारण इनकी गोदानादि सत्कर्माचरण में समर्थता[+] व्यक्त होती है कि यदि दश सहस्र गोदान का सामर्थ्य नहीं होता तो जन्म काल में आनक दुन्दुभियों का नाद भी कैसे सम्भव था।

श्री सुबोधिनी – मुदेति, हर्षः स्नेहात्मक इति भक्तिसूचकः, गवामयुतं द्विजेभ्योऽस्पृशद् ब्राह्मणानुदिश्य दशसहस्रं गावो दत्ताः, ननु स्नात्वा गावो देयाः कथमेवमेव सङ्कल्पं कृतवानित्याशङ्क्याह मुदाप्लुत इति, हर्षजलेनैव स्नातवानित्यर्थः ।।११।।

व्याख्यार्थ – भगवान् कृष्ण के अवतार होने पर वसुदेवजी के मन का विलास रूप जो उत्सव हुआ उसके होने पर उनको परम सुन्दर भ्रम या व्यग्रता हुई कि ऐसे शुभावसर पर क्या क्या न्यौछावर न की जाय, भगवत् सम्बन्धि शास्त्र में एवं स्मृति शास्त्र में वैसे पुरुष का ही उस प्रकार के गोसहस्र दानादि कर्म में वर्जन[⊗] नहीं किया जिसका मन उल्लासपूर्ण हो और सम्भ्रान्त हो, पुत्र यदि सर्व शुभ लक्षणों से सम्पन्न हो तब ही उल्लासपूर्ण हृदय होकर वैसे शुभ कर्म का अधिकार प्राप्त हो सकता है अतः यहां कृष्ण पद का प्रयोग कर पुत्र की सर्व लक्षण सम्पत्ति सूचित की है, 'मुदा' हर्ष के साथ गोदान किया, हर्ष स्नेहात्मक है, उसके स्वरूप में स्नेह अन्तःप्रविष्ट है, अतःभक्ति की सूचना करता है, कि भक्तिमान् वसुदेवजी ने भक्तिपूर्वक गोदान का मानस संकल्प

[illegible]र वह अलभ्य लाभ कहलाता है, इस कथन के द्वारा (आर्निता) भगवत्प्रादुर्भाव की अपेक्षा की सूचना है जो कि कर्माचरण मे एक अधिकार रूप है।

[+] कर्माचरण मे समर्थता भी अधिकार रूप से अङ्ग. है।

[⊗] शास्त्र मे वर्जित न होना भी कर्ता का अधिकार रूप अङ्ग. है।

किया, दश सहस्र गौओं को दान ब्राह्मणों का उद्देश्य कर वसुदेवजी ने किया, यद्यपि गोदानादि सत्कर्म में प्रथम स्नान आवश्यक है, स्नान करने के अनन्तर ही वैसे सत्कर्मों का विधान है, वसुदेवजी ने ऐसे ही संकल्प कैसे किया इस प्रकार की आशङ्का के समाधान करने के लिये 'मुदाऽऽप्लुत'[×], इस प्रकार की पद योजना की है, जिससे वसुदेवजी ने हर्ष के जल से स्नान किया ऐसा अर्थ निकलता है।।११।।

श्लोकः – अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः।।
स्वरोचिषा भारत! सूतिकागृहं विरोचयन्तं गतभीः प्रभाववित्।।१२।।

मूलार्थ – हे भारत! गोदान कर्म के अनन्तर वसुदेवजी का अद्भुत बालक को यह ही पूर्ण पुरुषोत्तम है ऐसा निश्चय पूर्वक जानकर सर्वाङ्ग को झुकाये हुए बुद्धि को अभिमुख किये हुए हाथों को जोड़े हुए स्तुति करने लगे, वह बालक अपनी दिव्य ज्योति से जन्म स्थान को विशेष रूप से प्रकाशित कर रहा था, और वसुदेवजी का भय नष्ट हो चुका था वह भगवत् भाव को जान चुके थे।

श्री सुबोधिनी आभास – ननु पुत्रः संस्कर्तव्यो जातकाख्येन कर्मणा तत् कथं न कृतवानित्याशंक्य प्राकृत एव तस्य संस्कार इति नास्मिंस्तदपेक्षेति तज् ज्ञानं स्वस्य वर्तत इति ज्ञापयन् भगवन्त स्तौतीत्याहाथैनमिति।

अथ कर्मसमाप्तिं विधाय तदनन्तरमेनं पुत्रत्वेनाविर्भूतं भगवन्तमस्तौत्, स्तोत्रमुत्कृष्टे कर्तव्यमिति कथं पुत्रे स्तोत्रमित्याशंक्याहावधार्य पूरुषमिति, पूर्वोक्तवर्णनप्रकारेण परः पुरुषः पुरुषोत्तम एवायमित्यवधार्य, अभिनन्दनात्मकमपि स्तोत्रं भवतीति तद्व्युदासार्थं –

व्याख्यार्थ – ऐसी शङ्का हो सकती है कि पुत्र का संस्कार 'जातक' नाम वाले कर्म से करना आवश्यक था, वसुदेवजी ने वैसा क्यों नहीं किया, परन्तु इस शङ्का को यहां अवकाश नहीं, क्योंकि प्राकृत पुत्र के जन्म होने पर उनकी शुद्धि के लिये संस्कार का विधान है इस अप्राकृत बालक में संस्कार की अपेक्षा नहीं, वसुदेवजी को इस बालक को अलौकिकता का ज्ञान हो चुका है, ऐसा बतलाते हुए स्तुति करते हैं, मानसिक गोदान रूप कर्म की समाप्ति के अनन्तर वसुदेवजी ने पुत्र की स्तुति कैसे की

[×] 'मुदा' इस शब्द की आवृत्ति अभीष्ट है, 'मुदा' हर्ष के साथ दस सहस्र गौओ का मानस स्पर्श किया, तथा 'मुदा' हर्ष रूपी जल से स्नान किया, इस प्रकार दो वाक्यो मे बिना आवृत्ति के अन्वय नही हो सकता।

गई इस आशङ्का को हटाने के लिये शुकदेवजी कहते हैं कि वसुदेवजी ने पूर्वोक्त प्रकार से इस बालक को परतत्त्व रूप पुरुष जान कर यह ही पूर्ण पुरुषोत्तम हैं ऐसा निश्चय करने के अनन्तर स्तुति की है, स्तुति केवल प्रशंसा करने मात्र से भी हो सकती है परन्तु यह स्तुति वैसी नहीं है, यह तो नम्रता पूर्ण स्तुति है वसुदेवजी 'नताङ्ग' होकर स्तुति करते हैं, भगवान् को नमस्कार करके स्तुति कर रहे हैं उनका अङ्ग झुक गया है।

श्री सुबोधिनी – नताङ्गः, नतमङ्गं यस्य, नमस्कारं कृत्वेत्यर्थः, यो भगवान् जातो यादृशस्त तथैव ज्ञात्वा स्तोत्रमुचितं, "अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा" चेत् "प्रतिपद्यते" तदाऽयुक्तमिति तद्व्युदासार्थमाहकृतधीरिति, यद्यपि पूर्वं पुरुषोत्तम आविर्भविष्यतीतिज्ञानं न स्थितं तथापि प्रदर्शितैर्भगवताऽवयवादिभिः कृता धीर्यस्य, समानयोरपि तथात्वं सम्भवतीति तद्व्युदासार्थ कृताञ्जलिरिति, अञ्जलिर्महत एव क्रियते, स्तोत्र कायवाङ्मनोभिः, कर्तव्यं, तत्र कृताञ्जलिरिति स्तोत्रे कायस्थितिः, कृतधीरिति मनसः, स्तोत्रं वाचनिकं, ननु स्तोत्रमुच्चैः कर्तव्यं तथा सति प्राहरिकाणां जागरणं भवेद्।

व्याख्यार्थ – जो भगवान् जैसे प्रकट हुए हैं उनको वैसा ही जानकर स्तुति करना उचित है, अन्यथा उचित नहीं, शास्त्र में कहा है कि आत्मा का स्वरूप हो कुछ अन्य प्रकार से और यदि कोई असावधान व्यक्ति उसे अतिरिक्त प्रकार से समझने लग जावे तो वह पापी है चोर है आत्मा का अपहरण करने वाला है वैसी स्थिति के हटाने को कहते हैं कि वसुदेवजी तो 'कृतधी' हैं, भगवत्स्वरूप के यथावद् ज्ञाता हैं, यद्यपि इनको पूर्व में यह ज्ञात नहीं था कि पुरुषोत्तम का प्राकट्य होगा परन्तु भगवान् ने अपने श्री हस्तादि अवयवों का दर्शन कराकर उनकी उस प्रकार की बुद्धि बनादी जिससे वह समझ गये कि यह पूर्णपुरुषोत्तम हैं। नम्रतापूर्वक स्तुति भी समान स्तर के लोग आपस में एक दूसरे की किया करते हैं परन्तु यहां वैसी बात नहीं है इसलिये ये कृताञ्जलिः, वसुदेवजी को कहा है कि वह हाथ जोड़े हुए हैं, महान् पुरुष की ही हाथ बांध कर स्तुति की जाती है, समान कक्षा वाले की नहीं, स्तुति शरीर, वाणी और मन से होनी चाहिए, हाथों का जोडना शरीर की स्थिति का सूचक है कि स्तुति करने में शरीर का उपभोग हुआ है, और 'कृतधी' शब्द से मन की अवस्था सूचित हो ही रही है, और वाणी का उपयोग तो स्तुति में स्पष्ट ही है क्योंकि स्तोत्र वचन द्वारा ही तो होता है, स्तुति

उच्च स्वर से की जाती है वैसा करने पर पहरे वाले जाग जावेंगे यह शङ्का हो सकती है।

श्री सुबोधिनी – इत्याशंक्य कंसभयं तस्य नास्तीत्याह गतभीरिति, तत्र हेतु. प्रभावविदिति, भगवतः कालादिनियमनं जानातीति प्रभाववित्, ननु विद्यमानमपि सामर्थ्यं न प्रकटयेच् चेत् प्रमाणसिद्धं वा शालग्रामादिवत् सामर्थ्यं स्यात् तदा विपरीतं भवेदित्याशंक्य प्रकटतेजःपुञ्जेन प्रकटमेव सामर्थ्यं तस्येत्याह स्वरोचिषा स्वरूपकान्त्या कोटिमणितेजसा यथा गृहं प्रकाशितं भवति तथा प्रकाशयन्तं, भारतेतिसम्बोधनं विश्वासार्थम्।।१२।।

व्याख्यार्थ – उस शङ्का के निवारणार्थ 'गतभीः' विशेषण का प्रयोग किया है कि वसुदेवजी को कंस का भय नहीं था, क्योंकि वह 'प्रभावविद्' थे, भगवत्प्रभाव को उन्होंने जान लिया था कि यह काल आदि के भी नियामक हैं, यदि सामर्थ्य होते हुए भी उसे प्रकट न करें अथवा शालग्राम शिला आदि की तरह वह सामर्थ्य प्रमाण सिद्ध ही हो (अतिक्रम करने वाले को परोक्ष रूप से ही दण्ड देने वाला हो) प्रत्यक्ष कोई चमत्कार न हो शिलावत् मूक ही रहा आवे तब तो विपरीत हो जाने का सम्भव है, इस शङ्का को निवृत्त करते हैं कि उनका सामर्थ्य तो प्रकट तेजःपुञ्ज से प्रत्यक्ष ही प्रतीत हो रहा है अपनी दिव्य कान्ति से जन्म स्थान को इस प्रकार प्रकाशित कर रहे हैं जैसे करोड़ों मणियों से गृह प्रकाशित होता है, भारत ! यह सम्बोधन परीक्षित के विश्वास के लिये प्रयुक्त हुवा है कि हे राजन् तुम भगवद्भक्त राजर्षि भरत के वंश में प्रकट हुए हो अतः तुम्हारा इस प्रकार के भगवत्प्रभाव पर पूर्ण विश्वास होना तो अनिवार्य।।१२।।

कारिका – **द्वादशात्मा हरिर्ज्ञेयस्त्रिधा च नवधा तथा।**
नवधा वैदिकः प्रोक्तस्त्रिधा लौकिक उच्यते।।१।।
यज्ञस्तु पञ्चधा प्रोक्तश्चतुर्धा भगवानिति।
पञ्चात्मकश्चतुर्मूर्तिस्तन्त्रं वेदेन सम्मितम्।।२।।
लौकिकस्त्रिगुणः प्रोक्तः स्मृतिश्चैव हि लौकिकी।
नवधा वसुदेवोऽस्तौत् त्रिधा चैव हि देवकी।।३।।

कारिकार्थ – भगवान् श्री हरि द्वादशात्मा है, ऐसा (तमद्भुतम्) श्लोक के ऊपर कारिकाओं से अनेक भाति प्रतिपादन किया जा चुका है, वसुदेव, तथा देवकी के द्वारा

की हुई स्तुतियों के श्लोकों की संख्या भी उसी तत्त्व की परिचायक है इस आशय से आचार्य निरूपण करते हैं कि, हरि को द्वादशात्मा जानना चाहिये, वसुदेवजी ने ६ (नव) +श्लोकों द्वारा स्तुति कर उनकी नव विधता बतलाई है और देवकीजी ने ३ (तीन) ⊕श्लोकों द्वारा स्तुति कर उनकी त्रिविधता बतलाई है। दोनों स्तुतियों के द्वारा मिलित रूप से द्वादश विधता स्पष्ट हो जाती है, वेदोक्त प्रक्रिया से ६ (नव) श्लोकों द्वारा स्तुति के विषय हुए भगवान् नवधा वैदिक रूप से बतलाये गए हैं, और स्मृति प्रोक्त प्रक्रिया से ३ (तीन) श्लोकों द्वारा स्तुति के विषय हुए भगवान् त्रिधा स्मार्त या लौकिक रूप से कहे जाते हैं।।१।। अग्निहोत्र १ दर्शपूर्णमास २ पशु ३ चातुर्मास्य ४ सोय ५ इन भेदों से यज्ञ रूपी भगवान् पांच प्रकार के कहे हैं, तथा वासुदेव १ सङ्क.र्षण २ प्रद्युम्न ३ अनिरुद्ध ४ इन व्यूहों के भेद से भगवान् चार प्रकार के हैं, अतः भगवान् पञ्चयज्ञात्मक है और चतुर्व्यूह मूर्ति रूप भी हैं, यद्यपि व्यूह मूर्ति का निरूपण तन्त्र ने किया है तथापि तन्त्र भी वेद के समान ही आदरणीय हैं।।२।। (अतः पञ्चयज्ञात्मक और व्यूह चतृष्टयात्मक नवधा स्वरूप को वैदिक कहा गया है।) ।।२।। लौकिक स्वरूप सत्त्व, रज, तम इन गुणों के भेद से त्रिविध कहा है, देवकीजी ने स्मृति को प्रक्रिया से स्तुति की है स्मृति प्रणेता ऋषियों ने लोक रीति से वर्णन किया है अतः स्मृति लौकिक ही कही गई है वसुदेवजी ने नवधा ६ प्रकार से स्तुति की है, और देवकी ने त्रिधा (३) तीन प्रकार से स्तुति की है।

कारिका – **एकेन प्रार्थनं पूर्वं द्वाभ्यां चैव तथापरम्।**
दशभिः पञ्चभिश्चैव निरूप्येते स्तुती उभे।।४।।
शास्त्रतो भगवानेव प्रतीत्यापि ढंढीकृतः।
बाधकं त्वन्यथाज्ञानमज्ञानं चापि हेतुतः।।५।।

कारिकार्थ – एक श्लोक में पूर्ववर्ती वसुदेव स्तुति गत प्रार्थना की है और दो श्लोकों से परवर्ती देवकी स्तुति गत प्रार्थना की है; अतः दोनों स्तुति क्रमशः प्रार्थना

+वसुदेव कृत स्तुति में यद्यपि १० (दश) श्लोक हैं तथापि अन्तिम श्लोक की गणना स्तुति में नहीं है।
⊕देवकी कृत स्तुति मे यद्यपि ८ आठ श्लोक हैं तथापि पिछले ५ (पञ्च) श्लोकों की गणना स्तुति में नहीं है।

श्लोकों को लेकर १० दश एवं पञ्च ५ श्लोकों द्वारा निरूपित हुई है वसुदेव कृत स्तुति प्रार्थना के साथ १० दश श्लोकों में हुई है और देवकी कृत स्तुति प्रार्थना के दो श्लोकों को लेकर ५ पञ्च श्लोकों में हुई है (यद्यपि देवकी कृत स्तुति ८ आठ श्लोकों में सम्पन्न हुई है तथापि प्रारम्भ के ३ तीन श्लोकों में ही मुख्यतया स्तुति की है अतः उसको 'त्रिधा', कहा है, चतुर्थ श्लोक में तो तृतीय श्लोकोक्त शरणागति के कारण का निर्देश किया है अतः उसका पूर्व में ही अन्तर्भाव है प्रथक् सत्ता नहीं, पञ्चम एवं षष्ठ श्लोकों में कृमशः अपनी रक्षा, एवं कंस को आपके जन्म का ज्ञान न हो पावे यह दो प्रार्थनायें की हैं, उक्त दोनों प्रार्थनाओं के साथ पूर्व कथित श्लोक त्रय गत स्तुति 'पञ्चधा' कही गई है, सप्तम श्लोक में रूप के उस संहार की प्रार्थना है उसका पूर्व प्रार्थनाओं के समान स्तुति में उपयोग नहीं अतः प्रार्थना २ दो ही बतलाई है ३ नहीं, अष्टम श्लोक में तो भगवान् के गर्भगत होने में विरोध का परिहार मात्र किया है अतः उसका भी स्तुति में मुख्यतया उपयोग नहीं, इस ध्ष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि देवकी स्तुति मुख्यतया 'त्रिधा' ही है, उपयोगी दो प्रार्थनाओं को मिलाकर ५ 'पञ्चधा' भी है, और अवशिष्ट अङ्गों को लेकर 'अष्टधा' भी है।।४।। 'विषिमोऽसि' इस वाक्य में वसुदेवजी ने भगवत्स्वरूप को शास्त्र सिद्ध कहा है और प्रतीति के द्वारा भी उस शास्त्रैकसमधिगम्य स्वरूप की ध्ढता को है चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय हो जाने के कारण लोगों को भगवत्स्वरूप के ब्रह्म रूप होने में बाधा डालने वाला अन्यथा ज्ञान एवं अज्ञान हो सकता था वसुदेवजी स्तुति के द्वारा 'विदितोऽसि' वाक्य में उस अध्श्य अग्राह्य ब्रह्म की स्वेच्छा से ध्श्य ग्राह्य होने की सूचना देकर उस अज्ञान एवं अन्यथा ज्ञान का निवारण करते हैं।।५।।

।। श्रीवसुदेव उवाच ।।

श्लोकः – **विदितोऽसि[+]भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।।**
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिर्दृक्।।१३।।

मूलार्थ – वसुदेवजी ने कहा है कि मैंने तुमको जान लिया है आप साक्षात् प्रकृति से पर उसके नियामक पुरुष हो आप पुरुषोत्तम हो, आपका स्वरूप केवल अनुभव एवं आनन्द रूप है, आप सर्व चेतनों की बुद्धि के द्रष्टा हैं।।१३।।

श्री सुबोधिनी – तत्र प्रथमं बाधकधर्मैश्चाक्षुषत्वादिभिर्ब्रह्मत्वं नोपपद्यते इति चाक्षुषत्वे निमित्ताज्ञानाद् भगवद्विषयकमज्ञानं सम्भवति तदादौ निराकरोति विदितोऽसीति।

ज्ञातस्वरूपस्तोत्रे एते, भवान् विदितो मया सम्यग् ज्ञातः आर्षेण ज्ञानेन, "तत्त्वमस्या" –दिवाक्योत्थेन बहव एव जीवमपि भगवत्त्वेन जानन्तीति चेत् तत्राहासीती, यस्तु युष्मच्छब्देनापि व्यवह्रियते चतुर्भुजः सोऽपि त्वं विदितोऽसीत्यर्थः, अप्रयुज्यमानेऽपि युष्मच्छब्दे मध्यमपुरुषप्रयोगः, अतः शास्त्रतो लोकतश्च यः प्रतीयसे स मया विदित इत्यर्थः।

व्याख्यार्थ – उक्त स्तुति में सर्व प्रथम वसुदेवजी ने 'विदितोऽसि' इस वाक्य से मुझको तुम्हारा ज्ञान हो चुका है ऐसा कह कर भगवान् के विषय में अपने अज्ञान का निराकरण किया है, अज्ञान की सम्भावना इस प्रकार हो सकती है कि ब्रह्म तो अतीन्द्रिय है, उसका चक्षु आदि इन्द्रिय से ग्रहण सम्भव नहीं, जो स्वरूप सम्मुख प्रत्यक्ष दीख रहा है वह ब्रह्म नहीं हो सकता, चाक्षुष होना (नेत्रों से गृहीत होना) आदि उस स्वरूप की ब्रह्मता के बाधक धर्म हैं, यदि ब्रह्म के चाक्षुष प्रत्यक्ष होने में कारण उस ब्रह्म की एकमात्र इच्छा ही है ऐसा ज्ञान न हो पावे तो उक्त प्रकार से अज्ञान का सम्भव है, अतः आरम्भ में ही वसुदेवजी ने वैसे अज्ञान का अपने में अभाव बतलाया है कि 'विदितोऽसि' तुम जान लिये हो, वसुदेव और देवकी इन दोनों की की हुई स्तुति उनके भगवद्विषयक ज्ञान की सूचक हैं कि पिता और माता दोनों को भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो चुका है।

टिप्पणी – [+] विदितोऽसितभवान्, ऐसा पाठ न होकर उक्त पाठ का होना और वह भी भगवान् के जन्म प्रसङ्ग. में उनके पिता श्री वसुदेवजी के शब्दों में वैयाकरणों का जो कि अर्धमात्रा के लाघव से पुत्रोत्सव मानते हैं अपनी ओर आकृष्ट करता है क्योंकि 'असिम' पद की अपेक्षा 'असि' पद मे अर्धमात्रा का लाघव है वसुदेवजी का पुत्रोत्सव ही स्तुति रूप में व्यक्त हो रहा है।

श्री सुबोधिनी – अनेन परम्परया यः प्रतीयतेचेतनश्च यो वा साक्षात् प्रतीयते तदुभयरूपो भवानित्युक्तम्।

व्याख्यार्थ – वसुदेवजी का कहना है कि मैंने आपकी अच्छी तरह जान लिया है, आर्ष ज्ञान से (ऋषियों जैसे दिव्य ज्ञान से) आपको मैंने भली भांति पहिचान लिया है, कदाचिद् भगवान् ऐसा प्रश्न कर बैठें कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वैदिक वाक्य जन्य ज्ञान से तो बहुत लोग जीव को भी भगवद्रूप से जान लेते हैं क्या उसी तरह आपका भी ज्ञान है ? इसके समाधान में वसुदेवजी ने 'असि' इस मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है, उक्त श्लोक में 'त्वम्' इस प्रकार युष्मद् शब्द का प्रयोग नहीं भी हुआ है तो भी 'असि' यह मध्यम पुरुष का प्रयोग सम्मुखस्थ चतुर्भुज स्वरूप के प्रति किया गया है कि 'युष्मद्' शब्द से जो सम्मुखस्थ चतुर्भज रूप व्यवहृत होता है वह भी तुम जान लिये गये हो, अतः शास्त्र से और लोक से जो तुम ज्ञात होते हो वह मैंने जान लिया है, इस व्याख्यान से यह निरूपण किया है कि जिस अंतर्गत स्वरूप की परम्परा से प्रतीति होती है जिसके लिये 'भवान्' शब्द का प्रयोग अपेक्षित है एवं जिस देह इन्द्रियादि रूप जड़ वर्ग की बाह्य प्रतीति होती है जिसके लिये 'त्वम्' शब्द का प्रयोग अपेक्षित है वह दोनों रूप आप एक ही हैं, आपके स्वरूप में देह का विभाग नहीं, आप सर्वांश में आनन्दमय हैं 'आनन्द मात्र करपाद मुखोदरादि, श्रुति सिद्ध आपके स्वरूप का ज्ञान मुझे हुआ है।

श्री सुबोधिनी – अथवा, "विदितोऽसी" ति प्रतिज्ञाय भगवतो ब्रह्मत्वमुपसंहरिष्यन् सर्वत्वं प्राप्तस्य ब्रह्मत्वं भवतीति "भवान्" "पुरुष" इतिपदद्वयेन बाह्याभ्यन्तररूपस्त्वमेवेन्याह, प्रत्यक्षोऽप्यप्रत्यक्ष इति ज्ञापयितुं वा सम्मुखोऽप्यसम्मुख इति वा।

व्याख्यार्थ – पूर्व व्याख्यान में 'भवान्' शब्द की आवश्यकता सिद्ध नहीं हो पाती हैं क्योंकि 'असि' इस मध्यम पुरुष के प्रयोग से 'त्वम्' का या उसके अर्थ का लाभ होना अनिवार्य है ऐसी दशा में 'भवान्' शब्द से जो कार्य सिद्ध करना है वह 'त्वम्' शब्द से ही सिद्ध हो जाता है, अतः दूसरे प्रकार से व्याख्यान करते हैं कि अथवा 'विदितोऽसि' तुमको मैंने जान लिया ऐसी प्रतिज्ञा करके भगवान् की ब्रह्म रूपता का ही आगे उपसंहार में निरूपण करना है इस दृष्टि से 'भवान्' और पुरुष, इन दो पदों के द्वारा बाह्य, एवं आभ्यन्तर दोनों रूपों में एक रूप तुम ही हो क्योंकि सर्वभाव को प्राप्त होने वाला ही तो ब्रह्म है –

श्री सुबोधिनी – पुरुषत्रयरूपो भगवानिति वा वक्तु "मसि" "भवान्" "साक्षात्पुरुष" इतिपदत्रयं, अन्नमयादेरपि पुरुषविधत्वात् पुरुषो भवतीति तद्व्युदासार्थं साक्षादित्युक्तं, पुरुषप्रवेशात् परम्परया ते पुरुषाः, नन्वात्मस्फूर्तौ ब्रह्मविदामपि साक्षात्पुरुषत्वं भवतीति ततोऽप्याधिक्यमाह प्रकृतेः परः इति, न हि ते जीवाः प्रकृतिनियन्तारः, प्रकृतिनियमनं च गुप्तानामर्थानां मायाजीवादीनां प्राकट्यकरणात्–

व्याख्यार्थ – अथवा 'भवान् पुरुषः' इन पदों से ब्रह्म की विरुद्ध धर्माश्रयता का ज्ञान दिखलाना अभीष्ट है कि वह प्रत्यक्ष होते हुए भी अप्रत्यक्ष है सम्मुख होते हुए भी असम्मुख है, इस व्याख्यान में भी यह अरुचि रह जाती है कि 'असि' इस मध्यम पुरुष के प्रयोग के बिना भी 'विदितो भवान्' इत्यादि प्रकार से भी प्रत्यक्ष आदि अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो सकता था 'भवान्' शब्द ही 'त्वम्' के अर्थ को बोधित कर सकता था 'असि' पद की सार्थकता प्रतीत नहीं होती अतः प्रकारान्तर से व्याख्यान करते हैं कि – अथवा भगवान् पुरुष त्रय+ रूप है – क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम या आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक रूप से त्रिविध रूप आप ही है ऐसा प्रति पादन करने को 'असि' 'भवान्' 'साक्षात्पुरुष' इन तीन पदों का उपयोग है, "साक्षात्पुरुषः' पद के अन्तर्गत 'साक्षात्' पद का प्रयोग इसलिये है कि आनन्दमय पुरुष का ही बोध हो अन्नमयादि पुरुषों का नहीं, क्योंकि वह आनन्दमय पुरुष के प्रवेश से पुरुष रूप होते हैं अतः साक्षात् पुरुष नहीं हो सकते वह तो परम्परा से पुरुष हैं, आत्म स्वरूप की स्फूर्ति होने पर ब्रह्मवेत्ताओं की भी साक्षात्पुरुषरूपता हो जाती है अतः उनसे भी अधिकता बतलाते हैं कि आप तो प्रकृति से पर हैं उसके नियन्त्रण करते वाले हैं। वह ब्रह्मवेत्ता लोग तो जीव हैं अतः प्रकृति के नियामक नहीं, भगवान् ने कौस्तुभमणि और पीताम्बर के द्वारा गुप्त जीव, माया, आदि तत्त्वों को प्रकट कर अपनी प्रकृति नियामकता स्पष्ट की है।

श्री सुबोधिनी – प्रत्यक्षदोषस्तु 'असि' 'भवान्' इति पदाभ्यां परिहृतः, ज्ञातत्वदोषश्च सर्वभावेन प्राकट्यात्, विरुद्धा धर्मा एकैकांशेन चरितार्था भवन्ति, तर्ह्यहमात्मा चतुर्भुजदेहे विद्यमानस्तथा

टिप्पण + 'असि' पद से देह रूप 'भवान्' पद से देहाभिमानी, 'साक्षात्पुरुष', पद से परमात्मा इन तीनो का बोध होता है, भगवत्स्वरूप मे जो देह है वही देही आत्मा है और वही परमात्मा भी है, भगवत्स्वरूप को खांड के पुरुष के भांति एक रस सर्वांश में आनन्दमय वसुदेवजी ने जाना है, व्याकरण में प्रथम, मध्यम, उत्तम, इस प्रकार निडान्त पदो मे व्यवहार किया गया है वहां भी उन्हे 'पुरुष' पदवी मिली है जो कि भगवान् की त्रिविधता की सूचक है।

भविष्यामीतिचेत् तत्राह केवलानुभवानन्दस्वरूप इति, केवलो देहेन्द्रियप्राणान्तः करणरहितः, नापि जीववत् केवल चिद्रूपः किन्त्वनुभवानन्दः, अयोगोलके वन्हिरिव भगवानस्मिन् देहे चिदानन्दः संक्रान्तो भविष्यती—

व्याख्यार्थ – प्रत्यक्ष दोष का परिहार तो 'असि' 'भवान्' इन पदों द्वारा कर ही लिया है, कि जिस तत्त्व को श्रुति अतीन्द्रिय बतलायी है वही तत्त्व अपनी इच्छा से साकार आनन्द रूप में वसुदेवजी के सम्मुख उपस्थित होता है और वसुदेवजी उनकी इच्छा से उन्हें जानकर कहते हैं कि आपको मैंने शुद्ध ब्रह्म पुरुषोत्तम रूप से जान लिया है, ऐसी अवस्था में यह मानना ही पड़ेगा कि अतीन्द्रिय होने के कारण ब्रह्म की प्रत्यक्षता जो दोष रूप मानी जाती थी वही उनकी निजेच्छा से गुण रूप हो जाती है, यद्यपि ब्रह्म को जान लेना प्रमाण सिद्ध नहीं क्योंकि उस अनन्त एवं अग्राह्य तत्त्व का ज्ञान सम्भव नहीं अतः उसके विषय में 'ज्ञातत्व' भी एक दोष ही है परन्तु उस दोष का भी परिहार भगवान् के सर्वभाव से प्रकट होने के कारण हो जाता है, बात ऐसी है कि 'ससर्व भवति' भगवान् सब कुछ हो जाते हैं, 'इदं सर्व यदयमात्मा' यह सब कुछ जो है यह आत्मा ही है, इत्यादि श्रुति भगवान् की सर्वरूपता का प्रतिपादन करती है, वसुदेवजी भी 'भवान् पुरुष, पदों से उनकी बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप का का वर्णन कर सर्व रूपता ही सूचित करते हैं, ऐसी स्थिति में यह मानना अनिवार्य है कि भगवान् को देखने वाले नेत्र या नेत्रों का सामर्थ्य भी भगवान् ही है, तब स्वयं भगवान् का अपने आपको जान लेना जिस प्रकार दोषावह नहीं उसी प्रकार वसुदेवजी का भी उन्हें जान लेना अविरुद्ध ही है वसुदेवजी या उनकी शक्ति आदि सर्वरूप भगवान् ही तो हुए हैं अतः सर्व भाव से प्रकट होने के कारण (ज्ञातव्य) दोष को अवकाश नहीं, प्रत्यक्षत्व, अप्रत्यक्षत्व, आदि विरुद्ध धर्म एक २ अंश[+] से चरितार्थ हो जाते हैं, उनका विरोध नहीं करता, अपनी इच्छा से भगवान् जिस समय दर्शन देते हैं उसी समय दर्शन करने वाले की इन्द्रिय के सामर्थ्य से अदृश्य भी बने रहते हैं।

टिप्पण [+] प्राकृत इन्द्रियों से तो ब्रह्म सर्वथा अग्राह्य ही है परन्तु अप्राकृत इन्द्रिय भगवद्रूप ही है अतः अप्राकृत इन्द्रिय से ग्राह्य होने पर भी भगवान् की अधोक्षजता निर्विरोध सिद्ध है।

श्री सुबोधिनी – त्याह स्वरूपः इति, यत् स्वरूपं ਂश्यते तदेव चिदानन्दरूपं, न तु चिदानन्दौ स्वरूपे यस्मिन्, अतश्चिदानन्दस्वरूपः सच्चिदानन्दविग्रह इत्यर्थः, एवं परोक्षापरोक्षान्तर्यामिरूपः परिਂश्यमानो भवानित्युक्तं, आत्मा नोक्त इत्यात्मत्वेनापि भगवन्तं निरूपयति सर्वबुद्धिਂगिति, सर्वेषां बुद्धीः पश्यतीति सर्वेषां बुद्धिषु ਂग् ज्ञान यस्येति वा, एवं षड्विधोऽपि भगवानयमेवेत्युक्तं प्रत्यक्षव्यवहारादयश्च धर्मा अंशेन समर्थिताः ।।१३।।

व्याख्यार्थ – 'केवलानुभवानन्द स्वरूपः, इस विशेषण से वसुदेवजी ने भगवान् के एक प्रश्न का उत्तर देकर उनके स्वरूप के विषय में अपनी अभिज्ञता प्रकट की है भगवान् ने प्रश्न किया कि तो क्या इस चतुर्भुज देह के अन्तर्गत जो आत्मा है वही मैं उस प्रकार का परुषोत्तम आदि रूप होऊँगा। वसदेवुजी उत्तर में कहते हैं कि आप तो केवल हैं, देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण रहित हैं, आपके स्वरूप में जड़ देह एवं इन्द्रियादि का सम्भव ही नहीं, और न आप जीव की भांति केवल ज्ञान रूप ही हैं, आप तो अनुभवानन्द रूप हैं, चिन्मय एवं आनन्दमय हैं, लोहे के गोले में जिस प्रकार अग्नि का संक्रमण होता है कि प्रथम तो लोहा अग्नि से भिन्न ही प्रतीत होता है पश्चात् मुद्गर प्रहार आदि की प्रक्रिया से शनैः २ अग्नि उस लोह में प्रकट होकर सर्वांश में उसे अपने रूप में मिला लेता है। क्या उसी प्रकार चिदानन्द का सङ्क्रमण इस चतुर्भुज देह में हैं ? नहीं २ जो स्वरूप ਂष्टिगत हो रहा है यह ही चिदानन्द रूप है, इस में चिद् और आनन्द हों और यह उनसे प्रथक् हों ऐसी बात नहीं, आप चिदानन्द स्वरूप है, सच्चिदानन्द ही आपका विभूह है मूर्तिमान् सच्चिदानन्द आप हैं, इस प्रकार परोक्ष (अਂश्य) अपरोक्ष (ਂश्य) और अन्तर्यामी इन तीनों रूपोंवाला जो स्वरूप सामने दीख रहा है वह आप हैं यह निरूपण किया है, आप ही सर्वात्मा है ऐसा कहना अवशिष्ठ रह गया, अतः (सर्व बुद्धि ਂग्) इस विशेषण से सब के आत्मा हैं इस प्रकार निरूपण करते हैं कि आप सब की बुद्धियों को देखते हैं, अथवा सब की बुद्धियों में जिनका दर्शन है, ज्ञान है, प्रकाश है, जिनके प्रकाश से सब की बुद्धि प्रकाशित होती है इस प्रकार क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम, अन्तर्यामी, देह, जीव, अथवा आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक,

अन्तर्यामी, देह जीव इन रूपों से छहों प्रकार का भी भगवान् यह ही है ऐसा कहा है, और प्रत्यक्ष व्यवहार आदि धर्मों का अंशतः समर्थन⊗ किया है।।१३।।

श्लोकः – **स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम्।।**
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे।।१४।।

मूलार्थ – वह तो आप अपनी प्रकृति से इस गुणत्रयात्मक जगत् को रचकर उसके अनन्तर प्रविष्ट न होते हुए भी प्रविष्ट जैसे प्रतीत होते हो।

श्री सुबोधिनी – दूषणान्तरमाशङ्क्य परिहरति स एवेति, यद्यहं सर्वरूपो भगवानेव कथं देवक्या उदरे प्रविष्ट इति चेत् तत्राहाप्रविष्ट एव तत्र विद्यमान एव प्रविष्ट इव भाव्यसे, न हि दर्शनमात्रेण प्रविष्टत्वनिर्धारः कर्तुं शक्यो यावच्छास्त्रेण दर्शनं संवादि न भवति, "स एष इह[1] प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये" "तत् सृष्ट्वा[2] तदेवानुप्राविशद्," "गुहां प्रविष्टौ[3] परमे परार्धे" एवं वेदे स्थित्यर्थं कार्यार्थमनेकरूपभवनार्थमन्यप्रवेशनार्थञ्च प्रवेशः श्रूयते।

व्याख्यान – उक्त श्लोक में अन्य दोष की आशङ्का कर समाधान करते हैं, भगवान् ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि यदि मैं सर्व रूप भगवान् ही हूँ तो देवकी के उदर में मेरा किस प्रकार से प्रवेश हुआ, उक्त प्रश्न पर वसुदेवजी बोलते हैं कि आप तो अप्रविष्ट ही हैं कहीं अन्यत्र से आकर आपने देवकी के उदर में प्रवेश किया हो ऐसी बात नहीं है आप तो वहां विद्यमान ही हैं उपस्थित ही हैं प्रवेश तो उसका होता है जो

⊗ प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष आदि के विरोध को हटाया है।

टिप्पण – [1] वृहदारण्यक उपनिषत् प्रथमाध्याय चतुर्थ ब्राह्मण सप्तम मन्त्र का वाक्य है। 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने ऽवहितः स्याद् विश्वम्भरो वा विश्वम्भर कुलाये' इस वाक्य में स्थिति के निमित्त आत्मा का प्रवेश इस शरीर में होता है यह निरूपण किया है छुरे का उसके कोष मे प्रवेश स्थिति के निमित्त से ही होता है अतः छुरे के दृष्टान्त से यहां स्थित्यर्थ प्रवेश ही अभिमत है जैसा कि 'अवहितः स्यात्' इस वाक्य शेष से स्पष्ट होता है द्वितीय दृष्टान्त विश्वम्भर के कुलाय प्रवेश का है, इसके द्वारा कार्यार्थ प्रवेश सिद्ध होता है, यदि विश्वम्भर शब्द से भगवान् विष्णु का ग्रहण किया जावे तब तो भू भार हरणादि कार्य के लिये उनका प्रवेश जिस प्रकार देव मनुष्य पशु पक्षि आदि शरीरों मे होता है उस प्रकार आत्मा का प्रवेश भी कार्यार्थ ही है, विश्वम्भर शब्द 'अग्नि' के अर्थ में यदि प्रयुक्त हुआ है तो भी 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' के अनुसार अन्न परिपाक कार्य के लिये प्राणियो के देह में अग्नि रूप से भगवत्प्रवेश की भांति आत्मा का प्रवेश कार्यार्थ सिद्ध होता है।

[2] द्वितीय वाक्य तैत्तरीय उपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली षष्ठ अनुवाक के अन्तर्गत है। तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत इस प्रवेश को अनेक रूप भवनार्थ' मानना आवश्यक है जैसा कि 'सच्चत्यच्चाभवत्' इत्यादि अग्रिम वाक्यों से स्पष्ट है।

[3] उक्त श्रुति काष्ठकोपनिषत् प्र. अध्याय तृतीय वल्ली के प्रथम मन्त्र गत है, इसमें जीवात्मा परमात्मा दोनों का हृदय में प्रवेश कहा है।

वहां पर न हो, परन्तु आप प्रविष्ट की भांति प्रतीत होते हो, केवल दर्शन या प्रतीति से प्रवेश का निर्णय नहीं हो सकता है जब तक कि वह दर्शन या प्रतीति शास्त्र भी वैसा ही प्रतिपादन करता हो, प्रवेश के विषय में कतिपय श्रुति उपलब्ध होती है, उनके अनुसार स्थिति के अर्थ तथा कार्यार्थ एवं अनेक रूप होने के लिये, और अन्य प्रवेश के अर्थ (जीवात्मा के प्रविष्ट कराने के लिये) ब्रह्म का प्रवेश होता है, ऐसा सुना जाता है।

श्री सुबोधिनी – तथा देवक्यामपि कश्चन प्रवेशप्रकारो भविष्यति, ननु तथापि सोपाधिक एव कार्याभिनिविष्ट एव प्रविशतीति मुख्यः कृष्णः कथं स्यात् तत्राह–प्रविष्ट एव प्रविष्ट इवेति, योगबलादपीन्द्र इव प्रवेशः सम्भवति दक्षिणायां वा जननार्थं प्रवेशः सम्भवति, 'यो वा इतो जनिष्यते स इन्द्रो भविष्यतीति तां प्राविशत् तस्या इन्द्र एवाजायते' तिश्रुतेर्दितेर्जठरे च मरुतां छेदनार्थमिन्द्रः प्रविष्टस्थता भगवानत्र न प्रविष्ट इति वक्तुमप्रविष्ट इत्युक्तं, प्रवेश धर्मो भगवति वर्तत इति तज्ज्ञापनार्थं प्रविष्ट इवेति विभाव्यते, तर्हि कः प्रकारः प्रवेश इत्याकाङ्क्षायामाह।

व्याख्यार्थ – उस प्रकार देवकी में भी प्रवेश का कोई प्रकार होगा, श्री देवकी के उदर में प्रकार विशेष से प्रवेश मानने में भगवान् की मुख्य कृष्णरूपता में उनकी प्रधानपरमतत्त्वरूपता में विचिकित्सा उत्पन्न हो सकती है कि प्रवेश करने वाला तो सोपाधिक होता है किसी कामना की उपाधि को लेकर ही प्रवेश करता है और उसका किसी कार्य में अभिनिवेश भी होता है वह किसी कार्य के सम्पादन करने को उसके अनुकूल उपायों का आग्रह पूर्वक संग्रह भी करता है जैसा कि जगत् के निर्माण आदि कार्य के लिये 'सोऽका मयत बहुस्यां प्रजायेय'' (रूपं रूप प्रति रूपो बभूव) आदि श्रुतियों से सिद्ध है, सोपाधिक एवं कार्यार्थी स्वरूप मुख्य तत्त्व सदानन्द कृष्ण नहीं हो सकता वह तो सर्वोपाधि रहित लोक और वेद में अप्रसिद्ध पूर्णानन्द है उसका प्रवेश सम्भव नहीं, इस सदेह की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि 'अप्रविष्ट एव प्रविष्ट इव' आप तो अप्रविष्ट ही हैं प्रविष्ट जैसे प्रतीत हो रहे हैं, योग बल से भी प्रवेश हो सकता है (इन्द्र योगबल से परमात्मा में प्रविष्ट हुआ था) एवं दक्षिणा नामक स्त्री में जन्म ग्रहण करने के निमित्त प्रवेश हो सकता है जैसा कि 'यो वा' इत्यादि श्रुति से सिद्ध है कि जो इससे जन्म ग्रहण करेगा वह इन्द्र होगा इस कारण से उस दक्षिणा में प्रवेश किया उस दक्षिणा से इन्द्र ही उत्पन्न हुवा, और दिति के उदर में मरुत नाम वाले उसके गर्भस्थ बालकों के नष्ट करने को भी इन्द्र ने प्रवेश किया था, भगवान् का प्रवेश उस प्रकार का

नहीं है, ऐसा सूचित करने को 'अप्रविष्टः' इस शब्द से भगवान् को अप्रविष्ट कहा है, परन्तु प्रवेश धर्म तो भगवान् में है ऐसा बतलाने को "प्रविष्ट इव" प्रविष्ट जैसे प्रतीत हो रहे हो ऐसा कहा गया है, तो प्रवेश में क्या प्रकार है –

श्री सुबोधिनी – यः पूर्वं सच्चिदानन्दरूप उक्तः स एवाग्रे पूर्वमेव स्व। प्रकृत्याऽऽधिदैविकस्वभावेनेद भगवदर्थमेव जगत् त्रिगुणात्मकं सृष्ट्वा, अन्यार्थं जगत्सृष्टौ प्रवेशोऽपेक्ष्यते न स्वार्थसृष्टावित्यप्रविष्ट एव भोगार्थं कारणत्वेनैवाविर्भूतः सृष्ट्यन्तरन्यायेन प्रविष्ट इव विभाव्यसे, अयमत्र प्रवेश दर्शने प्रकार उक्तः, भगवान् स्वार्थं सृष्टानस्मानुपभोक्तुमस्मासु स्थित एवाविर्भूत इत्यप्रविष्ट एव प्रविष्टो विभाव्यस इत्यर्थः, यथा सृष्ट्यन्तरन्यायेन प्रवेशभावना तथा स्नेहद्वेषसाधारणभावानामपि प्रभुविषयकाणां लीलास्थजनेषु दर्शनात् सृष्ट्यन्तरन्यायेन तेषामेवात्र सत्त्वादिरूपत्वमित्याशयेन त्रिगुणात्मकत्वोक्तिर्ज्ञेया।

व्याख्यार्थ – ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं कि जो पूर्व में सच्चिदानन्द रूप कहा गया है वह ही आप अपनी निज प्रकृति या आधिदैविक स्वभाव से इस भगवल्लीलोपयोगी त्रिगुणात्मक जगत् की रचना करने के अनन्तर यद्यपि आप उसमें प्रविष्ट नहीं हुए हो क्योंकि अन्य के लिये की गई जगत् की सृष्टि में साक्षी होने के लिये या प्रकाश एवं नियन्त्रण आदि करने के लिये प्रवेश अपेक्षित है अपने लिये की गई लीला सृष्टि में तो कारण रूप से विद्यमान स्वरूप के द्वारा ही अन्तर्यामी का एवं जीव का भी कार्य हो जाता है अतः वहां प्रवेश की अपेक्षा नहीं, वहां पर तो भोग्य पदार्थों का भोग करने को कारण रूप से जो आप प्रकट होते हैं उन्हें ही जीवार्थ सृष्टि की भांति प्रविष्ट जैसा मान लिया गया है, यह यहां पर प्रवेश के दर्शन में प्रकार बतलाया है कि वास्तव में परमतत्त्व कृष्ण का प्रवेश सम्भव नहीं प्रवेश की प्रतीति मात्र है, वसुदेवजी कहते हैं कि आप भगवान् हैं आपने अपने लीला विलास के लिये हम लोगों को रचा है हमारा उपभोग करने के लिये हमारे अन्तः स्थित ही आप बाहर प्रकट हुए हो अतः अप्रविष्ट हो तो भी प्रविष्ट जैसे प्रतीत होते हो यह अर्थ होता है, वसुदेवजी ने इस लीला सृष्टि की त्रिगुणात्मक इस सृष्टि से कहा है कि जिस प्रकार जीवार्थ सृष्टि में होने वाले आपके प्रवेश की भावना इस निज सृष्टि में भी होती है मुख्यतया प्रवेश तो अन्यार्थ सृष्टि में ही है यहां तो केवल उसकी भावना (प्रतीति) मात्र है, उसी प्रकार त्रिगुणात्मक भी साधारण जगत् ही है यह असाधारण लीलात्मक जगत् त्रिगुणात्मक नहीं

फिर भी लीलास्थजनों में भगव- द्विषयक स्नेह, द्वेष एवं साधारण (उदासीन) आदि भावों की प्रतीति होती है उन्हीं भावों को परार्थ सृष्टि प्रक्रिया से यहां सत्त्व आदि गुण रूप मान लिया गया है और लीला सृष्टि को त्रिगुणात्मक कह दिया है।

श्री सुबोधिनी – अत्रिगुणात्मकमिति वा, यद्वाग्रे पूर्वं त्रिगुणात्मकं जगत् सृष्ट्वा तदनु तदनन्तरमुक्तरूपया स्वप्रकृत्येदं लीलात्मकं जगत् सृष्ट्वेत्यग्रे पूर्ववत्, अन्यथा क्त्वाप्रत्ययेनैव पूर्वभावित्वप्राप्त्यार्थादेवाप्रवेशानन्तर्यमपि लभ्यत एवेति तदन्वितिपदं व्यर्थं स्यात्, यद्वा सृष्ट्यनन्तरं यस्तत्र प्रवेशस्तस्यानुप्रवेश इति रूढनाम ज्ञेयं, तथा सति नोक्तदोषः, अत एव श्रुतिरपि "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश" दित्युक्तवती अन्यथान्वित्युपसर्गवैयर्थ्यं स्यात्।।१४।।

व्याख्यार्थ – वास्तव में तो यह सृष्टि गुणातीत ही है, अथवा (अत्रिगुणात्मकम्) ऐसा पदच्छेद यहां पर अभीष्ट है, तब तो लीला सृष्टि की गुणातीतता स्पष्ट ही है, अथवा "अग्रेत्रिगुणात्मकं सृष्ट्वात्तदनु स्व प्रकृत्या–इदं सृष्ट्वां" इस प्रकार पद योजना अभीष्ट है, 'तदनु' पद का योग 'प्रविष्ट' पद से नहीं क्योंकि 'तदनु' का अर्थ 'तदनन्तर' होता है और उस अनन्तर अर्थ की प्रतीति 'सृष्ट्वा' पद के अन्तर्गत 'क्त्वा' प्रत्यय से ही हो जाती है, क्योंकि वह "क्त्वा" प्रत्यय पूर्व काल की क्रिया का बोधक है, अब अनन्तर या उत्तर काल को प्रतीति स्वभावतः हो जाती है अतः उक्त योजना के अनुसार इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये कि पूर्व में त्रिगुणात्मक जगत् को रचकर तदनन्तर आधिदैविक प्रकृति से इस लीलात्मक जगत् को रचकर आप अप्रविष्ट ही प्रविष्ट जैसे होते हैं, अथवा 'तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशता' इस श्रुति में 'अनु' इस उपसर्ग का प्रयोग हुआ है इससे यह स्वीकार करना आवश्यक है कि के अनन्तर जो प्रवेश होता है उसका 'अनुप्रवेश' यह रूढ नाम है, उसके अन्तर्गत 'अनु' पद का 'अनन्तर' अर्थ नहीं है, ऐसा मान लेने से पूर्वोक्त रीति से जो 'अनु' पद की व्यर्थता का दोष सम्भावित था वह नहीं रहता है।+

श्लोकः – यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते (तथैव) विकृतैः सह।
नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि।।१५।।

टिप्पण – + इस श्लोक के व्याख्यान में सिद्धान्त पक्ष सर्वप्रथम ही कह दिया है, 'वा यद्वा' शब्दो द्वारा जिन पक्षान्तरो को दिखलाया है वह महा भाष्यकार की व्याख्यान प्रक्रिया का स्मरण दिलाते हैं, कि यह पक्षान्तरोपन्यास केवल किसी शा व्याख्यान की दिशा बतलाने मात्र को ही है इसमे आचार्य का तात्पर्य नही।

मूलार्थ – जिस प्रकार यह अविकृत (आधिदैविक भाव) है उसी प्रकार वह प्राकृत भाव भी है, इन दोनों का साᐤश्य नाना प्रकार के सामर्थ्य और पृथक होने से है यह अविकृत भाव विकृत भावों से मिलकर ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं यह ठीक ही है।।१५।।

श्री सुबोधिनी – उक्तरीत्या दूषणान्तरमप्याशङ्क्.य पुनः परिहरति द्वाभ्यां यथेमेऽविकृता भावाः इति। नन्वस्मिन् रूपे प्राकृतेष्विव पृथिव्यादीनि भूतानि प्रतीयन्ते, ततः कथमानन्दमय इति चेत् तत्राह यथेमेऽस्मिन् रूपे विद्यमाना अविकृता भावा आधिदैविकानि चतुर्विंशतितत्त्वानि "चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन" इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितानि तत्तत्कार्यार्थं तत्र तत्र स्थितानि, विकृतैस्तथैव चतुर्विंशतितत्त्वैः प्राकृतैः सह नानावीर्या रूपरसादिज्ञापनादिसमर्थाः –

व्याख्यार्थ – अन्य दोष की आशङ्क्.ा कर फिर उसका परिहार 'यथेमे' आदि दो श्लोकों से करते हैं, यह शङ्क्.ा हो सकती है कि इस भगवत्स्वरूप में उसी प्रकार पृथ्वी आदि भूतों की प्रतीति होती है जिस प्रकार प्राकृत पदार्थों में उनकी प्रतीति होती रहती है, तो इस भगवत्स्वरूप को आनन्द मय कैसे माना जाय, शरीररूप से पृथिवी की, मुखारविन्द में प्रधानतया जल की, सर्वाङ्ग. में कान्ति रूप से तेज की नासिका में प्राण रूप वायु की, एवं अन्यान्य छिद्रों में अवकाश रूप से आकाश की प्रतीति होती है, उक्त आशङ्क्.ा के समाधान करने की ᐤष्टान्त के द्वारा भगवत्स्वरूप में प्रतीत होने वाले पृथिवी आदि तत्त्वों की नित्यता एवं अविकारिता सूचित करते हैं कि इस भगवत्स्वरूप में विद्यमान देह इन्द्रियादि सब अधिकारी भाव हैं चौबीसों तत्त्व आधिदैविक ही हैं, आधिभौतिक नहीं, इनकी आधिदैविकता का प्रतिपादन केन निषत् की 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्'* आदि श्रुति ने उपलक्षणरूप से किया है, कि वह श्रवण आदि ज्ञानेन्द्रियों का श्रवण आदि रूप हैं, मनः प्रभूति अन्तःकरणों का मन आदि रूप है, वागादि कर्मेन्द्रियों का वाक्आदि रूप है एवं पृथिवी का पृथिवी जल का जल आदि भी है, यह ही आधिदैविक तत्त्व है, आधिभौतिक पृथिवी आदि में यह आधिदैविक तत्त्व उन २ कार्यों के लिये स्थित रहते हैं,

टिप्पण – * यह केनोपनिषत् के प्रारम्भ की द्वितीय श्रुति है।

इनके बिना केवल आधिभौतिक चक्षु आदि से रूपादि ग्रहण का कार्य नहीं हो सकता है।

श्री सुबोधिनी – अन्योन्यममिलिता भिन्नान्येव कार्याणि कर्तुमेकस्मिन्नेव कार्ये सर्वे सहत्य विराजं ब्रह्माण्डविग्रहं स्वराड्देहं जनयन्ति, युक्तश्चायमर्थः आधिदैविकव्यतिरेकेणाधिभौतिकात् केवलात् कार्यं न सम्भवतीति, तथा प्रकृतेऽपि सर्वांशो भगवानिति तान्याधिदैविकानीह प्रतीयन्त इति न कोऽपि दोषः।।१५।।

व्याख्यार्थ – जिस प्रकार आधिदैविक २४ प्रकृति आदि तत्त्व (नाना वीर्य) है जैसे आधिदैविक चक्षु रूप का ज्ञान करा देने का सामर्थ्य रखता है, रसना रस के ज्ञान करा देने का सामर्थ्य रखता है एवं आधिदैविक हस्त पादादि भी आदान प्रदान गमन आगमन आदि का सामर्थ्य रखते है तथा पृथक् पृथक् अवस्थित हैं परस्पर में मिलित नहीं है, भिन्न भिन्न कार्यों के करने को पृथक् ही रहते हैं, उसी प्रकार आधिभौतिक प्रकृति आदि तत्त्व भी (नाना वीर्य) है और पृथग्भूत भी है, परन्तु ब्रह्माण्ड रचना के एक ही कार्य में यह सब आधिदैविक तत्त्व आधिभौतिकों से मिलकर ब्रह्माण्ड शरीर विराट् को जन्म देते हैं जो कि स्वराट् पुरुष का देह कहलाता है, ऐसा होना ठीक भी है क्योंकि आधिदैविक मूल या प्राणप्रद स्थल में भी अप्राकृत तत्त्वों का रहना शास्त्र सम्मत है तब अप्राकृत भगवत्स्वरूप में जो तत्त्व दृष्टिगत हो रहे हैं वह तो अप्राकृत ही हैं आधिदैविक ही हैं अतः उनको लेकर भगवत्स्वरूप की विकारिता या अनित्यता का सन्देह नहीं रह पाता, किसी दोष को अवकाश नहीं रह जाता क्योंकि जो स्वरूप प्रकट दर्शन दे रहा है वह सर्वांश[+]युक्त भगवान् है किसी भी अंश में प्राकृतता का स्पर्श नहीं।।१५।।

श्लोकः – सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव।।
प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः।।१६।।

टिप्पण – + यहा इतना और भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि भगवान् पुरुषोत्तम श्री कृष्ण केवल आनन्दमय है उनमे आधिदैविक तत्त्वो का भी प्रवेश सम्भावित नहीं परन्तु इनके अशो की विशुद्ध सत्त्व शरीरता है अत उन अंशो मे आधिदैविक तत्त्वों की सत्ता प्रमाण सिद्ध है, अवतारी स्वयं भगवान् कृष्ण में अश गत आधिदैविक तत्त्वों की प्रतीति अशी होने के कारण होती है वास्तव में तो वह आनन्द मात्र करपादमुखोदरादि रूप ही है, इसी दृष्टि से सुबोधिनीकार ने (सर्वांशी भगवान्) ऐसा कहा है इस प्रकार योजनाकार ने योजना की है।

मूलार्थ – (वह प्राकृत और अप्राकृत भाव) मिलकर भले प्रकार (भौतिक जगत्) को उत्पन्न कर उसमें अनुगत जैसे पीछे से प्रविष्ट हुए से दीखते हैं, परन्तु पहले से ही विद्यमान होने के कारण उनका यहां प्रवेश सम्भव नहीं ।।१६।।

श्री सुबोधिनी – ननु त्वक्चर्मादियोऽपि प्रतीयन्ते लोमदन्तनखानि च ततः कथमानन्दमय इति चेत् तत्राह सन्निपत्येति। सन्निपत्य मिलित्वा सम्यगुत्पाद्येतिपूर्वानुवादः कार्येऽपि कारणेष्विवाधिदैविक रूपं वर्तत इतिज्ञापनार्थः, अनुगता इव दृश्यन्ते पुनः कार्ये त्वक्चर्मादिरूपेण पृथिवीसमष्टौ तत्तद्रूपा वा, सर्वत्र रुधिरादिरूपं जलमवमन्यदपि, तर्हिदर्शनप्रामाण्यादनुगता इव भवन्त्विति चेत् तत्राह प्रागेव कारणत्वेनेह विद्यमानत्वात् पुनस्तेषामिहोत्पत्तिर्न सम्भवति, कारणानां विलक्षणत्वात् साक्षात्प्रवेशस्तु प्रतीत्यैव बाधितः, यथाऽऽधिदैविकानि कारणरूपाण्येवं दन्तादीन्यप्याधिदैविकानीतिपूर्ववत् तेषामप्यत्र प्रतीतौ न कोऽपि विरोधः।।१६।।

व्याख्यार्थ – पूर्व श्लोक में यह निरूपण किया गया है कि भगवत्स्वरूप में जो कारण रूप से पृथिवी आदि तत्त्व प्रतीत होते हैं वह आधिदैविक तत्त्व हैं प्राकृत नहीं, अतः सर्वांश पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण में उनके अंशगत आधिदैविक तत्त्वों की प्रतीति होने पर भी उनकी आनन्दमयता अक्षुण्ण बनी रहती है, परन्तु यह एक सन्देह उपस्थित हो सकता है कि भगवत्स्वरूप में जो त्वचा, चर्म, रोग, दन्त, नख आदि प्रतीत होते हैं वह तो कार्यरूप हैं पृथिवी आदि तत्त्वों के विकार हैं, इनको आधिदैविक कैसे माना जा सकता है अतः भगवान् की आनन्दमयता विचारणीय ही है, उक्त सन्देह के निवारणार्थ इस श्लोक से दृष्टान्त के द्वारा त्वचा, चर्म आदि को भी आधिदैविक होने से नित्यता एवं अविकारिता बतलाते हैं, इस श्लोक में आधिदैविक तत्त्व आधिभैतिक तत्त्वों से जल से दुग्ध की तरह मिलकर विराट् जगत् को भलीभांति उत्पन्न करके उसमें पट में तन्तुओं की भांति अनुगत जैसे प्रतीत होते हैं, परन्तु पूर्व से ही विद्यमान होने के कारण उनकी यहां उत्पत्ति का सम्भव नहीं ऐसा कहा है, ध्यान देने की बात है कि जब पूर्वश्लोक में 'विराज जनयन्ति हि' ब्रह्माण्ड के निर्माण की चर्चा हो चुकी है तो प्रकृत श्लोक में 'समुत्पाद्य' पद के द्वारा उस चर्चा को फिर दुहराना इसी मर्म को रखता है कि आधिदैविक तत्त्वों की सत्ता कारणों तक ही सीमित नहीं है अपितु उनके साथ २ कार्य में भी व्याप्त है, इस मर्म की सूचना 'सन्निपत्य' 'समुत्पाद्य' इन पदों द्वारा हुए अनुवाद से ही होती है अन्यथा पूर्व श्लोक में 'सह' 'जनयन्ति' इन पदों से मिलकर

उत्पन्न करने का प्रसङ्ग. कथित ही है प्रकृत श्लोक में उसका अनुवाद करना निष्प्रयोजन सिद्ध होगा, आशय यह है कि अनुवाद के द्वारा आधिदैविक तत्त्वों का स्मरण कराना अभीष्ट है अन्यथा 'ऽंश्यन्तेऽनुगता इव'।

श्लोकः – एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः।।
अनावृतत्वाद् बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः।।१७।।

मूलार्थ – इसी प्रकार आप बुद्धि के द्वारा ही जिनका स्वरूप अनुमानतः सिद्ध होता है उन इन्द्रियों से गृहीत होने वाले गुणों के साथ रहते हुए भी उन इन्द्रियों के सामर्थ्य से गृहीत नहीं हो पाते, आपके आवरण होने के कारण बाहर भीतर का भेद नहीं क्योंकि आप सर्वरूप हैं सब के आत्मा हैं और आत्मामात्र के वस्तु रूप (फलरूप) हैं ।।१७।।

श्री सुबोधिनी – एवं ऽंष्टान्तद्वयमुपपाद्य तेषामाधिदैविकानां भगवतो भेदो भविष्यतीति तन्निराकरणार्थं दार्ष्टान्तिकेऽतिदिशत्येवं भवानिति।

एवंरूपो भवानेवेत्यर्थः, अन्यथा मूलस्याताऽंशत्वे कार्यं ताऽंशं न कदापि भवेदिति पुनर्दूषणान्तरमाशङ्क्य परिहरति बुद्ध्यनुमेयेति, ननु भगवान् ऽंश्यः कथमन्यथा सर्वमुक्तिश्च स्यात्? बाह्यत्वेन भिन्नत्वेन च कथं प्रतीयते ? न हि भगवान् बाह्य एव भिन्न एव तस्माद भिन्नत्वेन बाह्यत्वेन ऽंश्यत्वेन च प्रतीयमानत्वाद् दोषत्रयसद्भावान्नानन्दमयो भगव

ानिति।

तिकों के ही अनुगत होने की प्रतीति
र्य में अनुगत जैसे प्रतीत हो रहे हैं,
विक पृथिवी तत्त्व, अनुगत है अतः
ह आधिदैविक ही हैं एवं समष्टि रूप
आदि कारण तत्त्व उन रूपों में प्रतीत
रूप से प्रतीति होता है, इसी प्रकार
आदि रूप से प्रतीति होते हैं, जबकि
धार पर उस दर्शन (प्रतीति) के प्रमाण
त्त्व अनुगत ही हैं, अर्थात् वह कारण
तर कहते हैं कि पहले से ही कारण

व्याख्यार्थ – इतने कथन मात्र से आधिभौ
की सम्भावना थी, वह ही आधिदैविक तत्त्व कार
आधिदैविक त्वचा चर्म, आदि रूप से आधिदै
भगवत्स्वरूप में जो त्वचा आदि प्रतीत होते हैं व
भौतिक देह में या ब्रह्माण्ड में पृथिवी, जल, तेज
होते हैं, देह में कारण रूप जल तत्त्व ही रुधिरादि
अन्य आकाश आदि तत्त्व भी छिद्र के अवकाश
कारण तत्त्व कार्य में ऽंष्टिगत होते हैं तो उसी आ
बल से यह क्यों न मान लिया जाय कि कारण त
ही कार्य रूप से उत्पन्न हुए हैं, ऐसी शङ्का में उ

रूप से इस विराट रूप में और ब्रह्माण्ड के ऊपर भी विद्यमान रहने के कारण फिर उन कारण तत्त्वों की यहां कार्य में उत्पत्ति सम्भावित नहीं, प्रकृत के उपयोगी आशय को इस प्रकार जानना आवश्यक है कि भगवत्स्वरूप में आधिदैविक तत्त्वों की प्रकट सच्चिदानन्द रूप अलौकिक भावात्मक कारण रूप से सत्ता है अतः उनकी त्वचा चर्म, आदि रूप से उत्पत्ति नहीं है किंतु वह आधिदैविक तत्त्व ही त्वचा चर्म आदि के रूप को अवतार की तरह ग्रहण करके वहां पर उपस्थित हैं, अतः भगवत्स्वरूपगत त्वक् चर्मादि आधिदैविक तत्त्वों के कार्य नहीं किंतु रूपांतर ही है, उनकी उत्पत्ति का सम्भव नहीं क्योंकि आधिदैविक तत्त्वरूप कारणों की आधिभौतिकों से विलक्षणता होती है, भौतिक तत्त्व लौकिक कार्यों में उस रूप से उत्पन्न होते हैं आधिदैविक तत्त्व तो आधिदैविक कार्यों का अवतार की भांति रूपान्तर ग्रहण करते हैं।

श्री सुबोधिनी – चेत् तत्राह बुद्ध्याऽनुमेयं लक्षणं येषा ताऽंशैरिन्द्रियैर्ग्राह्यैर्गुणै रूपादिभिः सह तत्र विद्यमानो भवान् गृह्यमाणोपीन्द्रियसम्बन्धयुक्तोऽपि सन्नपि तद्गुणैरिन्द्रियसामर्थ्यैर्न ग्रहो यस्य।

व्याख्यार्थ – जिस प्रकार बीज अङ्कुर रूप में प्रकट होता है तब बीज की पृथक् सत्ता प्रतीत नहीं होती क्योंकि वहां बीज का साक्षात् प्रवेश है उसी प्रकार कारण तत्त्व कार्य रूप में प्रकट हो जाता है ऐसा भी स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि माता पिताओं के शरीरों में त्वचा आदि की सत्ता पृथक् ही प्रतीत होती है अतः पुत्र के शरीर में उन त्वचा आदि का साक्षात् प्रवेश सिद्ध नहीं हो सकता बीज का अंकुर में जैसे साक्षात् प्रवेश है वैसा प्रवेश तो उक्त प्रतीति से बाधित होने के कारण नहीं माना जा सकता है उक्त प्रक्रिया से यह सिद्ध होता है कि जैसे आधिदैविक कारणरूप पृथिवी आदि तत्त्व भगवत्स्वरूप में प्रतीत होते हैं इसी प्रकार दन्त आदि भी आधिदैविक ही हैं अतः पृथिवी रूप शरीर आदि की भांति दन्त आदि की प्रतीति में कोई विरोध नहीं ।।१६।।•

• **टिप्पण** – इस श्लोक के व्याख्यान मे (तर्हि दर्शनप्रमाण्यादनुगता इव भवन्त्विति) इस पक्ति मे (इव) शब्द के स्थान पर (एव) शब्द का होना सम्भावित है, लेखकार ने तो इस पंक्ति को इसी प्रकार सङ्गत करने का सफल प्रयास किया है, परन्तु प्रकाश एवं योजनाकार ने पाठ सम्बन्ध में यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेखन नहीं किया तो भी उनकी व्याख्या की विश्लेषणात्मक पद्धति को दृष्टिगत करते मेरा इन शब्दों को लिखना अनधिकार नहीं क्योंकि (दृष्यन्तेऽनुगता इव) यह तो मूल पाठ है ही उसमे (इव) शब्द की आवश्यकता सिद्ध करने के लिये पूर्व पक्ष में (एव) शब्द का प्रयोग दिखलाया है (प्रागेव) इत्यादि ग्रन्थ से पूर्व पक्ष का खण्डन कर (इव) शब्द की आवश्यकता सिद्ध की है। लेखकार

श्री सुबोधिनी – यद्यपि भगवानिन्द्रियेषु विषयेष्वपि वर्तते तथापि तेषामिन्द्रियाणां न भगवद्ग्रहणसामर्थ्यं, न वाऽऽधिदैविकानामन्यार्थं, निविष्टानां, ग्राह्यस्वरूपत्वाच्च न ग्राहकत्वं, न वा विषयाणां स्वाधिदैविकैः सह ग्राहकसम्बन्धः, अतः सर्वत्र विद्यमानोऽपि रूपभूतोऽपि रूपे गृह्यमाणे न गृह्यसे, इन्द्रियाणां प्रत्यक्षता तु नास्ति, आत्माग्राहकत्वात्, अतो 'रूपोपलब्धिःकरणसाध्या क्रियात्वाच् छिदिक्रियाव' दित्यनुमानेन सामान्यतः करणे सिद्धे नेत्रगोलकान्वयव्यतिरेकानुविधानाच् चक्षुरेव करणमित्यध्यवसीयते, एवं रसोपलब्धिर्गन्धोपलब्धिरित्यादि, अनेक 'प्रत्यक्षत्व एव प्राकृतत्वमप्रत्य–क्षत्वेऽप्राकृतत्व' मिति निरस्तं, न ह्यप्रत्यक्षाणीन्द्रियाण्यप्राकृतानि भवन्ति, अतो भगवतः प्रत्यक्षत्वेऽपि।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार दो श्लोकों से दो दृष्टान्तों का विचार करने के अनन्तर उन दृष्टान्तोक्त आधिदैविक भावों का भगवान् से भेद होगा ऐसी शङ्का के निवारण करने के लिये दृष्टांतों द्वारा जिसे लक्षित करना है उस दार्ष्टान्तिक भगवत्स्वरूप में आदेश करते हैं कि एवं भवान्' ऐसे स्वरूप वाले आप ही हैं, अर्थात् पूर्व दो श्लोकों में आधिदैविक तत्त्वों के विषय में जो चर्चा की है वह आपकी ही है, क्योंकि सब के मूल रूप तो आप ही हैं, यदि मूल तत्त्व नित्य, अविकृत नहीं हो तो उसका कार्य कदापि नित्य, आविकृत नहीं हो सकता, आधिदैविक तत्त्वों की नित्यता और अविकारिता के प्रयोजक उनके मूल रूप होने के कारण आप ही हैं, पुनः अन्य दोष की आशङ्का कर (बुद्ध्यनुमेय) इत्यादि के द्वारा उस आशङ्का का निवारण करते हैं, आशङ्का यह है कि भगवान् को दृष्टा है वह दृश्य कैसे हो सकता हैं और यदि वह दृश्य है तो सर्व मुक्ति की सम्भावना है क्योंकि बिना ही साधन के जब भगवत्स्वरूप दृष्टिगत हो सकता है तो मुक्ति होने में क्या साधन अवशेष रह जाते हैं जो वह नहीं होती, अतः उक्त स्वरूप का दृष्टिगत होना उनके भगवद्रूप होने में बाधक हैं, ब्रह्म हो तो 'अदृश्यमग्राह्यम्' आदि कहा है, एवं जो 'अनन्तरमब्राह्यम्' बाह्य आभ्यन्तर आदि भेदों से रहित है वह बाह्य रूप से तथा भिन्न रूप से कैसे प्रतीत होता है, न तो भगवान् बाह्य ही हैं, अतः भिन्न, तथा बाह्य,

---

कहते है कि कारण के असाधारण धर्म कार्य में नहीं पहुँचते साधारण धर्म ही पहुँच पाते हैं अतः (इव) पद का प्रयोग है, कार्यो में साधारण धर्म भी कार्य रूप से उत्पन्न होते हैं अत वहा पर अनुगत कहे जा सकते हैं परन्तु कारण में तो उत्पत्ति का सम्भव नहीं अतः कार्य धर्म कारण में अनुगत जैसे नहीं कहे जा सकते यद्यपि कार्य धर्मों की परम्परा से कारण मे प्रवेश हो सकता है कि वह धर्म कार्य मे प्रविष्ट होते हैं और कार्य अपने समष्टि रूप विराट् में प्रविष्ट होता है विराट् अपने कारण रूप तत्त्वो मे और तत्त्व भगवान् में इस परम्परा से कह सकते हैं परन्तु साक्षात् प्रवेश तो बाधित हैं क्योंकि कार्य धर्मो का उतना सामर्थ्य नहीं।।१६।।

और ध्श्य रूप से प्रतीत होने के कारण त्रिदोष के उपस्थित होने से प्रस्तुत स्वरूप को आनंदमय भगवान् नहीं माना जा सकता, ऐसी आशङ्का में कहते हैं कि जब इन्द्रियों के सामर्थ्य से आपका ग्रहण नहीं होता तो श्रुति सिद्ध आपकी अध्श्यता व अग्राह्यता से तो कोई विरोध ही नहीं है, बुद्धि से जिनके लक्षण या स्वरूप को अनुमानतः जाना जाता है उन इन्द्रियों से ग्रहीत होने वाले रूप आदि गुणों के साथ –

श्री सुबोधिनी – प्राकृतत्त्वमप्राकृतत्त्वं वा न सेत्स्यतीति युक्तिरप्रयोजिका, ननु व्यापकव्यभिचारो न दोषायेति चेद् यत् प्रत्यक्षं तत् प्राकृतमेवेति भगवतः प्रत्यक्षत्वात् प्राकृतत्त्वमेवेति चेत् तत्राह ग्राह्यैर्गुणैरिति, सर्वत्रैव भगवान् वर्तते न सर्वत्रैव प्रत्यक्षः, रूपादिषु विद्यमानस्यास्यैव चक्षुषाऽग्रहणात् क्वचिदपि प्रत्यक्षत्वमपि बाधकमितिचेत् तत्राह तद्गुणाग्रह इति, न हि चक्षुषः सामर्थ्येनेदानीमत्रापि भगवान् ध्श्यते, किन्तु स्वेच्छयैव, अतः स्वेच्छया प्रतीतमिन्द्रिय ग्रहणदोषेण न दुष्ट भवति, 'पराञ्चि[+]खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पारङ् पश्यति नान्तरात्मन् कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छ'न्निति श्रुतेः परावृत्तचक्षुषो ग्राहकत्वं श्रूयते स्वभावतश्च निषेधः, न ह्युभयं विरुद्धं, तथा प्रकृतेपीन्द्रियसामर्थ्यादध्श्यः स्वेच्छया तु ध्श्य इत्यविरुद्धं, तस्माद् ध्श्यत्वेनाब्रह्मत्वशङ्का ।

व्याख्यार्थ – वहां आप विद्यमान हैं, अतः इन्द्रियों से आपका ग्रहण होता भी है, रूपादि की भांति इन्द्रियों से आपका संयुक्त समवाय आदि सम्बन्ध भी है, होते हुए भी आप उन इन्द्रियों के गुणों से उनके सामर्थ्यो से गृहीत नहीं होते बात ऐसी है कि भगवान् इन्द्रियों में भी विराजते हैं और उनसे गृहीत होने वाले घट पटादि वस्तु में तथा रूप, रसादि गुणों में भी विराजमान हैं, तो भी उन इन्द्रियों की सामर्थ्य नहीं जो भगवान् को ग्रहण कर सके, तथा आधिदैविक इन्द्रिय तो सामान्य इन्द्रियों में लौकिक विषय के ग्रहण करने के सामर्थ्य सम्पादन को उन भौतिक इन्द्रियों में प्रविष्ट होते हैं अतः उनका भी सामर्थ्य नहीं, तथा (श्रोतमयुष्य शब्दः) (घ्राणोऽस्यगन्धः) भा. द्वि. प्र. अध्याय के अनुसार आधिदैविक इन्द्रिय तो स्वयं ग्राह्य विषय स्वरूप है वह विषय के ग्राहक नहीं हो सकते, एवं अपने आधिदैविक इन्द्रियों के साथ विषयों का वह सम्बन्ध भी नहीं जो विषय ग्राहक इन्द्रियों से विषयों का होता है, अतः आप सर्वत्र विद्यमान भी हैं सब के स्वरूप हैं, रूप,

---

[+] उक्त श्रुति काठकोपनिषत् अ. द्वि. प्र. वल्ली मे प्रथम ही पढी गई है।

रस आदि भी आप हैं तो भी रूपादि के ग्रहीत होते हुए भी आप ग्रहीत नहीं होते यदि इन्द्रियों की प्रत्यक्षता का संभव हो तब तो इन्द्रियों के सहवर्ती आपका उनके आधिदैविक रूप में प्रत्यक्ष सम्भावित है परन्तु इन्द्रिय तो अपने स्वरूप का ग्रहण नहीं कर सकते अतः वह स्वयं ही अप्रत्यक्ष है, उनकी सत्ता में अनुमान ही प्रमाण है, प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान का आकार इस प्रकार है कि (पक्ष) रूप, रस, गन्ध आदि विषयों की उपलब्धि (ज्ञान), (साध्य) किसी कारण (व्यापार वाले असाधारण कारण) से साध्य है, (हेतु) क्रिया रूप होने से, (दृष्टांत) छेदन (विदारण) क्रिया की भांति, सारांश यह है कि जैसे काटना फाड़ना आदि क्रिया किसी खड्ग. कुठार आदि साधन से ही साध्य होती है उसी प्रकार रूप आदि का जान लेना भी एक क्रिया है वह भी किसी साधन से ही साध्य हो सकती है अतः सामान्यतया करण की सिद्धि होने पर नेत्र गोलक के साथ रूप ग्रहण का अन्वय और व्यतिरेक देखा जाता है कि नेत्र गोलकों के सद्भाव में रूप।

श्री सुबोधिनी – परिहृता भिन्नत्वेन बाह्यत्वेन प्रतीतौ समाधानमाहानावृतत्वाद् बहिरन्तरं न त इति, बाह्याभ्यन्तरव्यवस्थाऽऽकाशकृतेति पूर्वमेवावोचाम, तदपि भूतादीनामेव, भगवतो व्यवधायकं न किञ्चित्, न हि गृहमध्यस्थितैर्गृहमन्यस्माद् व्यवहितं भवति, न वा स्वस्य स्वयं व्यवधायक, व्यापको भगवानिति, ततः स्थूलकार्यस्याभावाद् भगवतोऽनावृतत्त्वं, एतदग्रे स्पष्टीभविष्यत्युलूखलबन्धने, अनावृतत्वादेव तव बाह्याभ्यन्तरव्यवहारो नास्ति, सम्पूर्णे तडागे तदुद्भवैश्छन्ने क्वचित् प्राकट्ये तावन्मात्रत्वं तदुद्भवानां वावच्छेदकत्वं न सम्भवति तथा प्रकृतेऽपि व्यापकस्यैव तवैकदेशे प्रकटस्य न बाह्यान्तरभेदः सम्भवति, प्रतीतिस्तूपपादितैव, परिच्छिन्नत्वमप्यनेनैव, परिहृतं।

व्याख्यार्थ – ग्रहण हुआ है, एवं उनके अभाव में नहीं इस प्रकार अनुसंधान से नेत्र गोलकवर्त्तीचक्षु इन्द्रिय ही रूप ग्रहण का कारण है ऐसे ही रसना इन्द्रिय रस ग्रहण का व घ्राण इन्द्रिय गन्ध ग्रहण का करण है यह सिद्ध होता है, इस प्रकार इन्द्रियों की अप्रत्यक्षता के प्रतिपादन से यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि जो प्रत्यक्ष होगा वह ही प्राकृत होगा, और जो अप्रत्यक्ष होगा वह ही अप्राकृत होगा, क्योंकि इन्द्रिय अप्रत्यक्ष होते हुए भी अप्राकृत नहीं प्राकृत ही है, अतः भगवान् का प्रत्यक्ष हो रहा है तो भी इतने मात्र से उनकी प्राकृतता या अप्राकृतता सिद्ध न हो पावेगी, क्योंकि दृश्य वस्तु को प्राकृत ठहराने में अदृश्य वस्तु का अप्राकृत स्वीकार करना तर्क भी कसौटी पर साफ नहीं उतरता, वादी की युक्ति को सहायता देने वाला उसे सफल या सप्रयोजन सिद्ध

करने वाला कोई विचार उपस्थित नहीं होता वह युक्ति अप्रयोजक ही रह जाती है निर्बल पड़ जाती है, यदि ऐसा कहा जाय कि जो प्रत्यक्ष होता है वह प्राकृत ही होता है वह अप्राकृत नहीं होता, और जो प्राकृत होता है, वह अप्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा नियम नहीं, वह अप्रत्यक्ष भी देखा जाता है जैसे इन्द्रिय अप्रत्यक्ष होते भी प्राकृत ही हैं, अतः प्राकृतत्व, और प्रत्यक्षत्व समव्याप्त नहीं प्राकृतत्व व्यापक है प्रत्यक्षत्व की अपेक्षा अधिक देशवृत्ति है ओर प्रत्यक्षत्व व्याप्य है प्राकृतत्व की अपेक्ष अल्प देख वृत्ति है, सारांश यह है कि जहां भी प्रत्यक्षत्व होगा वहां प्राकृतत्व अवश्य होगा, परन्तु जहां प्राकृतत्व होगा वहाँ प्रत्यक्षत्व होगा ही ऐसा नियम नहीं है वहां अप्रत्यक्षत्व भी हो सकता है, ऐसी स्थिति में इन्द्रियों की प्राकृतता होते हुए अप्रत्यक्षता अनुचित नहीं परन्तु प्रत्यक्षता होने पर भगवत्स्वरूप को अप्राकृतता तो कैसे स्वीकृत की जाय, व्यापक का व्यभिचार (अधिक देश में रहना) तो दोष जनक नहीं वह तो उचित है परन्तु व्याप्य का व्यभिचार दोषजनक है, व्याप्य कदापि व्यापक के अभावाधिकरण में नहीं मिलता उनका व्याप्य व्यापक भाव ही नष्ट हो जाता है अतः प्राकृतत्वा भाव स्थल –

श्री सुबोधिनी – अस्मिन्नर्थे शास्त्रीयं हेतुत्रयमाह सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुन इति, सच्चिदानन्दरूपो भगवान्, जगद्रूपो भगवान्, सद्रूपः, चिद्रूपा जीवात्मानः, आनन्दरूपः स्वयं तेषां फलरूपः अत्र व्यावर्तकत्वं जगतो जीवानां फलस्य च न सम्भवति, त्रयाणामपि स्वरूप भगवानेव, तदाह सर्वस्य सर्वरूपस्य सर्वेषामात्मरूपस्य सर्वात्मनां च वस्तुरूपस्य फलरूपस्य चात्मना न परिच्छेदः, नाप्यात्मनो महतः, अतो भगवदंशानामंशान्तररैर्भगवता वा परिच्छेदः सम्भवति न तु भगवतः केनापि प्रकारेण, तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्या भावात्, आत्मनैवात्मपरिच्छेदपक्षोऽग्रे विवेचनीयः।

एवं वैदिकप्रकारेण पञ्चात्मको भगवान् निर्दोषपूर्णगुणविग्रह एवायमिति निरूपितः।

व्याख्यार्थ – स्थल में प्रत्यक्षत्व नहीं रह सकता अतः प्रत्यक्ष हुए भगवत्स्वरूप को अप्राकृत स्वीकार करना कहाँ तक सम्भव है उसका प्राकृत होना ही सम्भावित है ऐसी आशङ्का के निवारण करने को उस विषय में कहते हैं कि इन्द्रिय ग्राह्य गुणों के साथ भगवान् सर्वत्र ही विद्यमान हैं तो भी सर्वत्र उनका प्रत्यक्ष तो नहीं होता रूप, रस आदि में रहने वाले भगवत्तत्व का चक्षु रसना आदि इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता रूप, रस, आदि मात्र का ही ग्रहण होता है, अतः भगवान् में प्रत्यक्षता नहीं है तो प्राकृतता भी नहीं है, अप्राकृतता ही है, यदि कहें कि कहीं भी प्रत्यक्ष होना अप्राकृतता का बाधक है तो भी

इन्द्रियों के सामर्थ्य से होने वाले प्रत्यक्ष को ही अप्राकृतता का बाधक कह सकते हैं, भगवान् तो 'तद्गुणाग्रह' हैं, इन्द्रियों के गुणों (सामर्थ्यों) से ग्रहीत नहीं होते, इस समय भी जो भगवान् का दर्शन हो रहा है, वह नेत्र के सामर्थ्य से नहीं किन्तु उनकी निजेच्छा से ही हो रहा है, अतः स्वेच्छा से प्रतीत होने वाल स्वरूप इन्द्रिय द्वारा गृहीत होने के दोष से दूषित नहीं हो सकता, श्रुति में कहा है कि स्वयम्भू[1] ने इन्द्रियों को पराङ्मुख बनाकर उनकी हिंसा की है अतः बाहर दीखता है अन्तरात्मा में नहीं, कोई धीर पुरुष अमृतत्वरूप परमानन्द की इच्छा करने वाला अपने चक्षु को अन्तर्मुख कर लेता है और अन्तरात्मा का दर्शन करता है, इस प्रकार श्रुति में परावृत्त हुए चक्षु की ग्राहकता भी बतलाई है और स्वभावतः ग्राहकता का निषेध भी किया है, इन दोनों श्रौत सिद्धान्तों का विरोध नहीं है, उसी प्रकार प्रकृत में भी इन्द्रिय सामर्थ्य से आप अदृश्य ही हैं, और निजेच्छा से दृश्य हैं इस रीति से कोई विरोध नहीं रह जाता है, उक्त कारण से भगवान् के दृश्य होने से उनकी अब्रह्मता या प्राकृतता की शङ्का नहीं रह जाती, अब भिन्नता एवं बाह्यता से जो प्रतीति हो रही है उस विषय में समाधान करते हैं कि अनावृत होने के कारण आपका बाहर एवं भीतर कुछ भी नहीं है, आपको न बाहर कहां जा सकता है न भीतर ही कहा जा सकता है, अमुक वस्तु

श्लोकः— य[2] आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति व्यवस्यति (ते) स्वव्यतिरेकतोबुधः।

विनानुवादं न च तन्मनीषितं सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान्।।१८।।

मूलार्थ — जो पुरुष आत्मा के दृश्य देह इन्द्रियादि गुणों में किसी पदार्थ को आत्मा से भिन्न है इस प्रकार समझता है वह मूर्ख है, क्योंकि विचार करने पर वह देह इन्द्रियादि केवल अनुवाद मात्र ही है; विचार दशा में जिस पक्ष का अच्छी तरह से त्याग किया जा चुका है उसी पक्ष का स्वीकार करना मूर्खता नहीं तो क्या है।।१८।।

---

[1] कठोपनिषत् द्वि अ. प्र वल्ली के प्रारम्भ मे है।

टिप्पण — [2] (य आत्मनो दृश्य गुणेषु) इस श्लोक द्वारा भगवान् की सद्रूपता का या प्रपञ्च की असद्रूपता का प्रतिपादन हुआ है, दोनो प्रकारो मे कुछ अरुचि बनी रह सकती हैं क्योकि भगवान् की सद्रूपता तो (सर्वस्य सर्वात्मनः) के द्वारा कह चुके है उसी का पुनः कथन पुनरुक्ति दोष होगा, और प्रपञ्च की असद्रूपता मानने मे भगवान् की सर्वात्मकता से विरोध होगा, अतः आचार्यों ने उक्त श्लोक चतुष्टय को (तन्त्र) मत कहकर अविरोध स्थापन किया है।

श्री सुबोधिनी – तन्त्रप्रकारेण चतूरूपो निरूप्यते य आत्मन इत्यादि चतुर्भिः। तत्र तन्त्रे प्रथमो वासुदेवः।

व्याख्यार्थ– बाह्य है या आभ्यन्तर है, इस प्रकार व्यवहार व्यवस्था आकाशकृत है यह बात हम पूर्व में तृतीय स्कन्ध २६ अध्याय श्लोक ३४ के 'बहिरन्तर' में वच, की व्याख्या में कह चुके हैं, वह भी पृथ्वी आदि भूतों का ही बाह्य अथवा आभ्यन्तर व्यवहार होता है, भगवान् का तो व्यवधायक कोई वस्तु मात्र नहीं उन्हें अपनी आड़ से रोकदे या सीमित करदे ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जिस प्रकार घर के भीतर रहने वाले पदार्थों से घर दूसरे किसी देखने वाले से व्यवहित नहीं होता आड़ में नहीं आ सकता एवं स्वयं भी वह घर अपना ही आप व्यवधान नहीं करता। अपना आड़ आप ही कर लेता हो यह बात भी नहीं हैं, उसी प्रकार भगवान् भी सर्व व्यापक हैं सर्वत्र विद्यमान हैं उनसे स्थूल या महान् कोई भी कार्य नहीं जो उनका व्यवधान या आवरण कर सके अतः भगवान् अनावृत्त है किसी आवरण या व्यवधान से सीमित नहीं है इसका स्पष्टीकरण आगे उलूखल बन्धन प्रसङ्ग में होगा, आवरण रहित होने के कारण आपके सम्बन्ध में बाह्य, या आभ्यन्तर व्यवहार नहीं होता, यदि सम्पूर्ण तालाब उसी से उत्पन्न हुए कमल शैवाल आदि से ढका हुआ हो किसी अमुक भाग में खुला भी हो तो वह जितने भाग में खुला है उतना ही तालाब है ऐसा नहीं माना जाता और न उन कमल शैवाल आदि को तालाब का अवच्छेदक ही माना जाता है कि यह तालाब इतना ही है इस तालाब की इयत्ता या सीमा कमल शैवाल आदि के आधीन हो ऐसी भी बात नहीं हैं, तालाब से प्रकट हुए पदार्थ तालाब को सीमित नहीं कर सकते, उसी प्रकार प्रकृत हुए पदार्थ तालाब को सीमित नहीं कर सकते, उसी प्रकार प्रकृत विषय में आप व्यापक हैं एक देश में प्रकट हुए हैं, अतः आपका बाहर भीतर वाला भेद नहीं हो सकता है, प्रतीति जो हो रही है वह तो आपकी इच्छा से उत्पन्न ही है, आप अपना इच्छा से बाह्य आदि रूप से प्रतीति होते हैं जैसे इन्द्रिय सामर्थ्य से अदृश्य होते हुए भी स्वेच्छा से दृश्य होते हैं उसी प्रकार सर्व व्यापक होते हुए भी स्वेच्छा से एकदेशस्थ, बाह्य, भिन्न आदि प्रतीति के विषय होते हैं, परिच्छिन्नता (एकदेशीयता) या भिन्नता का परिहार भी आपके अनावृत्त या व्यापक होने के कारण हो ही जाता है, इस विषय में शास्त्रोक्त तीन हेतुओं का निर्देश

करते हैं कि आप सब कुछ हैं, और सब के आत्मा हैं, एवं सब आत्माओं के वस्तु स्वरूप भी हैं, भगवान् सच्चिदानन्द रूप हैं।

श्री सुबोधिनी – तत्र श्रीर्माया "यत् प्रवदन्ति माया" मितिवाक्यात्, मोक्षप्रतिबन्धार्थं तया केवलया जगत् सृज्यते।

व्याख्यार्थ – उस सच्चिदानन्द का 'सद्' रूप तो जगत् रूपी भगवान् हैं, और 'चिद्' रूप तो जीवात्मा हैं ही और उन जीवात्माओं का फल रूप स्वयं आप आनन्दरूप हैं, इसमें जगत् या जीव, या फल रूप आनन्द एक दूसरे से अपनी व्यावृत्ति (भेद) नहीं कर सकते हैं क्योंकि तीनों का स्वरूप भगवान् ही है, तब कौन किसका व्यावर्तक (भेदक) होगा, उक्त तथ्य को 'सर्वस्य सर्वात्मन आत्म वस्तुनः' इन शब्दों में कहते हैं, कि भगवान् सर्वरूप हैं (जगद्रूप हैं) सबके आत्मस्वरूप हैं (जीवात्मा) हैं, एवं सर्व जीवात्माओं के भी वस्तुस्वरूप फलात्मक आनन्दरूप हैं, उनका अपने आप से परिच्छेद (व्यावृत्ति या भेद) नहीं हो सकता है, 'अतति व्याप्नोति' इस व्युत्पत्ति से आत्मा पदार्थ सर्वव्यापक महान् सिद्ध होता है उस महान् का परच्छिेद कहाँ सम्भावित है, अतः भगवान् के अंशों का उनके अन्य अंशों से या भगवान् से परिच्छेद हो सकता है परन्तु भगवान् का किसी भी प्रकार परिच्छेद नहीं हो सकता क्योंकि उनसे अन्य कोई दूसरा तत्त्व ही नहीं तो परिच्छेद किससे होगा, स्वयमेव आप ही अपना परिच्छेद करते हैं इस पक्ष का विवेचन आगे उलूखल बन्धन प्रसङ्ग. में करना आवश्यक हैं, इस प्रकार श्लोकों द्वारा निर्दोषपूर्ण गुणसम्पन्न शरीरधारी साकार यह अद्भुत बालक ही (१) अग्निहोत्र, (२) दर्शपूर्णभास, (३) पशु, (४)चातुर्मास्य, (५) सोम नामक पञ्च[1] यज्ञात्मक है ऐसा वैदिक प्रकार से निरूपण किया है।।१७।।

व्याख्यार्थ – 'य आत्मन' आदि चार श्लोकों से तन्त्र में कही हुई प्रक्रिया के अनुसार वासुदेव आदि चतुर्मूर्ति भगवान् का निरूपण किया जाता है, वहाँ तन्त्र शास्त्र में प्रथम परब्रह्मरूप वसुदेव हैं ऐसा माना है, वहां पर 'श्री' नामक भगवच्छक्तिया 'श्रीश्च ते

टिप्पण – [1] वसुदेव स्तुति के प्रारम्भिक पञ्च ५ श्लोको का प्रतिपाद्य अर्थ सख्या के अभिप्राय को लेकर कहा है पृथिवि[1], जल[2], अग्नि[3], वायु[4], आकाश[5] यह पञ्च तत्त्वात्मक भगवान् ही हैं यह अभिप्राय भी पञ्च सख्या से अभिव्यक्त होता है।

लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' के अनुसार भगवत्पत्नी को माया कहा है क्योंकि पञ्चरात्र में ऐसा वाक्य है 'इत्थां विचिन्त्य परमः सतु वासुदेव नामा बभूव निज कारण मुक्ति दाता, तस्याज्ञयैव नियता परमाऽपि रूपं ववेद्वितीयमिव यत्प्रवदन्तिमायाम्' प्राणियों के मोक्ष में प्रतिबन्ध करने को वह केवल माया ही जगत् को रचती है, वासुदेव तो प्रेरणामात्र करते हैं –

श्री सुबोधिनी – तत्र चेत् सद्बुद्धिस्तदा प्राणी न मुच्यते इति तन्मत वदन्नेव चतुर्मूर्तिर्भगवानतीर्ण इति वासुदेवोऽयमन्तरेव बहिर्वा द्रष्टव्यः, उभयथापि न तत्त्वसहितो द्रष्टव्यः केवलचिदानन्दरूपो द्रष्टव्य इति प्रथममाह, य आत्मन आत्मभूतस्य भगवतो ऽंश्येषु सङ्घातरूपेष्वा–त्मनैवानुभूयमानेष्वनुभवातिरेकेण तेषां सत्त्वाभावाच् चतुर्विंशतितत्त्वेष्वप्यात्मनो बन्धकेषु गुणेषु यः सन्निति कमपि पदार्थं व्यवस्यति, अस्ति च तत्र सर्वत्रैव तद्रूपेण निविष्टः स सन्नेव भवति तत्सत्तयैव च तत्त्वान्यपि सत्त्वेन प्रतीयन्त इतिपरमार्थः, यदि स्वव्यतिरेकेणात्मव्यति– रेकेणाप्यात्मसम्बन्धाभाव आत्मव्यतिरिक्तस्य वा सत्त्व यद्यङ्गीक्रियते तदाऽबुधः, न तस्यज्ञानमस्ति, मायामोहित एव स इत्यर्थः।

व्याख्यार्थ – उस जगत् में यदि प्राणी सत्यबुद्धि करता है उसे सत्य समझता है तो वह मुक्त नहीं होता है, इस प्रकार तान्त्रिक मत कहते हुए ही श्रीवसुदेवजी पूर्व में यह कहते हैं कि यह चतुमूर्ति भगवान् अवतीर्ण हुए हैं, अतः इस वासुदेव का दर्शन अन्तर्देश हृदय में अथवा बहिर्देश में जहाँ कहीं भी करना चाहिए परन्तु दोनों प्रकारों में केवल चिदानन्द का ही दर्शन अभीष्ट है। पृथ्वी आदि तत्त्वों के सहित उनका दर्शन अपेक्षित नहीं, वसुदेवजी का कहना है कि जो प्राणी आत्मस्वरूप भगवान् के ऽंश्य गुणों में देह, इन्द्रिय आदि समुदायों में किसी भी पदार्थ को 'सत्' यह सत्य है ऐसा निश्चित कर लेता है वह मूर्ख है, क्योंकि यह देह, इन्द्रिय आदि समुदाय आत्मा के द्वारा ही अनुभव के विषय होते हैं अनुभव के अतिरिक्त उनकी कोई सत्ता नहीं प्रतीतिमात्र ही है, प्रकृति आदि चौबीस तत्त्व गुण हैं रस्सी की भांति बन्धन करने वाले हैं जीवात्मा को प्रपंच में फंसा देने वाले हैं, इनमें से किसी एक को भी जो कोई सत्य मानता है वह मूर्ख है, क्योंकि असली बात तो यह है कि वहाँ सर्व वर्गों में उन उन रूपों से भगवान् ने ही प्रवेश किया है, भगवान् सत्य ही है, उनकी सत्ता से ही तत्त्व भी सत्य रूप से प्रतीत होते हैं, यदि आत्मा के सम्बन्ध के बिना ही किसी पदार्थ को सत्य मानता है अथवा आत्मा से अतिरिक्त किसी पदार्थ को सत्य रूप से स्वीकार करता है तो वह मूर्ख ही है, उसकी बुद्धि कार्य नहीं करती वह माया से मोहित ही चुका है, यहाँ पर यह पक्ष

उठाया जा सकता है कि आत्मा के सम्बन्ध से अनात्म पदार्थ देहादि में भी सत्यता उत्पन्न हो जाती है ऐसा मान लिया जाय तो उसकी प्रतीति में तो कोई आपत्ति या दोष नहीं इसका खण्डन कर वे उक्त विषय पर कहते हैं कि विचारशील मनीषियों के मन ने जगत् को सत्य रूप से नहीं विचारा है, केवल उसका अनुवाद ही किया है, अनुवाद के बिना उसकी अन्य कोई सत्ता नहीं, जगत् की असत्यता के प्रतिपादन –

श्री सुबोधिनी – नन्वात्मसम्बन्धात् तस्य सत्त्वमुत्पद्यतामतः सत्प्रतीतौ न दोष इतिचेत् तत्राह विनानुवादं न च तन्मनीषितमिति, वैराग्यार्थमिदं मतं, त्यागार्थमेवास्यानुवादः, सत्त्वसिद्धिव्यतिरेकेण त्यागो नोपपद्यतेति तदर्थमात्मसम्बन्धात् सत्त्वमित्यनुवादेनोक्तं, न त्वात्मना सह सम्बन्धोऽप्यस्ति प्रतीत्यतिरिक्तस्तदाहानुवादं बिना तज्जगत् मनीषितं मनसा सत्त्वनाकलित्तं न भवति, नन्वेवमप्यबुधत्वं कथमारोपार्थमपि तथाज्ञानं युक्तमेवेति येत् तत्राह सम्यग् ततस्त्यक्तमुपाददत् पुमानिति सङ्घात आत्मान्वेषणदुशायाामात्मव्यतिरिक्त सर्वमेव त्यक्तं तच् चेत् पुनर्गृह्णाति तर्ह्यबुध एव, तदाह पुमान् स्व्यं पुरुषोऽपि भूत्वा सम्यक् त्यक्तमुपाददबुध एवेति पूर्वेणैव सम्बन्धः, त्यक्तमपि दूराद् दृश्यते न तूपसमीपे, अन्योपदेशार्थम् –

व्याख्यार्थ – किये बिना विषयासक्ति निवृत्ति नहीं हो सकती इस दृष्टि से विषयों से वैराग्य करा देने को यह मत उपयुक्त है, आत्मा से अतिरिक्त वस्तु मात्र का त्याग अपेक्षित है अतः इसका अनुवाद आवश्यक है, त्याग उसी वस्तु का हो सकेगा जिसकी सत्ता सिद्ध होगी, जिसकी सत्ता ही नहीं, जो कुछ है ही नहीं उसका त्याग कैसा, अतः आत्मा के सम्बन्ध से देह इन्द्रिय आदि जगत की सत्ता है ऐसा अनुवाद रूप से कहा गया है। परन्तु आत्मा के साथ जगत् का कोई सम्बन्ध नहीं केवल प्रतीति मात्र ही है, अतः कहते हैं कि अनुवाद के बिना वह जगत् मनीषित नहीं, मन के द्वारा सत्य रूप से विचारित नहीं, आशय यह है कि अनुवाद किसी वस्तु के यथार्थ या अयथार्थ होने की अपेक्षा नहीं रखता वह तो केवल प्रतीति मात्र की अपेक्षा रखता है, चाहे वह प्रतीति ठीक हो वा न हो जिसे आंख के दोष से आकाश में दो चन्द्रों की प्रतीति होती है वह कहता है कि दो चन्द्र हैं, उसकी उक्ति का अनुवाद तटस्थ व्यक्ति करता है कि (दो चन्द्र हैं) ऐसा यह भ्रम वश कह रहा है वास्तव में दो चन्द्र नहीं हैं, जिस प्रकार ऐसे अनुवाद से दो चन्द्रों को सत्ता सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार त्यागार्थ अनुवाद मात्र से जगत् की सत्ता सिद्ध नहीं होती, आत्मा के अतिरिक्त देह इन्द्रिय आदि दृश्यवर्ग की

वास्तविकता नहीं, यद्यपि किसी वस्तु के निषेध करने के लिये भी उसका स्वरूपतः उल्लेख आवश्यक होता है, वस्तु के उल्लेख किये बिना उसका निषेध सम्भव नहीं रस्सी के यथार्थ ज्ञान होने पर यह सर्प नहीं ऐसा कथन की सर्प का उल्लेख चाहता है जिसे कभी सर्प मान लिया था वह सर्प नहीं रस्सी है, इसी प्रकार जगत् को असत्य ठहराने में उसके पूर्व जो जगत् में सत्यता का आरोप आवश्यक है उसके लिये जगत् को सत्यरूप से जानने में कोई बुराई नहीं वह तो ठीक ही है तो वैसे जानने वालों को (अबुध) क्यों कहा जाय ऐसी आशङ्का में कहते हैं।

श्री सुबोधिनी – अनुवादेनापि ग्रहण सम्भवति तद्व्यतिरेकार्थमाह सम्यक् त्यक्तमाददिति, येनैव प्रकारेण सम्यक् त्यक्तं तेनैव तद् गृह्णातीति।।१८।।

श्री गो. विट्ठलनाथकृत व्याख्यानम् –

अथवात्मनो भगवतो ऽंश्येषु गुणेषु केशलोमनखरूपस्पर्शादिष्वेकोऽपि गुणः स्वस्मात् सच्चिदानन्दात्मकभगवत्स्वरूपाद् व्यतिरेकतः, ल्यब्लोपे पञ्चमी, तथा च व्यतिरेकं प्राप्यैव सन् अन्यथैकरसे ब्रह्मणि विविधरूपत्वभानं न स्यात्, इति यो व्यवस्यते सोऽबुधः, धर्मिग्राहकमानेन शुद्धस्यैव ब्रह्मणस्तथैव सिद्धेः, एतदेवाह विनेति, वस्तुन एव तथात्वादाकारदर्शनानन्तरं यो भक्तकृतः कराम्बुजं पदाम्बुज नयनाम्बुजमित्यादिरूपो वादः सोऽनुवादस्तं विना तत् कराम्बुजादिकं स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेन मनीषित मनसा सत्वेनाकलित न हि भवति,

व्याख्यार्थ – कि जब विचार पूर्वक अग्राह्य समझकर जिस वस्तु का त्याग कर दिया है उस वस्तु का ग्रहण करने वाला पुरुष मूर्ख ही है, आत्मा और देह इन्द्रियादि के समुदायात्मक इस सङ्घात में आत्मा के अन्वेषण की दशा में आत्मा से अतिरिक्त देह इन्द्रिय आदि सब को अग्राह्य समझा था उनका त्याग किया था उन त्यागे हुए देहादिकों को पुनः ग्राह्य रूप से स्वीकार करना मूर्खता ही है, (पुमान्) शब्द से ऐसे व्यक्ति का उपहार व्यङ्ग्य है कि स्वयं पुरुष होकर भली भांति से विचार कर त्याग कर चुका है उसी का पुनः ग्रहण करना क्या पुरुषार्थ सिद्धि के अनुकूल है ! नहीं नहीं अत्यन्त मूर्खता ही है, छोड़ी हुई वस्तु दूर से देखी जा सकती है, समीप में उनका ग्रहण नहीं किया जाता पास में वह वस्तु नहीं रखी जाती, किसी अन्य व्यक्ति को तत्त्व का उपदेश करने के लिये यद्यपि अनुवाद रूप से उस ऽंश्य वर्ग का ग्रहण सम्भावित है

परन्तु जहाँ पर उपदेशादि की सम्भावना के बिना ही ऐंश्य वर्ग में सद्बुद्धि होती है वहां तो वह मूर्खता ही है क्योंकि जिस प्रकार से त्याग किया है अनित्य समझकर अग्राह्य कक्षा में समझा है, उसी प्रकार से नित्य समझकर ग्राह्य कक्षा में रखता है अतः मूर्ख ही है क्योंकि उसका विचार यथार्थ नहीं पूर्व में भली भांति त्याग किया अब भली भांति ही ग्रहण करता है।।१८।।

प्रकृत श्लोक का ब्रह्मवाद की रीति से यह व्याख्यान गो. श्री विट्ठलनाथ प्रभु चरणों ने किया है, (आपने स्वव्यतिरेकतः) इस पद का (स्वव्यतिरेकं प्राप्य) ऐसा विवरण किया है, (तथा सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति) (प्रत्येक वाक्य निश्चय के साथ होता है) इस मीमांसकसंमत विचार शैली के अनुसार (एव) पद का (प्राप्य) पद के साथ प्रयोग किया है, एवं (प्राप्य) इस पूर्वकालिक क्रिया का (सन्) पदार्थैक देश सत्ता क्रिया से अन्वय किया है, (स्वव्यतिरेकतः) यह पद पञ्चमी विभक्ति के अर्थ का प्रतिपादन करने वाले (त) (तसित्) प्रत्यय के योग से –

श्री सुबोधिनी – ननु प्राकृतेष्वपि भगवत्सम्बन्धात् सत्त्वोत्पत्त्या तथाप्रतीतौ न दोष इत्यत आह सम्यगिति, "स यथा सैन्धवघनोनन्तरोबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोवाद्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः" "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" "अथात आदेशो नेति नेती" त्यादिश्रुतिविचारदशायां त्यक्त प्राकृतधर्ममुपाददद् भवतीत्यर्थः, तैः सह सम्बन्धे सति हि तेषु सत्त्वोत्पत्तिसम्भावना तस्यैवाभावात् तदसम्भव इतिभावः, अथवा यः पुमानात्मनो द्रष्टुः स्वस्य ऐंश्येषु गुणेषु करपादादिषु भगवान् सन् वर्तमान इति व्यवस्यते सोऽबुधः, तत्र हेतुरस्वव्यतिरेकत इति, तेष्वात्मत्वेनाभिमतादभिन्नत्वादित्यर्थः, अव्ययान्तप्रयोगेणाविकृतत्वं सूच्यते करादिषु, शेषं पूर्ववत्, अतोऽस्मिन्नपि पक्षे कोऽपित्वयि प्राकृतो धर्मो नास्तीति वासुदेवो भवान्।।१८।।

व्याख्यार्थ – सिद्ध हुआ है, (ल्यब्लोपेकर्म्मण्यधिकरणे च) इस व्याकरण के नियमानुसार (प्रसादमारुह्य प्रेक्षते) के स्थान पर (प्रासादात्प्रेक्षते) इस वाक्य की भांति (स्वव्यतिरेकं प्राप्येव सन्) के स्थान पर (स्वव्यतिरेकतः सन्) यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है, इस प्रक्रिया से यह वाक्यार्थ सिद्ध होता है कि आत्म स्वरूप भगवान् के ऐंश्य गुणों में (भगवदिच्छा से ऐंष्टिगत होने वाले) केश रोम नख एवं रूप रस स्पर्श आदिकों में किसी एक भी गुण को जो ऐसा मानता है कि सच्चिदानन्द स्वरूप स्वयं भगवान् से व्यतिरेक (भेद) को प्राप्त करके ही यह सत्तावान् है, भगवान् से भिन्न होकर ही इसकी सत्ता है,

उस प्रकार का निश्चय करने वाला मूर्ख है, आशय यह है कि भगवान् के गुण धर्म आदि सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है भिन्न नहीं, भिन्न मानने वाला मूढ़ सोचता है कि ब्रह्म तो एक रस है यदि उसके रूप आदिकों को सत्य माने तो किसी एक रूप के सत्य मानने पर विविध रूपता सिद्ध नहीं होगी, (समी नागेन समो मशकेन) यह श्रुति हाथी और मच्छर के समान आकार वाला ब्रह्म है ऐसा प्रतिपादन करती है, यदि हाथी के समान है तो मच्छर के समान नहीं हो सकता है, और यदि मच्छर के समान है तो हाथी के समान नहीं हो सकता है, अतः रूपादि की प्रतीति यथार्थ नहीं रूपादि गुण को ब्रह्म से भिन्न ही स्वीकार करना उचित है ऐसा जो निश्चय कर बैठता है वह मूर्ख है, वह यह नहीं सनझ पाता कि धर्मो ब्रह्म ही यथाऽवसर उन उन धर्मों को प्रकट करता रहता है, उसके स्वरूपात्मक सब धर्मो नित्य सिद्ध है, सर्प कुण्डलाकार भी हो जाता है और सरलाकार भी हो जाता है उसके वह आकार न तो उससे भिन्न हैं और न मिथ्या ही है, यथावसर उन आकारों को प्रकट करता है उसी प्रकार ब्रह्म भी धर्मिग्राहक भान, से उसके स्वरूप का ज्ञान कराने वाले (उभय व्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्) ब्रह्म सूत्र तृ. अ. द्वि. पा. २७ सूत्र, इस न्याय से विविध रूपों को प्रकट करता रहता है, यह सिद्ध हो जाता है, शुद्ध ब्रह्म।

श्लोकः— त्वत्तोऽस्यजन्मस्थितिसंयमान् विभो वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्।।

त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः।।१६।।

मूलार्थ – हे विभो! आप से इस जगत् के उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय होते हैं ऐसा प्रामाणिक लोग कहते हैं, आप तो कोई चेष्टा नहीं करते एवं गुण और विकारों से रहित हैं परन्तु समर्थ ब्रह्म में यह कुछ विरोध नहीं आता, गुण भी तो आपके ही आश्रित हैं, रज आदि गुण से उत्पत्ति आदि का होना उपचार मात्र है।।१६।।

श्री सुबोधिनी – प्रद्युम्नरूपं भगवन्तं निरूपयति त्वत्तोस्येति, स हि जगत्कर्ता निरूपितः, स्मृतिर्हि तस्य श्रीः, स तस्यां प्रकृतिमुत्पादितवान्, न ततः काचित् पुरुषोत्पत्तिः, प्रकृतौ स्त्र्येव प्रधानभूता,

व्याख्यार्थ – उन उन रूपों को अभिव्यक्त करता है, इसी बात को कहते हैं कि 'विनानुवादम्' भगवत्स्वरूप वस्तु ही वैसा है, उसके आकार विशेष के दर्शन करने के अनन्तर भक्तों के द्वारा किया गया यह कथन ही अनुवाद है, कि यह श्री हस्त कमल है

और यह श्री चरण कमल है एवं यह श्री नयन कमल है, इस अनुवाद के बिना वह श्री हस्तकमलादि भगवत्स्वरूप के पृथक् सत्तात्मक रूप में मन के द्वारा भी विचारित नहीं होते, यहां पर यह शङ्का हो सकती है कि भगवत्स्वम्बन्धी पदार्थों को भी प्राकृत ही मान लिया जावे, केवल भगवत्सम्बन्ध होने के कारण उनको 'सत्' कहा जाता है क्योंकि उनमें सत्त्व की उत्पत्ति भगवत्सम्बन्ध से हुई है अतः प्राकृत पदार्थ ही सद्रूप से प्रतीत होने लगते हैं ऐसा स्वीकार करने में कोई दोष नहीं होता उक्त शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि भगवत्तत्त्व श्रुति पाद्य है श्रुति विरुद्ध तर्क से उसके विषय में विचार करना मूर्खता है, भगवती श्रुति आज्ञा करती है कि– जैसे सैन्धवधन (जमा हुआ लवण) शीतर बाहर के भेद से रहित सर्वांश में लवण रस का एक पिण्ड है उसी प्रकार अरे जिज्ञासुगण यह आत्म स्वरूप भगवान् भीतर बाहर के भेद से रहित प्रज्ञान का सर्वांश में प्रकृष्ट+ ज्ञान का मूर्तिमान् स्वरूप है, तथा 'यह पुरुष असङ्ग ही है' इसका किसी प्राकृत वस्तु से स्पर्श या सम्बन्ध नहीं, पुष्कर पलाश की भांति निर्लेप है, एवं ब्रह्म तत्त्व के विषय में 'अब इस कारण यह आदेश है कि इसको निषेध मुख से समझो कि वह तत्त्व प्रकृति के साम्राज्य में जो पदार्थ हैं उन सब से भिन्न है, इस प्रकार प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों के विचार काल में प्राकृत धर्मों का सर्वथा त्याग किया गया है कि ब्रह्म में प्राकृत पदार्थ का गन्ध भी नहीं है उसी त्यागे हुए प्राकृत धर्म का स्वीकार करना कि ब्रह्म के सम्बन्ध से उसके प्राकृत गुणों में सद्रूपता आ जाती है सर्वथा अनुचित है, क्योंकि प्राकृत पदार्थों से सम्बन्ध होने पर ही उनमें सत्ता की उत्पत्ति का सम्भव है जब सम्बन्ध ही नहीं तब कैसे सत्ता प्रकट हो सकेंगे –

श्री सुबोधिनी – पुरुषस्तु गुणभूतः, तया प्रकृत्या सृष्टिस्थितिप्रलया भवन्ति, सङ्कर्षणादुत्पन्नेनैव "सूत्र" नाम्ना तस्यामुत्पाद्यत इति जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलये परम्परया सन्निधिमात्रेण प्रद्युम्नस्योपयोगः, तन्मात्रेणैव लोकः प्रद्युम्नात् सृष्टिमाह न तु वासुदेववदपि ततः सृष्टिरस्ति, तदत्रानूद्यते, त्वत्तः प्रद्युम्नरूपाद्।

टिप्पण+ – ज्ञान गत प्रकर्ष आनन्द का तादात्म्य है, रस के दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

व्याख्यार्थ – उक्त श्लोक में व्यवस्यति के स्थान पर 'व्यवस्यते' ऐसा पाठ भी सम्भव है, तदनुसार 'अस्वव्यतिरेकतः' ऐसा पदच्छेद भी अभीष्ट है, तब अथवा इस प्रकार भी व्याख्या हो सकती है कि जो पुरुष आत्मा देखने वाले स्वयं अपने इन्द्रिय सामर्थ्य से दृष्टिगत होने वाले भगवान् के कर चरणादि अंगों में भगवान् विद्यमान हैं उन अंगों को व्याप्त कर अभिमानों जीव की तरह स्थित हैं ऐसा निश्चय करता है वह मूर्ख है, क्योंकि 'अस्वव्यतिरेकतः' उन कर चरणादिकों में उसका व्यतिरेक (भेद) नहीं है जिसे आत्मा रूप से मान रखा है, जीव की भाँति वहां देह देही का भेद ही नहीं तो आभिमानिक सम्बन्ध भी असम्भावित है, वहां तो कर चरणादि उनके आत्मरूप ही हैं, जैसे आत्मा शुद्ध निर्विकार है उसी प्रकार आत्मा के (भगवान् के) कर चरणादि भी निर्विकार शुद्ध चिन्मय आनन्दघन हैं इस प्रकार को सूचना हमको अव्ययान्त प्रयोग से मिल रही है, (व्याकरण में तसिल् प्रत्यय की 'तद्धितश्चासर्व विभक्तिः' सूत्र से अव्यय संज्ञा हुई है, अव्यय में कोई भी परिवर्तन या विकार नहीं होता उसके प्रयोग से प्रकृत में भगवत्स्वरूप की शुद्ध एकरसता का बोध कराना अभीष्ट है, इस व्याख्यान में अन्य विवरण पूर्व व्याख्यान की भाँति ही जान लेना विशेष मात्र का निर्देश किया है अतः इस पक्ष में जो आप में (भगवान् में) कोई प्राकृत धर्म नहीं है इस कारण आप वासुदेव हैं।।१८।।

व्याख्यार्थ – प्रत्यक्ष हुए जिस अद्भुत बालक का तांत्रिक प्रक्रिया से परब्रह्म होने के कारण वासुदेव रूप से निरूपण किया उसका इस श्लोक से ईश्वर और ब्रह्म होने के कारण प्रद्युम्न रूप से निरूपण करते हैं कि आप ही भगवान् प्रद्युम्न रूप भी हैं, पञ्चरात्र में प्रद्युम्न ने स्मृति को पैदा किया है, जो कि रजः सत्त्वतमोमयी है, उससे कोई पुरुष की उत्पत्ति नहीं होती प्रकृति में स्त्री की ही प्रधानता है पुरुष तो अप्रधान ही है, उस प्रकृति से सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं, सङ्कर्षण से उत्पन्न हुए 'सूत्र' नामक तत्त्व से उस प्रकृति में जगत्[+] उत्पन्न किया जाता है, इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय में प्रद्युम्न का उपयोग परम्परा से समीप होने मात्र से ही है, इतने मात्र से ही लोग प्रद्युम्न से सृष्टि बतलाते हैं, किन्तु वासुदेव की भांति प्रद्युम्न से सृष्टि

टिप्पण – + प्रकाशकार ने 'पुरुष' उत्पन्न किया जाता है, इस प्रकार उल्लेख किया है।

नहीं उस मत का यहां अनुवाद किया जाता है कि हे विभो! प्रद्युम्न रूप—आप से इस जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय होते हैं ऐसा लोग कहते हैं –

श्री सुबोधनी: – भगवतोऽस्य जगतो जन्मस्थितिसंयमानुत्पत्तिस्थितिप्रलयॉल्लोका वदन्ति, तथा कथने हेतुर्विभो इति, समर्थत्वाद्, वदन्तीत्यर्थः नन्वस्तु तथैव को दोष इति चेत् तत्राहानीहादगुणादविक्रियादिति, यो हि चेष्टां करोति स एवोत्पादयति यस्तु महदैश्वर्यादि–गुणानवलम्बते स पालयति, पालनं ह्याज्ञयैवाविकृतादपि सम्भवति, यस्तु क्रोधादिविक्रिया प्राप्नोति स सहारको भवति, अय च सत्त्वरजस्तमोगुणातीत., अत एव नास्य कापि विक्रिया, अत कूटस्थोऽय निरीहः, तस्मादघटमानमेवालौकिकसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वाल्लोको वदति, यद्ययं कर्तुमिच्छेत् तदा गुणानप्युत्पादयेदविकृतश्च भवेदुत्पत्त्यादिकमपि कुर्यात्, चिन्तामणिरिव वा स्वत एव कुर्यात्, तर्हि विरोधेन्यतरपरित्यागस्योचितत्वात् ।

व्याख्यार्थ – उनके इस प्रकार कहने का कारण आपकी विभुता है, सर्व समर्थता है, हे विभो! यह सम्बोधन पूर्वोक्त लोकोक्ति के कारण की सूचना करता है कि आप समर्थ हैं अतः लोग आपसे जगत् की उत्पत्ति आदि बतलाते हैं, शङ्का हो सकती है तो प्रद्युम्न से उत्पत्ति आदि क्यो न मानली जावे, उक्त विषय में उत्तर रूप में कहते है कि 'आप तो अनीह (चेष्टा रहित) गुण रहित एवं विकार रहित हैं' जो ही चेष्टा करता है वह ही उत्पादन करता है, जो महान् ऐश्वर्य आदि गुणों का अवलम्ब करता है वह पालन करता है, पालन तो आज्ञा मात्र से भी सम्पन्न हो सकता है उसके लिये विकार की आवश्यकता नहीं, देखा जाता है कि राजवर्ग आज्ञा मात्र से सर्व पालन सम्बन्धी शासन व्यवस्था करता रहता है परन्तु संहार तो क्रोध आदि विकार के बिना नहीं होता जो क्रोध आदि विकार को प्राप्त करता है वही संसार करता है, यह भगवान् प्रद्युम्न तो सत्त्व, रजः, तमः, इन तीनों गुणों का अतिक्रम कर गए है, इन गुणों से परवर्ती है इनके सर्वथा आधीन नहीं है, अतः इनको किसी भी विकार का सम्भव नहीं यह कूटस्थ है सर्वथा निष्क्रिय एवं अविचल स्थिर है, उक्त कारण से इनका जगत्कर्ता आदि होना सर्वथा नहीं घटता, परन्तु अलौकिक सामर्थ्य के होने से लोग कहते हैं, यदि यह जगत् की उत्पत्ति आदि करना चाहें तो गुणों को भी उत्पन्न कर दें और स्वयं विकारों से रहित भी रह जावे और उत्पत्ति आदि भी कर देवें, अथवा जिस प्रकार चिन्तामणि किसी अन्य साधन के सहयोग के बिना ही अनेक पदार्थों की सृष्टि कर देता है उसी प्रकार यह

प्रद्युम्न भगवान् भी गुणादिकों की अपेक्षा न कर स्वतः सब कुछ कर सकते हैं, जब सामर्थ्य होते भी जगत् का निर्माण नहीं करते तो इनको अकर्ता ही क्यों न मान लिया जावे कर्त्ता मानने की क्या आवश्यकता है, विरोध होने पर किसी एक धर्म का परित्याग करना उचित ही है, यदि कर्त्ता मानना हो तो अकर्तृत्व का त्याग करना आवश्यक है, अकर्त्ता मानना हो तो कर्त्तृत्व का त्याग अपेक्षित है, क्योंकि विरोध होने पर किसी एक धर्म का त्याग करना ही पड़ता है।

श्री सुबोधनीः – 'दन्तरङ्ग.बहिरङ्ग.योरन्तरङ्ग. बलीय' इतिन्यायेनान्तरङ्ग.ा एव स्वरूप धर्मा बलिष्ठा न तु लोकप्रतीतिर्बहिरङ्गे.ति भगवतो जगत्कर्तृत्वाभाव एवास्मिन् पक्षे मुख्यः सिद्धान्त इति युक्तमतो वासुदेवान्नकोपि विशेष इति चेत् तत्राह त्वयीश्वरे ब्रह्माणि नो विरुध्यत इति, विरोधे ह्येकतरपरित्याग उचित सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावान्नैवङ्क.ल्पनोचिता, किञ्च न केवलं भगवान् ब्रह्मरूप एव किन्त्वीश्वरोऽपि, ईश्वरत्वेन जगत्कर्तृत्वं ब्रह्मत्वेनाविकृतत्वं च द्वयमुपपद्यते, देशकालस्वरूपावस्थाभेदा अपि नापेक्ष्यन्ते ईश्वरत्वाद् ब्रह्मत्वाच्च, आज्ञाशक्तिरीश्वरेप्रतिहता सर्वभवनसामर्थ्य च ब्रह्मणि, तस्माद् विरोधाभावान्नैकतरपरित्याग उचितः, किञ्च प्रतीत्यनुरोधेन हि विरोधः प्रतीतिस्त्वन्यथाऽपि व्याख्यातुं शक्या, न हीयं प्रतीतिः प्रत्यक्षा किन्तु शास्त्रीया, शब्दप्रयोगस्तु गौण्यापि सम्भवति यथा 'सिहो माणवक' इति, तथाधारभूतो भगवानेवेति निराश्रयस्य जगतोऽसम्भवादाधारत्वे सिद्धे तद्द्वारा कर्तृत्वमप्युपचर्यते,

व्याख्यार्थ – यदि लोक प्रतीति से कर्ता मानते हो और स्वरूपतः अकर्ता स्वीकार करते हों तो ऐसी दशा में स्वरूपगत अकर्तृत्व धर्म को ही बलिष्ठ मानना होगा क्योंकि यह अन्तरङ्ग. है भगवत्स्वरूप के अन्तर्गत है और कर्तृत्व तो लोक प्रतीति के आधार पर माना गया है अतः दुर्बल है क्योंकि लोक प्रतीति बहिरङ्ग. है, अन्तरङ्ग. और बहिरङ्ग.ो में अन्तरङ्ग. अधिक बलवान होता है इस लोकसिद्ध न्याय से अन्तरङ्ग. स्वरूप धर्मों की ही बलिष्ठता सिद्ध होती है बहिरङ्ग. लोक प्रतीति दुर्बल पड जाती हैं, अतः इस पक्ष में यह ही सिद्धान्त होना उचित है कि भगवान् कर्ता नहीं है, अतः वासुदेव की अपेक्षा प्रद्युम्न की कोई विलक्षणता सिद्ध नहीं होती ऐसी शङ्क.ा में वासुदेव से प्रद्युम्न की विलक्षणता बतलाने की उक्त विषय में कर्तृत्व और अकर्तृत्व इन दोनों धर्मों के परस्पर में अविरोध होने के कारण कहते हैं कि (त्वयीश्वरे) इत्यादि, यदि विरोध हो तब तो दोनों में से किसी एक का परित्याग उचित है परन्तु जब ब्रह्म की यह स्वाभाविकता है कि

वह सब कुछ हो सकता है उसमें किसी भी विरोध को अवकाश ही नहीं तो किसी एक धर्म के परित्याग करने की कल्पना उचित नहीं, अकर्तृत्व और कर्तृत्व यह दोनों धर्म ब्रह्म के स्वरूप में अविरुद्ध है, अन्य कारण यह भी है कि भगवान् ब्रह्म ही नहीं ईश्वर भी है, ईश्वर होने के कारण जगत्कर्त्ता है ब्रह्म होने से सर्व विकार रहित है, अतः जगत्कर्तृता और निर्विकारता दोनों ही युक्त हैं, भगवान् को लौकिक कर्ता की भांति किसी देश या काल की अपेक्षा नहीं, और न उन्हें स्वरूप की अवस्थाओ का भेद ही अपेक्षित है, अतः सर्वथा निर्विकार ही रहते हैं, और जगत् का सर्जन भी करते रहते हैं, जगद्रूप भी होते हैं, क्योंकि वह ईश्वर हैं, और ब्रह्म हैं, ईश्वर में आज्ञा शक्ति अकुण्ठित रहती है, उनको स्वयं कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती उनके आदेश मात्र से सर्व व्यवस्था सम्पन्न होती रहती है, तथा ब्रह्म में सब कुछ हो जाने की शक्ति है, अतः किसी प्रकार के विरोध की सम्भावना ही नहीं है तब कर्तृत्व और अकर्तृत्व धर्मों में किसी एक के त्याग की चर्चा अनुचित है, ब्रह्म के विषय में अविरोध प्रतिपादन करने की एक प्रक्रिया यह भी है कि –

श्री सुबोधिनी – वस्तुतस्तु गुणा एव कर्तारोऽत एव साङ्ख्यादयः प्रकृतेरेव कर्तृत्वं वदन्ति, गुणानामप्ययमाश्रय इति कार्यकारणाधारभूतत्वादभिमानभावेऽपि लोकदृष्ट्या कर्तृत्वकथनमुपपद्यते, एव जगतोमायिकत्व भगवतोऽकर्तृत्वं कर्तृत्वमुभय चेति वासुदेवाद् वैलक्षण्येन प्रद्युम्नो निरूपितः, इदमाध्यात्मिकत्वेनोत्पत्तिस्थितिप्रलयात्मकत्वमुक्तम्।।१६।।

व्याख्यार्थ – विरोध तो प्रतीति के अनुरोध तो प्रतीति के अनुरोध से होता है, कि प्रतीति की व्याख्या अन्य प्रकार से हो सके तो विरोध नहीं रह पाता, ब्रह्म कर्ता है या अकर्ता है वह अनीह, अगुण, अविकार है या नहीं इत्यादि प्रतीति प्रत्यक्षप्रमाणजन्य तो है नहीं, शास्त्रों में ब्रह्म को कर्ता भी कहा है अकर्ता भी कहा है, अनीह आदि भी कहा है, शास्त्र शब्दात्मक है और शब्द का प्रयोग मुख्य अर्थ को लेकर ही होता हो ऐसी बात नहीं है वह किसी गुण कृत साम्य से भी होता है, जैसे (सिंहोमाणवकः) इस वाक्य में बालक को सिंह कहा है परन्तु सिंह शब्द के मुख अर्थ पशु विशेष को लेकर नही, उसके पराक्रम आदि गुण कृत साम्य को लेकर उस बालक को सिंह कह दिया है उसी प्रकार ब्रह्म की कर्तृता भी औपचारिक है मुख्य नहीं मुख्य तो अकर्तृताही है अतः विरोध नहीं, यदि कर्तृत्व, और अकर्तृत्व दोनों वास्तविक हो तब तो विरोध की आशङ्का हो

सकती है किसी एक को अवास्तविक मानने पर विरोध नहीं रह पाता, भगवान् सर्वाधार है बिना आधार के जगत् का सम्भव नहीं, अतः भगवान् की जगदाधारता सिद्ध हो जाती है, उसी आधारता को लेकर उन्हें कर्ता कह दिया है वास्तव में तो गुण ही कर्ता हैं अतएव सांख्य वालों ने प्रकृति को ही कर्तृत्व स्वीकार किया है, गुणों के भी भगवान् ही आश्रय हैं, जगत् रूपी कार्य और उसके कारण रूप गुणों के भी आश्रय होने से ब्रह्म को जगत् का कर्ता कहदेना सङ्ग.त हैं, यद्यपि कर्ता पने का अभिमान ब्रह्म में सम्भव नहीं तो भी लोक र्दृष्टि से उसकी कर्तृता युक्त ही है, इस श्लोक में जगत् की अमायिकता है तथा भगवान् की अकर्तृता और कर्तृता दोनों ही हैं ऐसा निर्देश कर वासुदेव की अपेक्षा विलक्षणता से प्रद्युम्न का निरूपण किया है क्योंकि वासुदेव के निरूपण में जगत् की मायिकता और भगवान् की सर्वथा साक्षिरूपता या केवल प्रेरकता का ही निरूपण किया है, प्रद्युम्न में जो प्रकृति के उत्पादन द्वारा उत्पत्ति स्थिति प्रलय रूपता का जो निरूपण किया है वह आध्यात्मिक (उपादान) रूप से किया है।।१९।।[+]

श्लोकः – स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया बिभिर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः।।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये।।२०।।

मूलार्थ – त्रिलोकी की स्थिति के लिये आप अपनी माया से अपने शुक्ल वर्ण रूप सत्वरूप को धारण करते हैं, सृष्टि के लिये रजोगुण के पुष्ट हुए रक्त वर्ण को धारण करते हैं एव तमोगुण से पुष्ट हुए, कृष्ण वर्ण को लोक प्रलय के निमित्त धारण करते हैं।।२०।।

श्री सुबोधिनी – आधिदैविकत्वेनानिरूद्धं तथा[1] भूतमुपपादयति सत्वमिति, तथा पिता कृषीवलादिर्वा पुत्रान्नादेरुत्पादको यथा वा ब्रह्मादयो वृष्टिद्वारेन्द्रादेस्ते गुणावतारा उच्यन्ते,

---

टिप्पण – [+] उक्त श्लोक मे ब्रह्म के अनीह अगुण आदि होते हुए भी कर्ता होने मे विरोध न होने का कारण उसकी ईश्वरता और ब्रह्मता बतलाई है, तथा ब्रह्म के प्रति कर्तृ शब्द का प्रयोग औपचारिक है अत उसकी कर्तृता प्रमाणिक नहीं ऐसा भी सिद्ध किया है, वास्तव मे तो 'कर्ताकारयिता हरि' यह ही सिद्धान्त है, श्री हरि का कर्तृत्व ही गुणो मे उपचरित है क्योकि गुणो के भी आश्रय श्री हरि ही है, ऐसा प्रतिपादन टिप्पणीकार ने किया है। तन्त्र मतानुसारी होने सिद्धान्त मे कोई विरोध नही।

टिप्पण – [1] वासुदेव तटस्थ है केवल प्रेरणा मात्र के कारण है, प्रद्युम्न उपादान रूप से कारण है, और अनिरूद्ध तो पिता की भाति अश विशेष से उत्पादन भी हैं और किसान तथा इन्द्र एव ब्रह्मादि की भांति अनेक प्रकार के व्यापार से उस कार्य मे सहायक भी है, यह इनकी विलक्षणता है,

तांऽशस्त्वनिरूद्धः, तत्र ब्रह्मविष्णुशिवानामेव प्रत्येकगुणैरुत्पत्त्यादिनियामकत्वं न त्वनिरूद्धस्ये-त्याशङ्क्य तस्यैव त्रितयमाह, त्रिलोकस्थितये स्वमायया शान्त्या सत्त्वं बिभर्षि, तस्य सत्त्वस्य स्वरूपमाहात्मन. शुक्ल वर्णमिति, खल्विति, प्रसिद्ध "कृते शुक्लंश्चतुर्बाहु[1]" रित्यादिवाक्यादुपाधि-कालरूपाण्येवास्मिन् पक्षे भगवद्रूपाणि, तदर्थं गुणान् वदन् रूपाणि वदति, सर्गाय रक्तरूप बिभर्षीतिसम्बन्धः,

व्याख्यार्थ – उक्त श्लोक में आधी दैविक रूप से भगवान् अनिरूद्ध का जगत्कर्त्ता होना सिद्ध किया है, जिस प्रकार पिता पुत्रादि का उत्पादक होता है या कृषीवल खेती करने वाला किसान अन्नआदि का उत्पादक होता है, एवं वर्षा के द्वारा इन्द्र आदि देवता सम्यादि सृष्टि के प्रयोजक होते हैं, अथवा गुणावतार रूप ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, जगत् के उत्पत्ति, स्थिति संहार के प्रयोजक होते हैं, उस प्रकार का स्वरूप भगवान् अनिरूद्ध का है, उक्त विषय में आशङ्का हो सकती है कि ब्रह्मा विष्णु और शिव को ही रज आदि का एक एक गुण के द्वारा उत्पत्ति आदि का नियामक माना गया है अनिरूद्ध को तो उस प्रकार नहीं कहा गया है ऐसी आशङ्का कर समाधान करते हैं कि अनिरूद्ध की ही उत्पत्ति, स्थिति, संहार इन तीनों में नियामकता है अर्थात् ब्रह्मा विष्णु शिव यह तीनों प्रकारान्तर से अनिरूद्ध के ही रूपान्तर हैं ऐसा कहते हैं, त्रिलोकी की रक्षा के लिये आप अपनी शान्ति नामक माया से सत्वगुण को धारण करते हो उसे पोषण देते हो उस सत्वगुण का स्वरूप आपका अपना शुक्ल वर्ण है, ऐसी प्रसिद्धि है, सत्य युग में शुक्लवर्ण एवं चतुर्भुज रूप कहा है, तदनुसार सत्व आदि गुणों को लेकर जो भगवान् के शुक्ल आदि वर्ण बतलाये हैं वह उन गुणों के उपाधिभूत काल के रूप हैं, उन्हें ही इस पक्ष में भगवद्रूप कहा है, उसी के लिये गुणों को कहते हुए रूपों का निरूपण करते हैं कि सृष्टि के लिये रक्त वर्ण को धारण करते हैं, वह रूप आपका स्वाभाविक नहीं है किन्तु रजोगुण से अभिवृद्ध हुआ आगन्तुक है, उसी प्रकार कृष्ण वर्ण को लोकों के नाश के निमित्त धारण करते हो, इस प्रकार पूर्वार्ध के (विभर्षि) इस क्रिया पद से सम्बन्ध कर वाक्यार्थ सिद्ध होता है।।२०।।

टिप्पण – [1] (कृते शुक्ल) श्री भागवत एकादशस्कन्ध पञ्चमअध्याय का २० वा श्लोक

श्लोकः— त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषुगृहेवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर।।
राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपैर्निर्व्युह्यमाना निहनिष्यसे चमूः।।२१।।

मूलार्थ — हे विभो! आप इस लोक की रक्षा करने के इच्छुक हैं, हे अखिलेश्वर मेरे गृह में प्रकट हुए हो, राजनामधारी असुरों की कोटियों के यूथपतिओं द्वारा प्रेरित हुई सेनाओं का आप वध करेंगे।।२१।।

श्री सुबोधिनी — तस्य रूपस्य सहजत्वाभावायाह रजसोपबृंहितमिति, तथैव कृष्णं वर्ण जनानामत्यये नाशार्थं बिभर्षीतिसम्बन्धः।।२०।।

सङ्कर्षणात्मकमाह त्वमस्येति, अस्य लोकस्य रिरक्षिषू रक्षितुमिच्छु. सन् मे गृहेऽवतीर्णोऽसि, अवश्यरक्षायां हेतुरखिलेश्वरेति, विभुरिति, सामर्थ्य, इदं सङ्कर्षणकार्यं देवान् प्रति तद्द्वेषिदैत्यवधादेव न तु सर्वनाशकत्वेन, अतो देवांशो जगतो रक्षक एक दैत्यानामेव निवारकः, तदाह राजन्यसञ्ज्ञेति, राजन्या राजान इतिसञ्ज्ञामात्रं वस्तुतस्त्वसुरा एव, तेषां कोटयः सेनारूपास्तासा यूथपा महान्तः कंसादयस्तैर्नितरां व्यूह्यमाना परिपाल्यमाना प्रेर्यमाणा वा चमूर्निहनिष्यसे नितरां मारयिष्यसे, अतो रक्षार्थमेव दैत्यवधः, भगवत्सान्निध्यात् सर्वज्ञता तस्य, "यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती" त्यार्षज्ञान वा।।२१।।[+]

व्याख्यार्थ — इस श्लोक में भगवान् का सङ्कर्षण रूप कहा है, कि हे विभो! आप इस लोक की रक्षा की इच्छा रखते हुए मेरे गृह में प्रकट हुए हो, रक्षा करना आपका आवश्यक कर्तव्य है क्योंकि आप अखिलेश्वर हैं, समस्त जगत् के स्वामी हैं, एवं विभु सर्वथा समर्थ भी हैं, यह लोक रक्षात्मक सङ्कर्षण कार्य देवताओं के प्रति उनके द्वेषि दैत्यो के नाश करने से हो सिद्ध होता है, सर्व नाश करने से नहीं, अतः देवांश सङ्कर्षण सर्वथा सहारक ही हो यह बात नहीं वह तो जगत् के रक्षक ही हैं केवल दैत्यों का निवारण करते रहते हैं, उक्त तथ्य को कहते हैं कि आप राजा कहलाने वाले असुरो की सेनाओं के यूथपति कंस आदिकों से अत्यन्त सुरक्षित एवं उत्तेजित सेनाओ का निःशेष रूप से वध करेंगे, अतः आपके द्वारा सम्पन्न हुआ दैत्य वध लोक रक्षा के लिये ही सिद्ध होता है, इस प्रकार भविष्य का निर्देश वसुदेवजी की सर्वज्ञता का सूचक है जो कि

टिप्पण — [+]उक्त शब्द नाम धातु प्रक्रिया से कर्म में प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है सेनापति अपनी सेना की रक्षा एव उसकी युद्धार्थ प्रेरणा के अनुकूल ही व्यूह रचना करता है अत 'व्यूह' शब्द मूलक 'नि' उपसर्ग पूर्वक इस नाम धातु के प्रयोग का पालन या प्रेरण रूप से व्याख्यान सर्वथा उत्पन्न है।

उन्हें भगवान् के सन्निधान से प्राप्त हुई है, अथवा श्रुति कहती है कि ब्रह्म के विदित हो जाने पर सब कुछ विदित हो जाता है, इस कारण इनका यह ज्ञान ऋषियों की भांति भगवत्तत्त्व के ज्ञान से भी हो सकता है।।२१।।

श्लोकः – अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नो गृहे श्रुत्वाग्रजास्ते न्यवधीत् सुरेश्वर।।
स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः।।२२।।

मूलार्थ – हे सुरेश्वर! इस असभ्य कंस ने तो हमारे गृह में आपका जन्म होगा ऐसा सुनकर आपके ज्येष्ठ भ्राताओं का वध किया है, वह दुष्ट अपने प्रहरी पुरुषों द्वारा विदित किये गये आपके अवतार को सुनकर शस्त्रों को उठाये हुए अभी आता ही है।।२२।।

श्री सुबोधिनी – एवमपि ज्ञाते भयं न निवृत्तमिति लौकिकस्य बलिष्ठत्वज्ञापनाय भयाद् भगवन्तं विज्ञापयत्ययं त्वसभ्य इति, तुशब्दः पूर्वार्थं स्तुतिलक्षणंव्यावर्तयति, भगवानवतीर्ण इति सतामेव सुखं भवति न त्वसतां, अयं त्वसभ्य इममर्थमज्ञाप्यः, अत एव तव जन्म नो गृहे श्रुत्वा तेऽग्रजान् मम षट् पुत्रान् न्यवधीत्, सुराणामीश्वरेतिसम्बोधनं पक्षपातार्थं, तर्हि किमधुना कर्तव्यमितिचेत् तत्राह स एव क्रूरात्मा कंसो रक्षकैः पुरुषैस्तेऽवतारं निवेदितं श्रुत्वोदायुधः सन्नधुनैव निकट एवाभिसरत्यागच्छति, 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वे'ति वर्तमान प्रयोगः, ईश्वरे निवेदनमात्रं सेवककार्यं कर्तव्यं तु प्रभुरेव जानातीत्यस्य तूष्णीम्भावः, अभिप्रायस्तु यदीदानीं मारणीयस्तदा स्थातव्य नो चेदन्यत्र गन्तव्यमिति, इदानीं मारणे गुप्ततया गोकुलवासिभिः सह क्रीडोद्धारादिकं न भविष्यतीति तत् कृत्वा पश्चान्मारण, अतः पितुरभिप्रायादन्यत्र गतवानिति लक्ष्यते।।२२।।

व्याख्यार्थ – ऐसा ज्ञान होने पर भी वसुदेवजी का भय निवृत्त नहीं हुआ इसलिये लौकिक की प्रबलता के सूचनार्थ 'अयन्तु आदि श्लोक द्वारा भय से भगवान् के प्रति विज्ञापना करते हैं, उक्त श्लोक में (तु) शब्द स्तुति की व्यावृत्ति का द्योतक है कि अब स्तुति समाप्त हुई पूर्व में जो कहा गया है वह स्तुति पदार्थ है उसकी समाप्ति कर अब एक श्लोक से प्रार्थना करते हैं, वसुदेवजी कहते हैं कि यह कस तो असभ्य है, भगवान् प्रकट हुए हैं ऐसा जानकर साधु पुरुषों को ही सुख होता है दुष्टों को नहीं, अतः इससे इस प्रसङ्ग. को कहना सर्वथा अयोग्य है, असभ्य होने के कारण ही इसने आपके जन्म को हमारे गृह में सुनकर आपके ज्येष्ठ भ्राता मेरे षट् (६) पुत्रों को मारा है, उक्त श्लोक में (सुरेश्वर) यह सम्बोधन अमृत मन्थन आदि प्रसङ्गों पर देवताओं के पक्षपात को स्मृति

दिलाता हुए भक्त पक्षपात का सङ्केत करता है, इस समय क्या करना चाहिये इस प्रश्न के विषय में वसुदेवजी कहते हैं कि वह हत्या प्रिय कंस प्रहरी लोगों से सूचित हुए आपके अवतार को सुनकर शस्त्रो को उठाये हुए अब ही निकट भविष्य में आ ही रहा है, वर्तमान के समीप होने पर भी वर्तमान जैसा व्यवहार होता है अतः अभिसरति यह वर्तमान का प्रयोग सङ्गत है, ईश्वर के प्रति प्रार्थना मात्र ही सेवका का कार्य है, कर्त्तव्य विषय का ज्ञान तो प्रभु को ही है, अतः वसुदेवजी मौन हो गये, वसुदेवजी का अभिप्राय तो यह है कि यदि इसी समय मारना हो तो यहां विराजे अन्यथा अन्यत्र पधारें, भगवान् ने विचार किया कि अभी मारने में तो गुप्त रूप से जो व्रजवासियों के साथ लीला अपेक्षित है वह नही होगी एवं और भी लोगो का उद्धार आदि न हो पावेगा अतः उस कार्य को करने के अनन्तर ही कंस का वध उचित है अतः पिता श्री वसुदेवजी के अभिप्राय से अन्यत्र पधारे ऐसा तात्पर्यतः विदित होता है।।२२।।

।। श्रीशुक उवाच।।

श्लोकः – अथैनमात्मजं वीक्ष्य महापुरुषलक्षणम्।।
देवकी तमुपाधावत् कंसाद् भीता सुविस्मिता।।२३।।

मूलार्थ – श्री शुकदेवजी ने कहा इसके अनन्तर इस पुत्र को महापुरुष के लक्षणो से सम्पन्न देखकर कंस से भीत हुई देवकी उस पुत्र रूप भगवान् की शरणागत हो गई, उस दशा में वह आश्चर्य रसान्वित थी अथवा पवित्र मृदुहास से सुशोभित थी।।२३।।

श्री सुबोधिनी – तूष्णीं स्थिते वसुदेवे देवकी रूपोपसहार कसस्य भगवज्जन्माज्ञानं च प्रार्थयितु प्रथमत स्तौतीत्याहाथैनमिति, स्वस्यैवाय पुत्र इति ज्ञातवती, तथा बुद्धेरुत्पादितत्वात्, परं स पुत्रश्चतुर्भुजादिलक्षणैर्लोकप्रसिद्धैर्भगवत्तुल्योऽयमिति ज्ञात्वा स्वबुद्धया स्मृतिपुराणेषु प्रसिद्ध भगवत्स्वरूपं प्रकृतेऽनुवर्णनीयमिति तदर्थमाह, महापुरुषस्य पुरुषोत्तमस्य लक्षणानि यत्र तं भगवन्तमुपाधावच्छरणं गता, स्तुत्वैव शरण गमिष्यति, भगवन्निमित्तमेव कंसाद् भीता, तर्हि भगवत्स्वरूपज्ञानाद् भयमेव कथं न निवर्तयतीत्याशङ्कयाह सुविष्मितेति, आश्चर्यरस एव तस्या उत्पन्नो न तु निर्धारितं ज्ञान जातं येन भय निवर्ततेत्यर्थः, शुचिष्मितेतिपाठे भगवत्स्तोत्रज्ञानार्थं तस्याः पातिव्रत्यादिधर्मो निरूपितः, अथेति भिन्न प्रक्रमे न तु वेदादिप्रकारेण, अन्यथा पौनरुक्त्य स्यात्।।२३।।

व्याख्यार्थ – वसुदेवजी के मौन हो जाने पर श्री देवकी भगवान् से उनके रूप के छुपा लेने की एवं कंस को उनके जन्म के ज्ञान न होने की प्रार्थना करने के लिये प्रथम स्तुति करती है, ऐसा (अथैनम्) इस श्लोक द्वारा शुकदेवजी कहते हैं, श्रीदेवकी ने उस अद्भूत बालक को 'यह मेरा अपना ही पुत्र है, ऐसा समझा क्योंकि भगवान् ने उस प्रकार ही उनकी बुद्धि उत्पन्न कर दी थी, परन्तु वह पुत्र लोक+ प्रसिद्ध चतुर्भुज आदि लक्षणों से समान है ऐसा जानकर अपनी बुद्धि से स्मृति और पुराणों में भगवान् का स्वरूप जैसा प्रसिद्ध है वैसा इस अवसर पर वर्णन करना आवश्यक है अतः देवकी द्वारा वैसे वर्णन करने के लिए ''महापुरुष लक्षणम्' इस विशेषण का प्रयोग शुकदेवजी ने किया है, महापुरुष श्री पुरुषोत्तम के लक्षण जिस बालक में हैं, उस अद्भुत बालक भगवान् के निमित्त से ही कंस से भीत (डरी हुई) हैं, शङ्का हो सकती है कि तब महापुरुष लक्षणों से भगवत्स्वरूप के ज्ञान द्वारा देवकी ने भय को क्यों नहीं निकाल दिया उसके विषय में कहते हैं कि देवकी 'सुविस्मिता' थी उनको आश्चर्य रस ही उत्पन्न हुआ, निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हुआ, जिससे भय निवृत्त होना 'शुचिस्मिता' ऐसा पाठ भी सम्मत है, तदनुसार भगवान् की स्तुति के उपयोगी ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता के प्रयोजक देवकी के पातिव्रत्य आदि धर्म का निरूपण हुआ है 'ऐसा जानना', उक्त श्लोक के प्रारम्भ में ही 'अथ' शब्द इस प्रसङ्ग की पूर्व प्रसङ्ग से विभिन्न शैली की सूचना देता है कि वसुदेवजी ने वेद और तन्त्र के प्रकार से स्तुति की थी, और देवकीजी उससे भिन्न पुराणोक्त दिशा से स्तुति करेंगी, अन्यथा वसुदेवजी के प्रकार से स्तुति करने में तो पुनरुक्ति दोष का संभव है।।२३।।

।।श्री देवक्युवाच।।

श्लोकः – रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः।।२४।।

टिप्पण – ' लेखकार ने 'निवर्तयति' इस क्रिया का कर्ता भगवान् को जतलाया है।
'लोक में भगवान् का स्वरूप 'चतुर्भुज' आदि रूप से प्रसिद्ध है।

मूलार्थ – श्री देवकी ने कहा कि जिसे अव्यक्त, आद्य, ब्रह्म, ज्योति, निर्गुण, निर्विकार एव सत्ता मात्र, निर्विशेष, निरीह कहा है (वह आधिदैविक रूप से यह ही है जिसे मैं देख रही हूँ) जो अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाला है वह सर्वोपास्य विष्णु आपही हैं।।२४।।

श्री सुबोधिनी – शरणं गता देवक्यष्टभिः स्तोत्रमाह, आधिदैविकमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमिति भगवतो रूपत्रयमादौ निरूप्य शरणागमने हेतुं चोक्त्वा प्रकृते रक्षां भगवत्स्वरूपाज्ञानं द्वयं प्रार्थयते, इदानी मारणे युद्धार्थं प्रवृत्तावेव पूर्वज्ञानसर्दृशत्वात् प्राणा न स्थास्यन्ति, अतस्तेन प्रकारेण रक्षा न कर्तव्या, प्रकारान्तरेण रक्षा प्रार्थयन्त्यज्ञानमपि प्रार्थयते, अन्यथा प्रथम पक्ष एव न स्यात्, (न सिद्धयेत्) रूपोपसंहारं च प्रार्थयते, सर्वाधिक्ये सर्वद्वेषसम्भवात्, सर्वमारणं चाशक्यं, अलौकिके च शीघ्रमुपसंहारश्च स्यात्, अतः केवल स्थार्थमुपसंहारः, प्रार्थनाद्वयं तु प्रकृतोपयोगि, एवं प्रार्थनात्रयं स्वस्य गर्वाभावार्थं, इदं न जननरूप किन्तु नटवदनुकरणरूपमिति भगवदवतारं निरूपयति।

व्याख्यार्थ – शरणागत देवकी आठ श्लोकों से स्तुति कह रही हैं, प्रारम्भ में भगवान् के आधिदैविक, आध्यामिक, आधिभौतिक, इन तीनों रूपों का तीन श्लोकों द्वारा निरूपण कर चतुर्थ श्लोक से शरणागति में कारण का उल्लेख कर पञ्चम श्लोक से उपस्थित परिस्थिति में रक्षा, एवं सर्व साधारण को भगवत्स्वरूप का ज्ञान न हो, यह दो प्रार्थना करती है, षष्ट श्लोक में इस अभिप्राय से की अभी कंस के मारने में तो उसके साथ आपके युद्ध के लिये प्रवृत्त होते ही मेरे प्राण नहीं रहेंगे क्योंकि पूर्व में मैं जिस भयङ्कर दृश्य को देख चुकी हूँ वैसा ही दृश्य (शस्त्रों का उठाये कंस का आना) देखने मे आयेगा, यद्यपि युद्ध में आप ही उसे मारेंगे फिर भी मेरे षट् (६) पुत्रों का हत्यारा शस्त्र धारी क्रूर कंस मेरे सम्मुख उपस्थित होगा इतने मात्र से ही मेरे प्राण नहीं ठहर सकते हृदय इतना दुर्बल पड़ गया है, अतः उस प्रकार से रक्षा न कीजिये, आपका अभी युद्ध मैं उसे मारकर हम लोगों की रक्षा करना मुझे अभीष्ट नहीं, किसी अन्य प्रकार से रक्षा अभीष्ट है, अभी तो आपके जन्म का ज्ञान भी उसे नहीं होना चाहिये, ऐसी प्रार्थना करती है, क्योंकि यदि आपके जन्म का ज्ञान उसे हो जावेगा तो भी हम लोगों के प्रथम पक्ष की ही संभावना है अर्थात् प्राणों की स्थिति नहीं रहेगी, (रक्षा सिद्ध नहीं होगी) सप्तम श्लोक से चतुर्भुज रूप के छुपा लेने को प्रार्थना करती है, सम्भव है सर्व साधारण लोग आपसे द्वेष करने लगें क्योंकि ऐसा अद्भुत रूप किसी का भी नहीं है अतः

सब से अधिकता होने पर द्वेष ईर्ष्या आदि का सर्व साधारण में उद्गम होना सभावित है, और सब का ही संहार कर देना भी अशक्य है क्योंकि तब तो कोई भी न रहेगा तो आदान प्रदानादि व्यवहार शून्य जीवन भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा, अतः सब को मार देना भी नहीं बनेगा, अतः इस रूप को ही तिरोहित कर लेना उचित है, दूसरी बात यह भी है कि इस अलौकिक रूप में शीघ्र ही उपसंहार की संभावना है।

कारिका — रूपत्रयं तथा हेतुः प्रार्थनात्रितयं तथा।
नटत्वमितिविज्ञानं स्वस्य यार्थक् तथोदितम्।।१।।

सुबोधिनी — अदौ भगवानाधिदैविक इति वदन्ती स्वाभिज्ञानप्रमाणे प्रसिद्ध्या निरूपयति, इद रूपं तदेव यत् सर्वैराधिदैविकत्वेनोच्यते, द्वयमन्यल्लोकसिद्धं, अलौकिकं त्वाधिदैविकमेव, अन्यथा प्रमाणानामनुवादकत्वं स्यात्, अत इदं रूपं तदेव, किं तदित्याकाङ्क्षायामाह तत् यत् प्राहुरिति, यत्तदोरानुपूर्व्येण निरूपणमाकाङ्क्षावैपरीत्येपि स्वानुभवदार्ढ्यार्थं, नन्वाधिदैविकमेतद् भवितुं नार्हति वैलक्षण्यादित्याशङ्क्य वैलक्षण्यहेतुभूतान् धर्मानत्रैव साधयत्यव्यक्तमित्यादिनवभिः पदैः, नवधा हि जगत्, तद्विलक्षणं ब्रह्म नवधा निरूप्यते,

व्याख्यार्थ — अधिक समय तक इस अद्भुत रूप से सर्व साधारण जनता में विराजना सम्भावित नहीं, अतः चिरकाल तक आपके विराजमान रहने के केवल अपने स्वार्थ को लेकर रूप के उपसंहार की प्रार्थना है, अवशिष्ट दो प्रार्थनायें तो प्रस्तुत में उपयोगी है हीं, इस प्रकार तीन प्रार्थना को हैं, अष्टम श्लोक से श्री देवकी अपने गर्व के न होने की सूचना करती हुई यह निरूपण करती है कि आपका अवतार तो नट की भांति अनुकरण मात्र की है, माता के आधीन होकर गर्भ में रहना और सर्व साधारण की भांति जन्म ग्रहण करना नहीं है।

कारिकार्थ — आधिदैविक आदि तीन रूप और शरणगति का कारण, तथा रक्षा, भगवत्स्वरूप का तथा उनके जन्म का ज्ञान न होना, और रूप का उपसंहार (तिरोभाव) करना, यह तीन प्रार्थना एवं नट की भांति भगवान् का जन्म अनुकरण मात्र है, ऐसा श्री देवकी ने अपने अनुभव के अनुसार कहा है।

व्याख्यार्थ — श्रीदेवकी स्तुति के प्रारम्भ में भगवान् को आधिदैविक बतलाती हुई अपने भगवद्विषयक ज्ञान और उस में प्रमाण इन दोनों का प्रसिद्धि के साथ निरूपण करती है, कि यह प्रत्यक्ष सम्मुख ऍष्टिगत होने वाला रूप वह ही है जिसे सब लोग

आधिदैविक कहते है, आधिभौतिक व आध्यात्मिक यह अन्य दो रूप तो लोक सिद्ध हैं, अलौकिक रूप तो आधिदैविक ही है, यदि आधिदैविक रूप भी लोकसिद्ध हो तब तो उसका ज्ञान लोकतः प्राप्त है अतः उसके ज्ञापक वचनों को अनुवाद ही मानना होगा प्रमाण नहीं, अतः श्री देवकी का कहना है यह रूप वह ही है, वह क्या है ऐसी आकाङ्क्षा (जिज्ञासा) होने पर कहती है कि यह वह है जिसे कहते हैं, अर्थात् सर्व शास्त्रों में जिसे परम तत्त्व मूलरूप कहा है वह ही यह साकार आधिदैविक तत्त्व है, श्री देवकी ने अपनी इस उक्ति में अपने अनुभव की दृढ़ता बतलाने के लिये (यत्) शब्द के अनन्तर ही (तद्) शब्द का प्रयोग कर दिया है यद्यपि (यत् प्राहुस्तद् रूपम्) इस प्रकार का शब्द विन्यास अपेक्षित था, अपने ज्ञान की प्रामाणिकता के निरूपण करने के लिये (यत्) और (तद्) इन दोनों शब्दों के मध्य में (प्राहुः) शब्द का प्रयोग करना आवश्कय था और (तद्) शब्द के साथ ही 'रूप' शब्द का प्रयोग भी उचित था, परन्तु देवकीजी ने वैसा प्रयोग नहीं किया।

श्री सुबोधिनी – जगद्धर्माश्च तस्मिन् रूपे प्रतीयन्ते, तत्रा – "व्यक्तादीनि भूतानी" तिवाक्यादव्यक्त मूलरूप व्यक्त तु जगत्, इद तु व्यक्तमितिलोकप्रतीतिः, मूलभूत त्वाद्य भवति, इदं त्वाधुनिक, जगच्च स्वरूपकृत कालकृतं च वैलक्षण्यमुक्तं पदद्वयेन, देशकृत वैलक्षण्य वदन्ती परिमाणेन तदाह ब्रह्मेति, "बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्म" मूलभूत, जगत्तु परिच्छिन्नमबृंहितं च तथैवरूप, एव सदंशेन वैलक्षण्यत्रय निरूपित, चिदशेनापि त्रयमाह ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारमिति, "प्रकाशक तच्चैतन्यं" जगत् प्रकाशयति, अन्यथा जगदभिव्यक्तिन स्यात् त्रिगुणात्मकं च जगत् त्रिगुणातीतमेव हि कारण भवति, गुणानामपि कारणत्व भगवत्कारणता न स्यात् स्वातन्त्र्याभावत्, सदंशा एव गुणा न चिति सम्भवन्ति, यत्रैव भूतेन्द्रियान्त करणानि तदेव सगुणं, तदेव कारण भवति यत् प्रपञ्चविलक्षणं, प्रपञ्चस्तूत्पत्त्यादिभाव विकारयुक्तः, अतो निर्विकारमङ्गीकर्तव्य,

व्याख्यार्थ – क्योंकि उनके अनुभव में अंशतः भी शिक्षिलता नहीं थी सर्वांश में दृढ था अतः उनको उस प्रकार के शब्द विन्यास की आवश्यकता नहीं, उनको अपने अनुभव पर विश्वास था अतः उनकी प्रमाणिकता के विषय में प्रयास करना अनावश्यक समझकर (यत् प्राहुस्तद्रूपम्) इस प्रकार आकाङ्क्षा के विपरीत होने पर भी (रूपं यत् तत् प्राहुः) ऐसा ही प्रयोग किया, यह स्वरूप आधिदैविक नहीं होना चाहिये क्योंकि आधिदैविक स्वरूप तो विलक्षण होता है ऐसी शङ्का के समाधान करने के लिये

विलक्षणता के कारण रूप धर्मों को (अव्यक्त) आदि नव (६) पदों के द्वारा इसी स्वरूप में सिद्ध करती है, जगत् नव (६) प्रकार का ही है, उससे विलक्षण ब्रह्म नव (६) प्रकार से ही निरूपित होता है, जगत् के धर्म उक्त प्रकट हुए भगवत्स्वरूप में प्रतीत होते हैं, वहां (अव्यक्तादीनि भूतानि) भगवद्गीता द्वि अ.श्लो. २८ में सर्व जगत का मूल रूप अव्यक्त है ऐसा कहा है जगत तो व्यक्त है ही, परन्तु यह भगवत्स्वरूप व्यक्त है इस प्रकार की लोकों को प्रतीती होती है (वास्तव में तो यह अव्यक्त ही है) एवं मूल तत्व तो आद्य सब से पूर्ववर्ती है, और यह स्वरूप अभी देखने में आया है अतः आधुनिक है (ऐसी लोक प्रतीति है) जगत् की आधुनिक है, (अव्यक्त) (आद्यम्), इन दो पदों से स्वरूपकृत और कालकृत विलक्षणता उक्त भगवत्स्वरूप की बतलाई गई है, श्री देवकी उक्त स्वरूप की विलक्षणता को देशकृत भी बतलाती हुई परिमाण के द्वारा (ब्रह्म) कहा है, मूल भूत पर तत्व बृहत् (व्यापक) होने से एव वृहण (वर्धनशील, बढता ही रहे) होने से (ब्रह्म) कहलाता है, जगत् तो व्यापक नहीं परिच्छिन्न (सीमित) है एवं वर्धनशील भी नहीं ह्रासशील है, उसी प्रकार से लोगों को प्रकट हुआ यह रूप भी प्रतीत होता है, (परन्तु वास्तव में तो यह रूप (ब्रह्म) ही है, इस प्रकार सच्चिदानन्दगत सदंश से तीन विलक्षणताओं को निरूपण किया, चिदंश के द्वारा भी तीन विलक्षणताओं को बतलाती हैं कि यह स्वरूप (ज्योति) (निर्गुण) एवं निर्विकार है।

श्री सुबोधिनी – लौकिकानि च ज्ञानानि विकारयुक्तानि चेन्द्रियादिभिश्च प्रकाश्यन्ते, विषयकृतं वैलक्षण्यमानन्दांशे निराकरणीयमित्येतदर्थमाह सत्तामात्रमिति, सत्ता विद्यमानता कालत्रयाबाधितसत्ता वा सर्वमेव हि जगत् सद्रूपमपि विशेषनामरूपधर्मवद् भवति, यावद्विशेषनिर्मुक्तं सामान्यं न भविष्यतीत्याशङ्क्य लौकिक एव विषय इयं व्याप्तिर्न त्वलौकिक इति सत्तामात्रमपि निर्विशेषमित्याह, अन्यथा पौनरुक्त्य स्यात्, विशेषा हि व्यावर्तकाः, मूलसत्तायां व्यावर्त्याभावात् किं विशेषण ? कार्ये तु सा सर्वत्रानुस्यूतेति कार्यं न व्यावर्तनीयं, अन्यथा तस्य कारणतैव न स्याद् घटपटयोरिव, "पूर्णमदः पूर्णमिद" मित्यादिश्रुतौ सर्वचेष्टारहितमेव कारण भवति, कार्यं सर्वमेव चेष्टमानं आकाशदेरपि शब्दजननलक्षणा चेष्टा वर्तत एव, आवरणापगमे कार्यापगमवदाका– शापगमस्यापि दृष्टत्वादन्धकारवदीहा तत्रापि, ब्रह्माणि त्वावरकासम्भवादव्यवहार्यत्वाच्च निरीहत्व सिद्धमेव,

व्याख्यार्थ – (प्रकाशकंतच्चेतन्यम्) आदि वचनों से चैतन्य (चित्) को प्रकाशक कहा है, वह जगत् को प्रकाशित करता है अन्यथा उसके प्रकाश के बिना जगत् की

प्रतीति ही न हो पावेगी, एवं जगत् त्रिगुणात्मक है, सत्य आदि गुणत्रयों का रूपान्तर है, कारण भूत मूल तत्व तो गुणत्रय से अतीत है निर्गुण है, यदि जगत् के प्रति गुणों को भी कारण मानलिया जावे तो भगवान् की जगत्कर्तृता सिद्ध न हो सकेगी क्योंकि कर्ता स्वतन्त्र होना चाहिये गुणों के कारण उसकी स्वतन्त्रता नहीं रह पाती, गुण सदंश है अतः उनका (चित्) में सम्भव नहीं, पृथिवी आदि भूत एवं इन्द्रिय अन्तः करण जहां भी होते हैं वह सगुण होता है, कारण वह ही होता है जो प्रपञ्च (कार्य) से विलक्षण हो, प्रपञ्च तो उत्पत्ति आदि षट् ६[+] भावविकारों ये युक्त है अतः कारण तत्व को निर्विकार मानना आवश्यक है, लौकिक वस्तु मात्र जो ज्ञान के विषय हैं वह सब सविकार हैं और रूपादि गुणों से समन्वित हैं, तथा चक्षु आदि इन्द्रिय एवं उनके सूर्य आदि देवताओं से प्रकाशित होते हैं, अतः चिदंश से उक्त विलक्षणता भगवान् की सिद्ध होती है, क्योंकि लौकिक चित् की भांति आपका प्रकाश इन्द्रियादि के आधीन नहीं आप तो स्वयं प्रकाश ज्योति रूप हैं, और न आप लौकिक गुण एवं विकारों से ही युक्त हैं आप तो निर्गुण एवं निर्विकार हैं, सत्ता मात्र निर्विशेष, निरीह, इन पदों द्वरा आनन्दांश से विलक्षणता बतलाती है, आनन्दांश में विषय के द्वारा कोई विलक्षणता नहीं आती यह बतलाना आवश्यक है अतः भगवान् को सत्तामात्र कहा है, आपका स्वरूप सर्वत्र विद्यमान है किसी भी काल में आपकी सत्ता बाधित नहीं होती, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनो कालों में वह अक्षुण बनी रहती है, सत्ता शब्द किसी 'सद्' वस्तु के भाव को ही कहता है सतो भावः सत्ता सदैव सत्तामात्रम्, बात ऐसी है कि लौकिक आनन्द में भी लौकिक ज्ञान की भांति विषय कृत विलक्षणता देखी जाती है; जिस प्रकार घट, एवं पट, की विलक्षणता से घट ज्ञान एवं पट ज्ञान विलक्षण प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार कामिनी स्पर्शज सुख एवं पुत्र स्पर्शज सुख भी कामिनी 'एवं पुत्र' की विलक्षणता से विलक्षण ही प्रतीत होते हैं,

श्री सुबोधिनी – यद्यप्येकस्मिन्नपि विशेषणे सर्वे धर्माः क्रोडीकर्तुं शक्यन्ते तथापि नवधा वैलक्षण्यस्य वक्तव्यत्वान्नव विशेषणान्युक्तानि, तादृशमिदमेव रूपं, नवविधानां प्राणिनां स्वदोषेणैव नवविधत्वप्रतीतिः, यथा भ्रमरिकादृष्ट्या गृहीता भूमिरपि भ्रान्तेव दृश्यते तदपि तस्यैव दृष्ट्यैवमत्रापि

टिप्पण – [+] १ उत्पत्ति, २ सत्ता, ३ वृद्धि, ४. परिणाम, ५ अपक्षय, ६ नाश, यह ६ भाव विकार हैं

ब्रह्मविदां र्ध्ष्ट्या भगवान् वर्णितगुण एव, अन्यथा तदभिव्यक्त्यर्थं प्रयत्नं न कुर्युर्ब्रह्मादयोऽपि पश्चादुत्पन्नं न नमस्कुर्युः सायुज्यं चात्र न प्राप्नुयुरेतज्ज्ञानेन च सर्वज्ञा न भवेयुरेतन्निष्ठाश्च निर्गुणा न भवेयुरेतद्भजनेन च सर्वविकाररहिता न भवेयुः, सर्वेषु पदार्थेष्वेतं च न पश्येयुरेतज्ज्ञानेन च प्रपञ्चो न निवर्त्ततैतत्कृपया च ब्रह्मनिष्ठा न भवेयुः, अतोऽयमेतार्ध्श एव,

व्याख्यार्थ – अलौकिक सूख में वैसी विलक्षणताओं का सम्भव नहीं क्योंकि वह सुख स्वरूपतः सुख है, कामिनी, एवं पुत्र आदि के स्पर्श के विषय को लेकर नहीं वह तो सत्ता मात्र है किसी देश या काल में उसके अभाव का सम्भव नहीं वह व्यापक है अतः वह ही यथार्थ सुख है 'यो वै भूमावत्सुखम्–नाल्पे सुख मस्ति' आदि श्रुति भी इसी तत्त्व का प्रतिपादन करती है' अस्तु। जब 'सत्तामात्र' शब्द से व्यापक आनन्द का प्रतिपादन हो जाता है तब 'निर्विशेष' शब्द के प्रयोग की क्या आवश्यकता रह जाती है क्योंकि जो पदार्थ सविशेष होता है वह उस विशेष को लकर अन्य पदार्थ से भिन्न सिद्ध होता है, वैशेषिकों ने परमाणुओं के पारम्परिक विभेद का कारण विशेष पदार्थ माना है, सर्वव्यापक सत्तामात्र आनन्दमय ब्रह्म का भेद सम्भव ही नहीं उसकी निर्विशेषताओ अनुक्त सिद्ध है। ऐसी अवस्था में 'निर्विशेष' शब्द का प्रयोग एक लौकिक नियम का अलौकिक विषय मे अनादर बतलाने को उसकी अमान्यता सूचित करने की किया है, कि यद्यपि सम्पूर्ण जगत् ही सद् रूप है, 'घटः सन् पटः सन्' घट है, पट है, इत्यादि प्रतीति के आधार पर सता सर्वत्र व्याप्त है एवं सर्वत्र ही नाम 'रूप' विशेष भी धर्म रूप से उपलब्ध होते है, जो है उसका कोई नाम विशेष 'घट' आदि भी है एवं उसका रूप विशेष भी रक्त, कृष्ण, गोलाकार, लम्बाकार आदि भी है ऐसा कोई भी सामान्य पदार्थ नहीं जो नाम रूप विशेष से सर्वथा रहित हो तथापि जगत् के पदार्थों की भांति ब्रह्म के भी सविशेष होने की शङ्का के निवारणार्थ 'निर्विशेष' शब्द का प्रयोग किया है, कि लौकिक विषय में ही यह व्याप्ति या नियम है कि सामान्य पदार्थ सविशेष ही होता है निर्विशेष नहीं, अलौकिक ब्रह्म के विषय में यह नियम नहीं वह तो सर्व विशेष, विनिर्मुक्त, निर्विशेष ही है, आशय यह है कि केवल उक्त नियम का ब्रह्म के विषय में अपवाद बतलाने को 'निर्विशेष' शब्द प्रयुक्त हुआ है अन्यथा उसकी आवश्यकता नहीं किन्तु पुनरुक्ति दोष का ही सम्भव था, उक्त नियम को अलौकिक विषय में इसलिये नहीं माना

जाता कि विशेष पदार्थ भेद करने वाले होते हैं, मूल सत्ता स्वरूप ब्रह्म में किसी से भेद अभीष्ट ही नही, उससे किसी को व्यावृत्त या पृथक् सिद्ध करना अपेक्षित ही नहीं एवं सम्भावित भी नहीं तो वहां विशेष से क्या प्रयोजन है, कार्य में तो सत्ता सर्वत्र ही व्याप्त है। अतः सत्तात्मक कारण रूप ब्रह्म से कार्य की तो व्यावृत्ति या भेद का सम्भव नहीं, यदि कार्य से उसका उपदान भिन्न हो तब तो उसमें उपादान कारणता ही नहीं मानी जा सकेगी– उपादान कारण तो पट में

श्रीसुबोधिनीः – नन्वेतत् सर्वं सर्वज्ञान्युपास्यत्वे भगवतः सम्भवति न त्विदानीमेवाविर्भूतस्य तथात्व वक्तुं शक्यत इत्याशङ्क्याह स त्वमिति, यदेतार्ऽशं तत् त्वमेव, तत्र हेतुर्विष्णुरिति, विष्णुर्हि पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वोपास्यः, स एव सर्वेषामधिदेवः, स एवाविर्भूत इति ब्रह्मवाक्यादवसीयते, नन्वेवमप्यंशावतारः स्यात् ततश्च मूलत्वाभावादुक्तं सर्वं बाधितमित्यत आह साक्षादिति, ननु वाक्यं गौणमपि भवति स्तुतिपरमपि भवति तस्मात् कथं निर्णय इति चेत् तत्राहाध्यात्मदीप इति, अध्यात्मं मदन्तःकरणं वस्तुतो जड मुग्धं सर्वशास्त्रविहीन तच्चेदेवम्प्रकाशयुक्त त्वत्सान्निध्यात् तदेवास्य कारणमित्यवसीयते, आधिदैविकस्यैवाध्यात्मप्रकाशजनकत्वात्, अतो मदनुभवेनापि भवानुक्तरूप एव, कार्यं चाव्यभिचारि लिङ्गम्।।२४।।

व्याख्यार्थ – तन्तुओं की भांति कार्य मे अनुस्यूत ही रहते हैं, 'घट' एवं 'पट' यह दोनों एक दूसरे से व्यावृत हैं तो एक दूसरे के कारण भी नहीं हैं, ब्रह्म सब का कारण है सद्रूप से सर्वानुगत है उसकी व्यावृत्ति नहीं अतः वह निर्विशेष ही है, 'निरीहम्' पद से ब्रह्म की चेष्टा का अभाव प्रतिपादन अभीष्ट है ब्रह्म सर्व चेष्टाओं से रहित है, क्योंकि चेष्टा करने वाला अपनी किसी अपूर्णता को पूर्ण करने के लिये चेष्टा करता है, ब्रह्म में अपूर्णता का संभव नहीं, भगवति श्रुति उसके विषय में प्रतिपादन करती है कि 'पूर्ण मदः पूर्ण मिदम्' परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म पूर्ण ही है, उक्त श्रुति में कारण सर्व चेष्टाओं से रहित है ऐसा सूचित किया है, सर्व जगत् का कारण ब्रह्म किसी भी प्रकार की चेष्टा नहीं करता उस कारण का लक्षण ही चेष्टा रहित होना है, और कार्य मात्र चेष्टा शील है, किसी भी प्रकार की चेष्टा होना कार्य में अनिवार्य है, आकाश आदि भी चेष्टा रहित नहीं शब्द को जन्म देने का चेष्टा आकाश आदि को भी प्रसिद्ध ही है, इतना ही नहीं किन्तु जिस प्रकार आवरण के हट जाने पर कार्य की स्थिति नहीं रहती वह भी हट जाता है, जिन कपाल आदिकों ने जितने अंश में आकाश को आवृत करके

घट रूप कार्य को उपस्थित किया था उन आवरण रूप कपाल आदि के हट जाने पर घट आदि कार्य भी हट जाता है उस घट आदि कार्य की नष्ट या चलित हो जाने की चेष्टा प्रतीत होती है उसी प्रकार वह आकाश भी जिसके आवृत होने से घट आदि कार्य ďष्टिगत हुए थे नष्ट या चलित प्रतीत होता है, एवं दीपक के चलने पर अंधकार का चलना प्रतीत होता है उसी प्रकार आकाश भी आवरण के हटने पर हटता हुआ प्रतीत होता है अतः आकाश में चेष्टा ही है, ब्रह्म में तो किसी प्रकार चेष्टा का सम्भव नहीं क्योंकि न तो उसका कोई आवरण करने वाला है और न वह किसी प्रकार के व्यवहार का विषय ही है, अतः उसकी निरीहता सिद्ध ही है, यद्यपि किसी एक ही विशेषण से सर्व धर्मों का संग्रह संभावित है तो भी नव (९) प्रकार से विलक्षणता का बतलाना आवश्यक है अतः नव (९) विशेषण कहे हैं, पूर्वोक्त नव (९) विशेषणों के द्वारा जैसा मूल कारण ब्रह्म का स्वरूप कहा है वैसा ही प्रत्यक्ष ďष्टिगत यह स्वरूप है, व्यक्त आदि (९) नव प्रकार के लोगों को अपने दोष से ही उनमें व्यक्तत्व आदि नव (९) दोषों की प्रतीति होती है, प्राणी स्वयं व्यक्त, आधुनिक, परिच्छिन्न पर प्रकाश्य, सगुण, सविकार, त्रैकालिक, सत्ताहीन, सविशेष, सचेष्ट होते हैं उनको भगवत्स्वरूप में भी व्यक्तत्व आदि नव धर्मों की प्रतीति होती है, जैसे घूमती हुई ďष्टि से देखी गई पृथ्वी घूमती सी प्रतीत होती है उसी प्रकार भगवत्स्वरूप भी व्यक्त आदि रूप से प्रतीत होता है, भ्रान्त ďष्टि वाले की ďष्टि से ही पृथ्वी भ्रमित –

श्लोकः – नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु ।।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञः ।।२५।।

मूलार्थ – द्विपरार्ध (ब्रह्मा की पूर्ण आयु) के समाप्ति काल में भुवनों के नाश हो जाने पर एवं प्रकाश के विलीन हो जाने पर पृथ्वी आदि महाभूतों के आदिभूत अहंकार में लीन हो जाने पर काल वेग से सब ही व्यक्त हुए महतत्व आदि पदार्थों के अव्यक्त (प्रकृति अथवा अक्षर ब्रह्म) में प्राप्त हो जाने पर अपनी अशेष संज्ञाओं को धारण किये हुए सर्व शब्दों के वाच्यार्थ आपही एक अवशिष्ट रहते हैं।।२५।।

श्री सुबोधिनी: – एवमाधिदैविकरूपं निरूप्याध्यात्मिकं रूपं निरूपयति 'नष्टे लोक इति', आधिभौतिकस्य सर्वस्याध्यात्मन्येव लयः, तस्यैवात्मत्वप्रतिपादनात्, दृश्यते च स्वप्नादौ बाह्यप्रकाशेप्यान्तरः प्रकाशः,

व्याख्यार्थ – प्रतीत होती है, स्थिर दृष्टि वाले की दृष्टि से नहीं, भगवत्स्वरूप भी संसारी लोगों की दृष्टि से ही व्यक्त आदि रूप से प्रतीत होता है ब्रह्मवेत्ताओं की दृष्टि से तो अव्यक्त, आद्य आदि वर्णन किये गये गुणों से परिपूर्ण ही दिखता है, यदि भगवान् अव्यक्त नहीं होते व्यक्त ही होते तो उनकी अभिव्यक्ति (प्राकट्य) के लिए भक्त जन प्रयत्न नहीं करते क्योंकि व्यक्त तो प्रकट ही है उसकी अभिव्यक्ति तो स्वतः सिद्ध है, उसके अर्थ प्रयत्न प्रकाश में दीपक जलाने की भाँति व्यर्थ ही है अतः अभिव्यक्ति के प्रयत्न से सिद्ध होता है कि आप अव्यक्त है, एवं यदि आप आद्य नहीं आधुनिक होते तो इस अर्वाचीन स्वरूप को ब्रह्मादिक सर्व प्राचीन देवता नमस्कार नहीं करते, यदि आप ब्रह्म नहीं होते तो मुक्तात्मा इस स्वरूप में सायुज्य को प्राप्त नहीं कर पाते, यदि स्वयं प्रकाश ज्योति रूप नहीं होते तो इनके ज्ञान से साधक गण सर्वज्ञ नहीं हो पाते, यदि निर्गुण नहीं होते तो इसमें निष्ठा रखने वाले लोग निर्गुण नहीं हो पाते, यदि निर्विकार नहीं होते तो इनके भजन से भक्तजन सर्व विकार रहित नहीं हो पाते, यदि सर्व देश–काल में सत्तात्मक रूप से नहीं विराजते तो सर्व पदार्थों में इनका दर्शन न हो पाता, यदि नाम रूप आदि विशेषों से विरहित न होते तो इनके ज्ञान से नाम रूपात्मक प्रपञ्च की निवृत्ति नहीं हो पाती, यदि स्वयं पूर्ण होने के कारण चेष्टा रहित न होते तो इनकी कृपा से लोगे ब्रह्मनिष्ठ परम शान्त भी नहीं हो पाते, अतः यह प्रत्यक्ष दृश्यमान स्वरूप ऐसा ही है, एक शङ्का हो सकती है कि यह सब कुछ उस दशा में सम्भावित है जब भगवान् सर्व ज्ञानी जनों के उपास्य रूप में माने गये हों, इस समय प्रकट हुए स्वरूप को 'अव्यक्त' आदि कहना शक्य नहीं, सामर्थ्य से साध्य नहीं, उक्त आशङ्का के निवारणार्थ कहती हैं कि 'सत्वम्' वह आप ही हैं, जो ऐसा अव्यक्त आदि स्वरूप है वह आप ही हैं, उसमें कारण आपका विष्णु रूप होना है, क्योंकि कि विष्णु ही अव्यक्त आदि पूर्ण वर्णित प्रकार से सर्व साधारण के उपास्य हैं, वह ही सबके अधिदेव हैं, वह ही आप प्रकट हुए हैं, ऐसा ब्रह्माजी के वचन से निश्चित होता है, 'दिष्ट्याम्ब! ते

कुक्षिगतः परः पुमान्' ऐसा ब्रह्मा का स्पष्ट वचन है, यद्यपि ब्रह्मा के उक्त वचन में 'अंशेन जातः' अंश शब्द का प्रयोग किया है अतः अंशावतार की सम्भावना हो सकती है, तब मूल रूप होने के कारण पूर्व में कहा हुआ सब ही बाधा ग्रस्त है, युक्ति सङ्ग.त नहीं, ऐसी शङ्क.ा के निवारणार्थ 'साक्षात्' पद का प्रयोग कर श्री देवकी ब्रह्माजी के पूर्वोक्त वचन गत 'अंशेन' के साथ प्रयुक्त हुए 'साक्षात् भगवान् भवायनः' साक्षात् पद का स्मरण दिलाती है कि आप साक्षात् मूल रूप ही है –

श्री सुबोधिनी – तस्मादय भगवानात्मा, अन्यस्य लयावधित्वं नास्तीति तस्य लयावधित्वमाह लोके प्रकाशे चतुर्दशलोकेषु च नष्टेषु सर्वनाशो नियतकाल इति 'ज्ञापयितुमाह द्विपरार्धावसान इति, ब्रह्मण आयुः परशब्देनोच्यते, तस्यार्धं परार्धं, परार्धद्वये ब्रह्मसमाप्ति, बन्धमोक्षव्यवस्थां लोके वक्तुं ब्रह्मण आयुषोऽर्धव्यवहारो ब्रह्मण उत्तरायुष्येव ब्रह्माण्डस्थानां मुक्तिरितिज्ञापनार्थः, द्विपरार्धस्याप्यवसाने समाप्तौ,

व्याख्यार्थ – किसी ज्ञान का क्रिया के अंश से प्रकट हुए हों ऐसी बात नहीं है, श्री देवकी ने ब्रह्मा के कथन से ही भगवान् की परमतत्व रूपता समझी हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा का उक्त वाक्य 'सिहोमाणवकः' की भांति गौण भी हो सकता है, जिस प्रकार बालक में शूरता आदि गुणों को देखकर उसे सिंह कह देते है उसी प्रकार मूल तत्व के किसी अंश को लेकर भी अंशावतार को साक्षात् भगवान् कहा जा सकता है, तथा प्रशंसात्मक स्तुति में भी ब्रह्मा का तात्पर्य हो सकता है प्रशंसा सर्वांश में यथार्थ ही हो ऐसा नियम नहीं है, श्री देवकी ने अपने अन्तःकरण के संवाद से निर्णय किया है आप कहती है कि 'अध्यात्मदीपः' मेरा अध्यात्म यह अन्तःकरण जो कि जडता एवं मोह से व्याप्त है सर्व शास्त्र विहीन है जिसे किसी प्रकार से प्रकाश प्राप्त नहीं हुआ, उस अन्तःकरण का आपके सन्निधान से इस प्रकार प्रकाश पूर्ण हो उठना ही सूचित करता है कि आप परम तत्त्व हैं, इस जड़ मुग्ध अन्तःकरण की प्रकाश पूर्णता का कारण आपका मूल रूपत्व ही है ऐसा निश्चय होता है, क्योंकि अध्यात्म को प्रकाशित करने वाला आधिदैविक ही होता है, अतः मेरे अनुभव से ही आप उक्त रूप ही हैं, अव्यक्तादि विशेषण विशिष्ट परम कारण मूल तत्व आधिदैविक स्वरूप ही हैं, क्योंकि कार्य तो बिना कारण के होता नहीं धूम अग्नि के बिना नहीं हो सकता वह अग्नि का कार्य है, अग्नि से प्रकट होता है, उसे देखकर अग्नि नहीं भी दीखता तो भी निर्णय कर लिया जाता है कि अग्नि है, क्योंकि धूम अग्नि से व्यभिचरित नहीं होता वह उसका अव्यभिचारी लिङ्ग.

है (चिन्ह है) उसको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं रहता अतः धूम अग्नि का अनुभाषक या निश्चायक है उसी भांति अध्यात्म (अन्तःकरण का प्रकाश भी) भगवान् के आधिदैविक होने का निश्चायक है।।२४।।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार आधिदैविक स्वरूप का निरूपण कर 'नष्टे लोके' आदि श्लोक से आध्यात्मिक स्वरूप का निरूपण करती हैं, समस्त आधिभौतिक पदार्थ का लय अध्यात्म में ही है क्योंकि 'अधिक आत्मा' :अध्यात्मा', इस व्युत्पत्ति से सर्वाधिक आत्मा ही सर्व तत्त्वों का लय स्थान होने से आत्मारूप से प्रतिपादित हुआ है, स्वप्न आदि मे देखा जाता है कि बाह्य वस्तु के सर्वथा प्रकाश न रहने पर भी आन्तरिक प्रकाश होता है, उक्त कारण से यह स्वीकार करना पड़ता है कि यह भगवान् आत्मा है, प्रलय काल में अन्य कोई स्वप्न का द्रष्टा जीव लय का अवधि नहीं होता, वह तो स्वप्नावस्था में ही उस प्रकार का हो सकता है, इस –

श्री सुबोधिनी – ब्रह्माण्डस्य तु प्रलयस्तदैव भवति, तदा तत्त्वानि तिष्ठन्ति, तेषामपि प्रलयमाह महाभूतेष्वादिभूत गतेष्विति, आदिभूतशब्देनाहङ्कार उच्यते, अग्रे महत्तत्वस्यापि प्रकृतौ लयस्य वक्ष्यमाणत्वात्, अहङ्कारोऽपि महति लीयत इति ज्ञापितं, भूतानामादिभूत इतिव्युत्पत्त्याऽऽदि–भूतशब्दवाच्योऽहङ्कारो भवति, आदौ भूतो जातश्चेन्, महत्तत्वमेव, व्यक्ते, महत्तत्वेव्यक्तं प्रकृति गते सति, व्यक्ताव्यक्तपदाभ्यामेतत् सूचयति, अक्षरात् प्रकृतिपुरुषविभागपक्षे प्रकृतिपुरुषयोरप्यक्षरे लयः, कालादीनामव्यक्ततैव, किं बहुना ? सर्वमेव व्यक्तमव्यक्ते प्रविष्टं, तत्र प्रवेशे कालवेग एव हेतु, भगवतः सर्वोपसंहारेच्छायां सर्वोपसंहारार्थमधिकारी कालो वेगवत्तरो भवति, एव स्वयमप्यक्षरे, अक्षर पुरुषोत्तमे, पुरुषोत्तमाभिन्ने वाऽक्षरे, तदा भवानेवैकः शिष्यते, तस्य भगवतः स्वरूपाणि यानि स्थितान्याधिदैविकानि तेषामपि लयमाशङ्क्य

व्याख्यार्थ – कारण भगवान् को ही लय का अवधि बतलाती है कि लोक के नष्ट हो जाने पर आप ही शेष रहते हैं 'लोक' शब्द से 'प्रकाश' तथा 'चतुर्दशभुवन' दोनों ही का ग्रहण अभीष्ट है, सर्व नाश एक किसी निश्चित काल में होता है ऐसा बतलाने को 'द्विपरार्धावसाने' कहा है, ब्रह्मा के आयु को 'पर' शब्द से कहते है, उस आयु के अर्द्ध भाग को परार्ध कहते हैं, दो परार्धों के समाप्त होने पर ब्रह्मा की समाप्ति हो जाती है, ब्रह्मा के आयु का अर्द्ध व्यवहार अर्थात् पूर्वार्ध और परार्ध इस प्रकार का विभाग लोक में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था के सूचनार्थ ही प्रचलित हुआ है, कि

जिससे लोगों को ज्ञात हो जावे कि ब्रह्मा के आयु के उत्तरार्ध में ही[+] ब्रह्माण्डवर्ती जीवो की मुक्ति होती है, द्विपरार्ध के भी अवसान अर्थात् समाप्ति होने पर ही ब्रह्माण्ड का प्रलय होता है, ब्रह्माण्ड का प्रलय तो तब ही होता है परन्तु उस समय तत्त्व रह जाते हैं, उनके प्रलय को भी कहती है कि पृथ्वी आदि महाभूत अहङ्कार को जो कि सर्व भूतों का आदि भूत है उसे प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् उसमें लीन हो जाते हैं, आदि भूत शब्द से अहङ्कार कहा जाता है, आगे महत्तत्व का लय प्रकृति में होता है ऐसा कहेंगे अतः अहङ्कार भी महत्तत्व में लीन हो जाता है यह सूचना मिलती है, आदि भूत शब्द से अहङ्कार का ग्रहण ''भूतानामादिभूतः'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पृथ्वी आदि भूतों के प्रथमवर्ती होकर उनको उत्पन्न करने से उचित ही है, यदि आदौ भूतो जातः इस प्रकार व्युत्पत्ति अभीष्ट है तो 'महत्तत्व' का ग्रहण 'आदिभूत' शब्द से सम्भावित है, 'व्यक्त' महत्तत्व के 'अव्यक्त' प्रकृति को प्राप्त कर लेने पर भगवान ही शेष रहते हैं, यहाँ 'व्यक्त' 'अव्यक्त इन पदों द्वारा श्री देवकी यह सूचना देती हैं कि जब यह मान्यता है कि अक्षर ब्रह्म से प्रकृति और पुरुष का विभाग हुआ है तो उस पक्ष में प्रकृति और पुरुष का भी अक्षर ब्रह्म में लय होता है,

श्री सुबोधिनी – तन्निवृत्त्यर्थमाहाशेषसंज्ञ इति, अशेषाः सर्वाः संज्ञा यस्य, सर्वशब्दवाच्यो भगवानेक एवेति, एक एव शिष्यत इत्यर्थः, एवमाधिभौतिकानां सर्वेषा लयस्थानभूतोऽध्यात्मा उक्तः ।।२५।।

व्याख्यार्थ – 'व्यक्त' शब्द से प्रकृति और पुरुष भी संगृहीत होते है, और 'अव्यक्त' शब्द से अक्षर ब्रह्म का संग्रह अभीष्ट है, काल आदि तो अव्यक्त ही है, अधिक कहने से क्या प्रयोजन है सब ही 'व्यक्त' प्रकट हुए पदार्थ 'अव्यक्त' अक्षर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, प्रवेश कर जाते हैं, उस प्रवेश में कारण काल का वेग ही है, जब भगवान् सर्व जगत् को समाप्त करना चाहते हैं तो उस कार्य के लिये उनका अधिकारी काल तीव्र वेग धारण करता है, और वह स्वयं काल भी अक्षर ब्रह्म में ही लीन हो जाता है, अक्षर ब्रह्म का लय परब्रह्मपुरुषोत्तम में होता है अथवा उनके चरण रूप होने से उनके स्वरूप से

टिप्पण – [+] यहा जिनकी मुक्ति की चर्चा की है वह ज्ञानी एवं भक्तो से अतिरिक्त अधिकार प्राप्त जीवो की समझनी, ज्ञानी और भक्तो को किसी काल विशेष का बन्धन नहीं है –

पृथक् न रहकर उनके चरण में ही प्रवेश कर जाता है, उस समय केवल भगवान् ही आप शेष रहते हैं, उक्त अवस्था में भगवान् जो आधिदैविक स्वरूप हैं उनका लय भी हो जाता होगा इस आशङ्का के निवारणार्थ 'अशेष संज्ञः' पद का प्रयोग किया है कि आपकी तो सब ही संज्ञा यथावत् रहती हैं, आप तो अपने वाचक अशेष शब्दों से वाच्य बने रहते हैं, अनन्त शब्दों के द्वारा जिन जिन अनन्त रूपों का बोध होता है उन सर्व रूपों को लेकर आप एक मात्र अवशिष्ट रहते हैं, इस प्रकार सब ही आधिभौतिकों के लय स्थान आध्यात्मा का प्रतिपादन किया है।।२५।।

श्लोकः– योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्त बन्धो! चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम्।।

निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयाँस्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये।।२६।।

मूलार्थ – हे अव्यक्त बन्धो! प्रकृति के सहायक! यह सम्पूर्ण विश्व जिससे चेष्टा प्राप्त कर रहा है वह जो यह काल है उसे आपकी चेष्टा बतलाते हैं, वह निमेष से लेकर वर्ष पर्यन्त का है वर्षों से भी उसका अन्त नहीं वह अत्यन्त महान् है उस काल के स्वामी मङ्गलमय धाम विशुद्ध सत्व में विराजनेवाले सर्व समर्थ आपकी मैं शरणागत हूँ।।२६।।

श्री सुबोधिनी – आधिभौतिकं रूपमाह योऽयं काल इति, आधिभौतिकानामाधिभौतिकभूतो भगवान् न त्वाधिभौतिक एव, तथात्वज्ञापकमाह कालो यस्य चेष्टेति, कालप्रेरितानि सर्वाण्येवाधिभौतिकानि, योऽयं कालः सर्वेषां निमित्तभूतः, तस्य सर्वेषां मूलभूतस्य –

व्याख्यार्थ – श्री देवकी उक्त श्लोक में भगवान् के आधिभौतिक रूप को कहती है, उनके आधिभौतिक होने का प्रकार यह है कि आधिभौतिक वर्ग मे प्रवेश कर आधिभौतिक कहलाते हैं, जैसे वह चक्षु के चक्षु है, श्रोत्र के श्रोत्र हैं, वैसे ही आधिभौतिको के आधिभौतिक हैं, न कि आधिभौतिक ही हैं, उक्त प्रकार से उनके आधिभौतिक हो जाने का ज्ञान कराने के लिये काल को उनकी चेष्टा बतलाया है कि यह जो काल है जिसके द्वारा सब ही आधिभौतिक वर्ग प्रेरणा प्राप्त करते हैं वह आपकी चेष्टा है, श्री देवकी का कहना है कि सब का निमित्त कारण जो यह काल है वह आप ही हैं क्योंकि सबके मूल कारण तो आप ही ठहरे अतः काल में प्रवेश कर उसे प्रेरणा शक्ति का लाभ कराने के काल भी आपका अन्यतम रूप है जैसा कि श्री कपिल देवजी ने देवहूति के प्रति कहा है कि 'प्रकृतेर्गुण साम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि! चेष्टा यतः स

भगवान् काल इत्युपलक्षितः' भा. तृ. स्कं २६ अध्याय श्लो. १० हे मनुपुत्रि! आप महात्मा मनु की पुत्री होने के कारण अलौकिक प्रकार को समझती है जब तक काल के द्वारा प्रकृति के गुणों में क्षोभ का उदय नहीं होता तब तक किसी भी प्रकार का विशेष (भेद) न होने से उन गुणों की साम्यावस्था निर्विशेष कहलाती है काल के द्वारा चेष्टा प्राप्त होने पर ही उन गुणों में क्षोभ होता है उनकी निष्क्रियता दूर होती है वह सक्रिय होकर परस्पर में एक दूसरे का अभिभव करते हैं एवं उत्तरोत्तर प्राकृत तत्वों का सर्जन करते हैं वह चेष्टा का हेतुकाल उपलक्षण रूप से भगवान् ही समझा जाता है वास्तव में तो वह काल आपकी चेष्टा ही है, उक्त श्लोक में "आहुः" इस क्रिया पद से भगवान् की चेष्टा के काल रूप होने में प्रमाण को आकाङ्क्षा को शान्त करती हैं कि अलौकिक तत्त्व के यथार्थ दर्शी महानुभावों ने भगवान् की चेष्टा को काल कहा है, भगवान् की चेष्टा के अस्तित्व में प्रमाण की आकाङ्क्षा को शान्त करने के लिये अनुमान प्रमाण –

श्री सुबोधनी – स एव भवानिति ते तव चेष्टामाहुः, ननु भगवतश्चेष्टासत्त्वे किं प्रमाण चेष्टाया वा कालत्वे ? तत्राहुरिति चेष्टायाः कालत्वे मानमुक्तं, चेष्टासत्त्वे मानमाह चेष्टते येन विश्वमिति, येन कालेन विश्वमेव चेष्टते, न हि कारणस्य चेष्टाभावे कार्ये चेष्टा भवति, कालवशाच्च चेष्टा, चेष्टाया कर्मरूपत्वात्, कर्म च कालजनितं, काले कर्मविधानात् अतो भगवच्चेष्टारूपः कालः, ननु प्रकृतिकारणपक्षे तद्द्वारा कार्यपक्षे वा न चेष्टारूपः कालः सिध्येदित्याशङ्क्याहाव्यक्तबन्धो इति, अव्यक्तस्य प्रकृतेर्बन्धुः सर्वकार्यकर्ता, अतः प्राकृतकार्यपक्षेऽपि चेष्टारूपः कालः, आधिदैविककालस्य भगवद्रूपत्वात् तद्व्यावृत्त्यर्थमाह निमेषादिर्वत्सरान्त इति, यद्यपि परमाणुकाल आदि भूतस्तथापि परमाण्वादिलावान्तानामतिसूक्ष्मत्वाद् व्यवहारानौपयिकत्वमाशङ्क्य निमेषादिरेव गृहीत, 'द्विपरार्धावसान' त्वाच्चेष्टारूपकालस्य संवत्सरो मध्यम इति

व्याख्यार्थ – का उपन्यास करती कहती हैं कि 'चेष्टते येन विश्वम्' जिस काल में समस्त विश्व चेष्टा युक्त हुआ हैं, विश्व का सचेष्ट होना ही भगवान् की सचेष्टता का साधक है क्योंकि विश्व कार्य है भगवान् कारण है, कारण के धर्म हीं कार्य में उपस्थित होते हैं, विश्व में चेष्टा प्रत्यक्ष उपलब्ध होती है तो उसके कारण भगवान् में भी चेष्टा की सत्ता है भगवान् भी चेष्टावान है, यह सिद्ध हो जाता है, अनुभावियों ने चेष्टा को काल इसलिये कहा है कि समस्त चेष्टा काल ही के आधीन है और काल वश से ही चेष्टा होती है, चेष्टा का स्वरूप कर्म ही है, कर्म ही उत्पत्ति काल से है क्योंकि उन उन

कर्मों के लिये शास्त्र ने नियत काल का निर्देश किया, कि अमुक काल में अमुक कर्म कर्त्तव्य है अतः काल को कर्मों का कारण मानना आवश्यक है, जो जिसका कारण होता है वह उसका प्रकारान्तर से एक रूपान्तर है अतः कर्म या चेष्टा को काल बतलाना युक्ति युक्त ही है, काल भगवान् को चेष्टा का ही स्वरूप है, जिस पक्ष में प्रकृति को विश्व का कारण माना है अथवा प्रकृति के द्वारा विश्व की कार्य रचना होती है ऐसा स्वीकार किया है, उस पक्ष में काल की चेष्टा रूपता सिद्ध न हो पावेगी ऐसी आशङ्का कर 'अव्यक्तबन्धो! इस सम्बोधन से समाधान करती हैं कि हे अव्यक्तबन्धो! आप तो अव्यक्त (प्रकृति) के बन्धु (सहायक) है, बन्धु बन्धु की सहायता करता है आप प्रकृति के सर्व कार्यों को सिद्ध करते हैं, अतः प्रकृति सम्बन्ध से प्राकृत कार्य जगत् होता है इस पक्ष में भी प्रकृति के बन्धु भगवान् चेष्टा करते ही हैं, तो उस पक्ष में भी भगवान् का चेष्टा रूप काल सिद्ध होता है, आधिदैविक काल तो भगवद्रूप होता है अतः उसे चेष्टात्मक न समझ लिया जावै इसलिये आधिभौतिक काल के आकार को भी बतला देती हैं कि निमेष से लेकर वर्ष पर्यन्त का जिसका विभाग है वह काल आपकी चेष्टा है, यद्यपि काल के अवयवों में सर्व प्रथम आदि अवयव परमाणु काल माना है परन्तु –

श्री सुबोधिनीः – ततोऽप्याह महीयानिति, एवं यस्य चेष्टा कालो य "श्चावशिष्यते" यश्चाधिदैविकः सर्वकारणभूतस्तं त्वां प्रपद्ये शरणं गच्छामि, अनेन 'बालकः पुत्रं कथं शरणार्ह इति निरस्तं, तं त्वामित्यत्र प्रमाणं पूर्वमुक्तमे 'वाहु' रित्य 'ध्यात्मदीप' इति च 'विष्णु' रिति च, एवं सर्वरूपोऽपि यदि रक्षादिकं नाविष्कुर्यात् तदा शरणागतिरप्रयोजिकेति तद्व्यावृत्त्यर्थमाहेशानमिति, यत्र भगवत एतावन्तो धर्माः स ईश एव भवति, ऐश्वर्य विलम्बं न सहते न चोपेक्षते, नन्वीश्वरो दैत्यपक्षपाती चेत् तदापि कार्यं न सिध्यतीति तदर्थमाह क्षेमधामेति, क्षेमाख्यं शुद्धसत्त्वं धाम यस्य, अतः शिष्टानामेव पक्षपातं करिष्यतीति न काचिच्चिन्ता, आधाररूपधर्मस्यैव प्राधान्यख्यापनार्थं लिङ्गव्यत्ययः।।२६।।

व्याख्यार्थ – परमाणुकाल से लेकर लव पर्यन्त का काल अत्यन्त सूक्ष्म होने से व्यवहार में उपयुक्त नहीं अतः निमेष से ही प्रारम्भ मान कर उसका ही आदि रूप से ग्रहण किया है, वर्ष पर्यन्त का काल भी पूर्ण तो नहीं है चेष्टात्मक काल को समाप्ति तो वहाँ पर नहीं होती उसके एक अंश की समाप्ति ही वहाँ पर होती है, चेष्टात्मक काल तो उससे कहीं अधिक विशाल है, ब्रह्मा की आयु का अन्तिम भाग द्वितीय परार्ध जब समाप्त होता है तब उस काल का अन्त कहा जाता है, संवत्सर तो उसके मध्य में होता

रहता है अतः वह तो मध्यम काल ही है इस मध्यम काल से उसकी महत्ता का बोध कराने को (महीयान्) शब्द प्रयुक्त किया है कि आपका चेष्टा रूप काल तो अत्यन्त महान् है वत्सर पर्यन्त का कथन तो उसके अवान्तर भेद को लक्ष्य में रखकर कर दिया है, क्योंकि वत्सरों के द्वारा हो तो उसका परिणाम होता है, इस प्रकार काल जिसकी चेष्टा है, एवं सब के लय हो जाने पर जे अवशिष्ट रहता है, तथा जो आधिदैविक परतत्व है सर्व कारणों का कारण है वह आप ही हैं, मैं उन्हीं आपकी शरणागत हूँ, इस प्रकार आधिदैविक आदि रूप त्रय का प्रतिपादन करने से एक आक्षेप का समाधान किया है कि, जो बालक एवं पुत्र है उसे शरण कैसे किया जावे, इस आक्षेप को अवकाश नहीं क्योंकि आप तो वह ही है जो पूर्व में बतलाये गये हैं, इस विषय में प्रमाण तो 'आहुः' 'अध्यात्मदीपः' 'विष्णु' इन पदों द्वारा सूचित हो हो चुका है, इस प्रकार सर्व रूप होते हुए भी यदि रक्षा आदि धर्म को प्रकट नहीं करें तो शरणागति निष्प्रयोजन ही ठहरेगी अतः उसके निवारणार्थ कहती हैं कि ऐसा नहीं हो सकता आप 'ईशान' हैं, समर्थ हैं जिसमें भगवान् के इतने धर्म प्रकट हैं वह ईश ही होता है, ऐश्वर्य विलम्ब का सहन नहीं करता शीघ्र ही शरणागत का त्राण करता है और अपेक्षा भी नहीं करता शरणागत की रक्षा ही करता है, ईश्वर यदि दैत्यों का पक्षपाती होवे तो भी कार्य सिद्धि नहीं हो सकती इस शङ्क.ा के निवारणार्थ 'क्षेमधाम' पद का प्रयोग है, क्षेम नामक विशुद्ध सत्व हो आपका धाम है अतः विशुद्ध सत्व में विराजने वाले आप भद्र पुरुषों का ही पक्षपात करेंगे दैत्यों का नहीं अतः कोई चिन्ता नहीं है, 'क्षेमधाम की उक्त व्याख्या के अनुसार 'क्षेमधामानम्' ऐसा पुर्लिङ्ग. का निर्देश उचित था परन्तु आधार भूत विशुद्ध सत्व रूप धर्म की प्रधानता को बतलाने के लिये यह लिङ्ग. व्यत्यय हुआ है अर्थात् इस लिङ्ग. परिवर्तन से विशुद्ध सत्व की प्रधानता के साथ सत्पुरुषों को रक्षा सूचित होती है।

श्लोकः — मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् संर्वाल्लोकान् निर्भयं नाध्यगच्छत्।।

त्वत्पादाब्जं प्राप्य यर्ऽच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति।।२७।।

मूलार्थ — मरण धर्मा मनुष्य मृत्यु रूपी सर्प से डर रहा है, डर से भाग रहा है, ऊँचे नीचे लोकों में भटक रहा है कहीं भी निर्भयता या शान्ति इसे नहीं मिल पाती।

अकस्मात् आज आपके चरणारविन्द को प्राप्त कर स्वस्थ होकर शान्ति से सोता है, और इससे मृत्यु भाग जाता है।।२६।।

श्री सुबोधिनी – एवं भगवतो रूपत्रयं प्रपत्तिं च निरूप्य तस्याः प्रपत्तेः प्रकृतोपयोगित्वाय हेतुं निरूपयति मर्त्य इति, अतीन्द्रियः कालो लोके स्वज्ञापनार्थं स्वप्रतिकृतिं सर्पमुत्पादितवान्, लौकिकास्त्वलौकिक तद्द्वारैव प्रतिपद्यन्ते, यथा सिंहप्रतिकृतिर्ग्रामसिंहः, एवं बिडालगवादयश्च व्याघ्रगवयादीना प्रतिकृतिरूपाः।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार भगवान् के आधिदैविक आदि तीनों रूपों का तीन श्लोकों से निरूपण किया है और तृतीय श्लोक में शरणागति का भी निरूपण किया है, तदनन्तर उस शरणागति के प्रकृति में उपयोगी होने की सिद्धि करने के लिये श्री देवकी मर्त्य आदि श्लोक से श्रणागति के हेतु भय का निरूपण करती है, काल अतीन्द्रिय है इन्द्रियों द्वारा वह नहीं जाना जाता अतः उसने अपने स्वरूप को लोगों के बुद्धिगम्य बनाने को सर्प प्रकट किया सर्प काल की प्रतिकृति है उसके समान आकार प्रकार वाला है, लौकिक प्राणी उस अलौकिक या अतीन्द्रिय काल को सर्प के द्वारा ही समझ पाते हैं, जैसे सिंह जैसे आकार का श्वान होता है, व्याघ्र एवं गवय जैसे आकार के विडाल एवं गौ होते हैं, वह काल जिसे प्रकट करता है वह उसका भक्ष्य ही होता है अतः काल से रचे गये प्राणी 'मृत्यु' कहलाते हैं, उस काल की भार्या कुण्डिलिनी शक्ति है वह अपने भर्त्ता काल से परिचय करा देती है सब पुरुषों के देहों में उसका निवास है उस कुण्डलिनी शक्ति को प्रबोधित करने वाला योग ही है, योगी उस कुण्डलिनों के ही शरणागत होता है, तब उस काल भार्या कुण्डलिनी की प्रार्थना के कारण योगों को काल शीघ्र भक्षण नहीं करता, और उस काल का आध्यात्मिक रूप वेद है अतः वेदोक्त कर्म से भी विलम्ब होता है, जो कर्म मार्गी वैदिक कर्म का सविधि आचरण करते हैं, उनका भी भक्षण करने नें काल विलम्ब करता है, शीघ्र भक्षण नहीं करता है, अन्य सर्व पूराणोक्त देवता उस काल के आधिभौतिक रूप हैं वह भी विलम्ब के कारण हो जाते हैं, पुराणोक्त देवताओं के उपासक भी काल के शीघ्र भक्ष्य नहीं होते, यह तीनों प्राणी योगी, कर्मी, और उपासक निरन्तर एक ही साधन में निष्ठापूर्वक तत्परता से लगे रहते हैं अतः इनके भक्षण में विलम्ब होता है, और जो साधारण प्राणी है जिनको काल ने अपने भक्षण के लिये ही रखा है जो रन्धित ओदन (भात) की भांति सरलता से उसके गले में उत्तर

जाने वाले हैं वह लोग यदि काल के उल्लङ्घन के लिये प्रयत्न करते हैं तब काल के कार्य रोग आदि का अनुभव कर उस काल के निवारक रूप से सुने गये–

श्री सुबोधिनी – कालः स्वभक्ष्यमेव सृजति, अतः कालःसृष्टा मर्त्या इत्युच्यन्ते, तस्य च भार्या कुण्डलिनी शक्तिः स्वभर्तृज्ञापिका सर्वेषु पुरुषदेहेषु तिष्ठति, योगो हि तदुद्बोधकः, तच्छरणं गत एव योगी, तदा तया प्रार्थितः कालः शीघ्रं न भक्षयति, तस्य चाध्यात्मा वेद तदुक्तकर्मणापि विलम्बो भवति, अन्ये च सर्वे देवाः पुराणोक्तास्तस्याधिभौतिकरूपाणि, तेपि विलम्बहेतवो भवन्ति, इमे त्रिविधा अपि धर्ममार्गवर्तिनो निरन्तरमेकनिष्ठास्तत्प्रवणाः, ये पुनर्लौकिकाः साधारणाः शीघ्र भक्षणार्थमेव स्थापिता ओदनभूतास्ते चेत् कालातिक्रमार्थं यतन्ते तदा कालकार्यं स्वस्मिन् रोगादिकमनुभूय कालनिवर्तकत्वेन श्रुतान् बहूनेव धर्मान् कर्तुं यतन्ते तद्व्यालभीतस्य पलायनं मूषकस्येवाग्रे पतितस्य, मृत्युः कालस्य मुखं, सोऽपि व्यालः, भयहेतुवाचको व्यालशब्दो मुखहेतुक एव

व्याख्यार्थ – बहुत से धर्मों का आचरण करने का प्रयास करते हैं, वह उनका प्रयास सर्प से डरे हुए एवं उसके आगे पड़े हुए मूषक के भागने के समान व्यर्थ है, मृत्यु काल का मुख है वह भी व्याल है यद्यपि कोष में सर्प, दुष्ट, हस्ती, शठपुरुष, एवं व्याघ्र सिंह आदि हिंसक पशुओं को ही व्याल शब्द से बोधित होने वाले कहा है तो भी वह सब मुख के द्वारा ही भय के कारण है अतः काल के मुख रूप मृत्यु को व्याल कह देना समुचित ही है, उस मृत्यु के डर कर भागना मूषक की भांति ही सिद्ध होता है, जहाँ कहीं भी जाता है वहाँ भूख, प्यास, वृद्धता, शरीर की त्वचा का सिकुड़ना, बालों को श्वेत हो जाना आदि ऊँचे नीचे विविध प्रकार के काल धर्मों का अनुभव करता है, काल के कार्यों के देखने से भय बना ही रहता है उसकी निवृति नहीं होती, बहुत काल तक स्थित रहने वाले देवत्व, मनुष्यत्व, वृक्षत्व आदि धर्मों के प्राप्त होने पर भय की निवृत्ति होती होगी इस आशंका के निवारणार्थ कहा है कि 'सर्वाल्लोकान्' सब लोकों को दौड़ता हुआ भी निर्भयता को प्राप्त नहीं करता 'निभयम्' पद से भय का अभाव बोधित होता है अतः किसी भी उपाय से मृत्यु की निवृत्ति नहीं होती यह अर्थ सिद्ध हुआ, अथवा 'निर्भयम्' पद का अर्थ है 'भय का निवर्तक स्थान' ऐसा कोई स्थान विशेष नहीं मिल पाता जहाँ मृत्यु का भय न हो, सब लोकों को दौड़ता २ भय के निवारण करने वाले स्थान को नहीं पहुँच पाता, क्योंकि भय की निवृत्ति तो शास्त्र एवं निजानुभव इन दोनों के परस्पर में मेल मिलने पर ही हो सकती है, शास्त्र में जिसे निर्भय बतलाया

हो और अपने अनुभव से ही वह निर्भय ही सिद्ध होता है, जहाँ पहुँचकर किसी प्रकार के भय के उदय की हृदय में सम्भावना भी न हो, ऐसा स्थान शास्त्र एवं अनुभव के द्वारा अवगत नहीं होता, पूर्व में जिसकी चर्चा कर चुके हैं वह तीनों योग, कर्म और उपासना तो काल के आधीन ही हैं, अतः योगादि के साधन करने वालों को भी काल अवश्य भक्ष्य करता है, कुछ विलम्ब से भक्षण करे यह बात दूसरी है, परन्तु सर्वथा उनको छोड नहीं देता, अतः वह भय निवारण में समर्थ नहीं है –

श्री सुबोधिनी–यत्र क्वापि गच्छन् क्षुत्पिपासे जरावलीपलिताद्युच्चनीचधर्माननुभवति, अतः कालकार्यदर्शनाद् भयं न निवर्तते, देवत्वे मानुषत्वे वृक्षत्वे वा बहुकालस्थितधर्मेषु भयं निवर्तत इत्याशङ्क्य लोकान् सर्वानित्युक्तं, निर्भयं भयाभावं, अतः केनाप्युपायेन मृत्युर्न निवर्तत इति निर्भयं नाध्यगच्छन् भयनिवर्तकस्थानं वा, शास्त्रानुभवयोः संवादे हि तन् निवर्तते, येऽपि पूर्वमुक्तास्त्रिविधास्ते कालाधीना इत्यवश्यभक्ष्यत्वे न समर्था भवन्ति, प्रार्थना हि दुर्बला, एवं शरणान्वेषणार्थं परिभ्रमणे क्रियमाणे सर्वत्र प्रवर्तको भगवान् कदाचित् परितुष्यति तदा भगवच्चरणप्राप्तिः, सत्सङ्गो भागवत चेति भगवच्चरणद्वयमाधिभौतिकं, ज्ञानं भक्तिश्चाध्यात्मिक,

व्याख्यार्थ – पूर्वोक्त कुण्डलिनी की प्रार्थना इतना बल नहीं रखती जिससे वह काल सर्वथा भक्षण न करे, इस प्रकार अपने रक्षक के ढूँढने को परिभ्रमण किया जा रहा है ऐसी देशा में सर्वत्र प्रवृत्ति कराने वाले भगवान् कदाचित् सन्तुष्ट हो जावें तब उनके चरण को प्राप्ति होती है, 'सत्सङ्ग' एवं 'श्रीमद्भागवत' यह दोनों भगवान् के आधिभौतिक चरण युगल हैं, ज्ञान एवं भक्त, यह दोनों आध्यात्मिक चरण युगल हैं एवं उन प्रसन्न हुवे भगवान् के साक्षात् चरण युगल आधिदैविक तो है हीं, उनमें से किसी एक को भी प्राप्ति हो जाने पर पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है ऐसा सूचित करने को 'त्वत्पादाब्जम्' यह एक वचन प्रयुक्त किया है, उक्त पद में भगवान् के साथ उनके चरण कमल को प्राप्ति को सूचना है क्योंकि समास के द्वारा उनकी मिलित रूप से उपस्थिति होती है, 'ते पादाब्जम्' इस प्रकार पृथक पदों का उपन्यास न कर समास युक्त पद का प्रयोग भगवान् को लक्षित कर सत्संग, भागवतादि का सेवन कर्त्तव्य है, ऐसा सूचित करता है, भगवान् के साथ उनके किसी भी अन्यतम चरण कमल का लाभ होने से कृतार्थता हो जाती है, यह चरण कमल का लाभ किसी काल से सम्बन्धित नहीं है कि अमुक समय उसको प्राप्ति के लिए नियत हो वह सर्वथा काल के आधीन नहीं

वह तो भगवदिच्छा पर ही निर्भर है अतः भगवदिच्छा के बोधक 'यदृच्छया' पद प्रयोग किया है, नियत हुए काल की यदृच्छा नहीं कह सकते आकस्मिक स्थल में ही यदृच्छा शब्द का प्रयोग होता है अतः भगवच्चरणारविन्द की प्राप्ति भगवदाधीन ही है कालाधीन नहीं यह सिद्ध होता है, 'पादाब्जम्' शब्द से चरण को कमल बतलाया है, कमल जल में होता हुआ भी उससे अस्पृष्ट एवं अन्यान्य पुष्पों से अधिक शोभाशाली होता है प्रभु का चरण भी लोक में होते हुए अलौकिक तथा अपने स्वरूप का चमत्कार बतलाने वाला अतिशय शोभाशाली है ऐसा प्रतिपादन यहाँ अभीष्ट है, भगवच्चरण की शोभा कुण्डलिनी, वेद, देव इन तीनों से कहीं अधिक यह तीनों काल के आधीन हैं –

श्री सुबोधिनी – चरणावेव प्रसन्नस्याधिदैविकौ तन्मध्येऽन्यतरप्राप्तावपि कृतार्थतेति ज्ञापयितुं त्वत्पादाब्जमित्युक्तं, भगवत्सहितं भगवच्चरणारविन्दं प्राप्य, यदृच्छया भगवदिच्छया, कालसम्बन्धाभावाय यदृच्छयेत्युक्तं, नियतकालस्य यदृच्छात्वाभावात्, अब्जपदेन चालौकिको लोक एव ज्ञापकः शोभातिशयो निरूपितः, त्रितयापेक्षयाप्यतिशयः, अनेनैव विश्वासेन, अद्यैव यदैव चरणप्राप्तिस्तदैव, स्वस्थः शेते, मृत्युनिवारणार्थं यत्नं च न करोति, मृत्युः पुनः स्वत एव निवर्तते भगवच्चरणारविन्दमत्र वर्तत इत्यास्मादसाध्यादपगमनं युक्तमेव, शास्त्रं तु प्रमाणं, सवादस्त्वलौकिकभावसिद्धिः, कालनियन्ता च भगवान्, अतोनुभवप्रमाणयुक्तयोऽत्रैव सन्तीति न पूर्ववदस्मिन् मार्गे शङ्का, निःकपटतया प्रवृत्तौ तु नात्र व्यभिचारः ।।२७।।

व्याख्यार्थ – भगवच्चरण काल के आधीन नहीं, काल से अतीत है काल भी उसके अधीन है, जो भगवच्चरण का आश्रय करता है वह काल कलवित नहीं होता ऐसा विश्वास अपेक्षित है, इस विश्वास के साथ जब ही जीव प्रभु चरण का आश्रय करता है उसी समय निश्चिन्त हो जाता है इस आशय 'अद्य' पद का प्रयोग है, आज अभी चरण कमल को आकस्मिक प्राप्ति होते ही तत्काल ही वह जीव स्वस्थ होकर शयन करता है, अब मृत्यु के निवारण का प्रयत्न नहीं करता, मृत्यु तो फिर अपने आप ही निवृत हो जाता है, क्योकि वह मृत्यु सोचता है कि इसके हृदय में भगवच्चरणारविन्द विराजमान हैं अतः मेरा प्रभाव यहां न चलेगा, यह मेरे लिये असाध्य है इससे हट जाना ही उचित है, उक्त विषय में प्रमाणे शास्त्र हैं, ही परन्तु अलौकिक भाव की सिद्धि ही अपने अनुभव के साथ उन शास्त्रों का संवाद होना है, अर्थात् स्वानुभवैकवेध अलौकिक भाव के उदय होने पर ही शास्त्र प्रतिपादित भगवच्चरण की काल भय निवारकता का

प्रत्यक्ष हो जाता है, जब हृदय में भगवान् के चरणों के प्रति अलौकिक भाव सिद्ध होता है तब स्वयं ही भावुक का हृदय निर्भयता का अनुभव करता है, भगवान् काल के नियामक हैं उसे अपनी इच्छानुसार प्रेरणा देते हैं, उसका नियन्त्रण करते हैं अतः अनुभव, प्रमाण एवं युक्ति इसी पक्ष में हैं कि भगवच्चरण शरण जीव ही निश्चिन्त होता है अतः योगादि मार्गों की भांति शरण मार्ग में कोई भी शङ्का का अवसर नहीं उसके लेश का भी अवकाश नहीं, निष्कपट भाव में शरण मार्ग में प्रवृत्ति हो जाने पर सर्वथा निर्भयता हो जाती है ऐसा दृढ सिद्धान्त है अकाट्य नियम है, इस नियम का व्यभिचार या भग नहीं हो सकता, भक्त प्रह्लाद आदि उक्त सैद्धान्तिक नियम के उज्जवल उदाहरण उपस्थित हैं।।२७।।

श्लोकः – स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्नस्त्राहि त्रस्तान् भृत्यवित्रासहासि।।

रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्णयं मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः।।२८।।

मूलार्थ – वह आप हमारी उस भयङ्कर उग्रसेन के पुत्र कंस से रक्षा करें हम उससे भयभीत हो रहे हैं, आप सेवकों के भय का निवारण करने वाले हैं, इस पुरुषोत्तम सम्बन्धी चतुर्भुज रूप को चक्षुओं के प्रत्यक्ष न करें यह तो ध्यान का ही विषय है।।२८।।

श्री सुबोधिनी – एवं शरणागतौ हेतुमुपपाद्य त्रयं प्रार्थयति स त्वमित्यादित्रिभिः, अत्रावसरे त्रयं सम्भवति, भगवानिदानीमेवान्तर्हितो भवेत् पश्चात् स्वेच्छयान्यत्र स्थितः कंसं मारयेत्, तदिमां कथां कंसः श्रुत्वा मारयेदस्मान् ज्ञानदापनयोर्नियोगात्, अतो रक्षा प्रार्थनीया, इदानी वा कसं मारयेत् ततो गच्छेत् ततः कंसपक्षपातिनः पश्चादस्मान् मारयेयुः, तदर्थमिदं रूपं लौकिके न रव्यापनीयमिति प्रार्थनीयं, एवम्रूपेणात्रैव च स्थितिरपि सम्भवति तदाऽलौकिकं दृष्ट्वा प्राकृतो लोको द्वेषं कुर्यादस्मदादयश्च।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार शरणागति में कारण का उपपादन कर श्री देवकी 'सत्वम्' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा तीन प्रार्थनायें करती हैं, इस अवसर पर तीन सम्भावनायें हैं, एक तो यह कि भगवान् अभी तो छुप जावें पीछे अपनी इच्छा से अन्य स्थान में विराजमान हो कंस को मारे तो इस आपके प्रकट होने की कथा को सुनकर कंस हम लोगों को मार सकता है, कि इनको उस अष्टम बालक का ज्ञान था और इन्होंने ही उसको अन्यत्र दिला भेजा है, इस प्रकार आपके विषय में हमारे ज्ञान और

दापन (प्रेषण) के अपराध का निर्धार करने से वह हमें मारे बिना नहीं रहेगा, अतः ऐसी सम्भावना में अपनी रक्षा की प्रार्थना करना आवश्यक है, दूसरी सम्भावना यह है कि यदि आप अब ही कंस को मार देवें तत्पश्चात् पधार जावें तो कंस के पक्षपाती जरासन्ध आदि पीछे हम लोगों को मार सकते हैं, इसलिए इस रूप को जनसाधारण में प्रख्यात न करें ऐसी भी प्रार्थना आवश्यक है, तीसरी संभावना यह है कि कंस को अब ही मारकर यदि आप इस रूप से यहाँ पर ही विराजें तो अलौकिक स्वरूप को देखकर साधारण लोग द्वेष भी कर सकते हैं, (क्योंकि लोगों का स्वभाव दुष्ट है वह अन्य की प्रधानतया पार्श्ववर्ती की समृद्धि या उत्कर्ष को देख नहीं सकते) तथा इस रूप से विराजने पर हम लोगों की मुक्ति के शीघ्र ही हो जाने का सम्भव है, अतः भक्ति रस का अनुभव न हो सकेगा, एवं पुत्र भाव की मर्यादा भी न रह पावैगी, इसलिये रूप के अप्रदर्शन की प्रार्थना उचित ही है, इस सब दोषों के परिहार के लिये इस समय कंस को आपके जन्म का ज्ञान न हों यह प्रार्थना की है, अथवा श्री देवकी इस आशय से –

श्री सुबोधिनी – शीघ्रं मुच्येरन् भक्तिरसानुभवश्च न स्यान् मर्यादा च भज्येतेत्यतो रूपाप्रदर्शन प्रार्थना युक्तैव, एतत्सर्वदोषपरिहारार्थं साम्प्रतं कंसस्याज्ञानं भवत्विति प्रार्थना, इदानीं मारणे वा युद्धसमये स्वजीवनार्थमनुपसंहारे पुर्वोक्तपक्षसम्भवादपसंहारोऽपि प्रार्थ्यः, भगिनीपतिश्चेति कदाचिन्न मारयेदित्याशङ्काव्युदासार्थमाह घोरादिति, प्रार्थनीयसर्वदानसामर्थ्यार्थं स त्वमिति, स पूर्वोक्तधर्म एव त्वं, घोरो निर्दयो भयानकः, क्रूर इतियावत् उपायेन विषादिनाऽमारणार्थमुग्रसेनात्मजादित्युक्तं, उग्रसेनस्य शरीरजः कथं वध्यो भवेत्? घोरत्वात् स मारयेदेव, त्रस्तांनिति, पूर्वपुत्रमारणेन, त्राहि पालय, उभयपदी धातुरय प्रचुरप्रयोगान्निश्चीयते,

व्याख्यार्थ – रक्षा की प्रार्थना करती है कि यदि अभी आप कंस को मारें तो उसके साथ आप के युद्ध होने के काल में मेरा जीवन नहीं रहेगा उस आपके अग्रजों के हत्यारे का वह भयङ्कर ℓश्य उपस्थित होते ही प्राण निकल जावेंगे अतः रक्षा की प्रार्थना आवश्यक है, एवं रूप के उपसंहार या परिवर्तन की प्रार्थना इस ℓष्टि से आवश्यक है कि यदि इस अद्भुत रूप को ही धारण किये रहेगे तो पूर्वोक्त पक्षों का संभव है कंस को मारकर अन्यत्र पधारने में उसके पक्षपातियों से हमको आशङ्का रहेगी और यहां विराजने पर लोक प्रद्वेष की आपत्ति बनी रहेगी, अतः इस लौकिक रूप का उपसंहार भी प्रार्थनीय ही हैं, बहन बहनोई का सम्बन्ध विचार कर कदाचित् कंस नहीं

मारे ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है, उक्त सम्भावना या आशङ्का के निवारणार्थ (घोरात्)+ यह विशेषण कंस के प्रति प्रयुक्त किया है, 'सत्वम्' इन शब्दों द्वारा भगवान् के उस सामर्थ्य की सूचना है जिस सामर्थ्य से आप अपने भक्तों के सर्वविध प्रार्थनीय अभीष्ट पदार्थों को देते रहते हैं, पूर्व में जिन शरणागत वत्सलता आदि गुणों को कहा है आप उन समस्त गुण या धर्मों के आश्रय हैं 'घोर' शब्द से कंस को निर्दय एवं भयानक हत्यारा कहा है, एवं उग्रसेन का आत्मज (शरीर से उत्पन्न हुआ पुत्र) बतलाकर उसकी अन्य उपायो से अवध्यता सूचित की है कि वह विष आदि के द्वारा नहीं मारा जा सकेगा क्योंकि वह जिस शरीर से उत्पन्न हुआ है उसकी तो सेना ही 'उग्र' विष रूप है अतः विष का प्रभाव उस पर नहीं पड़ सकता, वह तो स्वयं ही घोर हालाहल विष है, 'त्रस्तान्' पद के द्वारा अपनी भयभीत परिस्थिति का चित्रण करती हैं क हम लोग अत्यन्त उद्विग्न हैं हमारे पूर्व पुत्रों को मार कर कंस ने हमको अत्यन्त व्यथित कर दिया है उस कंस से हमारी रक्षा करो, 'त्राहि' यह पालनार्थक 'त्रैङ्' धातु का प्रयोग पारिनीय व्याकरण की रीति से यद्यपि सङ्गत नहीं

श्री सुबोधीनी – ननु पर्यवसाने बाधाभावाद् इदानीं मारणपक्षे किमिति रक्षा प्रार्थ्यत इति चेत् तत्राह भृत्यवित्रासहासीति, भृत्यानामस्मदादीना वित्रासं भयं हन्तीति तथा, असीति तव सङ्कल्पः, यथा गन्धः पृथिव्या एवैव भगवतो भक्तदुःखनिवर्तकत्वमेव यथाऽस्मद्रक्षेदानीममारणेनान्यत्र गमनेन च कर्तव्या तथा स्थितौ रूपोपसहारश्च कर्तव्य इत्याह रूपं चेदमिति, सर्वदाऽनेन रूपेण स्थातुमयुक्तमिति, इदं रूपं मांसदृशां चर्मचक्षुषां प्रत्यक्ष मा कृषीष्ठाः, तर्हि कस्यापि मुक्तिर्न स्यादित्याशङ्क्याह ध्यानधिष्ण्यमिति, ध्यानमेव धिष्ण्यं स्थानं यस्य, ध्यान एव प्रकाशो भवतु न बहिः, अतः सर्वं सुस्थं भविष्यतीतिभावः, मा कृषीष्ठा इत्यनेन्न चैतज् ज्ञापितं, अयं स्वेच्छयैव प्रकटीकरोति, वस्तुतस्त्विन्द्रियावेद्यमेव, मांसदृशामित्यनेन दैत्या एते मांसभक्षका मांसमेव पश्यन्ति सर्वत्र न तु विहितं निषिद्धं वा विचारयन्तीत्युक्तं, चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थः ।।२८।।

व्याख्यार्थ – वहा इसे आत्मने पदी ही माना है, परन्तु स्तोत्रों में इसका प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है अतः इसे उभयपदी मानना आवश्यक है, ऐसा निश्चय किया जाता है, यह शङ्का की जा सकती है कि कंस का अभी वध करने में परिणाम तो बाधा

टिप्पण – + क्रूर कर्मा पापी लोग सम्बन्ध का विचार नहीं करते –

रहित ही रहेगा उसमें तो कोई आपत्ति नहीं आने की तो रक्षा की प्रार्थना की क्या आवश्यकता इसके समाधान के विषय में श्री देवजी कहती है कि आप तो अपने भृत्यगण हम सेवक लोगों के विविध प्रकार के त्रासों का विनाश करने वाले हैं, (अतः परिणाम में बाधा न होने पर भी आरम्भ की पूर्वोक्त बाधा निवृत्ति के लिए रक्षा प्रार्थनीय है) 'असि' पद के द्वारा भगवान् के संकल्प की सूचना है कि आपका तो यह सङ्कल्प है 'परित्राणाय साधुनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्' भक्तों का दुःख निवारण करना आपका स्वभाव है जिस प्रकार 'गन्ध' पृथिवी का स्वाभाविक गुण है उसी प्रकार भक्तों के दुःखों की निवृत्ति करना आपका सहज धर्म है, जिस प्रकार हम लोगों की रक्षा इस समय कंस के न मारने से एवं अन्यत्र पधारने से करनी आवश्यक है, उसी प्रकार यहाँ स्थिति रखने में इस रूप का उपसंहार करना भी आवश्यक है, इस बात को 'रूपञ्चेदम्' उस उत्तरार्ध से कहती हैं कि सर्वदा इस अलौकिक रूप से विराजना उचित नहीं इस रूप को लौकिक बाह्य दर्शी चर्म चक्षु लोगों के प्रत्यक्ष न कीजिये इस स्वरूप के दर्शन के बिना किसी की मुक्ति न हो सकेगी इस आशङ्का के समाधान में कहती हैं कि यह रूप तो 'ध्यानाधिष्ण्य' है ध्यान ही इसका स्थान है अतः ध्यान में हो इसका प्रकाश होना चाहिए बाहर नहीं, इससे सर्व व्यवस्था सुन्दर रहेगा, ध्यान से मुक्ति हो सकेगी, 'मा कृणीष्ठाः' साधारण लोगों के प्रत्यक्ष न करिये ऐसा कहने से सूचित होता है कि यह स्वरूप स्वभावतः तो इन्द्रिय वेध नहीं अप्रत्यक्ष ही है परन्तु भगवदिच्छा से ही प्रत्यक्ष होता है, 'मांसदृशाम्' पद से सूचित किया है कि यह मांसाहारी दैत्य सर्वत्र मांस को ही देखते हैं कर्त्तव्य, अकर्तव्य का विचार –

श्लोकः – जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान् मधुसूदन।।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः।।२६।।

मूलार्थ – हे मधुसूदन! वह पापी कंस मुझ में आप के जन्म को न जान पावै, मैं आपके कारण कंस से डरती हूँ मेरी बुद्धि अधीर हो रही है धैर्य धारण नहीं कर पाती।।२६।।

श्री सुबोधिनी – अन्यतरकरणाभावाय मध्यमपक्षे स्वतो निवृत्तावपि कसश्चेज् जानीयात् स्वयमागत्य युद्धं कुर्यात् अत एव स दोषस्तदवस्थ इति तस्य जन्माज्ञानं प्रार्थयति जन्म त इति, असौ

कंसस्ते जन्म मा विद्यात्, यतोऽयं पापः, तर्हि **मत्स्वरूपं न जानासीतिचेत्** तत्राह मधुसूदन इति, **यद्यप्येतज् जानीमस्तथापि मध्यमपक्षशङ्कया प्रार्थ्यते**, ननु मध्यमपक्षे को दोषोविश्वासस्तु न कर्तव्य **इति** चेत् तत्राह भवद्धेतोः कंसादहं सम्यगुद्विजे, विश्वासः कर्तव्य इति चेत् तत्राहाधीरधीरिति, न हि भगवत्युत्पन्ने परमानन्दे कोऽपि क्लेशहेतुर्भवितुमुचितः, भवद्धेतोरित्यनेनैतज् ज्ञापयति यद्ययं जानीयादस्मादुत्पन्नो भगवानन्यत्र तिष्ठतीति तदा निर्बन्धेन समानयनं वा प्रार्थयेत् पूर्वं प्रतिज्ञातत्वात्, अतोऽस्य ज्ञानाभाव एवोचितः ।।२६।।

व्याख्यार्थ – नहीं करते, 'रूपञ्च' यहां पर 'च' शब्द पूर्वोक्त रक्षा का समुच्चायक है अर्थात् देवकी को 'रक्षा' और रूप का 'अदर्शन' दोनों ही अपेक्षित है।।२६।। कंस को अभी इसी समय मारा जावै और अलौकिक रूप को सर्व साधारण देखे इन दोनों घटनाओं में से एक भी घटना उपस्थित न हो न तो कंस अभी मारा जाय और न सर्व साधारण को भगवत्स्वरूप का दर्शन ही हो इसलिये श्री देवकी कंस को भगवान् क जन्म का अज्ञान चाहती है कि कंस को आपके जन्म का ज्ञान न हो, अभी कंस को न मारकर अन्यत्र पधारें यह प्रथम पक्ष है, उसके विषय में अपने प्राणों की आशंका थी देवकी ने पूर्व में प्रस्तुत की है, एवं कंस को अभी न मारकर यहां पर ही विराजमान रहें यह तृतीय पक्ष है उसके विषय में भी साधारण लोगों का प्रद्वेष एवं हम लोगों की शीघ्र मुक्ति का प्रसङ्ग. आपत्ति रूप से निर्दिष्ट किया गया है, कंस को अभी मारकर अन्यत्र पधार जावैं यह मध्यम पक्ष है, इस मध्यम पक्ष में भी स्वयं कंस के पास जाकर उसे मारें तो आपके अन्यत्र पधारने पर उसके पक्षपातियों का भय हमको रहेगा अतः आप स्वतः अपनी और से कंस के मारने से निवृत्त भी हो जावें स्वयं उसे मारने को नही भी पधारें तो भी यदि कंस को आपके जन्म का ज्ञान हो जायगा तो स्वयं आकर युद्ध करेगा, अतः हमारे प्राणों की स्थिति न रहने की संभावना का दोष तो इस मध्यम पक्ष में भी बना ही रहेगा हमारे प्राण उस भयङ्कर दृश्य को देखकर नहीं रह पावेंगे, अतः आपके जन्म का ज्ञान कंस को नहीं होना चाहिये ऐसी प्रार्थना करती हैं कि यह कंस आपके जन्म को नहीं जाने, क्योंकि यह पापात्मा है, अत्यन्त भयङ्कर हत्यारा है, आप ऐसा न कहें कि तू मेरे स्वरूप को नहीं जानती, मैं जानती हूँ आप मधु दैत्य के विनाशक हैं, यद्यपि हम लोग जानते हैं कि आप ही उसे मारेंगे तो भी मध्यम पक्ष की सम्भावना से

प्रार्थना की जाती है, आप कह सकते हैं कि मध्यम पक्ष में क्या दोष है अविश्वास करना तो उचित नहीं, मैं इस विषय –

श्लोकः – **उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।।**
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्।।३०।।

मूलार्थ – हे विश्वात्मन्! शख्ङ्, चक्र गदा पद्म और अलौकिक शोभा से सम्पन्न इस अलौकिक रूप को छुपा लीजिये।।३०।।

श्री सुबोधिनी – रूपान्तरस्वीकारे त्वन्यत्रापि स्थापयितुं शक्यते न त्वनेन रूपेणेत्युपसंहारं प्रार्थयत्युपसंहरेति अदो वेदवेद्यमलौकिकं रूप लोक उचितं न भवतीत्युपसंहर, विश्वात्मन्निति रूपग्रहण उपसंहारे च सामर्थ्यं द्योतितं, स हि विश्वस्मिन् सर्वाण्येव रूपाणि गृह्णात्युपसंहरति च, अद इतिपदेन चैतज् ज्ञापयति, अवतारो नोपसंहर्तव्योऽलौकिकत्वमात्र मुपसंहर्तव्यमिति, सर्वमेवालौकिकमिति सर्वस्यैवोपसंहारे प्राप्ते यल्लौकिकसमानं तत् स्थापनीयमन्यदुपसंहर्तव्यमिति

व्याख्यार्थ – मैं कहती हूँ सुनिये आपके कारण से मैं कंस से अत्यन्त उद्विग्न हूँ भय से कांप रही हूँ, विश्वास करना आवश्यक है पर विश्वास धीरता की अपेक्षा रखता है मैं तो 'अधीर धीः' हूँ, मेरी बुद्धि तो धैर्य को खो बैठी है, परमानन्द मय भगवान् के प्रकट हो जाने पर किसी भी प्रकार के क्लेश का कारण उपस्थित होना उचित नहीं, 'भवद्धेतोः' पद से यह सूचित करती हैं कि यदि कंस को विदित हो जावे कि हम लोगों से उत्पन्न हुए भगवान् कहीं अन्यत्र बिराजते हैं तो हठ पूर्वक आपको मंगालेने के लिये हमें बाध्य करेगा क्योंकि पूर्व में वैसी प्रतिज्ञा उससे की गई है कि अपने पुत्रों को तुम्हें देंगे, अतः कंस को आपके जन्म का ज्ञान ही न होना चाहिये।।२६।।

व्याख्यार्थ – अन्य रूप के स्वीकार करने पर तो आपको कहीं अन्यत्र भी पधराया जा सकता है, इस अद्भुत रूप से तो नहीं पधराया जा सकता, अतः इस रूप के उपसंहार की प्रार्थना करती हैं, कि वह वेद के द्वारा जानने योग्य अलौकिक रूप लोक में उचित नहीं, अतः इसे छुपा लीजिये, 'विश्वात्मन्' इस सम्बोधन के रूप के ग्रहण एवं उपसंहार के विषय में सामर्थ्य की सूचना है कि विश्वात्मा भगवान् विश्व में सब ही रूपों

का ग्रहण और त्याग भी करते रहते हैं,+ (अदः) पद से भगवत्स्वरूप की अलौकिकता व्यक्त की है जिसके द्वारा यह सूचित किया है कि अवतार को तिरोहित न किया जावे अलौकिकता मात्र का ही तिरोभाव कर्त्तव्य है, भगवत्स्वरूप में सब ही अलौकिक सामग्री है तो सब का ही उपसंहार करना होगा ऐसी दशा में जो लोक के समान है उसको रखना चाहिये अन्य जो लोकवत् नहीं है उसका उपसंहार करना चाहिये ऐसा बतलाती हुई श्री देवकी अलौकिक अंश को कहती हैं, कि शंख, चक्र, गदा, पद्म –

श्री सुबोधिनी – वदन्त्यलौकिकमंशमाह शङ्खचक्रेति, शखङ्चक्रगदा–पद्मान्यायुधान्युपसंहर्तव्यानि, अलौकिकी श्रीश्चोपसंहर्तव्या भुजानां चतुष्टयं चोपसंहर्तव्यं द्वय स्थापनीयं, उपलक्षणमेतत्, प्राकृतभावाद्यदतिरिक्तं तदुपसंहर्तव्यं, अविद्यामानोऽपि प्राकृतो भावः स्थापनीयः, यद्यपि चतुर्भुजं रूप देवादीन् प्रति प्राकृतमेव तथापि साधारणान् प्रति ताऽंशमपि न प्रकटनीयमितिप्रार्थना ।।३०।।

व्याख्यार्थ – इन आयुधों को छुपा लीजिये और अलौकिक श्री 'शोभा' को भी छुपा लीजिये, एवं चार भुजाओं को छुपा लीजिये, दो ही भुजा रखिये, यह कथन एक उपलक्षण है लौकिकता से जो भिन्न प्रतीत होता है वह सब छुपा लीजिये, अलौकिक स्वरूप में यद्यपि लौकिकता की सत्ता अंशतः भी नहीं है तो भी लोगों के दिखाने भर के लिये उसको रखना आवश्यक है, यद्यपि चतुर्भुज रूप देवताओं के प्रति साधारण जैसी बात है क्योंकि देवताओं के तो चार मुख, तीन नयन एवं विभिन्न संख्या वाले बाहु आदि प्रसिद्ध है परन्तु सर्व साधारणों के प्रति वैसा चतुर्भुज रूप भी प्रकट करने योग्य नहीं यह प्रार्थना है।।३०।।

।। श्री भगवानुवाच ।।

श्लोकः– विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते यथाऽवकाशं पुरुषः परो भवान्।।
बिभर्षि सोऽयं मम गर्भगोऽभूदहो नृलोकस्य विडम्बनं महत्।।३१।।

मूलार्थ – प्रलय काल के समाप्त हो जाने पर सृष्टि काल में इस संम्पूर्ण विश्व को आप अपने ब्रह्माण्ड शरीर में धारण करते हैं, (इस विश्व के वितान में कोई प्रकार

टिप्पण – + 'अदस्' शब्द का प्रयोग दूरवर्ती पदार्थ के प्रति होता है समीपवर्ती के प्रति इदम्, एतद्, शब्दो का प्रयोग होता है भगवतत्व रूप लोक से अत्यन्त दूरवर्ती अलौकिक है अतः यहाँ प्रयुक्त हुआ है।

का सङ्कोच न कर ज्यों का त्यों अपने देह में इसे आप रखते हैं) आप ही परम पुरुष हैं पुरुषोत्तम हैं, वह ही यह ब्रह्माण्ड विग्रह पुरुष मेरे गर्भ गत हुआ यह आश्चर्य है, मनुष्य लोक का महान् नाट्य है, अनुकरण है।।३१।।

सुबोधिनी – एवं स्तुत्वा प्रार्थयित्वा च विरोधं परिहरति विश्वमिति, अथवाऽर्धोपसंहारेणार्धस्थापने सामर्थ्यार्थं विरोधिगुणमनूद्यान्यतरस्य प्रदर्शनपरत्वेनोपपादयन्ती समर्थयते विश्वमिति, स्वतनौ स्वशरीरे विराजि ब्रह्माण्डाख्ये निशान्ते सृष्टिसमये यथाऽवकाशं चतुर्दशलोकात्मकं भुवनं बिभर्षि, प्रलये सूक्ष्मतया निवेशनं भवती ति निशान्त इत्युक्तं,

व्याख्यार्थ – इस प्रकार स्तुति एवं प्रार्थना करने के अनन्तर 'विश्वम्' इत्यादि श्लोक से निरोध का परिहार करती हैं, अथवा अर्ध (अलौकिक अंश) का उपसंहार करके अर्ध (लौकिक समान अंश) के रखने में समर्थता के प्रतिपादन करने के लिये 'विश्व को स्वकुक्षिस्थ रखना और स्वयं मेरे कुक्षिस्थ होना इस विरोधी गुण का अनुवाद कर उन दोनों में से एक गुण मेरे कुक्षिस्थ होना तो दिखलाने भर को है इस प्रकार विरोध के अभाव का उपपादन करती अविरोध का समर्थन करती हैं कि ब्रह्माण्ड नाम वाले अपने विराट् शरीर में सृष्टि के समय आप यथावकाश उसे सङ्कुचित किये बिना ही चतुर्दश लोकात्मक विश्व को धारण करते हैं, 'निशान्त' शब्द से प्रलय रूप निशा का अन्त हो –

श्री सुबोधिनी – किर्मीरतया स्थितिर्निषिद्धा, नन्वत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह पुरुषः पर इति, पुरुषो व्यष्टिः परः समष्टिः, भवानिति सम्मत्यर्थं, तेन स्वस्य एतादृङ्माहात्म्यज्ञानवत्त्वसम्बोधनं, एवं विश्वाधारभूतोऽपि भवान् मम गर्भगोऽभूत्, यद्यपि विरुद्धसर्वधर्माश्रयस्य भगवतो नेदमाश्चर्यं तथापि स्वप्रतीत्याश्चर्यं मत्वा परिहरत्यहो नृलोकस्य विडम्बनं महदिति, अहो इत्याश्चर्ये, नृलोकस्य मनुष्यमात्रस्य महदेतदनुकरणमितिसमाधानं, महानप्यल्पमनुकरोति यथा पुरुषो बिडालं तथापि ब्रह्माण्डविग्रहस्य परमसूक्ष्मतऽऽश्चर्यरूपेत्याशङ्क्याह महदिति, अनुकरणं महदिति, अनुकरणं सत्यमेव, परमलौकिकमनुकरणं, अनेन गर्वाभावोप्युक्तः।।३१।।

व्याख्यार्थ – जाने पर आने वाला सृष्टि का काल सूचित होता है, प्रलय काल में तो सूक्ष्म रूप से विश्व का ब्रह्म में निवास रहता है, स्थूल रूप से नहीं अतः प्रलय की समाप्ति होने पर उपस्थित होने वाले सृष्टि काल निर्देश निशान्त शब्द से किया है, 'यथाऽवकाश' शब्द के द्वारा 'विर्भीरतया' सङ्कुचित रूप से स्थिति का निषेध किया है, कि अवकाश बना रहे अपेक्षित विकास में कोई बाधा न आवै उस प्रकार विश्व का धारण

आप सृष्टि काल में करते हैं, इसमें प्रमाण क्या है इस आशंङ्का के समाधान करने के लिये 'पुरुषः' 'परः' इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है, श्री देवकी कहती हैं कि आप ही पुरुष हैं और आप ही पर हैं, वृक्ष आदि भांति व्यष्टि एक देशी भी आप हैं और वन आदि की भांति समूहात्मक समष्टि सर्व देशी भी आप हैं अतः आप से विश्व का सविकास धारण वन और वृक्ष के ृष्टान्त से सर्वथा उपपन्न है, प्रमाणान्तर की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती, इस विषय में भगवान् की सम्मति के सूचनार्थ 'भवान्' शब्द प्रतियुक्त हुआ है, कि आप से आप का स्वरूप तो छुपा नहीं आप तो जानते ही हैं कि आप ऐसे सी हैं, उक्त सम्मति के प्रदर्शन से श्री देवकी को अपना भगवद्विषयक ऐसे माहात्म्य के ज्ञान सम्पन्न होने पर भगवान् को भली भांति बोध कराना अभीष्ट है, इस प्रकार विश्व के आधार भूत होकर भी आप मेरे गर्व गव हुए यह आश्चर्य है, यद्यपि सर्व विरोधी धर्मों के आश्रय रूप भगवान् के विषय में यह आश्चर्य नहीं तो भी श्री देवकी अपनी प्रतीति से आश्चर्य मान कर विरोध का परिहार करती हैं कि यह तो मनुष्य मात्र का महान् अनुकरण हैं, 'अहो' शब्द आश्चर्य सूचक है, मनुष्य मात्र का अनुकरण हैं उक्त शंका का समाधान है, बड़े लोग भी छोटों का अनुभव करते हैं जैसे मनुष्य विडाल का अनुकरण करता है फिर भी ब्रह्माण्ड शरीर धारी पुरुषोत्तम की परम सूक्ष्मता आश्चर्य रूप है इस शङ्का की निवृत्ति को 'महद्' शब्द का प्रयोग किया है कि यह अनुकरण भी महान् है अन्य साधारण नहीं, अनुकरण है यह तो सत्य है परन्तु अलौकिक अनुकरण लोक साधारण अनुकरण नहीं, इस कथन से श्री देवकी ने अपने गर्व का अभाव सूचित किया है कि मेरा क्या सामर्थ्य है जो आपको धारण कर सकूं यह तो सब आप ही का खेल है।।३१।।

श्री सुबोधिनी आभास – एवमुभयोः स्तोत्रे सप्रार्थने कृते भगवान् स्वस्य पुत्रत्वे ताृशरूपेण प्राकट्ये च हेतुं वदंस्तयोः पूर्ववृत्तान्तमाह परिज्ञानार्थं, त्वमेवेति चतुर्दशभिश्चतुर्दशविद्यानां प्रामाण्यार्थम्।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार वसुदेवजी और देवकी दोनों की की हुई प्रार्थना से सहित स्तुतियों के वर्णन करने पर भगवान् अपने पुत्र होने में एवं उस प्रकार से अलौकिक रूप से प्रकट होने के कारण को बतलाते हुए उन दोनों के पूर्व वृतान्त की उन्हें सर्वथा ज्ञात कराने के लिये (त्वमेव) इत्यादि चतुर्दश (१४) श्लोकों द्वारा सूचित

करते हैं, इस श्लोकों की १४ चतुर्दश–संख्या इस मर्म मे रखी गई है कि पूर्ण ब्रह्म पर तत्व ही श्री देवकी नन्दन रूप में प्रकट होते हैं इसमें कोई सन्देह या असम्भावना आदि करने का अवकाश नहीं इसकी प्रमाणिकता में[+] चतुर्दश विद्यायें अपने सम संख्याक श्लोकों के मिष से उपस्थित है।

कारिका – **पूर्वस्थितिस्तथा कार्यं प्रकारो** भजनं हरेः।
कालस्तोषश्च प्राकट्यं वरप्रार्थनया **सह**।।१।।
अल्पबुद्धित्वभोगौ च जन्मत्रितयमेव च।
त्रिगुणं भगवत्सत्यं लौकिकाद् वैदिकान् महत्।।२।।
रूपदर्शनकार्यं च साधनं प्रोच्यते महत्।।२½।।

व्याख्यार्थ – श्री देवकी वसुदेवों की पूर्व जन्म की स्थिति प्रथम श्लोक में कही है द्वितीय श्लोक में उनका कार्य तप कहा है, तृतीय श्लोक में तपश्चर्या का प्रकार कहा है, चतुर्थ श्लोक में उसका भगवदाराधन हरिभजन कहा है, पञ्चम श्लोक में तपस्या का काल है, षष्ठ श्लोक में भगवान् का सन्तुष्ट होना कहा है, सप्तम श्लोक में वरदानार्थ भगवान् का प्रकट होना कहा है साथ में वरके लिये प्रार्थना भी कही है।।१।। अष्टम श्लोक में उनकी बुद्धि की अल्पता बतलाई है कि मोक्ष नही मांग सके नवम श्लोक में उनका ग्राम्य सुख भोग कहा है, दशम, एकादश, द्वादश, इन तीन श्लोकों में भगवान् के तीन वार जन्म ग्रहण करने का निर्देश किया है भगवान् का कहा हुआ सत्य वचन लौकिक और वैदिक इन दोनों से अधिक महत्व रखता है, इस मर्म की सूचना तीन बार जन्म लेने से होती है, लौकिक[+] सत्य एक गुण है वैदिक सत्य द्विगुण है लौकिक वैदिक दोनों से अधिक बलवान है और भगवत्सत्य त्रिगुण है लौकिक वैदिक दोनों से अधिक बलवान है।।२।। त्रयोदश श्लोक में भगवत्स्वरूप के दर्शन का कार्य पूर्ण जन्मों का स्मरण कहा है, चतुर्दश श्लोक में स्नेह रूप महान् साधन का निर्देश किया है।।२½।।

टिप्पण – [+] ऋग्[१], यजु.[२], साम[३], अथर्व[४] यह चार वेद, शिक्षा[१], कल्प[२], व्याकरण[३], निरुक्त[४], छन्द[५], ज्योतिष[६] यह है, अङ्ग. स्मृति[१], पुराण[२], मीमासा[३], तर्क[४] यह चार शास्त्र मिलकर १४ विद्या हैं –

टिप्पण – [+] लौकिक सत्य वह है कि इस जन्म मे कहा हुआ इसी जन्म में फलित हो, वैदिक सत्य जन्मान्तर में भी फलित होता है भगवत्सत्य तो मोक्ष पर्यन्त जितने भी जन्म हों सर्वत्र फलित होता है।

।।श्री भगवानुवाच।।

श्लोकः – **त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति।।**
तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः।।३२।।

मूलार्थ – श्री भगवान् ने कहा कि हे सती! पूर्व सृष्टिगत स्वायम्भुव मन्वन्तर में तुम ही प्रश्नि नाम वाली हुई थी, उस समय यह वसुदेवजी सुतपा नाम वाले प्रजापति हुए थे इनमें काम क्रोध आदि कल्मष (दोष) नहीं थे।।३२।।

श्री सुबोधिनी – प्रथमं स्थितिमाह, पूर्वसर्गे प्रथमब्रह्माण्डे प्रथमकल्प इतः पूर्वकल्पे वा, साक्षाद् देवकी प्रत्येवाह भगवान्, तस्या दीनत्वेन स्नेहातिशयात्, पृश्निरितिनाम, त्वमेव पृश्निरभूः स्वायम्भुवे मन्वन्तरे, सतीतिसम्बोधन अनेनास्या अधिककृपायां धर्मातिशयो हेतुरुक्तः, तदा तस्मिन्नेव समये, अयमपि सुतपा इति नाम प्रसिद्धः, अयं च प्रजापतिर्ब्रह्मणः सुतो मरीच्यादिवत् कर्दमवत् स्वभावत एवायमकल्मषः कामक्रोधलोभादिरहित।।३२।।

व्याख्यार्थ – पूर्व में स्थिति को कहते हैं कि पूर्व सृष्टि काल में जब सर्व प्रथम ब्रह्माण्ड रचना हुई उस प्रथम कल्प में अथवा इस वर्तमान कल्प से पूर्व कल्प में हे सति! तु प्रश्नि हुई थी, श्री भगवान् ने श्री देवकी को ही सम्बोधित कर साक्षात् उनके प्रति ही वचन कहे हैं, क्योंकि उनकी दीनता के कारण उनमें स्नेह अधिक था, (प्रश्नि) यह श्री देवकी का उस समय नाम था, उनके प्रति आप कहते हैं कि तुम ही प्रश्नि हुई थी, उस समय स्वायुम्भुव मन्वन्तर था, (सति) शब्द् से सम्बोधित कर श्री देवकी के प्रति अधिक कृपा होने का कारण निर्दिष्ट किया है कि 'पातिवृत्य धर्म की महत्ता ही वैसी कृपा का कारण है, उस समय यह श्री वसुदेवजी की सुतपा इस नाम से प्रसिद्ध प्रजापति हुए थे, यह (मरीचि) आदि की भांति ब्रह्मा के पुत्र होने से प्रजापति कहे गये, कर्दम प्रजापति की भांति स्वभाव से ही यह अकल्मष थे काम, क्रोध, और लोभ आदि दोषों से रहित थे।।३२।।

श्लोकः – **युवां वै ब्रह्मणादिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः।।**
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः।।३३।।

मूलार्थ – जब ब्रह्मा ने तुम लोगों को प्रजा सृष्टि के निमित्त आदेश दिया, उसी समय आदेश पाते ही तुम दोनों ने इन्द्रिय वर्ग को वश कर परम तपस्या का आरम्भ कर दिया।।३३।।

श्री सुबोधिनी – एतादृशौ पूर्वं स्थितौ तादृशौ प्रति ब्रह्मण आज्ञामाह युवामिति, प्रजासर्गे ब्रह्मणाऽऽदिष्टौ तदा ततस्तदनन्तरमेव क्वचिंद् देशविशेषे सन्नियम्येन्द्रि ग्रामं ततः प्रभृति सम्बन्धमकृत्वा परमं तपस्तेपाथे, सर्वेन्द्रियनिरोधेन सर्वाहारपरिवर्जनेन वाय्वादिनिरोधे विहिते शरीरे सन्तापजननात् तपो भवति, परममुत्कृष्टं भगवद्विषयकत्वात्, एव तस्मि [जन्मनि कार्यमुक्तम्।।३३।।

व्याख्यार्थ – ऐसे पूर्व में स्थित थे श्री देवकी परम पतिव्रता श्री श्री वसुदेव भी कामादि दोष रहित थे उस प्रकार योग्यता पूर्व उन दोनों के प्रति ब्रह्माजी की आज्ञा हुई ऐसा युवाम् इस श्लोक से कहते हैं कि प्रजा की सृष्टि के निमित्त जब ब्रह्मा ने तुम लोगों को आदेश दिया उसके अनन्तर आदेश पाते ही तुम दोनों किसी विशेष स्थान पर इन्द्रिय समूह को व। में कर उस समय से लौकिक दम्पती के सम्बन्ध को न कर परम तप को करने लगे, सर्व इन्द्रियों के नियन्त्रण से सर्व प्रकार के आहार का त्याग कर देने के कारण वायु आदि के निरोध होने पर शरीर में सन्ताप के जन्म होने से तप हो जाता है, इनका यह तप भगवान् को उद्देश्य रूप मे रखकर था अतः भगवद्विषयक होने से इस तप को (पर) अत्यन्त श्रेष्ठ या उत्कृष्ट कहा है, इस प्रकार उस जन्म में जो उन्होंने कार्य किया था उस कार्य का (तप का) निर्देश किया है।।३३।।

श्लोकः – वर्षवातातपहिमधर्मकालगुणाननु।।
सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ।।३४।।

मूलार्थ – तुम दोनों वर्षा, वायु, पञ्चाग्नि का ताप, शीत, एवं धाम आदि काल के गुणों को सहते रहते थे तथा प्राणायाम के द्वारा मन के मलों को निकाल चुके थे।।३४।।

श्री सुबोधिनी – तस्य तपसः प्रकारमाह वर्षवातेति, वर्षवातयोः सहनं प्रावृट्कालेऽना–वृतदेशेन्तरिक्षे स्थित्वा, आतपसहनं पञ्चाग्निप्रकारेण, हिमसहनं जलवासादिना, धर्मः कालान्तरीयोऽपि, कालगुणा अन्येऽपि शीतादयः साधारणाः तेषामप्रतीकारेण स्थितिरेव सहनं, उभावपि सहमानौ न त्वेकस्तपः करोत्यपरस्तत्सेवामिति।।३४।।

व्याख्यार्थ – 'वर्षवात' इत्यादि श्लोक से उस तप के प्रकार को कहते हैं, वर्षा ऋतु के समय पर खुले स्थान पर किसी वृक्ष आदि के ऊपर अन्तरिक्ष में बैठकर वर्षा और पवन का सहन करना, एवं पञ्चाग्नि प्रकार से सब ओर से ताप का सहन करना (चारौं दिशाओं में अग्नि पुञ्ज स्थापित कर ऊपर से सूर्य का ताप सहना) जल में

निवास आदि के द्वारा हिमशीत का सहन करना, पञ्चाग्नि ताप के काल से विभिन्न काल वाले धाम का भी सहन करना, एवं अन्यान्य तत्समय के शीत आदि काल गुणों का सहन करना उन शीत आदि से बचने का उपाय न कर उनमें ठहरे रहना ही उनका सहन है, दोनों ही सहन करते रहे यह बात नहीं थी कि एक तप करता हो और दूसरा उसकी सेवा करता हो।।३४।।

श्लोकः – शीर्णपर्णानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा ।।
मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः।।३५।।

मूलार्थ – वृक्षों के झरे हुए पत्तों का और कभी वायु का ही आहार कर लेते थे, शान्त चित्त से मेरे आराधन को करते थे (सकाय आराधना थी) मुझ से पुत्र आदि कामनाओं की सिद्धि प्राप्त करना चाहते थे।।३४।।

श्री सुबोधिनी – ताऽंशयोर्भगवत्सेवामाह शीर्णेति, कियत्कालतपसा चित्ते शुद्धे भगवत्सेवैव कार्या नान्यथेति ज्ञात्वा तपः कुर्वाणावेव परिचर्यां कृतवन्तौ सर्वथाहाराभावे बहिस्संवेदनाभावे चोभयोः परिचर्या न भवतीति याऽंशेन तपसा परिचर्यां कृतवन्तौ स विशेष उच्यते, शीर्णानि पर्णान्यनिलो वायुश्चाहारो ययोः, परमोपशान्तिः शुद्धसात्विकगुणाविर्भावः, स एवोपशमः, सोऽपि चित्तस्य स्वभावत एव चेज्जातस्तदोपशान्तं चित्त भवति एवं यमा नियमाश्चोक्ताः, मत्तो हरेरेव कामान् पुत्रादीनभीप्सन्तौ सकामौ मदाराधन मत्परिचर्यामीहतुः कृतवन्तौ।।३५।।

व्याख्यार्थ – उस प्रकार तपस्या में निरत हुए उन दोनों के द्वारा सम्पन्न हुई भगवत्सेवा का 'शीर्ण पर्णो' इत्यादि श्लोक से वर्णन करते हैं। कुछ समय तपश्चर्या से चित्त की शुद्धि हो जाने पर भगवत्सेवा करनी चाहिये अन्यथा चित्त शुद्धि के बिना नहीं, ऐसा जानकर आय दोनों तपश्चर्या करते करते सेवा करने लगे, सर्वथा आहार न करने पर और बाह्य अनुसन्धान के न रहने पर दोनों की सेवा नहीं हो पाती, अतः जिस प्रकार के तप के साथ सेवा की वह प्रकार विशेष कहा जाता है, कि झरे हुए पत्ते और पवन यह तो आप दोनों का आहार था, चित्त उपशान्त था, राजस, तामस, भावों से रहित शुद्ध सात्विक गुण भाव का चित्त में उदय होना ही परम उपशान्ति है, इसे ही उपशम कहते हैं, वह उपशम भी यदि चित्त का स्वभावतः सिद्ध हो जावै तब चित्त का स्वभावतः सिद्ध हो जावै तब चित्त उपशान्त होता है, इस प्रकार इनके यम नियमों का

निरूपण किया, भक्त दुःख हारी मुझ हरि से ही पुत्र आदि अभीष्ट पदार्थों की कामना करते हुए सकाम भाव से तुम लोगों ने मेरा आराधन का परिचर्या की।।३५।।

श्लोकः — एवं वां तप्यतोर्भद्रे ! तपः परमदुष्करम्।।
दिव्यवर्षसहस्त्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः।।३६।।

मूलार्थ — हे भद्रे ! इस प्रकार परम कठिन तप को करते हुए आप दोनों का देवताओं के बारह हजार वर्ष का दीर्घ काल व्यतीत हो गया क्योंकि मैं तुम दोनों के आत्मा में स्थित था।।३६।।

श्री सुबोधिनी — एवं तिष्ठतोर्यावान् कालो जातस्तमाहैवमिति, भद्रे इतिसम्बोधन स्त्रीपुम्भावेन स्थितयोः सौभाग्यबोधनार्थं, उत्तरोत्तरतपोवृद्धौ परमदुष्करता,

व्याख्यार्थ — इस प्रकार रहने दोनों का जितना काल हुआ उसे उक्त श्लोक से कहते हैं, भद्रे+ यह सम्बोधन स्त्री पुरुष भाव से रहते हुए दोनों के सौभाग्य की सूचना देता है, आगे आगे क्रम से तप की वृद्धि होने पर उस —

सुबोधनी - द्वादश दिव्यवर्षसहस्त्राणि चतुर्युगं, युगधर्मा अपि तयोर्बाधका न जाता इतिज्ञापनार्थं, तावत्काल देहस्थितौ हेतुर्मदात्मनोरिति, अहमेवात्मनि ययोः।।३६।।

व्याख्यार्थ — की परम दुष्करता अधिक (कष्ट साध्यता) हो जाती है, देवताओं के द्वादश सहस्त्र (१२०००) वर्ष ही सत्य युग, त्रैता युग, द्वापर युग, कलियुग, इन चारों का काल मान है, कलिकाल आदि के युगधर्मो ने भी उन्हें बाधा नहीं पहुँचाई ऐसा बतलाने को वैसा काल का निर्देश है, उतने समय तक देह की स्थिति रहने में कारण का निर्देश (यदात्मनोः) इस पद से किया है कि मैं ही तुम दोनों के आत्मा या शरीर में उपस्थित था।।३६।।

टिप्पण — ' उक्त श्लोक की व्याख्या मे 'असकृत् एवं चिन्तयन्तौ' इन दोनो पदों का उल्लेख नही मिलता हैं, कारण चिन्त्य है,

प्रथम कल्प — श्री सुबोधिनी के प्रमाणिक आदर्श पुस्तक की अप्राप्ति,

द्वितीय कल्प — आगे कारिकाओं मे चिन्तन का आकार प्रकार कहना है अतः यहाँ पर उसके व्याख्यान को अनावश्यक समझा हो।

यद्यपि (भद्रे) यह सम्बोधन श्री देवकी के प्रति ही प्रयुक्त हुआ है अत. (देवक्या सौभाग्य बोधनार्थम्) इतना कहना ही पर्याप्त था परन्तु श्रीमदाचार्य चरणों की उक्त पक्ति इस आशय को व्यक्त कर रही है कि स्त्री पुरुष दोनो ही यदि स्वकर्तव्य परायण हो तब ही प्रत्येक का सौभाग्य सम्पन्न होता है, अन्यथा उस सौभाग्य में अपूर्णता रहती है, पूर्ण सौभाग्य सूचक (भद्रे) यह सम्बोधन देवकी के सौभाग्य को बोध कराता हुआ दम्पत्ती के सौभाग्य का बोधक है।

श्लोकः – तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषाऽनघे।।
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भाषितः।।३७।।

मूलार्थ – हे पाप रहिते ! उस सत्य तुम दोनों के ऊपर मै इसी अलौकिक शरीर से प्रसन्न हुआ था क्योंकि तुम लोगों ने तपश्चर्या, श्रद्धा एवं भक्ति नित्य परिचर्या (सेवा) के द्वारा मानसी भावना से हृदय में मेरा चिन्तन किया था।।३७।।

श्री सुबोधिनी – एवं कृतेऽहं प्रसन्नो जात इत्याह तदेति, वां युवयोः परितस्तुष्टः सर्वभावेन, अहमिति, न मंदशो नाप्यह तस्यांशः, परं वपुरिदं प्रदर्शितं, आकारोऽय, वपु· पदेन पुत्रत्व स्थापयति, अन्यथा तयो· परमस्नेहो न स्यात्; अनघे इतिसम्बोधनं ताऽंशेऽपि रूप इच्छाभावार्थ, तदपि च बालरूप, रूपस्य बलिष्ठत्वात् स्थानात् प्रच्युतिर्भवेदिति, तोषे त्रय हेतुस्तपः श्रद्धा नित्य परिचर्या च, एवमपि बहिर्मुखानां न परितुष्यतीति हृदि भावित इत्युक्त, हृदये सर्वदा मानसपूजादिना भावितश्चिन्तितइत्यर्थः।।३७।।

व्याख्यार्थ – ऐसा करने पर मैं प्रसन्न हो गया यह बात (तदा) इत्यादि श्लोक से कहते हैं, तुम दोनों पर मैं सर्वथा सन्तुष्ट हो गया, (अहं) शब्द से यह कहना अभीष्ट है कि जो मैं हूँ वही मैं तब भी था वह मेरा कोई अंश हो या मैं उसका अंश होऊं यह बात नहीं, और तो क्या शरीर भी यह ही था जो तुम्हें दिखाया है, यही आकार था, (वपुः) इस पद के द्वारा भगवान् (वं सुखं पुष्णाति) इस व्युत्पत्ति के आधार पर पुत्र भाव की स्थापना करते हैं, क्योंकि पुत्र भाव सुख का पोषक है, यदि पुत्र भाव की स्थापना न की जावै तो उन दोनों का परम स्नेह होना सम्भावित नहीं, (अनघे) यह सम्बोधन कन्दर्प कोटि लावण्य पूर्ण उस प्रकार के सुन्दर स्वरूप में काम भाव के उदय न होने का सूचक है, परम पतिव्रता होने से उनकी सर्वथा पापाचार से शून्यता का बोधक है, इस समय जैसा बाल रूप है उस समय भी जो रूप था वह भी बाल रूप था, यद्यपि बाल रूप से काम का उदय सम्भावित नहीं तो भी परम सुन्दर स्वरूप को देखकर अन्य स्त्रियों का अपने धैर्य आदि स्थान से च्युत हो जाना स्वाभाविक है, क्योंकि रूप मोहित करने में अतिशय बलवान है, भगवान् के सन्तोष में तीन कारण हुए, तप, श्रद्धा और नित्य सेवा, तप आदि के होते हुए भी –

श्लोकः – प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया।।
व्रियतां वर इत्युक्ते माऽंशो वां वृतः सुतः।।३८।।

मूलार्थ – तुम दोनों को अभीष्ट वर देने की इच्छा से वरदायकों का राजा स्वयं मैं प्रकट हुआ, 'वर माँगो' इस प्रकार मेरे कहने पर तुम दोनों ने मुझ जैसा पुत्र मांग लिया।।३८।।

श्री सुबोधिनी – तदाहमाविर्भूतो जात इति वदन्नाविर्भावस्य बलनैकट्यनियमार्थं वरप्रार्थनामप्याह प्रादुरासमिति, वरान् ददत इति वरदा अन्ये ब्रह्मादयः, यावत्प्रार्थितमेव हि ते प्रयच्छन्ति, तेषा राजा वरदराष्ट्र, स तु ततो बहुगुणमलौकिकं च प्रयच्छति, अत एव माऽंशसुतवरणेऽहमेव वारत्रय सुतो जात इति वरदराजः, आविर्भावे हेतुमाह युवयोः कामदित्सयेति, युवयोरिति बहुकालतपस्तप्तौ निरूपितौ, ताभ्यां चाल्पमेव प्रार्थनीयं तपश्च बहु, यतो मन्निष्ठयोस्तपः स्वाभाविकादपि तपसोधिकफलमिति तद्दानार्थं वरदराडुक्त, साधारण्येनैव व्रियतां वर इत्युक्तं, तावपि मां साधारणं ज्ञात्वा बालकसौन्दर्येण च सम्मुग्धौ त्वाऽंशः पुत्रो भूयादिति वृतवन्तावित्याह माऽंश इति वां युवाभ्यां, सुतः, भूयादित्यर्थात्।।३८।।

व्याख्यार्थ – बहिर्मुखों के ऊपर भगवान् प्रसन्न नहीं होते इस कारण इनकी अन्तर्मुखता के निरूपण करने की (हृदि भावितः) इस विशेषण का उपन्यास किया है, मानस पूजा आदि के द्वारा हृदय में मेरी भावना की गई, अन्तर्देश में मेरे स्वरूप का चिन्तन सदैव चलता रहा, अतः सन्तुष्ट होना आवश्यक था।।३०।।

व्याख्यार्थ – (उस समय मैं प्रकट हुआ) इस प्रकार कहते हुए भगवान् (अपने प्रकट होने का फल निकट ही रहना है, शीघ्र ही मिलता है) ऐसा बतलाने का (प्रादुरासं) आदि श्लोक से वरयाचना को भी कहते हैं, अन्य ब्रह्मा आदि देवता वर देते हैं अतः (वरद) कहलाते हैं, साधना करने वाले की प्रार्थना के परिमाण से ही वह वर का दान देते हैं। उन वरदायक ब्रह्मादिकों का मैं सम्राट हूँ तो प्रार्थना से कहीं अधिक बहुत कुछ देता है और अलौकिक लोकोत्तर वस्तु को देता है, इसी कारण मुझ जैसे पुत्र का वर मांगने पर स्वयं मैं तीन वार पुत्र हुआ, इस कारण मैं वरदराज हूँ, प्रकट होने में कारण का निर्देश करते हैं कि (तुम दोनों के अभीष्ट प्रदान करने की इच्छा से मैं प्रकट हुआ) चार युगो के सुदीर्घ काल तक तपश्चर्या से तप्त हुए तापसों का (युवयोः) पद से उल्लेख किया है, उन तपोनिष्ठ व्यक्तियों के द्वारा जो भी मांगा जाता थोड़ा ही था, उनका तप अधिक था मेरे स्वरूप मे पूर्ण निष्ठा वाले उन दोनों का तप स्वाभाविक तप से कहीं अधिक फल सम्पन्न होने के योग्य है इसलिये उसके फल देने की योग्यता के

सूचनार्थ वरदराट् शब्द कहा है, हमने (वर मांगिये) ऐसा साधारणतया ही कहा था, उन दोनों ने भी मुझे साधारण समझकर बाल सौन्दर्य से सम्मुग्ध होने के कारण (तुम जैसा पुत्र हो) ऐसा वर मांगा, इस बात को (याऽशः) आदि शब्दों से कहते हैं, (वां) शब्द (युवाम्) के अर्थ में प्रयुक्त हुवा है, (वृतःसुतः) इन दो शब्दों के अर्थ से (भूयात्) इस क्रिया पद के इस प्रार्थना बोधक क्रिया पद का अर्थ स्वतः प्राप्त है, सुत वरण किया अर्थात् सुत होवे ऐसा वर मांगा।।३८।।

श्लोकः – अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती।।
न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया।।३९।।

मूलार्थ – तुम दोनों लौकिक विषय सुख का सेवन नहीं कर पाये थे और सन्तान भी नहीं हुई थी, मेरी माया से मौहित होने के कारण दोनों स्त्री पुरुष मुझ से मोक्ष नहीं मांग सके।।३९।।

श्री सुबोधिनी – मोक्षावरणे हेतुमाहाजुष्टेति, ग्राम्यविषय – स्त्रीसम्भोगो लौकिकः, प्रीतिः स्थितैव सेवा न वृत्तेति, न जुष्टो ग्राम्य विषयो याभ्यां, वैदिकेनापि लौकिक फलसिद्धिर्भवतीति तत्सम्भवेऽपि लौकिकसिद्धिरिति तन्निषेधार्थमाहानपत्याविति, न विद्यतेऽपत्यं ययोः, चकारादन्येऽपि स्त्रगादयो नानुभूता इति सूचितं, दम्पतीपदेनोभयोः सहभावो नियत उक्तः अतोऽपि मोक्षस्यावरणं, रागस्यानिवृत्तत्वाऽणानामनिवर्तितत्वाद् विरुद्धाश्रमनिष्ठत्वाच्च मोक्षस्यावरणं सर्वतः शास्त्रार्थपरिज्ञानेऽपि यदेतत् त्रितय तत्र हेतुर्मोहितौ मम माययेति, इयं विशेषमाया भगवल्लीलासाधिका साधारणी तु शास्त्रान् निवर्तत एव, अपवर्गं न च वव्राथे, जन्ममरणानां समाप्तिरपवर्गः, यदि साक्षादपवर्गमप्यप्रार्थयित्वा भक्तिं प्रार्थयेतं तथाप्यपवर्गो भवेत् सापि न प्रार्थितेति वै निश्चयेनापवर्गो न प्रार्थितः, में इतिपाठे मत्तो मत्सम्बन्धि वा, प्रमेयबलेनापवर्गं न प्रार्थितवन्तावित्यर्थः।।३९।।

व्याख्यार्थ – मोक्ष के वर न मांगने में हेतु का वर्णन करते हैं कि प्रश्नि और सुतपाओं ने ग्राम्य विषय का सेवन नहीं किया था, ग्राम्य विषय स्त्री सम्भोग को कहते हैं, यह लौकिक सुख है, उस सुख में उन दोनों की प्रीति तो थी ही सेवन नहीं किया था, इस कारण मोक्ष नहीं मांगा, कोई सन्तान भी नहीं थी, यद्यपि स्त्री सम्भोग के सेवन न करने से सन्तान का न होना अनुक्त सिद्ध है परन्तु वैदिक यज्ञादि के द्वारा भी लौकिक पुत्रादि फल की सिद्धि होती है अतः वैदिक धर्म के सम्भव होने पर भी लौकिक सन्तान रूप फल की सिद्धि हो सकती थी उसके निषेध करने को 'अनपत्यौ' विशेषण

कहा है, उन दोनों के किसी प्रकार कोई सन्तान नहीं हुई थी, 'च' शब्द अन्य लौकिक सुख सेवन के भी अभाव का सूचक है, उन्होंने अन्य लौकिक स्रक् चन्दन आदि सुखों का भी अनुभव नहीं किया था, 'दम्पती' शब्द से दोनों स्त्री पुरुषों का नियमतः साथ रहना कहा है, इस कारण से भी मोक्ष को नहीं मांग सके, लौकिक सुख भोग में राग की निवृत्ति न होने से, पुत्र के उत्पन्न होने के कारण पितृ आदि के ऋणों के भी निवृत्त न होने से एव मोक्ष के विरुद्ध ग्रहस्थ आश्रम में निष्ठा होने से मोक्ष नहीं माग सके, सर्व प्रकार से शास्त्र के अर्थ का परिमार्जित ज्ञान होते हुए भी पूर्वोक्त लौकिक सुख रागादि तीन कारण मोक्ष के वर रूप से स्वीकार करने में कैसे सफल हो सके, शास्त्रार्थ ज्ञान ने उन लौकिक रागादि को निवृत्त क्यों नहीं कर दिया, उसमें कारण बतलाते हैं कि "मौहितो मम मायया" मेरी माया से वह दोनों मोहित थे, यह विशेष माया भगवान् की लीला के साधने में अनुकूल है, साधारण माया तो शास्त्र से निवृत्त हो जाती है, अपवर्ग को उन्होंने नहीं मांगा, जन्म और मरण की समाप्ति को अपवर्ग कहते हैं, यदि साक्षात् मोक्ष को न मांग कर भक्ति को ही मांग लेते तो भी मोक्ष हो जाता उन्होंने भक्ति भी नहीं मांगी अतः निश्चयार्थक 'वै' शब्द का प्रयोग उपयुक्त है कि उन्होंने किसी भी प्रकार मोक्ष मांगा ही नहीं, न तो सीधा मोक्ष ही मांगा और न भक्ति के द्वारा ही उसकी इच्छा की, 'वै' के सथान पर 'ये' ऐसा पाठ माने

श्लोकः – गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम्।
ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां युवां प्राप्तमनोरथौ।।४०।।

मूलार्थ – मेरे चले जाने पर तुम दोनों मुझ जैसा पुत्र वरदान रूप में प्राप्त कर विषय भोग में रत हो गये क्योंकि तुम दोनों को मनोरथ तो प्राप्त हो ही चुका था निश्चिन्त थे।।४०।।

श्री सुबोधिनी – वरदानमर्थसिद्धमिति तदनुक्त्वा भगवन्निर्गमे जाते प्रथमतो रागनिवृत्त्यर्थं ग्राम्यभोगा भुक्ता इत्याह गते मयीति, मत्सदृशं सुतं वरत्वेन प्राप्य तन्निर्धारं कृत्वा ग्राम्यभोगेन च तत्र विघ्नो भविष्यतीतिशङ्कामकृत्वा ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां यतो युवां प्राप्तमनोरथाविति भिन्नं वाक्यं नैश्चिन्त्ये हेतुत्वार्थमुक्तं, पुनर्युवामितिग्रहणं संस्कारोद्बोधे सम्मत्यर्थम्।।४०।।

व्याख्यार्थ – तो मुझ से मोक्ष नहीं मांगा अथवा मेरे सम्बन्ध का अवगाहन करने वाला मोक्ष सुख नहीं मांगा यह अर्थ निकलता है 'प्रमेय बल (भगवदिच्छा)' से मोक्ष नहीं मांगा यह अर्थ सिद्ध हुआ[+]।।३६।।

व्याख्यार्थ – वर का दान तो अर्थ सिद्ध है, बिना ही कथन किये आगे पीछे के वचनों से बुद्धि गम्य हो जाता है, इस कारण वरदान के प्रसङ्ग. को शब्दों से न कहकर भगवान् के पधारने पर उन दोनों ने प्रथम तो लौकिक विषयों से राग की निवृत्ति करने के लिये वैषयिक सुख भोगों को भोगा, इस बात को (गते मयि) इस श्लोक से कहते हैं, कि मेरे चले जाने पर तुम दोनों मेरे समान पुत्र को वर ग्रहण रूप से प्राप्त कर अवश्य ही ऐसा पुत्र होगा ऐसा निश्चयकर ग्राम्य सुख के भोग करने से उस वर प्राप्ति में विघ्न हो सकता है ऐसी शङ्का न कर ग्राम्य भोगों को भोगने लगे क्योंकि तुम दोनों अपने मनोरथ को तो प्राप्त कर ही चुके थे, यहां (युवां प्राप्तं मनोरथौ) यह वाक्य पृथक् है जो कि दोनों स्त्री पुरुषों की निश्चिन्तता प्रतिपादन करने को उसमें कारणता के उल्लेख के लिये कह दिया है, (युवाम्) शब्द की पुनरुक्ति थी देवकी वसुदेवों के जन्मान्तरीय संस्कारों के जागरित हो जाने में उसकी सम्मति की सूचना के लिये आवश्यक है अतः दोषा वह नहीं।।४०।।

श्री सुबोधिनी आभाष – यद्यपि युवाभ्यां भ्रमादेव याचितो वरस्तथाप्यविद्यमानं न देयं कृत्रिमं तु न सम्भवति सर्वभावेन स्वस्य द्वैरूप्ये श्रुतिविरोधो मर्यादाभङ्ग.श्च स्यात्, अदानेऽपि तथा, सादृश्यस्य भेदसहिष्णुत्वेऽपि तयोराकार एव तात्पर्यमिति तात्पर्यविरोधाभावात् तात्पर्यज्ञापकं वचनमिति जीववाक्यत्वाद् यथाश्रुतं वचनं बाधित्वाऽहमेव पुत्रो जात इत्याहादृष्ट्वेति।

श्लोकः – अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्।।
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति स्मृतः।।४१।।

टिप्पण – + मोक्ष के स्वीकार न करसे में माया मोह के कारण बतलाना भक्ति मार्ग के अनुकूल नही क्योंकि (दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः, के अनुसार भक्ति मार्ग में तो भगवत्सेवा ही परम पुरुषार्थ है मोक्ष का अधिक महत्व नही इस प्रकार की शङ्का का समाधान (मे + अपवर्ग न वव्राथे) इस योजना से होता है कि भगवत्सम्बन्धि भक्ति मार्गीय मोक्ष का तो स्वीकार करना उचित था उसको स्वीकार नही किया इसमे चिकीर्षित लीला के रसानुभाव कराने की भगवदिच्छा ही कारण है, उसी को (मम मायया, इन शब्दो से कहा है।।३६।।

मूलार्थ – शील उदारता आदि सद्‌गुणों से अपने समान किसी अन्य को लोक में न देखकर मैं ही तुम दोनों का पुत्र हुआ था, जो कि प्रश्नि गर्भ इस नाम से प्रसिद्ध था।।४१।।

श्री सुबोधिनी – यद्यपि मत्तोन्ये केचन सम्भवन्ति मायया सृष्टाः, तेषामपि मत्सत्तयैव सत्तेति सर्वात्मनान्यतमत्व नास्ति, असतः सत्ता नाङ्गीक्रियत इति लोकेऽदृष्ट्वेत्युक्तं, यद्यपि कृत्रिमेऽपि रूपसाम्यं शक्यते कर्तु तथापि शीलौदार्यगुणा आत्मान्तःकरणनिष्ठा अलौकिका नोत्पादनीया इति विशिष्टस्य मिलितस्य वाऽदर्शनमेव, अतोऽहं सुतो वामभवं, उभयोरपि क्रमेण प्रादुर्भूत इत्यर्थः, 'स एकधा भवति दशधा भवती' त्यादिश्रुत्या तथा तस्य भवने न कोऽपि विरोधः, जन्मैव मुख्यमिति पृश्निगर्भ इति तन्नाम्नैव लोकप्रसिद्धिरुक्ता, स्मृत इतिप्रमाणम्।।४१।।

व्याख्यार्थ – यद्यदि तुम दोनों ने (मेरे समान कोई अन्य होगा) इस प्रकार के भ्रम से मेरे सदृश पुत्र होने का वर मांगा था तो भी जो वस्तु उपस्थित ही नहीं उसका दान तो सर्वथा अशक्य है और मेरे सदृश किसी रूप को बनाया जा सकता नहीं, सर्वथा अपने दो स्वरूपों के होने पर श्रुति का विरोध और मर्यादा का भङ्ग. संभावित था (एकमेवाद्वितीयम्) यह श्रोत सिद्धान्त एवं ईश्वर के एक होने की मर्यादा इन दोनों पर आपत्ति थी, वरके नहीं देने में भी मर्यादा भग्न हो जाती, क्योंकि मेरे शरणागत जन को किसी प्रकार की चिन्ता करना योग्य नहीं इस मर्यादा की रक्षा न हो पाती, ऐसी परिस्थिति में सादृश्य यद्यपि भेद की अपेक्षा करता है तो भी प्रश्नि सुतपाओं का मेरे इस परम मनोहर आकार में ही तात्पर्य है कि ऐसे सुन्दर आकार वाला पुत्र हो उनका तात्पर्य यह नहीं है कि वह पुत्र स्वयं यह न होकर इससे कोई अन्य हो, ऐसे विचार से मेरे स्वंय पुत्र होने में उनके तात्पर्य का कोई विरोध न होने से मैं ही पुत्र हुआ, उनका मुझ जैसे पुत्र की प्रार्थना का वचन जीव की उक्ति है केवल अपने तात्पर्य बतलाने को शब्दों का प्रयोग मात्र है, इस दृष्टि से यथा श्रुत वचन का बाधकर अक्षरशः उस वचन के पालन को आवश्यकता न समझकर स्वयं मैं ही उनका पुत्र हुआ, इस बात को (अदृष्ट्वा) इस श्लोक से कहते हैं कि – लोक में स्व सदृश किसी भिन्न को नहीं देख मैं ही तुम्हारा पुत्र हुवा, यद्यपि मुझसे भिन्न कोई हो भी सकते हैं माया से जिनको उत्पन्न किया जावे तो भी उनकी सत्ता के आधीन होने से उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं –

श्लोक – तयोर्वा पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्।।
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः।।४२।।

मूलार्थ – फिर भी उनही तुम दोनों के मैं कश्यप से अदिति में उत्पन्न हुआ (दूसरे जन्म में तुम अदिति थी और वसुदेव कश्यप थे) उस समय (उपेन्द्र) इस नाम से मैं विख्यात था और शरीर ठिगना होने के कारण मुझे वामन भी कहते थे।।४२।।

श्री सुबोधिनी – अपवर्गस्याप्रार्थितत्वात् पुनर्जन्मान्तरं जातं तस्मिन्नपि जन्मनि तयोस्तुल्यत्वात् पुनरहं पुत्रो जात इत्याह तयोर्वामिति, तयोरेव युवयोः पुनरेवाह स्वसदृशमदृष्ट्वा पुनरेवाहं जातः, तयोर्जन्मान्तरेऽदितिकश्यपत्वं तदाहादित्यामास कश्यपादिति, यद्यप्यत्रादितिगर्भ इति वक्तव्यं तथाप्युपेन्द्र इत्येव लोके विख्यातः, नामान्तरप्रसिद्धौ हेतुमाह वामनत्वादिति, द्वितीये जन्मनि नामद्वयमुपेन्द्रो वामन इति।।४२।।

व्याख्यार्थ – अतः सर्वथा सर्वांश में भिन्न नहीं, असत् की सत्ता मानी नहीं जाती, इस कारण लोक में अपने समान अन्य को न देखकर मैं ही स्वयं तुम्हारा सुत हुआ, यद्यपि रूप की समानता कृत्रिम+ वस्तु में की जा सकती है परन्तु शील, उदारता, आदि गुण तो उसमें उत्पन्न नहीं किये जा सकते, वह तो आत्मा (भगवान्) के अन्तःकरण में रहने वाले हैं, उन अलौकिक उदारतादि गुणों का उत्पादन नहीं हो सकता, अतः निजगुणों से सर्वथा विशिष्ट• अथवा अंशतः मिलित किसी अन्य दर्शन ही नहीं हुआ,

श्लोकः – तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषा युवाम्।।
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति।।४३।।

मूलार्थ – हे सति उसके अनन्तर तुम्हारे इस तीसरे जन्म में जन पूर्वदर्शित शरीर से ही मैं तुम दोनें से प्रकट हुआ हूँ, मेरा कहा वचन सत्य ही होता है।।४३।।

टिप्पण – + लेखकार ने (कृत्रिम) शब्द का (अंश) अर्थ माना है, अर्थात् भगवान् के अंशावतारों में चतुर्भुज आदि आकार एवं श्यामलत्वादि रूप का साम्य सम्भावित है।

टिप्पण – • विशिष्ट और मिलित के विवेचन को श्री लेखकार इस प्रकार किया है कि भगवान् के अलौकिक शील उदारतादि गुणो के समान लौकिक शील उदारता आदि गुणो से युक्त होना 'विशिष्ट' होना है, एवं भगवन्निष्ठ अलौकिक गुणों से भी युक्त होन 'मिलित होना' है।

इनके व्याख्यान का आशय यह है कि इस श्लोक मे 'अन्यतमम्' 'अदृष्ट्वा' यह पृथक् वाक्य है, और 'शीलौदार्यगुणैः समम्' अदृष्ट्वा, यह भिन्न वाक्य है क्योंकि जब अन्यतम 'भिन्न' कोई है ही नही तो उसमे शील उदारतादि से समानता का आपदान करना अशक्य है,

इस कारण मैं ही तुम दोनों का पुत्र हुआ, दोनों में क्रम से प्रकट हुआ, प्रथम सुतपा के मन में तत्पश्चात् प्रश्नि के हृदय में उदित हुआ, श्रुति ने परमात्मा के पुत्रादि भाव से प्रकट होने का प्रतिपादन किया है कि वह एक प्रकार से होता है, दश प्रकार से होता है, इन प्रकारों में पुत्र रूप से होना भी एक प्रकार है, अतः भगवान् के पुत्र रूप से प्रकट होने में कोई विरोध नहीं, जन्म की मुख्यता को लेकर ही (प्रश्नि गर्भ) इस जन्म सूचक नाम से ही लोक में प्रसिद्धि बतलाई है, (स्मृतः) इस पद से यह प्रसङ्ग. की प्रामाणिकता सूचित की है।।४१।।

श्री सुबोधिनी – पुनस्तृतीय जन्म तयोर्जातं, तत्राप्यहमेव पुत्रो जात इत्याह तृतीयेऽस्मिन्निति, अयं परिदृश्यमानो भवस्तृतीयो भवति, अत्रापि नामद्वयं मुख्यं, तृतीयस्थाने बहूनि, देवकीनन्दन इति च मुख्यं, तदग्रे वक्ष्यामः, पूर्वयोर्भवयो रूपभेदोऽस्ति तृतीये तु जन्मनि तेनैव प्रसन्नेनैव वपुषा तयोरेव भूयो जातः, एवं वारत्रयभवने हेतुमाह सत्यं मे व्याहृतमिति, यदि कस्मिन्नपि जन्मनि वरानन्तरभाव्ये भगवान् पुत्रो न भवेत् तदा वाक्यमसत्य स्यात्, पूर्वदेहस्य त्यक्तत्वात् तत्पुत्रो न पुत्रो भवति,

व्याख्यार्थ – मोक्ष के न मांगने के कारण उनका पुनः जन्मान्तर हुआ, उस जन्म में भी वह दोनो पूर्व समान ही थे इसलिये मैं ही उनका पुत्र हुआ इस बात को (तयोर्वाम्) इस श्लोक से कहते हैं, उन्हीं तुम दोनो के फिर भी मै ही हुआ, अपने सदृंश को न देखकर फिर भी मैं ही हुआ, उन प्रश्नि, सुतपा, ओं को जन्मान्तर में (अदिति) (कश्यप) इस नाम से कहा गया इस बात को कहते हैं कि अदिति में कश्यप से मैं उत्पन्न हुआ, यद्यपि इस जन्म में (प्रश्नि गर्भ) की भांति (अदिति गर्भ) ऐसा नाम आवश्यक है तो भी लोक में (उपेन्द्र) नाम से विख्यात हुआ, (वामन) इस दूसरे नाम की प्रसिद्धि का कारण मेरा वामन (ठिगना) होना था दूसरे जन्म में दो ही नाम थे (उपेन्द्र) और (वामन)।।४२।।

व्याख्यार्थ – फिर तृतीय जन्म उनका हुआ, उस जन्म में भी मैं ही पुत्र हुआ इस बात को इस श्लोक से कहते हैं, यह दीखने वाला जन्म तृतीय जन्म है, इनमें दो नाम मुख्य हैं (कृष्ण) और (वासुदेव) तृतीय जन्म में तीन नाम तो होने ही चाहिये अतः तृतीय नाम के स्थान पर मुख्य (देवकीनन्दन) यह नाम है उसे आगे बतलायेंगे, और भी बहुतेरे नाम तृतीय नाम के स्थान पर है, प्रथम दो जन्मों में रूप का भेद था इस तृतीय जन्म में तो उसी प्रसन्न शरीर से उन्हीं माता पिताओं के पुनः प्रकट हुए, इस प्रकार तीन बार

जन्म ग्रहण करने का कारण बतलाते हैं कि मेरा कथन सत्य होता है यदि वरदान के अनन्तर होने वाले किसी भी जन्म में भगवान् पुत्र नहीं होते तो उनका कथन मिथ्या हो जाता क्योंकि पूर्व जन्म का शरीर तो छोड़ दिया था अतः पूर्व जन्म का पुत्र पुत्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस प्रकार का व्यवहार भी नहीं है और उसमें प्रमाण भी नहीं है, पूर्व जन्म के पुत्र से पुत्रवान् कोई नहीं होता, अतः जन्मान्तर होने पर पुत्र रूप से प्रकट होना आवश्यक है. इसके पश्चात् तो अब तुम लोगों का जन्म नहीं होगा तो मेरा पुत्र रूप से प्राकट्य भी नहीं होगा, (सति)! यह सम्बोधन सम्मान का सूचक है पतिव्रता वह ही होती है जो कल्प के प्रारम्भ में जिस पति को प्राप्त करे कल्पान्त तक यदि प्रत्येक जन्म में उसी पति को पति रूप से प्राप्त करे कल्पान्त तक यदि प्रत्येक जन्म में उसी पति को पति रूप से प्राप्त करती रहे, उस पतिव्रता के धर्मों को शास्त्र मे–

श्री सुबोधिनी – व्यवहाराभावत् प्रमाणाभावाच्च, अत पुनर्जन्मान्तरे पुत्रत्वेन भाव्यं, अग्रे तु जन्माभावात् पुत्रत्वाभाव., सतीतिसम्बोधन सम्माननार्थं, सैव पतिव्रता भवति या, कल्पादौ यं पतिं प्राप्नोति कल्पान्तपर्यन्त सर्वजन्मसु तमेव चेत् प्राप्नोति, तस्याश्च पुनर्धर्मा अभिज्ञानं च शास्त्रे निरूपितं, "या प्रथमं न म्रियते मृते म्रियेत तार्ऽशी त्वमिति ज्ञापयति मोक्षार्थं, व्यभिचारिण्याः, स्त्रियास्तु न मुक्तिः, अतः सर्वदोषपरिहारार्थं सतीतिसम्बोधनमन्ते निरूपितम्।।४३।।

व्याख्यार्थ – बतलाया है और उसकी पहचान भी नहीं है, कि जो पति से पूर्व मृत्यु को प्राप्त न करे उसके मरण होने पर ही मृत्यु को प्राप्त हो, वैसी पतिव्रता तुम हो ऐसा श्री देवकी को बतलाते हैं जिससे उनके मोक्ष की सूचना देते हैं, व्याभिचारिणि स्त्री को मुक्ति नही होती, अतः सर्व दोषों के परिहार करने को (सति)! यह सम्बोधन अन्त में कहा।।४३।।

श्लोकः – एतद् वां दर्शितं रूपं प्रागजन्मस्मरणाय मे।।
नान्यथा[+] मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जन्यते।।४४।।

टिप्पण – [+] उक्त श्लोक (४४) में (अन्यथा के स्थान पर (नान्यथा) ऐसा पाठ प्राय. सर्वत्र उपलब्ध होता है, आचार्यों ने (मर्त्यलिङ्गे) यह सप्तम्यन्त पाठ माना है, और (न) यह पृथक् पद माना है, (अन्यथामर्त्यलिङ्गे न जायते) इस प्रकार योजना की है (नान्यथा) ऐसा पाठ मानने पर (मर्त्यलिङ्गे.न) यह तृतीयान्त पाठ मानना पडता है, यद्यपि विवक्षा के अनुसार (करण) और अधिकरण दोनों ही कारको का (जायते) क्रिया मे अन्वित होना सम्भावित हे परन्तु

मूलार्थ – पूर्व जन्मों का स्मरण कराने को मैने यह रूप तुम दोनों को दिखाया है, यदि ऐसा नहीं करता तो मनुष्य शरीर में मेरा ज्ञान न हो पाता।।४४।।

श्री सुबोधिनी – एवं पुत्रत्वे हेतुमुक्त्वा तादृग्रूपेणाविर्भावे हेतुमाहैतदिति, वां युवयोरर्थं एतत् पूर्वानुभूतं रूपं दर्शितं, सम्बन्धिदर्शने सम्बन्धिनः संस्कार उद्बुद्धो भवति, एतद्विषयको लुप्तोऽपि संस्कारश्चोद्बुद्धो भवति, सन्निध्यात् सर्वज्ञतायां तु वैराग्यं स्यात्, तदाविहितभक्तिरसो नानूभूयेत, रूपेण तदुद्बोधने तु तत्कालमात्रस्यैव स्मरणं वाक्याज् ज्ञानं तु प्रत्यक्षाद् दुर्बलमिति न काप्यनुपपत्ति, प्राग् जन्मनो प्रथमजन्मन एव वा स्मरणाय, एतावता क्लेशेनायं भगवान् पुत्रो जात इति, केवलवाक्ये तु भगवतो माहात्म्यमुच्यामानं शास्त्रार्थं परं स्यात्

व्याख्यार्थ – इस प्रकार पुत्र होने के कारण का निर्देश कर चतुर्भुज आदि रूप से प्रकट होने में कारण को बतलाते हैं, कि यह पूर्व में जिसका अनुभव आप लोगों को हो चुका है वह चतुर्भुज स्वरूप तुम दोनों के लिये दिखलाया है, क्योंकि ऐसा स्वाभाविक नियम है कि किसी एक सम्बन्धी पदार्थ के देखने से उसके सम्बन्धी अन्य पदार्थ के विषय में संस्कार जाग उठता है, और इस दिखने वाले पदार्थ के विषय में लुप्त हुआ भी संस्कार पुनः जागरित हो जाता है यद्यपि मेरे समीप होने मात्र से सर्वज्ञता होने पर भी पूर्व जन्म का प्रत्यक्ष सम्भव था परन्तु उस सर्वज्ञता में तो वैराग्य की सम्भावना थी, वैराग्य होने पर अविहित पुष्टि भक्ति रस का अनुभव नहीं होता, और इस रूप के दर्शन से पूर्व संस्कार के जागरित करने पर तो पूर्व काल में जैसा अनुभव हुआ है वैसा स्मरण आप लोगों को हो गया इसमें भक्तिरस प्रतिबन्धक वैराग्य की कोई सम्भावना ही नहीं, वाक्य से (यह भगवान् है) ऐसा ज्ञान तों प्रत्यक्ष की अपेक्षा दुर्बल है अतः कोई भी किसी प्रकार की आशङ्का नहीं –

श्री सुबोधिनी – तदाह, अन्यथा रूपप्रदर्शनव्यतिरेके केवलमुच्यमाने मर्त्यलिङ्गे. रूपे मानुषशरीरे मद्भवं ज्ञानं न जायते साक्षाद्भगवानयमिति, प्रदर्शिते तु रूप उच्यमानं ज्ञानमनुभवारूढं भवति।।४४।।

व्याख्यार्थ – रह जाती, (बात ऐसी है कि भगवान् को इस स्वरूप के दर्शन से श्री देवकी वसुदेवों को मोहित करना भी अभीष्ट है जिससे लीला रस का अनुभव इन्हें होता रहे, सान्निध्य से सर्वज्ञता होने के कारण भगवत्स्वरूप के मार्मिक परिचय पूर्ण

मुख्यतया विषय की आधार रूपता ही स्वीकार की है, कारणता भी संभावित है परन्तु करणता तो विवक्षा के आधीन ही है,

स्तोत्र इन दोनों ने किये फिर भी भय इन लोगों का निवृत नहीं हुआ भय की निवृत्ति के लिये प्रार्थना अन्त में दोनों ने की ऐसी दशा में स्वीकार करना पड़ता है कि भगवान् अपनी इच्छानुसार मोह भी उत्पन्न करते हैं और ज्ञान का भी प्रकाश करते रहते हैं, जिससे उनकी विचारित लीला यथोचित रूप से सम्पन्न होती रहती है) उक्त रूप का दर्शन प्रथम के दोनों जन्मों के अथवा प्रथम के एक ही जन्म के स्मरण दिलाने का भगवान् ने इन्हें कराया है, जिससे इन्हे यह विदित हो जावै कि इतने परिश्रम से यह भगवान् पुत्र रूप से प्रकट हुए है, केवल वाक्य मात्र कहने पर तो भगवान् का माहात्म्य कहा हुआ भी अनुभव बिना शास्त्र वेध ही रहता (अतः शास्त्र और अनुभव दोनों के परस्पर में संवाद कराने को उनका मेल मिलाने को स्वरूप दर्शन कराया है) इसी बात को (अन्यथा) इत्यादि उत्तरार्ध से कहते हैं कि अन्यथा रूप दर्शन के अभाव मे केवल कहने पर कि मैं भगवान् हूँ मर्त्यलिङ्ग. रूप में सर्व साधारण मनुष्य शरीर में (यह साक्षाद् भगवान् है, ऐसा करा देने पर तो कहा हुआ ज्ञान अनुभवारूढ हो जाता है हृदय स. मिलान मिल जाती है।।४४।।

श्लोकः – युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्।।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्।।४५।।

श्लोकार्थ – तुम दोनों पुत्र भाव से अथवा ब्रह्म भाव से बार बार मेरा चिन्तन करते स्नेह करने से मेरी परागति (व्यापि वैकुण्ठ) को प्राप्त करोगे।।४५।।

श्री सुबोधिनी – अधुना तु अप्रार्थितेऽप्यपवर्गे मुक्तिर्भविष्यतीत्याह युवामिति, प्रमेयबलस्य प्रकटीकृतत्वाच्छास्त्रस्य गौणत्वादविहितस्नेहेन पुत्रभावेन विहितस्नेहेन ब्रह्मभावेन वा विषयस्य तुल्यत्वात् प्रकारस्याप्रयोजकत्वाद् यथाकथञ्चिन्मयि कृतस्नेहौ परां मतिं व्यापिवैकुण्ठाख्यां यास्येथे 'माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोऽधिकस्नेह'स्य तुल्यत्वात् अत एव भगवान् गोपिकादीनामपि माहत्म्यज्ञानमुत्पादयिष्यति, अन्यथा बोधांशोऽधिकः स्यात्, भक्तानां प्रपञ्चाभावस्य निरोधत्वात्, अत एव पूर्वस्कन्धे उत्पत्तिनिरूपणेन स्वरूपत एव भक्ता निरूपिताः,

व्याख्यार्थ – इस समय तो मोक्ष के न मांगने पर भी मोक्ष होगा ऐसा कहते हैं कि तुम दोनों स्नेह के द्वारा परम गति को प्राप्त हो जावोगे, क्योंकि इस समय प्रमेय बल प्रकट किया है वस्तुशक्ति को ही प्रधानता दी गई है, शास्त्र की इस समय प्रधानता नहीं गौणता है अप्रधानता है, इस कारण शास्त्र में जिसका कर्त्तव्य रूप से वर्णन नहीं

उस अविहित भक्ति स्नेह के द्वारा पुत्र भाव से अथवा शास्त्र में जिसका कर्त्तव्य रूप से वर्णन है उस विहित भक्ति स्नेह के द्वारा ब्रह्म भाव से किसी भी प्रकार से मुझ में स्नेह करने पर व्यापि वैकुण्ठ नाम वाली मेरी परागति को प्राप्त हो जावोगे, बात यह है कि स्नेह का विषय तो समान ही रहेगा पुत्र भाव से स्नेह का विषय भी मैं ही रहूँगा और ब्रह्म भाव से भी स्नेह का विषय मैं ही रहूँगा, स्नेह के प्रकारों में अवश्य भेद है, (पुत्र भाव प्रयुक्त स्नेह), या (ब्रह्म भाव प्रयुक्त स्नेह) परन्तु परम गति रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये अमुक भेद ही उपयुक्त है ऐसी बात नहीं है, यथा कथञ्चित् मुझ में स्नेह करना ही आवश्यक है उसके द्वारा परमगति प्राप्त हो ही जावेगी, बिना मांगे ही मुक्ति हो ही जावैगी, नित्य लीला प्रवेश ही यहां पर मुक्ति पदार्थ है प्रकार भेद होते हुए भी स्नेह मात्र से समान फल या एक ही फल की सिद्धि इसलिये असम्भावित नहीं कि उक्त फल के प्रति जिस स्नेह को कारण बतलाया है वह माहात्म्य ज्ञान पूर्वक (सुदृढ) एवं सब से अधिक होना चाहिये उसमें ब्रह्म रूप से या पुत्र रूप से होने के प्रकार विशेष का निर्देश नहीं है, माहात्म्य ज्ञान आप लोगों को ही चुका है, अब तो स्नेह मात्र से ही कार्य सिद्धि है, वह स्नेह पुत्र भाव से ही या ब्रह्म भाव से हो, दोनों प्रकारों में महात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेह तो तुल्य ही है, स्नेह में माहात्म्य ज्ञान की आवश्यकता है तभी तो श्री गोपी जनों को भी माहात्म्य ज्ञान का उदय आगे कराया जावैगा, यदि स्नेह में माहात्म्य ज्ञान अपेक्षित नहीं रहता तो इस दशम स्कन्ध में ज्ञान की चर्चा अनावश्यक समझी जाती क्योंकि इसमें तो निरोध प्रतिपाद्य है, और भक्तों के प्रपञ्च की निवृत्ति या अभाव ही निरोध कहलाता है, उक्त निरोध की सिद्धि भगवान् की मधुर लीलाओं से सम्पन्न हो सकती है फिर उद्धवजी के द्वारा ज्ञान का प्रसङ्ग. दशम स्कन्ध प्रतिपाद्य निरोध मे समावेश पाने के योग्य न होकर –

श्री सुबोधिनी – प्रेमज्ञानं निरोधश्च यथैव भवति तदत्रैव वक्ष्यते, आर्थिकमत्र नोच्यत इति 'मां गोकुले नय तत्र स्थापयित्वा तत्रत्यां कन्यामत्रानये'ति मुखतो नोक्तं, एतदुक्त् वैव पश्चात् तूष्णीं जात इति ज्ञातव्यं.

व्याख्यार्थ – अपनी अधिकता को या अनुपयुक्तता को झलकायेगा, या स्पष्ट बतलायेगा, भक्ति में (बोध) अंश भी अपेक्षित है इसलिये दशम निरोध स्कन्ध से पूर्व नवम

स्कन्ध में उत्पत्ति के निरूपण से भक्तों के स्वरूप का ही निरूपण किया है उन भक्तों को प्रेम, ज्ञान, निरोध जिस प्रक्रिया से होते हैं वह इस दशम स्कन्ध में ही कहेंगे, जो बात बिना कहे ही प्रतीत होती है उसके लिये शब्द प्रयोग की आवश्यकता नहीं, अतः हमको गोकुल ले चलिये वहां पधारकर वहां से कन्या को ले आईये, इस बात को मुख से नहीं कहा (प्रेरणा मात्र की) ऐसा कहकर ही चुप हो गये ऐसा समझना चाहिये –

श्री सुबोधिनी – एभिर्वचनैर्भगवता वसुदेवदेवक्योः स्वावतारात् पूर्वं तदनन्तरं च दुःखप्राप्तौ हेतुरपि निरूपित इति ज्ञेय, तथा हि 'मत्तः कामानभीप्सन्ता' वितिवाक्यात् तदर्थमेव भगवदाराधनं पूर्वं कृतं न तु भगवदर्थ, तस्य चानिष्फलत्वाद्धर्याविर्भावे सौन्दर्यं दृष्ट्वा तादृशः सुतो वृतो न तु स्नेहेनार्त्या प्रभुप्राकट्यं वृतं, अत एव 'वरं मत्सदृश' मित्यादिना स्वप्राप्त्यनन्तरमपि 'ग्राम्यभोग' भोजनमेवोक्तं, एवं सति स्वसाम्यमन्यत्रादृष्ट्वा स्वस्यैव तथाविर्भावने प्रभोर्निर्बन्धोऽभूत्, मुक्तानामपि दुरापस्य स्वरूपस्याल्पार्थे प्रकटीकरणमापतितं यतः, 'अदृष्ट्वाऽन्यतम' मितिवाक्येनायमेवार्थो ज्ञापितः प्रभुणा, अतोऽधुना प्रभुप्राकट्यनिमित्तकः कंसकृतो निर्बन्धोऽभूत्, पुत्रत्वे निर्बन्धात् कीर्तिमदादिपुत्रनाशोऽपि, साम्ये निर्बन्धाद् गुणैस्तत्सम्भवाद् गुणसमसङ्ख्याना तेषां तथा, मर्यादारक्षायै तद्दण्ड इवायं प्रभुणा सम्पादितः, अद्भुतकर्मत्वाद् भगवत एतयोः स क्लेशः स्नेहातिशयहेतुरभूत्, क्लेशेन प्राप्तेर्थे तस्यावश्यकत्वात्।।४५।।

व्याख्यार्थ – भगवान् ने इन वचनों के द्वारा अपने प्रकट होने के पूर्व और उसके पश्चात् भी देवकी वसुदेवों को दुख की प्राप्ति में हेतु का निरूपण किया है, ऐसा जानना आवश्यक है, देखिये (मत्तः कामानभीप्सन्तौ) इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि प्रश्नि सुतपाओं ने काम प्राप्ति के लिये भगवान् का आराधन किया था, भगवत्प्राप्ति के लिये नहीं, भगवान् का आराधन निष्फल नहीं होता अतः भगवान् श्री हरि का आविर्भाव हुआ, अविर्भाव होने पर उनकी सुन्दरता को देखकर उन जैसा पुत्र वरदान रूप से मांगा, स्नेह से आर्त होकर प्रभु का प्राकट्य नहीं मांगा (स्नेह जनित आर्ति के अभाव में प्रभु प्राकट्य की इच्छा कैसे हो सकती थी) इसलिये (वरं मत्सदृशं सुतम्) इत्यादि वाक्य से अपनी अभीष्ट में प्राप्ति होने के अनन्तर भी ग्राम्य विषयों का सेवन ही उन्होंने किया ऐसा कहा है, ऐसी स्थिति में अपनी समानता को अन्यत्र नहीं देखकर अपने को ही पुत्र रूप से प्रकट करने को भगवान् का आग्रह हुआ, जिसके कारण मुक्तात्माओं को भी दुर्लभ (प्राप्त न होने वाले या कठिनता से प्राप्त होने वाले) अपने स्वरूप को थोडे से कार्य के लिये प्रकट करना पड़ा, प्रभु ने (अदृष्ट् वाऽन्यतमम्) इस वाक्य से यह भी

आशय सूचित किया है, अतः इस समय प्रभु के प्राकट्य के निमित्त से देवकी वसुदेवों को कंस के द्वारा किये गये बन्धन प्रयुक्त कष्ट का अनुभव उपस्थित हुआ, प्रश्नि सुतपाओं का पुत्र रूप में आग्रह था अतः इनके कीर्तिमान्, आदि पुत्रों का नाश भी हुआ, वह दुःख भी इन्हें भोगना पड़ा, एवं समानता में आग्रह था कि आप जैसा पुत्र हो और वह समानता (ऐश्वर्यादि) षडगुणों से ही सम्भावित है अतः षड्गुणों के समान संख्या वाले (६) पुत्रों का ही नाश हुआ, भगवान अद्भुतकर्मा हैं अतः उन्होंने ही मर्यादा की रक्षा के लिये इनको यह दण्ड जैसा विधान किया है, अद्भुतकर्मा भगवान् के एक कार्य में अनेक कार्य होते हैं अतः इनका वह क्लेश अधिक स्नेह का कारण बन गया क्योंकि क्लेश से प्राप्त हुई वस्तु में अधिक स्नेह आवश्यक है।।४५।।

कारिका : —

आविर्भावे पुत्रतया साधनं तु तपोऽभवत्। अग्रे लीलारसप्राप्तौ साधनं मृग्यमेव हि ।।१।।
भक्तिमार्गीयमित्यात्मवियोगमकरोद्धरिः। तदा तु स्वत एवासीद् भगवद्भावसन्ततिः ।।२।।
एतावन्ति दिनान्यासन्नेवं कुर्वन् भविष्यति। एतावन्मासिकश्चासीदेवमेवं करिष्यति ।।३।।
एतावद्वार्षिकश्चासीत् तेन चैवंविधाः शुभाः।लीलाः कुर्वन् साग्रजः श्रीप्रभुस्तत्र भविष्यति।।४।।
कुशल्यास्ते साग्रजो नु कदा द्रक्ष्यामि तादृशम्। एवंविधानन्तभावैरत्यार्त्या दर्शने तयोः ।।५।।
मिथस्तथालापतश्च सर्वथेन्द्रियवृत्तयः।सर्वा हरिपरा आसन् स एव सततं हृदि ।।६।।
वियोगतापतप्तेऽभूत् तेनासां जीवनं तयोः। तेनैकादश वर्षाणि तथा कुर्वन् हरिर्बभौ ।।७।।
'युवां मा' मितिवाक्येन चेममेव वरं ददौ। अन्यथैतादृशो भावो न भवत्येव कुत्रचित् ।।८।।
अतो माहात्म्यधीयुक्तस्नेहोऽभवदिति प्रभुम्। चिरात् प्राप्य पितरौ सस्वजाते न शङ्कितौ ।।९।।

कारिकार्थः — उक्त श्लोक पर श्री आचार्य चरणों ने इन कारिकाओं का उपन्यास कर श्रीमग्दोकुल में भगवान् के एकादश (११) वर्षों तक स्थित रहने का प्रयोजन बतलाया है[+] कि — भगवान् के पुत्र रूप से प्रकट होने में श्री देवकी वसुदेवों का जन्मान्तरीय साधन तो तप हुआ, परन्तु आगे लीला रस की प्राप्ति में भक्ति मार्गीय साधन तो विचारणीय है।।१।। इस कारण श्री हरि ने अपने वियोग रूप साधन को

टिप्पण —[+] असकृत चिन्तन का आकार प्रकार इन कारिकाओं मे निर्दिष्ट किया है, अतः श्लोक के व्याख्यान में 'असकत्' 'चिन्तयन्तौ' इन पदों का उल्लेख नही है ?

उपस्थित किया तब तो श्री देवकी वसुदेवों की स्वतः ही भगवद्भाव वृद्धि होने लगी।।२।। कि – इतने दिन हो गये ऐसा करते होगे, इतने मास के हो गये ऐसा २ करते होंगे। इतने वर्ष के हो गये, उस कारण से इस प्रकार को शुभ लीलाओं को करते हुए ज्येष्ठ भ्राता श्री रोहिणी नन्दन के साथ श्री प्रभु वहाँ पर विराजते होंगे।।४।। श्री बलभद्र के साथ आप प्रसन्न तो है कब मैं उनको सकुशल देखूंगा, इस प्रकार के अनन्त भावों से अत्यन्त विरह जन्य वेदना के कारण उन देवकी वसुदेवों को भगवान् का दर्शन (विप्रयोग दशा में) होता रहता था।।५।। ऐसी दशा में वह दोनों परस्पर में पूर्वोक्त प्रकार से बाचतीत करते रहते थे इस कारण उनकी इन्द्रियों की वृत्तियां सर्वथा भगवत्परायण हो गई, वह भगवान् ही निरन्तर उनके हृदय में विराजमान रहते थे।।६।। भगवद्वियोग के ताप से सन्तप्त हृदय में भगवान् का विराजना ही उन दोनों के जीवन का कारण था, इन्द्रियों की एकादश (११) सख्या होने के कारण एकादश वर्ष पर्यन्त भगवान् की हरि उनकी इन्द्रिय वृत्तियो को अपने स्वरूप परायण करते हुए व्रज में विराजे।।७।। 'युवामाम्' इस वाक्य से भगवान् ने श्री देवकी वसुदेवों को यह ही वर दिया था कि आप दोनों पुत्र भाव से या ब्रह्म भाव से बार बार मेरा चिन्तन करते स्नेह द्वारा परम गति को प्राप्त करोगे यदि भगवान् ऐसा वर नहीं देते तो इस प्रकार के भाव को कहीं भी संभावना नहीं थी।।८।। अतः देवकी वसुदेवों का माहात्म्य ज्ञान सहित स्नेह हुआ तभी तो कंस वध के अनन्तर एकादश वर्ष व्यतीत होने पर प्रभु को प्राप्त करके भी माहात्म्य ज्ञान से शङ्कित हुए माता पिताओं ने पुत्र वात्सल्य प्रयुक्त आलिङ्गन नहीं किया ऐसा आगे स्पष्ट उल्लेख है।।९।।

श्री शुक उचाव

श्लोकः – इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः।।४६।।

मूलार्थ – श्री शुकदेवजी ने कहा कि इस प्रकार कहकर भगवान् श्री हरि चुप हो गये और माया[+] से माता पिताओं के देखते देखते तत्काल ही साधारण शिशु रूप हो गये।।४६।।

श्री सुबोधिनी – एवमुक्त्वा रूपान्तरस्वीकरणं कृतत्वानित्याहेत्युक्त्वासीदिति, तुष्णींभावोऽनुक्तसिद्धोऽपि रूपवज् ज्ञानस्यापि तिरोभावप्रतिपादनार्थः, यथा रूपं प्राकृत स्वीकृतवानेवं प्राकृतमेव ज्ञान स्वीकृतवानिति, तथा सति रूपान्तरस्वीकरणं सम्यगुत्पद्येत, नन्वेवं स्वविरूद्धधर्मं कथं स्वीकृतवानित्याह हरिरिति, यतः स सर्वदुःखहर्ता, स्वरूपमप्यन्यथा करिष्यतीत्याशङ्क्याह भगवानिति, रूपज्ञानकार्ययोरपि तदा प्राकट्यं न स्यादित्याशङ्क्याहात्ममाययेति, स्वस्यैव सर्वभवनसामर्थ्येन तथा कृतवान्, ततः स्वेच्छया यदा तत्कार्यमायास्यतीति गीतोपदेशने भीष्ममुक्तौ स तथैव तदा प्रकटीभविष्यति, अन्यदा तु मातृप्रार्थनया रूपान्तर मेव प्रदर्शयिष्यतीतिभावः,

व्याख्यार्थ – इस प्रकार कहकर भगवान् ने अन्य रूप का अङ्गीकार किया यह उक्त श्लोक से कहते हैं, यद्यपि भगवान् का चुप होना नहीं भी कहा जावै तो भी वह तो सिद्ध ही है उसके बतलाने को किसी शब्द प्रयोग की आवश्यकता नहीं, परन्तु इस मर्म की सूचना देने को आप के चुप होने का शब्दतः उल्लेख किया है कि जिस प्रकार अलौकिक रूप को छुपाया उसी प्रकार आपने अपने अलौकिक दिव्य ज्ञान को भी छुपा

टिप्पण – [+] प्रभुचरण श्रीमद्गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी ने 'आत्ममाया' शब्द पर जो प्रकाश डाला है वह अत्यन्त ही आरदणीय एव माननीय है, आपका कहना है कि यहां आत्म शब्द के प्रयोग के बिना 'भगवान्' शब्द के सान्निद्धय से ही भगवच्छक्ति रूप माया की प्रतिति होते हुए भी 'आत्म' शब्द का प्रयोग इस माया की विलक्षणता सूचित करता है कि यह माया आत्म स्वरूप है जिस प्रकार आत्मा निर्विकार हैं शुद्ध है सत्य है यह माया भी वैसी ही है इसका उपयोग केवल भगवान् की निर्विकार शुद्ध सत्य लीलाओं के अनुभव कराने में ही है, असत्य पदार्थ का अनुभव कराने वाली संसार की बीज रूप माया से यह सर्वथा विपरीत है ऐसा होने पर भी इसकी 'माया' इसलिये कहा जाता है कि यह भक्तो को अपने स्वरूप का विस्मरण करा देती है और भगवान् मे आसक्ति करा देती है जैसे साधारण माया जीव के स्वरूप का विस्मरण कराकर लौकिक विषयो में आसक्ति कराती है, यह आत्ममाया भगवान् का ही एक अन्यतम स्वरूप है सूर्य का प्रकाश सूर्य से भिन्न नहीं उसी भाति यह आत्ममाया की आत्म रूप ही है आत्मा से भगवान् से पृथक् नही है, इस आत्ममाया से ही श्री देवकी वसुदेव माता पिता हुए है अन्यथा गर्भाधान, प्रसव आदि के न होने पर भी इन्हें माता पिता कैसे कहा जा सकता है, इस आत्ममाया से ही देवकी वसुदेवो को इनका भली भाति दर्शन भी हो रहा है अन्यथा मानुष रूप में ईश्वर का भली भांति ज्ञान असम्भव ही था इस स्वरूप का दर्शन नयनो के सामर्थ्य से नही किन्तु 'आत्ममाया' से ही हुवा है, 'प्राकृत' शब्द का भी स्वारस्य यह है कि शिशु का स्वरूप अपनी २ प्रकृति के अनुसार लोगों को प्रतीत होता है जैसे रङ्गभूमि मे मल्लों का ब्रज स्त्रियों को काम आदि रूप से प्रतीत होगे, लौकिक प्रकृति के जीव लौकिक समझते हैं और अलौकिक प्रकृतिवालो को अलौकिक रूप से प्रतीत होते है, प्रकृत्याग्राह्यम् 'प्राकृतम्' इस व्युत्पत्ति से ऐसा मर्म स्पष्ट किया है, इसी प्रकार के निगूढ आशयों से 'रूपान्तर स्वीकार को अध्यायार्थ माना है' इसी रूपान्तर स्वीकार के समय की श्रीमद्गोकुल में पुरुषोत्तम का प्राकट्य है उसी का यहां पर दर्शन देवकी वसुदेव को हुआ है –

लिया, जिस प्रकार प्राकृत रूप का स्वीकार किया उसी प्रकार ज्ञान की प्राकृत स्वीकार किया, क्योंकि वैसा करने पर रूपान्तर का स्वीकार भली भांति सङ्ग.त होगा, सर्वांश में संघटित होगा, इस प्रकार अपने स्वरूप से विरूद्ध धर्म का स्वीकार क्यों किया? इस शङ्क.ा की निवृत्ति 'हरि' शब्द से होती है, आप हरि हैं सर्व दु:खों का हरण करने वाले हैं, रूपान्तर के स्वीकार किये बिना भक्तों को दु:ख निवृत्त नहीं होता अतः आपने वैसा किया, 'कहीं अपने मूल स्वरूप को भी आकार, और ज्ञान की भांति अन्यथा न करलें, इस शङ्क.ा के निवारणार्थ 'भगवान्' शब्द कहा है, कि प्राकृत रूप में भी वह मूल स्वरूप भगवान् ही है, यदि भगवान् की है तो प्राकृत रूप और प्राकृत ज्ञान के कार्य प्रकट नहीं हो सकते वात्सल्य, माधुर्य आदि रस का अनुभव एवं आसुर व्यामोह, आदि क्रमशः प्राकृत रूप, एवं प्राकृत ज्ञान के कार्य हैं, उनका नहीं हो सकेगा, इस शङ्क.ा के समाधान करने को 'आत्ममायया' इस पद का प्रयोग किया है भगवान् ने अपनी सर्व भवन सामर्थ्य (सब कुछ होने की शक्ति) से प्राकृत रूप एवं ज्ञान का अङ्गि.कार किया है, इस कारण अपनी इच्छा से जब निज मूल रूप का कार्य आयेगा तब अर्जुन के प्रति गीता के उपदेश के अवसर पर एवं भीष्मपितामह के मुक्ति प्रसङ्ग. पर वैसे ही दिव्य रूप एवं ज्ञान को प्रकट करेंगे, अन्य काल में तो माता श्री देवकी की प्रार्थना से प्राकृत रूप से ही दर्शन देवेंगे, जब ही चुप हुए उसी समय तत्काल ही प्राकृत बालक हो गये, नाभि के नालच्छेद की अवस्था से पूर्ववर्ती अवस्था में दर्शन देने लगे, नटों को रूप परिवर्तन करने में दर्शनार्थियों की परोक्षता अपेक्षित है परन्तु भगवान् नटवर प्रभु के सम्बन्ध में यह आवश्यक नहीं इस कारण कहते हैं कि माता पिताओं के देखते देखते प्राकृत शिशु रूप हो गये–

श्री सुबोधनी – यदैव तूष्णीं स्थितस्तदैव सद्यस्तत्क्षणमेवप्राकृत शिशुर्बभूवाच्छिन्ननालोऽवस्थितः, नटानां रूपान्तरस्वीकारे दिदृक्षूणां परोक्षताऽपेक्ष्यतेऽत्र तु तन्नापेक्ष्यत इत्याह पित्रोः सम्पश्यतोरिति, लौकिकज्ञाननैपुण्यं पितुः, उभयमपि विद्यमानमेव न भगवत्सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धकम्।।४६।।

व्याख्यार्थ – माता लौकिक ज्ञान में निपुण हैं, और पिता पारमार्थिक अलौकिक ज्ञान में निपुण है, दोनों प्रकार की निपुणता उपस्थित होते हुए भी भगवान् के सामर्थ्य

का प्रतिबन्ध नहीं कर सकीं, वह तो उनके सामने ही अद्भुत बालक प्राकृत शिशु रूप में प्रद्युत हो गये।।४६।।

श्लोकः – ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात्।।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमायाऽजनि नन्दजायया।।४७।।

मूलार्थ – और उसके पश्चात् भगवान् से प्रेरित होकर श्री वसुदेवजी जब प्रसव मन्दिर से पुत्र को लेकर बाहर जाने लगे उसी समय नन्दपत्नी श्री यशोदा ने योगमाया को जन्म दिया जो 'अजा' भी कहलाती है।।४७।।

श्री सुबोधिनी – एवं स्वीकृत्य रूपान्तरं तत्र स्थितौ प्रयोजनाभावात् स्वयं गमने रूपान्तरस्वीकारवैयर्थ्यात् तस्य चाज्ञानान् सर्वसमाधानार्थं तं बोधयित्वा तद्द्वारा स्वयं गोकुले गतवानित्याह ततश्चेति. प्राकृतभावानन्तरं शौरिश्चकारादाज्ञापनानन्तरं च सुतं भगवन्तं समादाय सम्यग् गृहीत्वोत्तमपात्र वस्त्र च प्रसार्य तदुपरि स्थापयित्वा स सूतिकागृहाद् यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्हि तस्मिन् समये नन्दजायया योगमायाऽजनि जनिता, शौरिरिति गमने भयाभावः, स इति भगवद्वाक्ये विश्वासः, सुतमिति, तस्यापि पुत्रत्वबुद्धिः प्राकृतेव जातेति ज्ञापितं,

व्याख्यार्थ – इस प्रकार रूपान्तर के स्वीकार करने पर वहां स्थित रहने में कोई प्रयोजन नहीं था, एवं स्वयं पधारने में रूपान्तर के स्वीकार की सार्थकता नहीं होती, तथा वसुदेवजी को यह कुछ ज्ञान नहीं था कि अब इनको कहां पधराया जावै इन सब कारणों से सर्वत्र त्रुटियों के समाधान करने को वसुदेवजी को मानसिक प्रेरणा देकर उनके द्वारा स्वयं श्रीमद्गोकुल पधारे यह कहते हैं, 'ततश्च' प्राकृत भाव होने के अनन्तर 'च' शब्द से यह भी सूचित होता है कि भगवान् की आज्ञा के भी अनन्तर 'शौरि' शूरनन्दन श्री वसुदेवजी ने सुत रूप में भगवान् को अच्छी तरह लेकर उत्तम पात्र को लेकर उस पर वस्त्र को बिछा कर और उसके ऊपर बालक को स्थापित करके सूतिका सदन से जब बाहर जाने की इच्छा की उसी समय नन्द पत्नी यशोदा ने योग माया को जन्म दिया, "शोरि" शब्द से वसुदेवजी को ऐसी विकट परिस्थिति में रात्रि के समय महावन के प्रति प्रस्थान करने में किसी प्रकार का भय नहीं था, यह सूचित होता है, 'स' शब्द पूर्व परामर्शक होने से भगवान् के वाक्य में विश्वास का सूचक है कि यह वह वसुदेवजी है जिनका भगवान् के प्रति वार्तालाप करके उसके वाक्य में दृढ विश्वास हो चुका है, 'सुतम्' शब्द से यह विदित किया जाता है कि वसुदेवजी को भगवान् के प्रति

पुत्र बुद्धि प्राकृत जैसी हो गई थी, 'सूतिका गृहात्' शब्द से स्पष्ट होता है कि प्रसव के धर्म उस गृह में भी प्रकट हुए थे श्री देवकी के भी प्रसव वतीत्व (बालक को जन्म देने वाली माता के धर्म) प्रकट हुए, साधारण* मोह की निवृत्ति साधारण ज्ञान से हो सकती है, इसलिये गोकुल जाने में स्वच्छन्दता का होना और कपाटों का खुल जाना उचित है–

श्री सुबोधनी – सूतिकागृहादिति, प्रसवधर्माः तत्रापि गृहे आविर्भूताः, देवक्या अपि सूतिकात्वं जात, साधारणमोहस्य निवर्तकं साधारणं ज्ञानमिति गमनस्वाच्छन्द्यं कपाटोद्धाटनं च, आत्मन इव देहस्यापि विस्मरणं यथा भवति तदर्थं तस्मिन्नेव समये योगमाया जाता, भगवत्समानकाले चेज् जाता भवेत् तदा देवकीवसुदेवयोरपि प्रस्वापः स्यात्, अनेन मुहूर्तानन्तरं सा जातेति ज्ञायते, नवम्यां च सा जाता, रोहिणी तु तुल्या, अतो रोहिण्याः कृत्तिकावेधो न दोषाय, सप्तमीवेधस्तु दोषायैव, पुत्रोत्सवादिकं शुद्धनवम्यामेव जातमिति शुद्धाष्टनवम्यप्युपोष्या, अन्तः स्थिते भगवति मायोमो न भवतीति यदैव बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्येव जातेत्युक्त, सा ही योगार्थमेव माया, भगवतः कार्योपायार्थमेव लोकान् व्यामोहयतीति, मायायाः स्वतन्त्रज्ञानपक्षं व्यावर्तयितुं नन्दजायया जनितेत्युक्तं, न तु भगवानिव सा स्वत आविर्भूतेति।।४७।।

व्याख्यार्थ – गोकुलवासी जिस प्रकार अपने आपको भूल सकें उसी प्रकार देह को भी भूल जावें, लड़का हुवा या लड़की ऐसा न समझ पावें इसलिये उसी समय योगमाया प्रकट हुई, भगवान् के समान काल में यदि प्रकट होती तो देवकी वसुदेव भी सो जाते, उनको भी निद्रा आजाती, इससे विदित होता है कि भगवान् के प्रकट होने से एक मुहूर्त पीछे वह प्रकट हुई है और उसने नवमी तिथि के आने पर जन्म ग्रहण किया है, रोहिणी नक्षत्र तो दोनों के जन्म के समय समान ही था, अतः उपवास करने में रोहिणी नक्षत्र का कृत्तिका नक्षत्र से बेध होना दोष जनक नहीं, सप्तमी तिथि का बेध तो दोषावह है ही, पुत्रोत्सव आदि तो नवमी में ही हुआ था अतः शुद्ध अष्टमी के न

टिप्पण – *भगवान् ने वसुदेवजी को अपने गोकुल पहुँचाने और वहा से कन्या के ले आने को प्रेरणा दी है, केवल इतने ही कार्य में वसुदेवजी भगवान् की ज्ञान शक्ति से व्याप्त थे अतः उन्हें योगमाया से उत्पन्न होने वाला सर्व लोक साधारण मोह बाधक नहीं हुआ, उस साधारण मोह की निवृत्ति उस साधारण ज्ञान से हो गई, वसुदेवजी का वह भगवत्प्रेरणालभ्य ज्ञान साधारण ही था अतः उनको जाने मे स्वच्छन्दता का भान होने से धीरे धीरे पैरों को रखते हुए जाना पडा क्योंकि उन्हें असाधारण ज्ञान तो था नहीं कि यह भगवत्कार्य अवश्यमेव सिद्ध होगा अतः अपनी चतुरता करनी पडी।

मिलने पर केवल नवमी के दिन ही उपवास करना आवश्यक है, भगवान् के अन्तःस्थित[+] रहने पर माया का उदय नहीं हो सकता अतः जब ही बाहर जाने की इच्छा की उसी समय माया ने जन्म लिया ऐसा कहा है, वह माया योग के लिये ही उपयुक्त है, भगवान् के कार्यों में उपायों की सिद्धि के लिये लोगों को व्यामोहित करती है, प्रस्तुत में भगवान् का गोकुल पधारना ही कार्य है उसमें विघ्न उपस्थित न होने के उपाय को सिद्ध करने के लिये नागरिक लोगों को शयन करा देना ही मोहित कर देना है, माया को स्वतन्त्र न समझा जावै इसलिये (नन्दजायया) पद से सूचित किया है कि यशोदा ने उसे जन्म दिया है, भगवान् की तरह वह स्वयं ही प्रकट नहीं हुई।।४७।।

श्लोकः – तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरेष्वनुशायितेष्वथ।।

द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कपाटायसकीलश्रृङ्खलैः।।४८।।

मूलार्थ – योग माया के द्वार रक्षक पुरुषों की एंव नगर निवासियों को भी समस्त बुद्धि वृत्तियों का हरण कर लिया और उनको निद्रा के आधीन भी कर दिया, द्वार तो सब ही पूर्व में ही उन द्वार रक्षकों ने बड़े बड़े किवाड और लोह की जञ्जीरों से बन्द कर दिये थे उनसे निकलना बड़ा कठिन था।।४८।।

श्री सुबोधिनी – तस्याः कार्यमाह तयेति, तया मायया हृताः प्रत्ययानां सर्ववृत्तयो येषु जाग्रत्स्वापयोः प्रत्ययाना ज्ञानानां वृत्तयः संशयादय उत्पद्यन्ते, मायामोहितास्तु मूर्च्छिता एव जाताः, जगति तस्यामुत्पन्नाया तत्प्रभावः, यशोदादयस्तु मुग्धा एव गोकुलवासिनश्च, ततः क्रमेण मथुरायां द्वास्थास्ततः पौराः, न केवलं पूर्ववद् बुद्धिरेव गृहीता किन्तु निद्रयातिरिक्तबुद्धिरपि सम्पादिताः, यथा भूयान् कालो लोकान्तरं गतानामिव मुग्धतया गच्छति तथा

व्याख्यार्थ – उस योगमाया का कार्य बतलाते हैं कि उस योगमाया ने द्वारस्थ पुरुषों में विद्यमान उनकी प्रत्यय (ज्ञान) वृत्तियों का हरण कर लिया, उनके सर्व विध ज्ञानों को व्यापारात्मक वृत्तियाँ विलुप्त हो गई, उन्हें किसी प्रकार का भान नहीं रहा, जागरण, एवं स्वप्न इन दो अवस्थाओं में सर्व प्रत्यय या ज्ञानों की संशय आदि वृत्तियों उत्पन्न होती रहती हैं, माया से मोहित हुए द्वारपाल लोग तो मूर्च्छित हो गये, जगत् में

टिप्पण –[+] इन पङ्क्तियों से श्रीमदाचार्यचरण स्पष्ट सङ्केत करते हैं कि जिस हृदय में भगवान् विराजते है वहा माया को अवकाश नहीं एवं माया छल कपट आदि को आश्रय देने पर हृदय मे भगवान् विराज नही सकते पधार जाते हैं –

माया के उत्पन्न होने पर उसका प्रभाव पड़ा, श्री गोकुलवासी श्री यशोदा आदि तो मुग्ध हो गये, उनकी सावधानता जाती रही तत्पश्चात् क्रम में मथुरा मे द्वारपाल, तदनन्तर मथुरा के नागरिक लोग भी असावधान हो गये, माया ने केवल पूर्ववत् बुद्धि का हरण मात्र ही किया हो इतनी ही बात नहीं किन्तु निद्रा के द्वारा अतिरिक्त बुद्धि भी सम्पन्न करदी, जिस प्रकार अन्यन्त दीर्घ काल अन्य लोक के प्रति चले जाने वालों की भांति असावधानी से चला जाता है, उस प्रकार माया ने लोगों को सूला दिया, सुषुप्ति (गाढ निद्रा) को प्राप्त करा दिया, ऐसा होने पर द्वारा स्वयं खुल गये, इस माया ने इतना ही कार्य किया कि लोगों की बुद्धि वृत्तियों का हरण और निद्रा से उनका अत्यन्त अचेनती भाव सम्पादन, बस इतना तो माया का कार्य हुआ, अन्य कार्य तो अन्य प्रकार से सम्पन्न हुआ यह बतलाने को अर्थ शब्द का प्रयोग किया है, (अथ) शब्द भिन्न प्रकार से क्रम में परिवर्तन का बोधक है, कपाटों के स्वयं खुलजाने में माया का प्रभाव कारण नहीं भगवत्प्रभाव हो कारण है, वह सब ही द्वारा जिन्हें पूर्व में उन्हीं द्वारा पुरुषों ने बड़े २ कपाटों से लोहे की कील व जंजीरों से बन्द कर रखे थे, जो स्वभाव से भी दुर्गम थे जिन्हें प्राप्त करना या उल्लंघन करना कठिन था

श्री सुबोधिनी – अनुशायितेषु सुषुप्तिं प्रापितेषु सत्सु, इयं हि मायैतावत्कार्यमेव कृतवती, अन्यत् त्वन्यथा जातमिति वदन् प्रक्रमान्तरमाहाथेति, पूर्वं तैरेव द्वारपालकैः सर्वा एव द्वारो बृहत्कपाटायसकीलश्रृङ्खलैः पिहिताः स्वभावतोऽपि दुरत्यया

कारिका – गजा व्याघ्राः क्वचित् सिंहा विषमाश्चैव भूमयः दिवसेऽपि गतो नित्यं सर्वथा भयहेतवः ।।१।।

श्री सुबोधिनी – येषु द्वारेषु, गमनमात्रेऽपि साधारणानां बन्धो भवति, तत्रापि पिहिताः, वृहन्ति कपाटानि यत्र, आयसा कीला श्रृङ्खलाश्च यासु, कीलसहिता वा श्रृङ्खला यासु, कुञ्चिकयैवोद्घाटयितु शक्याः, कुञ्चिकाऽपि विषमा।।४८।।

कारिकार्थ – जहां हाथी, व्याघ्र, कहीं कहीं सिंह तथा ऊँची नीची भूमि यह सब दिन में भी जाने में भय के कारण सर्वदा एवं सर्वथा उपस्थित रहते थे, जिन द्वारों पर साधारण लोग तो जाते ही कैद कर लिये जाते थे, उन पर भी उस समय तो वह द्वार बद्ध थे जिनमें बडे बड़े किवाड़ लगे थे, लोह की कील व जंजीरें थीं, अथवा कील सहित जंजीरें थी, वह ताली से ही खोले जा सकते थे, उनके खोलने को ताली भी

विषम थी, उसको जानने वाला ही काम में लासकता था, सर्व साधारण के लिये उससे कपाटों का उद्घाटन नहीं हो सकता था।।४८।।

आभास – एताऽशा अपि कृष्णवाहे वसुदेवे समागते स्वयमेव व्यवर्यन्त (इत्याह) **विशीर्णा जाताः,**

श्लोकः – ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः।।

ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः शेषोन्वगाद् वारि निवारयन् फणैः।।४६।।

मूलार्थ – वह बड़े बड़े द्वार श्रीकृष्ण के वाहक वसुदेवजी के आते ही सूर्य से अन्धकार की भांति स्वयं ही हट गये, मन्द मन्द गर्जना के साथ मेघ वर्षा करने लगा, (वर्षा से भींग जाने की स्थिति नहीं आसकी) भगवान् शेषजी फणों के द्वारा जल का निवारण करते पीछे से चल रहे थे।।४६।।

श्री सुबोधिनी – स्वयमेवोद्घाटितकपाटा जाताः, भगवतः सर्वमोक्षदातृत्वात् कपाटानामप्य चेतनानामतितामसैर्बद्धानां मुक्तिः प्रदर्शिता, अनेनान्येषां मुक्तिर्व्याख्याता, यदि शुद्धसत्त्वं भगवद्वाहकं चेद् भवति, एतत्प्रदर्शनार्थमेव कृष्णवाहे वसुदेव इत्युक्तं, अयमेवोपाय इति ज्ञापयितुं ऽष्टान्तमाह यथा तमो रवेरिति, उपायसहस्रेणापि सर्वं तमो न गच्छति, उदिते तु सूर्ये स्वत एव गच्छति तथा शुद्धसत्त्वे भगवत्सहिते सत्येव सर्वाविद्यानाशः,

व्याख्यार्थ – इस प्रकार के भी द्वार भगवान् कृष्ण को पधराकर वसुदेवजी के आने पर स्वयं ही खुल गये (ऐसा कहते हैं) कि वह द्वारा विशीर्ण हो गये, उनकी ऽढता शीथिल हो गई उनके कपाट स्वयं ही पृथक् २ हो गये, इस वर्णन से यह बतलाना अभीष्ट है कि भगवान् मोक्ष के दाता हैं अतः जड़ जातीय कपाट जिन्हें अत्यन्त तमोमय लोह कील श्रृख्ङ्लाओं ने बन्धन में डाल रखा था उनको भी मुक्त कर दिया, इस प्रकार तामस कर्मबद्ध मूढों को भी मुक्ति का प्रदर्शन कराया गया है, इससे अन्य ज्ञान शून्य व्यक्तियों की मुक्ति का भी स्पष्टीकरण कर दिया है, यदि शुद्ध सत्व भगवान् को धारण करता हो तो मुक्ति होना अनिवार्य है ऐसी सूचना के लिये (कृष्णवाहे) (वसुदेवे) इन पदों का उल्लेख किया है (सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितम्) के अनुसार, रजोगुण, तमोगुणों से अस्पृष्ट शुद्ध सत्वात्मक अन्तःकरण में यदि कृष्ण की धारणा सिद्ध हो जाय तो मोक्ष सहज सिद्ध है, मोक्ष प्राप्ति का यह ही उपाय है यह बतलाने को ऽष्टान्त कहते है कि जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है,

सर्वस्त्रशः उपाय करने पर भी सम्पूर्ण अन्धकार निवृत्त नहीं होता, सूर्य के उदय होते ही स्वतः चला जाता है, उसी प्रकार शुद्ध अन्तः करण के भगवद्भाव पूर्ण होने पर सम्पूर्ण अविद्या का (बन्धन करने वाली माया का) नाश हो जाता है।

श्री सुबोधिनी – सर्वासाध्यानां स्वत एव सिद्धिर्नान्यथेति निरूपितं, अन्तर्द्वारेषु निर्गतेषु मायायाः प्रवेश उभयोः साम्मुख्ये यदासीत् तदाह ववर्षेति, वृष्टिरपि सर्वेषामनुत्थाने हेतुः, उपांशुगर्जितं चानुत्थाने शब्दान्तरप्रतिबन्धे च, अधिकगर्जने तेनैव प्रबोधः, एतावन्मायाकार्यं साधारण्येन प्रवत्तं वसुदेवस्यापि खेदहेतुर्भवति, अतस्तन्निवारणार्थं शेषोऽन्वगात्, पातालात् समागत्य फणैः पर्जन्यवारि निवारयन्नन्वगात्, पश्चाद्भागेन गतवान्, भगवत्सम्बन्धात् तत्कृतं तु भयं न भवति, अन्तरिक्षे निवारयन् गच्छतीत्येके, फणैरितिपदादन्वगादिति च पश्चादेव छत्रधारीव गच्छतीति शायते।।४६।।

व्याख्यार्थ – समस्त असाध्य कार्यों की सिद्धि स्वतः हो जाती है जो कि अन्य प्रकार से नहीं हो पाती, ऐसा यहां निरूपण किया है, अन्तर्द्वारों के निकल जाने पर, नगरी के भीतरी दरवाजों के पारकर जाने पर, माया का प्रवेश हुआ है, भगवान् और माया इन दोनों के सम्मुख होने पर जो दृश्य उपस्थित हुआ उसे कहते हैं कि वृष्टि होने लगी, वृष्टि भी सब लोगों के न उठने में कारण हुई, वर्षा के कारण सब लोग पड़े ही रहे, मेघों का उपाशु गर्जित (मन्द २ गर्जना) भी लोगों के न उठने का कारण हुई तथा अन्य शब्दों के कर्णगत न होने में भी कारण हुई, मेघ की मन्द गर्जन से अन्य कोई किसी के आने जाने का शब्द नहीं सुनाई पडता था, अधिक गर्जना होने पर तो लोग उस गर्जना से ही जाग उठते अतः मन्द गर्जना लोगों के न उठने में कारण सिद्ध हुई, यह इतना ही केवल वर्षा मात्र माया का कार्य सर्व साधारण रूप से प्रवृत्त हुआ वसुदेवजी को भी खेद जनक है अतः उस खेद के निवारणार्थ शेषजी वसुदेवजी के पीछे की और से चल रहे थे, भगवान् के सम्बन्ध के कारण से शेष के सर्प रूप से होने वाले भय का सम्भव नहीं, कुछ विद्वानों का कहना है कि शेषजी अन्तरिक्ष आकाश में चल रहे थे, तब तो शरीर के द्वारा भी वृष्टि का रोकना सम्भव था, यहां तो फणों से वारि (जल) का निवारण कहा है, एव ऊपर चलना न कहकर (अनु–आगत) पीछे से चलना कहा है। अतः स्पष्ट होता है कि शेषजी वसुदेवजी के पीछे से ही छत्रधारी कर्मचारी की भांति चल रहे थे।।४६।।

श्लोकः – मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला।।

भयानकावर्तशताकुला नदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः।।५०।।

मूलार्थ – इन्द्र के बराबर वर्षा बरसाने के कारण यमुनाजी गम्भीर प्रवाह से बह रही थी, लहरियों से लहरा रहीं थी झागों से झगड़ रही थी, भयानक भंवर पड़ रहे थे उन भवरो से व्यग्र हो रहीं थी (ऐसी दशा मे) यमुना नदी ने वसुदेवजी के उस प्रकार मार्ग दे दिया जिस प्रकार सीतापति श्री राचन्द्ररजी को लङ्का जने के अवसर पर समुद्र ने मार्ग दिया था।।५०।।

श्री सुबोधिनी – यथा यथा गोकुलनिकटे गमनं तथा तथा मायासान्निध्याद् गमने क्लेशाधिक्यं भगवत्सान्निध्याच्च तदभाव इति ज्ञापयितु यमुनोत्तरणे प्रकारमाह मघोनि वर्षतीति, भगवज्जन्मसमये सर्वतो निवृत्ता अपि मेघा मायाजन्मनि सर्वे समागता', इन्द्रोऽपि माया मोहितो मेघप्रेरको जातः, केवलाश्चेद् भगवति गच्छति निवृत्ता अपि भवेयु', अल्पानां मोहितानामल्पधैर्यवत्त्वेन महति विरोधासम्भवात्, अत आह मघोनीन्द्रेऽसकृद् वर्षति सति, स्वभावतोऽपि यमुना क्रुरेत्याह यमानुजेति, अत एव गम्भीरतोयौधजवोर्मिफेनिला, गम्भीरो भयानकोऽगाधो यस्तोयौघस्तस्य जवेन वायुवशाच्च य ऊर्मयस्तत्सहिता फेनिला च, त्रिविधोऽपि दोषस्तस्या निरूपितः, अतिवेगो राजसः, फेनादिस्तामसः एव कालकृत दोषमुक्त्वा स्वाभाविकं दोषमाह भयानकावर्तशताकुलेति, भयानका भयजनकाः

व्याख्यार्थ – जैसे जैसे गोकुल के निकट पहुँचना तैसे तैसे माया के समीप होने के कारण पहुँचने में क्लेश का अधिक होना, एवं भगवान् के सन्निधान से उन क्लेशों का अभाव हो जाना यह बतलाने को यमुना के उस पार जाने में प्रकार को कहते हैं कि इन्द्र के वृष्टि करने रहने पर यमुना का प्रवाह भयावह था परन्तु भगवान् के कारण कोई क्लेश उपस्थित नहीं हुआ, भगवान् के जन्म समय में मेघ सब ओर हट गये थे तो भी माया के जन्म के समय में सब आगये, इन्द्र भी माया से मोहित होने के कारण मेघों को प्रेरणा देने लगा, यदि इन्द्र की प्रेरणा न होती, केवल मेघ ही होते तब तो भगवान् के गोकुल पधारने के समय हट भी जाते क्योंकि अल्प योग्यता वाले साधारण माया मोहित लोगों का धैर्य अल्प ही होता है अतः वह महान् पुरुषों के प्रति विरोध नहीं करते यहां क्षुद्र जातीय मेघों का भगवान् से विरोध करना असम्भव है यह बतलाना है, परन्तु इन मेघों को तो देवराज इन्द्र से प्रेरणा मिल रही थी अतः वह वर्षा बरसाते रहे रूके नहीं इससे कहा है कि 'मघोति वर्षति' देवराज इन्द्र के बार बार वर्षा करने पर वैसी परिस्थिति हो गई, माया मोहित देवराज इन्द्र की प्रेरणा का बल पाकर मेघ वर्षते ही रहे जिससे यमुना प्रवाह भयावह हो गया, 'यमुनाजी' शब्द से यमराज की भगिनी होने के कारण स्वाभाविक क्रूरता बतलाई है (जो कि भयङ्कर परिस्थिति के वर्णन में अनूकूल है)

अत एवं गम्भीर जल प्रवाह के वेग से एवं उमंग की तरंगों से तथा फेन (झागों) से युक्त बतलाया गया है, श्री यमुना का प्रवाह गम्भीर था उसकी अगाधता गहराई भयानक थी, प्रवाह वेग से तथा वायु से –

श्री सुबोधिनी – ये आर्वर्ताः भ्रमरास्तेषां शतैराकुला, समप्रवाहरहिता व्यग्रा वा. आवर्तास्तामसा, वैयग्र्य राजस, एव स्वाभाविका अपि त्रयो दोषा, एव दुष्टाऽपि भयान मार्ग ददौ, सर्वा नद्य समुद्रपत्न्य, रामावतारे समुद्रोऽपि मार्गमप्रयच्छन् शोषित- किं पुनस्तस्याल्पसत्त्वा भार्या ? अत स्वरूपादेव प्रच्युता भविष्यामीति सिन्धुरिव मार्ग ददौ, किञ्च यमुनाजलेऽग्रे लक्ष्मीभि सह क्रीडां करिष्यति, अत- सन्तोषादपि ददौ, यथा लक्ष्मीपतेर्जामातुः श्वसुरः समुद्रः कदाचित् स्वगृहे नयन् मार्ग प्रयच्छति, अथवा श्री- सीतैव तस्या एकस्याः कामुकश्चेत् समुद्रशोषं कृतवान् बहूना गोपिकाना कामुकः कथ न कुर्यात् ?।।५०।।

व्याख्यार्थ – कारण उठती हुई लहरों से युक्त थी तथा फेन (झागों) से पूर्ण थी, यमुना के तीन प्रकार के दोष का निरूपण इस विशेषण से हुआ है, अत्यन्त वेग से राजस दोष है, और झाग बबूला आदि तामस दोष है, (गाम्भीर्य सात्विक दोष है) इस प्रकार वर्षा काल जनित दोषों को कहकर स्वाभाविक दोष बतलाते है कि सैकडो भयङ्कर आवर्त (भमरो) से आकुल थी, उनका प्रवाह सम नहीं था ऊंचा नीचा विषम रूप से बहता था, अन्यथा उन भंवरों से व्यग्र थीं, अपनी घबडाहट प्रकट कर रही थी, आवर्त (भंवर) तामस है, व्यग्रता राजस है (समान प्रवाह का न होना सात्विक दोष हैं) इस प्रकार स्वाभाविक तीनों दोषों का भी निरूपण किया, इस प्रकार स्वाभाविक एवं आगन्तुक दोषों से युक्त होते हुए भी – भय के कारण मार्ग देने में अनुकूल हो गई मार्ग देदिया, विघ्न नही किया, सब ही नदी समुद्र की पत्नी होती है रामावतार मे समुद्र भी भगवान् को मार्ग न देने के कारण शुष्क कर दिया था, तब उस समुद्र की अल्प सामर्थ्य वाली एक पत्नी की तो बात ही क्या है, अतः स्वरूप से ही भ्रष्ट हो जाऊंगी इस भय से समुद्र की भांति मार्ग देदिया, अथवा आगे लक्ष्मी (श्री गोपीयो) से जल क्रीड़ा करेंगे इस सन्तोष से कि मेरा भी सौभाग्य सिद्ध होगा श्री यमुना ने मार्ग दे दिया, जिस प्रकार लक्ष्मीपति को अपने जामाता भगवान् को उनका श्वसुर समुद्र कभी उन्हें अपने घर में ले जाने को मार्ग देता है, अथवा श्री शब्द से सीताजी का ही ग्रहण अभीष्ट है

एक सोता के कामुक रघुनाथ जी यदि समुद्र को सुखा चुके तो बहुत सी गोपिकाओ के कामुक होकर मुझे क्यों न सुखा देंगे इस भय से यमुना ने मार्ग देदिया।।५०।।

श्लोकः –नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान् गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया।।

शिशुं यशोदाशयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात्।।५१।।

मूलार्थ – वसुदेवजी नन्दराय के व्रज में पहुँचकर वहां उन गोपो को निद्रा के कारण सोता हुआ पाकर श्री यशोदा की शय्या पर नवजात शिशु को स्थापित कर उनको सुता को उठाकर फिर अपने घर लौट आये।।५१।।

श्री सुबोधिनी – एवं मार्गवन्नदीमुत्तीर्य गोकुले गतस्य कृत्यमाह नन्दव्रजमिति, शौरिरित्यभये नन्दस्य च मित्रत्वात्, व्रजे च गवामपि कदाचिच्छब्दो भवत्यतः पुरुषगमनशब्देनापि न तत्रत्याना जागरण, उपेत्य समीपे गत्वा, अनेन शनै शनैर्गमन सूचित, तत्र च तान् सर्वदा जागरणयुक्तानपि तदा प्रसुप्तानुपलभ्य, केवलमपि शयन सम्भवतीति निद्रयेत्युक्त, शिशु बालक भगवन्त, भगवत्त्वज्ञानेन पुत्रत्वस्य वक्तुमशक्यत्वान्नामान्तराणामकृत्वाद् भगवत्त्वे स्थापनस्यायुक्तत्वाच्छिशुमित्युक्तं, शयने शय्यायां, अयुक्तमित्याशङ्क्य शयनपदं दत्तं, यशोदायाः शयने सति यशोदायाः शयन यत्रेति निधाय नितरां स्थापयित्वा तत्सुतां मायामुपादाय पुनरस्तेनैव मार्गेण स्वगृहानगात्।।५१।।

व्याख्यार्थ -- इस प्रकार मार्ग की तरह नदी को पारकर गोकुल मे पहुँचे हुए वसुदेवजी का कार्य बतलाते हैं कि शूरनन्दन वसुदेव वहाँ जाकर गोपों को सोया हुआ पाकर नवजान शिशु को वहॉ श्री यशोदा की शय्या पर पधारकार गृह के प्रति लौट आये, "शौरि" शब्द वसुदेवजी के अभय का सूचक है, और नन्दराय के व्रज में जाना है वहॉ उनको जाने में हर्ष प्रकर्ष का होना आवश्यक है क्योंकि नन्दराय वसुदेवजी के मित्र हैं अतः निर्भयता पूर्वक प्रसन्नता से पहुंचे, 'व्रज' गौओं के निवास स्थान को कहते हैं वहॉ कभी कभी गौओं का शब्द होता ही रहता है अतः मनुष्य के चलने के शब्द (पैंछट) से भी वहां वालों का जाग जाना सम्भव नहीं, 'उपेत्य'+ शब्द 'समीप मे जाकर' इस अर्थ का वाचक है, इससे धीरे २ जाने की सूचना होती है (वसुदेवजी चुपके से पैर रखते हुए गये जिससे कोई जाग न जावे) और वहाँ पर उन सदा जागने वाले गोपों को भी उस समय सोता हुआ पाया, शयन निद्रा के बिना केवल पड़े रहने को भी कह

टिप्पण 'उप' उपसर्ग 'उपवेद' 'उपाध्यापक' आदि शब्दो मे निम्न कक्षा का सूचक है उसी पकार गमन के साथ भी उसकी निम्न कक्षा मन्दता का सूचक है।

देते हैं, अतः 'निद्रया' शब्द का प्रयोग किया कि वह लोग निद्रा से सो रहे थे, बालक रूप भगवान् के प्रति इस अवसर पर 'शिशु' शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि वसुदेवजी को उनके भगवान् होने का ज्ञान है इस दृष्टि से 'पुत्र' शब्द का प्रयोग उचित नही, अन्य नामों का अभी आविर्भाव हुआ नहीं है, "भगवान्" शब्द का प्रयोग भी स्थानान्तर पर छोडने के अवसर पर उचित नहीं क्योंकि भगवान् होने पर उनका स्थापन अन्यत्र विसर्जन) युक्त नहीं, अतः 'शिशु' शब्द ही उपयुक्त होने से प्रयुक्त किया है,

श्लोकः – देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम्।।
प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृतः।।५२।।

मूलार्थ – इसके अनन्तर वसुदेवजी श्री देवकी की शय्या पर लड़की को रखकर अपने पैरो में लोहे की बेडियों को डाल कर पहले की तरह बद्ध हो गये।।५२।।

श्री सुबोधिनी – ततो देवक्या शयने तस्या अपि शय्यास्थानं कृत्वा तां स्थापयित्वा, अथेति भिन्नप्रक्रमे, यशोदाशयने तूष्णी शनैरज्ञापयन्, अत्र तु तदभावः, दारिकां कन्यां, अनादरे दारिका, स्वयमेव पदो पादयोर्लोह प्रतिमुच्य पूर्ववदेव यदा भगवज्जन्म न जातं तदा यथा।।५२।।

व्याख्यार्थ – (शयन) यद्यपि शय्या को कहते हैं परन्तु (शय्यापद) का प्रयोग अयुक्त[+] हैं ऐसी आशङ्का कर (शयन) पद का प्रयोग किया है अथवा श्री यशोदा के शयन करने पर उनके सोजाने पर, या श्री यशोदा जिस स्थान पर शयन करती थी उस स्थान पर शिशु को स्थापन कर भली भांति पधराकर श्री यशोदा की सुता माता को लेकर पुनः उसी मार्ग से अपने गृह आपहुँचे।।५१।।

व्याख्यार्थ – इसके पश्चात् देवकी की शय्या पर उस लड़की को शयन करने का स्थान सिद्ध कर उसे वहां स्थापित कर वसुदेवजी पूर्व की भांति निगडित हो गये, यहां पर (अथ) शब्द प्रक्रम की भिन्नता का सूचक है, श्री यशोदा की शय्या पर चुप चाप धीरे २ शिशु का स्थापन किया था क्योंकि वहां किसी को विदित न हो, यह आशङ्का थी, यहां उस प्रक्रम को बदल दिया है क्योंकि यहां उस प्रकार की कोई शङ्का नहीं है,

+ टिप्पण – पर स्त्री की शय्या का स्पर्श निषिद्ध है अत (शय्या) पद का प्रयोग नही किया, और इसी अरुचि से शयन पद का भी प्रकारान्तर से व्याख्यान किया है।।५१।।

(दारिका) शब्द से उनके अनादर को सूचना है, कि उस परम मनोहर पुत्र की स्मृति क्या इससे शान्त होगी, वसुदेवजी स्वयं अपने पैरों में लोहे की बेड़ियों को डालकर भगवान् के जन्म से पूर्वकाल की भांति आबद्ध हो गये।।५२।।

श्लोकः — यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत।।
न तल्लिङ्गं. परिश्रान्ता निद्रयाऽपगतस्मृतिः।।५३।।

।। इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे **श्रीकृष्णजन्मनामतृतीयोध्यायः।।३।।**

मूलार्थ — नन्द पत्नी यशोदा ने इतना ही जान पाया कि कुछ हुआ है, लड़के या लड़की का कोई चिन्ह नहीं पहिचान सकी क्योंकि प्रसव वेदना से अत्यन्त थक चुकी थी निद्रा ने उनकी स्मृति का अपहरण कर लिया था।।५।।

इति श्री भा. म. द. स्क. जन्म प्र. तृ. अध्याय श्लोकार्थः

श्री सुबोधिनी — अत्र यशोदायाः शयनं न सम्भवति, प्रसवे लोकेऽज्ञानासम्भवादित्याशङ्क्याह यशोदेति, यशोददातीति प्रसवे ज्ञाते भर्तुः सुखं भवतीति, नन्दस्य पत्नीति, तादृशे समयेऽन्यदापि जागरणं जातकर्माद्यावश्यकत्वात् पत्नी भूत्वापि सावधानाऽपि, जातमेव परमबुध्यत न तु जातस्य लिङ्गं. पुत्रः पुत्री वेति, यतः परिश्रान्ता प्रसवार्थं वेदना महती जाता, पश्चाच्छ्रान्ता यदा तदैव प्रसवो जात इति प्रसवेन सह निद्राऽपि जाता, तया कृत्वापगता स्मृतिर्यस्याः, मम प्रसवो जात इति पूर्वानुसन्धानं स्मृतिः, अतः पूर्वं वसुदेवकृत सुस्थम्।।५३।।

।। इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे तृतीयाध्यायविवरणम्।।३।।

व्याख्यार्थ — यहां इस प्रकार आशङ्का करके उसके निवारणार्थ उक्त श्लोक को कहा है कि — यशोदा का शयन तो असम्भावित है क्योंकि लोक में प्रसव (अवस्था के होने पर अज्ञान का सम्भव नहीं) उक्त शङ्का की निवृत्ति करते हुए शुकदेवजी कहते हैं, कि नन्द पत्नी यशोदा इतना ही समझ सकी कि कुछ उत्पन्न हुआ परन्तु वह उत्पन्न हुआ स्वरूप पुत्र है या पुत्री है ऐसा नहीं जाना, उक्त श्लोक में यशोदा शब्द के द्वारा एवं उसके विशेषण (नन्द पत्नी) शब्द के द्वारा नन्द यशोदाओं के नाम की सार्थकता बतलाई है, यशोदा, प्रसव के ज्ञात होते ही पति को यश देती है कि तुम बडभागी हो

तुम्हारी साधना आज सिद्ध हुई, मेरा आपके द्वारा पाणिग्रहण सार्थक हुआ, चिरकाल तक लोक में नाम चलेगा आदि २, नन्दराय को भी प्रसव के ज्ञात होते ही सुख होता है अपार आनन्द होता है कि मेरा भर्ता होना आज सार्थक हुआ, अब इस भार्या के भरण करने में मुझे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है, इत्यादि भावनाओं से सुख होने के कारण उन्हें 'नन्द' पदवी प्राप्त होती है, अन्य अवसरों पर भी वैसे समय में बालक के जात कर्म आदि संस्कार आवश्यक कर्म होते हैं अतः जागना ही होता है, शयन का सम्भव नहीं, 'नन्द–पत्नी' शब्द के अन्तर्गत 'पत्नी' शब्द का प्रयोग स्त्री की एक विशिष्ट योग्यता का सूचक है उस योग्यता के आधार पर उसे पति के साथ पारलौकिक यज्ञादि कर्म में अधिकार प्राप्त होता है, अतः उसकी प्रसव कालीन जात कर्मादि संस्कारों के लिये सावधान रहना आवश्यक है, श्री यशोदा की नन्द की पत्नी होकर भी सावधान होते हुए भी केवल इतना ही जान सकी कि जन्म+ हुआ, कोई बालक प्रकट हुआ, प्रकट हुए बालक का चिन्ह विशेष कि यह लड़का है या लड़की है ऐसा नहीं जान सकी, क्योंकि 'परिश्रान्त थी' प्रसव के निमित्त वेदना अधिक हो चुकी थी, पीछे जिस समय श्रान्त हुई (थक गई) उसी समय प्रसव हुआ कि उसके साथ ही निद्रा भी आगई, उस निद्रा से उसकी समृति लुप्त हो गई, मेरे प्रसव हुआ है इस प्रकार के पूर्व वृत्तान्त के अनुसन्धानात्मक स्मरण का अभाव हो गया, अतः पूर्व में वसुदेवजी का किया हुआ सब कुछ शिशु का स्थापन कन्या का उत्थापन आदि सुन्दर प्रक्रिया से सम्पन्न हुआ।।५३।।

इति श्री भाः निरोध स्कं. जन्म प्रकरण रूपान्तर स्वीकार तृतीय अध्याय श्री सुबोधिनी व्याख्या का अनुवाद।

टिप्पण — + भगवान् श्री कृष्ण की जयन्ती तिथि को जन्माष्टमी कहते है इस तिथि का यह नाम श्री कृष्ण की परब्रह्मता का परिचय देता है, 'रामनवमी' 'नृसिहचतुर्दशी' आदि जयन्तीयो को 'जन्म नवमी' या 'जन्म चतुर्दशी' नहीं कहा जाता, इस आकस्मिक शब्द प्रवृत्ति से यदि इस प्रकार स्वीकार किया जावै कि जन्म प्रयुक्त विशेषता को लेकर उक्त (जन्माष्टमी) सज्ञा प्रचलित हुई है तो वह विशेषता अजन्मा परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण के जन्म से ही तो सम्बन्धित है, श्री यशोदा भी 'जातं परम बुध्यत, न तल्लिङ्ग.म् , धन्य श्री यशोदे! उस परब्रह्म की कोई पहिचान नहीं आपने उसके जन्म को जान लिया था उसकी जन्म तिथि का नाम करण कर दिया।। श्री यशोदा स्तनन्ध्याय नम.।।

।। श्री कृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नम ।।

दशमः स्कन्धः

श्री सुबोधिनी का सरल – सुबोध – हिन्दी अनुवाद

चतुर्थोऽध्याय

इस अध्याय के पूर्व के तीन अध्यायों में क्रमशः हेतु, उद्यम तथा दूसरे रूप को स्वीकार करने का निरूपण है अर्थात् भगवान् किस हेतु से भूतल पर पधारे उस हेतु का निरूपण प्रथमाध्याय में हैं, भगवान् के भूतल पर पधारने के उद्यम का वर्णन द्वितीयाध्याय में है और चतुर्भुज से द्विभुजरूप को स्वीकार करना रूपान्तर स्वीकरण है इस का तृतीयाध्याय में निरूपण है। इस चतुर्थाध्याय में माया के कार्य का निरूपण होने से कापट्य का निरूपण किया जा रहा है और धर्म रक्षार्थ अनिरुद्ध– व्यूह का प्राकट्य भी इस में कहा गया है। जो किसी से रोका नहीं जावे वहीं अनिरुद्ध है और जो किसी से नहीं रुकता वही धर्म की रक्षा कर सकता है परन्तु धर्म रक्षण की तब ही आवश्यकता पडती है जब माया अधर्म का प्रसार करे। इसी अन्तिम बात का निरुपण नीचे की कारिका से किया जा रहा है।

मायायाः कार्यमधुना चतुर्थे विनिरूप्यते।
अन्यथा भगवत्कार्यं न भवेदनिमित्ततः।।१।।
ज्ञापने दुःखसुखदे ततोऽपि ज्ञापने तथा।
कंसस्य सह भृत्यस्य धर्मबाधो न चान्यथा।।२।।
तामसप्रभुक्ते राज्ये कृतो धर्मस्तु तद्‌गतः।
अतः पूर्वस्य नाशौ वै कर्तव्यस्तामसाश्च ते।।३।।
ब्राह्मणा अपि तद्देशे स्वभावात् तामसा मताः।
कालस्तथा विधो यस्मात् पश्चाज्जातस्तु सात्त्विकः।।४।।

इस चतुर्थ अध्याय मे सब को दुःख देना, धर्म को नष्ट करना आदि जो माया के कार्य हैं उनका निरूपण करते हैं। यदि माया ऐसा कार्य नहीं करती तो देवकी को

बन्धन से छुड़ाना, सबको सुख देना, तथा धर्मरक्षा आदि कार्यों के करने के लिये भगवान् के पधारने की आवश्यकता नहीं होती। अतः भगवान् के कार्यों में भक्तों को दुःख देना आदि माया के कार्य ही कारण हैं अर्थात् माया यदि कंस द्वारा भक्तों को दुःख दिलाना आदि कार्य न करती तो भगवान् का उपर्युक्त कार्य भी नहीं होता।।१।।

माया ने रोदन कर के द्वारपालों को यह बताया कि मैं उत्पन्न हो गई हूं। इस के पश्चात् गृह रक्षकों ने भी कंस को बालक का जन्म होना बताया। ये दोनों बातें दूसरी कारिका के प्रारम्भ में आये प्रथमा द्विवचनान्त "ज्ञापने" पद से बताई गई है अर्थात्, "ज्ञापने" यह पद प्रथम द्विवचनान्त है। अत एव माया का अपने आप को बताना और कंस को रक्षकों द्वारा सूचित कराना, ये दो कार्य माया के कहे गये हैं। माया के ये कार्य वसुदेवादि को दुःख देने वाले और कंस को सुख देने वाले हुए। बाद में माया ने "तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया है" ऐसा कहा और इसी बात को कंस ने अपने मन्त्रियों को बताया। यह बात कारिका में आये दूसरे "ज्ञापने" पद से कही है। ये दोनों कार्य भी भक्तों को दुःख देने वाले और कंसादि को सुख देने वाले हुए। यदि माया यह कार्य नहीं करती तो कंस और उसके सेवक धर्मनाश के लिये उद्यत नहीं होते।।२।।

शंका होती है कि भगवान् का अवतार तो धर्मरक्षा के लिये होता है तो यह अवतार धर्मनाश में कारण कैसे बना ? क्योंकि भगवान् के प्राकट्य के भय से ही कंस ने ये सब पाप किये इस लिये भगवान् का प्राकट्य ही इस अधर्म में कारण हुआ किन्तु यह होना उचित नहीं था। ऐसी आशंका पर कहते हैं कि कंस तामस वृत्ति का था अतः उस के राज्य में पशु आदि तथा उनसे होने वाले यज्ञादि धर्म सब ही तामस थे। इस कारण उनका नाश कराना आवश्यक था।।३।।

यज्ञादि धर्म संपादन में अंग भूत जो ब्राह्मण थे वे भी उस प्रदेश में स्वभावतः तामसवृत्ति के थे तथा वह समय भी तामस था। अतः कंस के द्वारा निवृत्ति कराने के अनन्तर जो धर्म स्थापित किया गया वह सात्त्विक धर्म हुआ।।४।।

श्री सुबोधिनी :– भगवत्कार्यवैपरीत्यं मायाकार्यं इति ज्ञापयितुमुद्घाटितकपाटानां द्वाराणां पुनः पिधानमाह।

हिन्दी अनुवाद – भगवान् का कार्य आवरणों को दूर करना एवं बन्धन से मुक्त करना है इस लिये सब द्वार खुल गये और वसुदेवजी बन्धन मुक्त हो गये। माया का कार्य

भगवान् से विपरीत होता है अर्थात् माया धर्म का नाश करती है और बन्धन में डालती हैं तथा आवरण को उत्पन्न करती है, इसीलिये माया के आने से आवरणरूप बाहर भीतर के द्वारों के किवाड़ बन्ध हो गये और वसुदेवजी पहिले की भांति बन्धन में पड़ गये। इस बात को नीचे के श्लोक में कहते हैं।

।। श्री शुक उवाच ।।

श्लोकः – बहिरन्तः पुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः।
ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः।।१।।

अर्थ – श्री शुकदेवजी कहते हैं कि जब वसुदेवजी लौट आये तब मथुरा नगर के बाहिर तथा भीतर के सभी दरवाजे पहिले की तरह बन्द हो गये। बालक के रोने को सुन कर उसमें प्रसूतिगृह के रक्षक ठीकरूप से जाग गये।।१ ।

श्री सुबोधिनी – बहिरन्तरिति। पुरो बहिर्द्वाराण्यवान्तर्द्वाराणि च सर्वा [illegible] वैलक्षण्ये रक्षकाणां ज्ञानसंभवाज् ज्ञानं भवेदिति पुनर्बन्धनं मायाकार्यमुक्त्वा पूर्वं वसुदेवदेवक्यो[illegible] जननार्थं रोदनमपि कृतवती, तेन रोदनेन सर्वेषां जागरणं जातमित्याह तत इति, [illegible] श्रुत्वा गृहपालाः सूतीगृहरक्षकाः सम्यगुत्थिताः।।१।।

हिन्दी व्याख्यार्थ – माया के आने पर मथुरा नगरी के बाहिर एवं भीतर के सभी दरवाजे पूर्ववत् बन्द हो गये। यदि गृहपालों के जागने तक किवाड़ खुले ही रहते और वसुदेवजी बन्धनमुक्त पाये जाते तो द्वारपालों को विलक्षणता मालूम पड़ती और वे यह समझ जाते कि वसुदेवजी ने ही गुप्त–रूप से कुछ गड़बड़ी की है इसलिये माया ने पुनः पहिले को स्थिति उत्पन्न करदी। भगवान् के प्राकट्य से, पूर्व में निवृत्त हुए वसुदेवजी देवकीजी के भय की पुनः उत्पन्न करने के लिये ही माया ने रोदन किया। उसके रोदन से सब प्रसूतिगृह के रक्षक द्वारपाल जाग गये, यह श्लोक में आये "ततः" पद से कहा है। यहां "ततः" पद का "इस के अनन्तर" यह अर्थ नहीं है किन्तु "उस रोदन से" ऐसा अर्थ है अर्थात् उत्पन्न हुए बालक के रोदन से प्रसूति – गृह के रक्षक ठीक रूप से जाग मये।।१।।

श्लोकः – ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत्।
आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते।।२।।

अर्थ – वे द्वारपाल शीघ्र कंस के पास गये और आठवें गर्भ ने जन्म ले लिया यह कहा। कंस यही प्रतीक्षा कर रहा था कि बालक का जन्म कब होगा प्रतीक्षा के कारण यह था कि वह उससे उद्विग्न (व्याकुल और घबड़ाया हुआ) था।।२।।

श्री सुबोधिनी – तेषां कृत्यमाह ते त्विति, देवक्यादिभिः प्रार्थिता अपि तत्प्रार्थनां न कृतवन्त इति ज्ञापनार्थस्तु शब्दः, तूर्णमिति मध्ये कृत्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं, दूरात् कथने निलायनादिकं संभविष्यतीति तन्निवृत्यर्थ उपव्रज्य इति उक्तम्, देवक्या गर्भस्य जन्म, न तु पुत्रः कन्यका वेतिभेदः, तदिति, सिद्धमष्टमं, अकथनेऽनिष्टं करिष्यतीति ज्ञापनार्थं भोजराजायेत्युक्तम्, यज् जन्म प्रतीक्षत एव कदा भविष्यतीति, अर्थादेतार्ऽशाय, प्रतीक्षायां हेतुमाहोद्विग्न इति।।२।।

व्याख्यार्थ – "ते तु" श्लोक से द्वारपालों के कार्य को कहते हैं। उस समय उन रक्षकों को देवकी आदि ने प्रार्थना की कि तुम जाकर कंस को न कहो परन्तु उनने उनकी प्रार्थना को न माना और कंस को कह ही दिया; यह आशय श्लोक में आये "तु शब्द" से कहा गया है अर्थात् उन द्वारपालों ने तो कह ही दिया। श्लोकस्थ "तूर्णं" पद का यह अभिप्राय है कि रक्षकों के बीच में दूसरा कोई कार्य नहीं किया और शीघ्रता से जाकर कहा कि देवकी के गर्भ का जन्म हो गया है। रक्षकों ने विचार किया कि यदि हम दूर से ही कहेंगे तो वसुदेवजी व देवकी अपने बालक को संभव है छिपा दें, इसलिये कंस के समीप में जाकर उन्होंने कहा। रक्षकों ने कन्या या बालक का विशेष निर्देश नहीं करते हुए यही कहा कि देवकी के सन्तान हो गया। श्लोक में आया "तत्" पद प्रसिद्धार्थक है अर्थात् "प्रसिद्ध आठवें सन्तान ने जन्म ले लिया" यह बात कंस को कही। श्लोक में आये "भोजराजाय" पद का अभिप्राय यह हैं कि वह कंस भोजवंशियों का राजा है। राजा की आज्ञा का पूरा पालन नहीं होता है तो वह दण्ड देता है। इसलिये रक्षकों ने सोचा कि यदि हम ने राजा को सूचना नहीं दी तो कंस, राजा होने से हमें दण्ड देगा। इसी भय के कारण बालक के जन्म की सूचना कंस को, जो इस संवाद की प्रतीक्षा ही में था, दी। प्रतीक्षा का कारण यह था कि वह उस गर्भ से उद्विग्न था।।२।।

श्लोकः – स तल्पात्तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः।।
सूतीगृहमगाच्छीघ्रं प्रस्खलन् मुक्तमूर्धजः।।३।।

अर्थ – द्वारपालों की बात सुनते ही शीघ्रता से कंस शय्या से उठ खड़ा हुआ और "मेरा काल पैदा हो गया" इस विचार से विह्वल हो कर लड़खड़ाता हुवा केश बिखरे हुए ही प्रसूतिगृह की ओर शीघ्रता से गया।।३।।

श्री सुबोधिनी – ततः कंसस्य कृत्यमाह, सोऽपि शय्यायां पतित एव स्थितः स महानपि तल्पाच् छय्यातस्तूर्णमविचरेण प्रथमतः उत्थितः, पश्चात् कालोऽयमिति विह्वलः, अतः परं जीवसंभावना नास्तीति निश्चयात् अयं भगवानेव कालो मृत्युदः, विह्वलः सर्वावयवविकलः, सूतिगृहं प्रसूतिस्थानं, शीघ्रमिति सर्वकार्यपरित्यागे सर्वसाधनाननुसंधाने हेतुः, प्रस्खलन्निति मार्गाज्ञानं; मुक्तमूर्धज इति देहाज्ञानम्।।३।।

हिन्दी व्याख्यार्थ – अब कंस ने क्या किया सो कहते हैं कि कंस निद्रा न आने से वैसे ही शय्या पर पडा हुआ था। महान् होता हुआ भी वह बिना विचार किये ही पहिले खडा हुवा और पीछे यह मेरा काल है ऐसा समझ विह्वल हो गया। उसे निश्चय हो गया कि अब मेरे जीवित रहने की संभावना नहीं है। यह भगवान् ही मेरा काल है ऐसा समझ कर सर्वाङ्ग में विकल हो गया और प्रसूतिगृह की और दौडा। श्लोक मे आये "शीघ्रं" पद का आशय यह है कि शीघ्रता से जाने के कारण कंस ने सब कार्यों का परित्याग किया और उसे किसी उपाय का भी अनुसन्धान नहीं रहा। लडखडाता हुआ गया ऐसा कहने से मालूम हुआ कि उसे मार्ग का ज्ञान नहीं रहा। केश बिखरे हुवे थे ऐसा कहने से मालूम हुआ कि उसे देह का भान नहीं था।।३।।

श्री सुबोधिनी – ऽंष्ट्वा, लिङ्गमज्ञात्वा पुत्रबुद्ध्यैव मारणार्थं प्रवृत्तौ यशोदायाः कन्याया मारणं स्वपुत्रमारणादप्यधिक दुःखदं जातमिति ज्ञापयितुँ तस्या वाक्यमाह तमाहेति त्रिभिः।

हिन्दी व्याख्यार्थ – कंस वहां गया और यह बालक है या कन्या है इसका विशेष ज्ञान न करता हुआ पुत्र समझ कर मारने के लिये प्रवृत्त हुआ तो देवकी जी को अपने पुत्रों के मारने का जितना दुःख नहीं हुआ उतना, श्री यशोदाजी की कन्या होने से उसे मारने का दुःख हुआ इस बात को बताने के लिये देवकी के वाक्यों को तीन श्लोकों से कहते हैं –

श्लोक – **तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती।**
स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि।।४।।

व्याख्यार्थ – उस कंस से बिना विचार किये ही मांगने वाली वह देवकी देवी करुण की तरह अपने भाई से बोली कि हे भाई! यह कन्या तेरी पुत्र वधू होगी इसलिये, और स्त्री जाति की होने से तुझे इसे मारना ठीक नहीं है।।४।।

कारिका – **त्वदीया कन्यका चेतमतो मह्यं प्रदीयताम्।**
भगिनी दानपात्रं हि हेतुकार्यफलैस्त्रिभिः।।१।।

श्री सुबोधिनी – तं कंसं भ्रातरमाह, यतो देवी सात्त्विक्यपि स्त्री, ज्ञात्वा वा दैन्यप्रदर्शनार्थं तथा कृतवतीति, असत्यमपि प्राणसंकटे परार्थं वक्तव्यमिति ज्ञापनार्थं वा, कृपणानालोचितयाचिका। 'कृपणः स तु विज्ञेयो योऽनालोचित याचक' इति वाक्यात्, करुणं यथा भवति तथा तमाहेति सम्बन्धः, सतीति कालज्ञानाद् याचन, सर्वात्मकत्वाद् भगवतस्तथा करिष्यति, भर्तुर्दोषनिवृत्त्यर्थं वा सतीति, अन्यथा स्वपुत्र स्थापयित्वा परकन्यामारणे दोषः स्यात्, स्नुषेति, मातुलकन्या परिणयनपक्षे पितृष्वसुरपि कन्या परिणेया यथा मित्रविन्दा, यदा कंसस्य पुत्रो देवकी कन्या मुद्वहेत् तदेय स्नुषा भवति, अनेन तस्याः स्वकन्यात्वं सहजमित्युक्तम्, ननु पुत्र एव नास्ति कथमियं स्नुषेति चेत् तत्राह कल्याणेति, त्वं पुत्रजननसमर्थ, मदपत्यरक्षणेन तवापि पुत्रो भविष्यतीति, अथवा मास्तु स्नुषा, स्त्रियं हन्तुं मार्हसि, अन्यथाहमेव कथं न हता ? "स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या बधोय" मिति यतस्त्वयैव निरूपितम्।।४।।

हिन्दी व्याख्यार्थ – देवकी पहिले श्लोक में यह कहती है कि तेरी यह कन्या है अर्थात् भविष्य में तेरे लड़के की स्त्री होने से तेरी यह कन्या के समान है इसलिये इसे तूं मुझे दे दे क्योंकि बहिन दान का पात्र है अतः उसे देना ही चाहिये। यह बात यहां तीन श्लोकों में कही है अर्थात् "तमाह भ्रातरं देवी" से तुझे पुत्रवधू रूप फल प्राप्त होगा; "पुत्रिकैका प्रदीयतां" इस दूसरे श्लोक के अंश से दान रूप कार्य का निरूपण "नन्वहं ते ह्यवरजा" से हेतु का निरूपण किया है। शंका होती है कि पहिले के श्लोक में फल का निरूपण किया है, दूसरे श्लोक में दान रूप कार्य का और तीसरे श्लोक में हेतु का निरूपण है तो कारिका में भी उसी रूप में फल, कार्य और हेतु का निर्देश होना चाहिये, फिर ऐसा क्यों नहीं किया गया ? इसका समाधान यह किया है कि लोक में देखा गया है कि पहिले कारण होता है फिर कार्य और तत्पश्चात् फल। बस इसी प्रसिद्धि को लेकर कारिका में "हेतुकार्यफलैः" ऐसा कहा है। उस प्रसिद्ध, क्रूर अपने भाई कंस को देवकी जी ने कहा। देवकी यद्यपि देवी रूप है अर्थात् देवता रूप है,

देवता सात्त्विक[1] होते हैं, सत्त्वगुण से "सत्त्वात् संजायते ज्ञानै" के अनुसार ज्ञान होता है इसलिये देवकी ज्ञानवती भी है परन्तु स्त्री स्वभाव वश, उसने कन्या को कंस से मांगा। शङ्क.ा होती है कि ज्ञान जिसमें होता है उसमें वैराग्य भी होता है तो फिर देवकी जी का उस कन्या में इतना मोह क्यों हैं ? तो कहते हैं कि स्त्री स्वभाव होने से देवकी जी ने ऐसा किया क्योंकि "स्वभावो मूर्ध्निवर्तते" अर्थात् स्वभाव सबके ऊपर रहता है अतः स्त्री स्वभाव के अधीन होकर ऐसा किया। स्त्री में स्वभावतः अधिक मोह होता है। देवकी देवी (देवता) है इसलिये उसे सब उपायों का ज्ञान है। वह यह समझती है कि कंस अत्यन्त उग्र है इसलिये "उग्रं स्तुतिभिः" उग्र व्यक्ति को प्रशंसा से प्रसन्न करना चाहिये इस न्याय के अनुसार दीनता दिखाते हुए इसे प्रशंसा से प्रसन्न करना चाहिये इस विचार से जानबूझ कर भी उस देवकी ने कन्या को छुड़ाने के लिये अपनी दीनता दिखाई। यहां यह शंका होती है कि देवकी देवी होने से देवता थी उसे तो मिथ्या नहीं बोलना चाहिये था क्योंकि "सत्यं देवेषु" देवताओं में सत्य की स्थिति है ऐसा कहा है। ऐसा दशा में देवकी ने "यह मेरी अन्तिम सन्तान है" यह मिथ्या कैसे कहा तो कहते हैं कि किसी के प्राणों पर संकट हो तो परार्थ मिथ्या बोलना निन्दित नहीं है। इसलिये देवकी जी ने मिथ्या कहा सो ठीक किया। श्लोक में आये "कृपणा" पद का अर्थ बिना विचारे मांगने वाली है, जैसा कि कहा है "कृपणः स तु निज्ञेयो योऽनालोचित याचकः" कृपण वह होता है जो यह नहीं समझता कि किससे याचना करनी चाहिये और किससे नहीं। देवकी ने कंस के स्वरूप को न समझ याचना की इसलिये वह कृपणा हुई। इस प्रकार कंस के स्वरूप को न जानने वाली वह देवकी करुण हो जैसे कंस से बोली। देवकी सती थी इसलिये उसे यह ज्ञान था कि मैं क्षत्रिया हूँ, क्षत्रिय को याचना नहीं करनी चाहिये तो भी यह याचना का समय है इसलिये मुझे याचना करनी ही चाहिये; यदि मेरी याचना पर भगवान् के सर्वात्मक होने से कदाचित् भगवान् कंस को कन्या देने के लिये प्रेरित करदे तो कंस का अनिष्ट कभी भी नहीं होगा अथवा सती पद का

---

[1] यहां लल्लू भट्ट जी ने कहा है कि देवता सात्त्विक होते हैं अतः उनमें स्वभावतः दया होती है। दयावश ही श्री यशोदाजी की कन्या को छुडाने के लिये देवकी जी ने कहा "सात्त्विक्यपि स्त्री" इसमें जो "अपि" शब्द है उसका तात्पर्य यह है कि स्त्री होने से तामस भी थी अतः देवकी ने यह मेरी अन्तिम सन्तान है ऐसा मिथ्या कहा।

यह भी अभिप्राय है कि देवकी सत् स्त्री है। जैसे सत्पुरुष अनिष्ट करने वाले का भी हित चाहते हैं वैसे ही देवकी सत्स्त्री होने से सोचती हैं कि यदि कंस को भगवान् कन्या देने के लिये प्रेरित कर दें तो कंस का भी अनिष्ट न हो। यहां "सती" पद का यह भी अभिप्राय है कि सती स्त्री पति का इष्ट ही चिन्तन करती है इसलिये उस ने विचार किया कि यदि मैं कंस से कन्या को छुड़ाने का आग्रह नहीं करूँगी तो लोग मेरे पति वसुदेवजी को यह दोष लगायेंगे कि वसुदेवजी कैसे व्यक्ति है जो अपने पुत्र को तो रख आये और मारने के लिये दूसरे की कन्या को ले आये। देवकी ने आग्रह पूर्वक जब कन्या को छुड़ाने का प्रयत्न किया तो वसुदेवजी को उक्त दोष नहीं लगा क्योंकि ऐसी स्थिति में विवशता मालूत पड़ी। यहाँ "स्नुषा" पद का तात्पर्य यह है कि मामा की लड़की के साथ जैसे विवाह करने का पक्ष है वैसे ही भूआ की लड़की के साथ। जैसे भगवान् ने मित्र विन्दा के साथ विवाह किया परन्तु यह सब कुछ तब ही तो सकता है जब कस का पुत्र देवकी की कन्या से साथ विवाह करे। कंस के पुत्र नहीं है तो ऐसा सम्बन्ध न बनने से देवकी की कन्या कंसकी स्नुषा (पुत्रवधु) कैसे होगी तो देवकी कहती है कि हे भाई! तूं कल्याण रूप है अतः पुत्र पैदा करने में समर्थ है क्योंकि कल्याण रूप होने से तेरे पुत्र अवश्य होगा और एक बात यह भी है कि मेरी सन्तान की यदि तूं रक्षा करेगा तो तेरे भी पुत्र अवश्य होगा। यदि तूं समझे कि यह मेरी पुत्रवधू नहीं होगी तब भी यह स्त्री जाति की होने से मारने योग्य नहीं है। ऐसा तुझे विचार है भी; यदि ऐसा विचार न होता तो मुझे ही तूं ने क्यों न मार दिया। तूं ने स्वयं कहा है कि "स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयम्" अर्थात् प्रथम स्त्री जाति को ही मारना उचित नहीं है आदि।।४।।

श्री सुबोधिनी – अष्टमो मारणीय इति चेत्तत्राह

व्याख्यार्थ – यदि तूं कहे कि आठवां बालक मुझे मारने वाला है तो देवकी कहती है कि –

श्लोकः – बहवो हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः।

त्वया दैवविसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम्।।५।।

अर्थ – हे भाई! मेरे अग्नि के समान बहुत पुत्रों को तूं ने भगवदिच्छा से प्रेरित हो कर मार दिया परन्तु यह एक कन्या जिस के कोई भाई नहीं, शेष रही है इसे मुझे दे अर्थात् इसे न मार।।५।।

श्री सुबोधिनी – बहवो हिंसिता भ्रातरिति, स्त्रिया मारकत्वं शास्त्रे न सिद्धं, पुत्रास्तु हता एव, यद्यप्येक एव मारणीयस्तत्स्थाने बहवो हताः, भ्रातरिति संबोधनं दयार्थं, आकृत्या पराक्रमोऽपि तेषु संभाव्यते इति तदर्थमाह पावकोपमा इति, स्नेहे त्यक्ष्यतीति तस्य दोषाभावमाह त्वया दैवनिसृष्टेन इति, "अनुरक्तो गुणान् ब्रूत" इति वाक्यात्, दैवेन भगवदिच्छया प्रेरितेन भवता पुत्रा हताः, एषा तु अवध्येति दैवेन न प्रेर्यत इति भावः, एकेयं पुत्रिकाभ्रातृमतीतीमामप्यन्ततो गत्वा पुत्रिकाधर्मेण दत्त्वा ससन्ताना भविष्यामीति ज्ञापयत्येकेति, यद्यपरोत्पत्स्यते, तदा मारणीयेति ज्ञापितं, प्रकर्षेण दीयतामिति कालान्तरेप्यमारणीया।।५।।

हिन्दी व्याख्यार्थ – देवकी कहती है कि हे भाई। तूं ने मेरे बहुत लडके मार दिये, यह सन्तान स्त्री जाति है, स्त्री, पुरुष को मार सकती है ऐसा शास्त्र मे नहीं बताया है अथवा शास्त्र में स्त्री को मारना नहीं कहा है, पुत्रों को तो तूॅ ने मार ही दिया। एक आठवें पुत्र को मारना चाहिये था उस जगह बहुत लड़के मार दिये। देवकी ने हे भाई। ऐसा इसलिये कहा है कि मैं तेरी बहिन हूॅ इसलिये मेरे पर दया करनी चाहिये। जिन सन्तानों को तूँ ने मारा था वे साधारण नहीं थे किन्तु आकृति से संभावना थी कि वे पराक्रमी भी होते इस आशय से कहा कि "पावकोपमाः" वे पुत्र अग्नि के समान थे। देवकी ने विचार किया कि स्नेह दिखाने पर इस कन्या को छोड़ देगा इसलिये कंस को निर्दोष बताती हुई कहती है कि "त्वया देवनिसृष्टेन"। शास्त्र में कहा है कि "अनुरक्तो गुणान् ब्रूते" जो अनुरागवाला होता है वह सामने वाले व्यक्ति के गुण ही कहता है। इस के अनुसार प्रेम दिखाने के लिये देवकी ने कहा कि तूँ ने अपनी इच्छा से मेरी सन्तान को नहीं मारा है किन्तु भगवदिच्छा से प्रेरित हो कर मारा है परन्तु यह कन्या को मारने योग्य नहीं है इसलिये भगवान् की इच्छा भी तुझे मारने के लिये प्रेरित नहीं कर रही है। मेरी एक ही यह कन्या है। "पुत्रिकैका" पद से यह सूचित किया कि इस के कोई भाई नहीं है इसलिये इस का विवाह इस प्रतिज्ञा पर करूंगी कि जो इसका लड़का होगा वह मेरा होगा, ऐसा करने से मैं भी सन्तानवाली हो जाऊँगी, यदि मेरी दूसरी सन्तान हो जावेगी तो तूं इसे मार देना। वास्तव न

"प्रदीयताम्" पद से देवकी का यह कहना है कि मुझे सदा के लिये यह लडकी दे दे अर्थात् यह लडकी सदा के लिये मारने योग्य नहीं है।।५।।

श्री सुबोधिनी – अवश्यदाने हेतुमाह।

व्याख्यान – तुझे इसे अवश्य देना चाहिये इसमें कारण बताती हैं कि –

श्लोकः – नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो।

दातुमर्हसि मन्दाया अङ्ग.मां चरमां प्रजाम्।।६।।

अर्थ – हे प्यारे समर्थ भाई। युक्ति के साथ कहती हूँ कि मैं तेरी छोटी बहिन हूँ, मेरे लड़के मर गये हैं इस लिये दुःखित हूँ अतः इस अन्तिम सन्तान को दे दें।।६।।

श्री सुबोधिनी – नन्वहमिति, अवश्यं दानमेव फलं नन्विति संबोधन युक्तिग्रहणार्थं अहं ते ह्यवरजा इति, अवरजत्व उभयानुभवः प्रमाणं, अवरजा दयापात्रं, दीना दुःखिता शोकादिना, तत्र हेतुर्हतसुतेति, प्रभो इति संबोधनं दानसामर्थ्यद्योतनार्थं, अत एव दातुमर्हसि, मन्दाया इत्यतः परं रजोऽभावः सूचितः, अतश्चरमां प्रजामिमामिति, अन्या कन्यात्वेन न देयेयमेव देया इति।।६।।

व्याख्यार्थ – इसे दे देने पर तुझे अवश्य दानरूप फल होगा। यहां "ननु" यह सम्बोधनार्थक है। इस से देवकी यह बता रही है कि तू मेरी युक्ति को समझ। "ननु" पद वहां आता है जहां युक्ति दिखानी होती है इसलिये यहां "ननु" सम्बोधनार्थक होता हुआ भी युक्ति को सूचित करता है। निश्चय ही मैं तेरी छोटी बहिन हूँ, इस में तेरा और मेरा अनुभव ही प्रमाण है अर्थात् तूं और मैं यह जानते हैं कि तूं बड़ा भाई हैं और मैं छोटी बहिन हूँ। छोटी बहिन होती है वह दया योग्य होती हैं, मैं शोक आदि से दुःखित हूं, कारण यह है कि मेरे पुत्र मार दिये गये हैं, तूं प्रभु (समर्थ) होने से दान देने में समर्थ है, अतः एव तूं देने योग्य है। "मन्दायाः" पद से सूचित किया कि मैं मन्दभाग्या हूं इसलिये अब मैं रजस्वला भी नहीं हूंगी जिससे सन्तान की संभावना हो। अतः इस अन्तिम सन्तान को तूं मुझे दे, दूसरी कन्या न दे कर यही कन्या दे।।६।।

श्री सुबोधिनी – तथापि न त्यक्तवानित्याह।

व्याख्यान – इतना कहने पर भी कंस ने कन्या को नहीं छोड़ा इस बात को अब कहते हैं।

श्लोकः – उपगूह्यात्मजामेवं रूदन्त्या दीनदीनवत्।

याचितस्ता विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदेखलः।।७।।

अर्थ – इस प्रकार लड़की को छिपा कर अत्यन्त दीन की तरह विलाप करती हुई देवकी को झिड़का कर कंस ने उस के हाथ से कन्या को छीन लिया, झिडका इस लिये कि उस ने याचना की थी।।७।।

श्री सुबोधिनी – उपगूह्येति। एवमात्मजामुपगूह्य विलापनपूर्वक रुदन्त्या हस्तात् ता बालामाचिच्छिदे देवकीं निर्भर्त्स्य, विनिर्भर्त्सने हेतुस्तां याचित सन्, आत्मजामिति, आत्मनो भगवतः सकाशाज्जातां, "व्यवहारे शब्दा परमार्था एव" इति न्यायाद्, देहादावत्मशब्दवदात्मजशब्दोऽपि पुत्रत्वेन परिग्रहमात्रत्वेऽपि वक्तु शक्यते, दीनादपि दीना यथा दैवहता पुत्रभर्त्रादिरहिता व्याधिग्रस्तापि भवति सा दीनदीना तथेय स्वपुत्र नाश ऽंष्टवती परापत्यनाशमपि पश्यतीति, हस्तादिति, एकेन हस्तेन तस्या एक हस्तं धृत्वा द्वितीयेन तस्या द्वितीयहस्तादाचिच्छिदे, एवङ्करणे हेतुः खल इति।।७।।

हिन्दी व्याख्यार्थ – इस प्रकार लड़की को छिपा कर विलाप करती हुई देवकी को झिड़क कर कंस ने उस के हाथ से कन्या को छीन लिया। झिडका इस लिये कि उस ने मांगा था। श्लोक में आये "आत्मजां" पद का अर्थ अपने से पैदा हुई लडकी है परन्तु यहां शंका होती है कि देवकी यह नहीं समझती थी कि यह मेरी लड़की है और श्री शुकदेवजी सर्वज्ञ थे इसलिये वे भी इसे देवकी की कन्या नहीं समझते थे तो फिर श्लोक में "आत्मजां" यह कैसे कहा। इस आशङ्का की निवृत्ति के लिये आत्मजा शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान् से उत्पन्न हुई इस कन्या को ऐसा यहां "आत्मजा" पद का अर्थ है अर्थात् आत्मन् शब्द से यहां भगवान् अर्थ समझा जाता है जैसा कि कहा है "व्यवहारे शब्दाः परमार्था एव" व्यवहार में आने वाले शब्द अपने मुख्य अर्थ का परित्याग नहीं करते। "आत्मा" शब्द का मुख्य अर्थ भगवान् है इसलिये यहां आत्मजा शब्द का अर्थ "भगवान् से उत्पन्न हुई कन्या" है। यहां कहते हैं कि श्री शुक्राचार्य का ऐसा अर्थ करने में कोई प्रयोजन नहीं था इस लिये ऐसा अर्थ मानना ठीक नहीं है तो दूसरे पक्ष को ले कर कहते हैं कि जैसे देह इन्द्रिय आदि मे आत्मा शब्द का प्रयोग लोग करते हैं ऐसे ही पुत्र मान लेने पर तथा दत्तक लेने पर आत्मजत्व न होने पर भी आत्मज शब्द का प्रयोग होता है, वैसे ही यहां आत्मजा शब्द का प्रयोग हआ है। श्लोक में आये "एव" पद से यह सूचित् किया कि देवकी ने इस प्रकार के वाक्य अनेक वार कहे। रोदन इसलिये किया कि यह यशोदाजी की कन्या मे कारण मारी जा रही है। कंस को कहने के समय देवकी दीनातिदीन थी। जैसे को

भाग्यहीन होने से पुत्रादि मर जाये तो दीन होती है और वही रोगग्रस्त हो जाने पर अतिदीन बन जाती है इसी प्रकार अपने पुत्रों के मर जाने से देवकी दीन तो थी ही उस पर भी जब दूसरे की सन्तान को मारता देखा तो वह अत्यन्त दीन हो गई। कंस ने एक हाथ से देवकी के एक हाथ को पकड़ा और दूसरे हाथ कन्या को देवकी के हाथ से छीना। कंस ने ऐसा क्यों किया तो कहते हैं की वह दुर्जन था। खल को बुरे कार्य का कोई ख्याल नहीं होता।।७।।

श्री सुबोधिनी – गृहीत्वा यत्कृतवांस्तदाह।

अर्थ – कंस ने कन्या को छीन कर जो कुछ किया सो कहते हैं।

श्लोकः – **तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम्।**
अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः।।८।।

व्याख्यार्थ – नाल आदि से युक्त अर्थात् नवजात अपनी भानजी के पैर पकड कर कंस ने उसे शिला पर पटक दिया क्योंकि उस ने स्वार्थ वश सौहार्द का बिल्कुल परित्याग कर दिया था।।८।।

श्री सुबोधिनी – तां गृहीत्वेति, चरणयोरिति, मारणार्थमेव, विपरीततया ग्रहणमात्रेणैव तस्या नाशः सूचितः, जातमात्रामिति, नालादिसहितां, अतिकोमलत्वप्रदर्शनेन तस्य "खल" त्वं समर्थितं, स्वसुः सुतामिति सर्वथा विरुद्धकर्तृत्वमुक्तं, अपोथयत् प्रक्षाल्यमानवस्त्रमिव प्रक्षिप्तवान्, शिलाऽङ्गनस्था यथा स्नानार्था भवति, ननु सौहार्दमुभयविषयकं कथं त्यक्तवानित्याह स्वार्थोन्मूलितसौहृद इति, स्वार्थमुन्मूलितं सौहृदं येन।।८।।

हिन्दी व्याख्यार्थ – कंस ने कन्या के पैर पकड़े। मारने के लिये ही उसने पैरों की तरफ से पकडा कंस ने इस रूप में पकड़ने से स्पष्ट सूचित हुआ कि मारने के लिये ही उसे पकडा है। उस के नाल आदि भी नहीं काटे गये थे इससे उस लड़की को अत्यन्त कोमलता बताई गई। अत्यन्त कोमल बालिका के मारने से यह सिद्ध होता है कि कंस कितना दुष्ट था। कन्या भी बहिन की थी इस से उसे मारना सर्वथा अनुचित था। इस से स्पष्ट हुआ कि कंस कितना बुरा कार्य करने वाला था। धोने के कपडे को जैसे पत्थर पर पछाटा जाता है वैसे ही कन्या को शिला पर पछाटा। आंगन मे रखी हुई शिला स्नान के लिये होती है, उस पर पछाटा। यदि कहें कि कंस बहिन

एवं कन्या में सौहार्दयुक्त था तो फिर ऐसा अयुक्त काम कैसे किया तो कहते हैं कि स्वार्थवश उसने सौहार्द को बिल्कुल तिलाञ्जलि दे दी थी।।८।।

श्री सुबोधिनी – ततो यज्जात तदाह।

व्याख्यार्थ – तत्पश्चात् जो हुआ सो कहते हैं।

श्लोक – सा तद्धस्तात् समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता।
अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा।।६।।

अर्थ – वह कन्या उस कंस के हाथ से उछल कर सद्यः देवतारूप बन गई और आकाश में स्थित हो गई। ऐसी बात वह कन्या इस लिये कर सकी कि व्यापक श्रीकृष्ण की छोटी बहिन थी। अत एव आयुध धारण किये हुए आठ भुजाओं सहित आकाश में स्थित हुई, कंस आदि को दिखी।।६।।

श्री सुबोधिनी – सा तद्धस्तादिति, यदैव पाषाणं प्रति प्रक्षिप्तवांस्तदैव हस्तात् सम्यगुत्पत्योत्पतन कृत्वा सद्य एव सा देवतारूपा जाता, ततोऽम्बरं गता, आकाशे श्येनवत् स्थिता कंसादिभिः सर्वैरेव तथाऽदृश्यत, तस्यास्तथात्वे सामर्थ्यं[1] विष्णोरनुजेति, यशोदा देवकी परस्परविचारेणैकैव, पश्चाच्च जाता, यदि वा भगवान् यशोदासुतो यदि वा देवक्या उभयथापि सानुजा लोकप्रसिद्धेः, विष्णोरनुजात्वेन तथा सामर्थ्यं ज्ञापितं, द्विगुणंरूपमाह सायुधाष्टमहाभुजेति, भगवत्कार्यं स्वकार्यं च करिष्यतीत्यष्टभुजत्वं, भगवत्कार्यं देवक्यादीनां बन्धनिवृत्तिः, स्वकार्यं सर्वेषां दुःखदानं धर्मनाशश्च, भगवत्कृतिसिद्ध्यर्थमायुधसहिता अष्टौ महाभुजा यस्याः, यथा भगवानाविर्भावे विपरीतं रूपं प्रदर्शितवानेवमियमपि।।६।।

हिन्दी व्याख्यार्थ – ज्यों कि कन्या को शिला पर पछाडा त्यों ही हाथ से छूट कर शीघ्र ही देवता रूप बन गई और बाद में आकाश में चली गई। उस समय आकाश में बाज की तरह स्थित हुई। उस कन्या को कंस आदि सभी ने देखा। उस में देवता रूप होकर आकाश में स्थित होने का सामर्थ्य इसलिये है कि वह व्यापक परब्रह्म की छोटी बहिन है। शंका होती है कि माया देवकीजी से उत्पन्न नहीं हुई तो वह भगवान् की अनुजा (छोटी बहिन) कैसे हो सकती है। यदि कहें कि भगवान् के प्राकट्य के अनन्तर माया ने जन्म लिया है इसलिये वह यौगिक अर्थ को लेकर अनुजा कहला

[1] जहा भगवान् कृष्ण के अभिप्राय से विष्णु शब्द आवे वहा व्यापक अर्थ करना।

सकती है तो कहते हैं कि भगवान् के पीछे जहां कहीं उत्पन्न होने वाले सभी बालक भगवान् के अनुज कहलायेंगे, इसलिये यहां पर यह शङ्का रह जाता है कि भगवान् एवं माया के माता पिता एक न होने से माया अनुजा (छोटी बहिन) कैसे कहला सकती है। इस पर (श्री पुरुषोत्तमजी महाराज) आज्ञा करते हैं कि कृष्णोपनिषद् में कहा कि नन्द परमानंद रूप है, श्री यशोदा मुक्तिरूपा है देवकी ब्रह्मविद्या एवं वसुदेव वेदरूप है। लोक में स्पष्ट है कि जानने योग्य वस्तु ज्ञानप्राप्ति में कारण होती है। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञेय होता है तब हीं उस का ज्ञान किया जाता है। कुछ न कुछ अर्थ होता है तब ही शब्द का प्रयोग होता है। ऐसा जब विचार है तो मुक्तिरूपा श्री यशोदा देवकी रूपा ब्रह्मविद्या से प्राप्त होती है। इसलिये श्री यशोदा आधिदैविक है और देवकी आध्यात्मिक है। विचार किया जाय तो यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक और आधिदैंविक एक ही है। इसलिये श्रीयशोदा और देवकी एक ही है। माया, भगवान् के पीछे हुई है अतः भगवान् देवकी के यहां अथवा श्री यशोदाजी के यहां प्रकट हुए हों और माया भी इन दोनों में किसी के यहां प्रकट हुई हो तब भी वह श्रीकृष्ण की अनुजा कहला सकती है।* यहां यह प्रश्न हो सकता है कि भगवान् एवं माया यदि यशोदाजी के यहां ही प्रकट हुए हैं तो माया भगवान् के पीछे हुई। साथ में होने वालों में जो पीछे होता है वह बड़ा समझा जाता है इसलिये नियम से माया ही ज्येष्ठा कहलायेगी, वह छोटी बहिन कैसे कहलाई? इसका उत्तर देते हैं कि "पश्चाच्च जाता" यह पीछे हुई इस लिये "अनु पश्चात् जाता अनुजा" ऐसा योगिक अर्थ मान कर अनुजा शब्द का प्रयोग यहां होता है। भगवान् श्री यशोदाजी अथवा देवकीजी के पुत्र हो माया छोटी बहिन है ऐसी लोक में प्रसिद्धि है।" "श्रुतिप्रत्यक्षमैतिह्यम्" इस वाक्य के अनुसार ऐतिह्यरूप जो लोक प्रसिद्धि है उसे भी . प्रमाण माना है। अतः लोक प्रसिद्धि के अनुसार माया छोटी बहिन कहला सकती है। व्यापक भगवान् की छोटी बहिन होने से उस का आकाश में उस रूप में स्थित होने

टिप्पणी – * यहा लेखकार का यह आशय है कि श्रीवसुदेवजी एवं नन्दरायजी धर्म के भाई थे अतः इन दोनो भाईयो के होने वाली सन्तान भाई बहिन हो सकती है, जैसे नन्दरायजी एवं वसुदेवजी धर्म के भाई होने से एक समझे जाते है वैसे ही उनकी दोनो पत्निया भी एक ही समझी जायगी, अतः एव अलग २ माता से उत्पन्न हुए सभी पाण्डव परीक्षित् के पितामह कहलाये क्योंकि पाण्डु के एक होने से कुन्ती एवं माद्री एक ही समझी गई।

का सामार्थ्य है। माया के भगवान् से द्विगुण हाथ थे जिन में वह आयुध धारण किये हुए थी। माया भगवान् का और अपना कार्य करने आई है इसलिये भगवान् की भुजाओं से उसकी द्विगुण अर्थात् आठ भुजाएँ हैं। अपने वाक्यों द्वारा देवकी एवं वसुदेवजी को बन्धन से छुड़ाया इसलिये माया ने यह भगवान्[1] का कार्य किया और कंस को कह कर सब को दुःख दिलाया तथा धर्म का नाश कराया, यह कार्य उस ने अपना किया। इस प्रकार वह दोनों का कार्य करने आई। भगवान् के कार्य को भी करने आई इसलिये आयुध सहित आठ भुजावाली बताई गई। जैसे भगवान् ने अपने प्राकट्य के समय आयुध चतुर्भुजरूप दिखाया वैसे ही इस ने भी सायुध अष्टभुज स्वरूप दिखाया।।६।।

श्री सुबोधिनी — आविर्भावादिदानीं रूपान्तरं गृहीतवती इति तस्याः सामग्रीमाह।

व्याख्यार्थ — माया ने प्रकट होने के बाद इस समय दूसरा रूप धारण कर लिया। इसलिये उस की सामग्री का वर्णन करते हैं।

श्लोकः — दिव्यस्रगंबरालेप — रत्नाभरणभूषिता।
धनुः शूलेषुचर्मासि — शंखचक्रगदाधरा।।१०।।

व्याख्यार्थ — वह देवी दिव्य माला दिव्य वस्त्र दिव्य चन्दन एवं रत्नजड़ित आभरणों से विभूषित तथा धनुष, त्रिशूल, बाण, ढाल, तलवार, शङ्ख, चक्र, गदायुक्त हाथों वाली दिखी।।१०।।

श्री सुबोधिनी — दिव्येति, दिव्याः स्रजो मालाः, अम्बराणि वस्त्राणि दिव्यान्येव, आलेपश्चन्दनादिः, रत्नयुक्तान्याभरणानि च, एवमलङ्करणचतुष्टयसहिता, दर्शनकृतोयं क्रमः, प्रथमतो गन्धादऽष्टाया अपि स्रजः प्रतीतिः, ततो वस्त्राणां, ततश्चन्दनाभरणानामिति, आयुधानि गणयति धनुरिति, धनुर्वामभागहस्ते शूलमिषुश्च दक्षिणयोः, चर्म वामे, असिर्दक्षिणे, शंखो वामे, चक्रं दक्षिणे, गदा वामे, इति गदान्तानि विभर्तीति गदाधरा।।१०।।

व्याख्यार्थ — दिव्या मालाएँ, दिव्य वस्त्र, दिव्य चन्दन और रत्नजडित आभूषण— इस प्रकार चार प्रकार की सामग्री से वह देवी विभूषित है। यहां माला आदि का जो क्रम कहा गया है वह दर्शन के क्रम से हैं अर्थात् जो वस्तु पहिले दिखी अथवा जानी

टिप्पणी —[1] यहा **श्री बल्लभजी महाराज कहते हैं** कि निबन्ध की रीति से यह माया "अनिरुद्ध" का कार्य करने आई है।

गई उस का पहिले निर्देश किया गया है और जो पीछे दिखी उस का पीछे। गन्ध की वजह से पहिले नहीं देखी गई, माला की प्रतीति (ज्ञान) हुई इसलिये पहिले माला का उल्लेख किया फिर वस्त्र तदनन्तर चन्दन और तत्पश्चात् आभूषण। इसलिये इसी क्रम से श्लोक में निर्देश किया गया है। अब माया के हाथों में धारण किये गये आयुधों की गणना की जाती है। माया के वामभाग के एक हस्त में धनुष है। दक्षिण भाग के दो हाथों में से एक हाथ में त्रिशूल है और दूसरे हाथ में बाण है। एक वाम हस्त में ढाल और एक दक्षिण हस्त में तलवार, अन्य वाम हस्त में शंख एवं एक दक्षिण हस्त में चक्र और शेष रहे वाम हस्त में गदा – इस प्रकार वह माया अपनी आठों भुजाओं में गदा पर्यन्त आठों आयुधों को धारण किये हुए थी।।१०।।

श्री सुबोधिनी – तस्याः स्वरूपं भगवत इव सर्वजनीनमिति ज्ञापयितुमाह।

व्याख्यार्थ – उसका स्वरूप भगवान् की तरह सर्वजनवेद्य हुआ, इसको बताने के लिये कहते हैं कि :–

श्लोकः – सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरः किन्नरोरगैः।
उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत्।।११।।

अर्थ – जिस की सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर और नागगणों ने बहुत सामग्री अर्पित कर स्तुति की वह देवी कंस से इस प्रकार बोली –

श्री सुबोधिनी – सिद्धचारणेति, सिद्धचारणगन्धर्वास्त्रिगुणाः, अन्ये च, अप्सरैरिति "बहुलं छन्दसी" त्यनेन, ऐकपद्यं तु सुगमं, अस्याः षड्गुणोपजीवका एते, कंसदर्शन एव, उपाहृता उरुबलयः पूजासाधनानि यैः, बलिशब्दो जयजयादिशब्दानां अपि उपलक्षकः, अतस्तैः स्तूयमाना कंसवधं कर्तुं शक्ताऽहमिति ज्ञापयन्तीदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्।।११।।

व्याख्यार्थ – श्लोक में कहे गये सिद्ध चारण और गन्धर्व त्रिगुणात्मक हैं अर्थात् सात्त्विक, राजस, तामस हैं, और भी कहे गये इसी प्रकार के हैं। श्लोक में "अप्सरैः" ऐसा पाठ मानते हैं तो व्याकरण से वह नहीं बन सकता इसलिये छान्दस मान कर "बहुलं छन्दसि" से उस को सिद्धि होगी। यदि अप्सरः से ले कर आधा चरण पूरा ही समस्त मान लेते हैं तो "अप्सरस्" शब्द रहने पर भी कोई गडबडी नहीं होती। "सिद्ध" से ले कर "सर्प" तक प्रत्येक इस देवी के ऐश्वर्यादि छः गुणों में से एक एक गुण से निर्वाह करने वाले हैं। कंस से देखते २ ही सिद्ध आदि ने उस देवी को बहुत पूजा

सामग्री भेंट की। श्लोक में आया "बलि" शब्द जय जय आदि शब्दों का भी उपलक्षक है अर्थात् बलि शब्द से जय जय आदि शब्द भी लिये गये हैं। इस प्रकार सिद्ध आदि से जिस की स्तुति की गई ऐसी वह देवी "मैं कंस को मारने में समर्थ हूँ" ऐसा बताती हुई आगे कही जाने वाली बात बोली।।११।।

श्री सुबोधिनी – द्वयमत्र वक्तव्यं कथं न हन्यते कथ वा रक्षार्थं नं स्थीयत इत्युभयसमाधानं तदाह –

व्याख्यार्थ – दो बात यहां कहनी है कि तूं ही कंस को क्यों नहीं मार देता और देवकी आदि की रक्षा के लिये क्यों नहीं रहती तो देवी कहती है कि :–

। देव्युवाच ।

श्लोकः – किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत्।
यत्र चित् पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां वृथा।।१२।।

व्याख्यार्थ – देवी कहती है कि हे मूर्ख, मेरे मारने से तुझे क्या लाभ है, तेरा मारने वाला, जो तेरा पूर्वजन्म का शत्रु है वह जहां कहीं पैदा हो गया है अतः इस दीन देवकी को व्यर्थ न मार।।१२।।

श्री सुबोधिनी – किं मयेति, मया हतया किम् ? अहं तु हननेप्यपकार न करोमि, कि पुनरहता ? अत एतद्वृत्तान्ताज्ञानात् त्वं मन्दः, अवधे हेतुर्जात खलु तवान्तकृदिति, यस्तु तवान्तं नाशं करिष्यति स तु जात एव क्वचित, यत्र क्वचिदितिविशेषाकथनं देवगुह्यं, ननु शत्रुत्वाविशेषेऽपि सामर्थ्ये विद्यमानेऽपि यद् भगवतैव हन्यते न त्वयेति को विशेष इति चेत् तत्राह पूर्वशत्रुरिति, मम त्विदानी भवाञ्छत्रुः, तदप्यन्यबुद्ध्या, भगवांस्तु भवतः पूर्वशत्रुरतस्तेनैव हन्तव्यः, आकाशवाण्यापि तथैवोक्तं, अत. कृपणां देवकी मा हिंसीः, तस्या वधे न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येत्, अतो वृथैव मा हिंसीः।।१२।।

हिन्दी व्याख्यार्थ – मेरे मारने से तुझे क्या लाभ है ? तूं यदि मुझे मार भी देता तो भी मैं तेरा अनिष्ट नहीं करती तो फिर बिना मारे कैसे अनिष्ट कर सकती हूँ। तूं इस गुप्त वृत्तान्त को नहीं जानता इसलिये मूर्ख है। मैं तुझे इसलिये नहीं मारती कि तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया है। जहां कहीं पैदा हो गया ऐसा सामान्य रूप से देवी ने कहा। विशेष स्थान का निर्देश नहीं किया। इसका कारण यह है कि छिपा कर कहने से देवता प्रसन्न होते हैं। यदि तूं यह कहे कि मैं जैसा भगवान् का शत्रु हूं वैसा तेरा भी शत्रु हूं और तुझ में मुझे मारने का सामर्थ्य भी है तो भगवान् मुझे मारेंगे, तूं

नहीं मारती, इसमें क्या कारण है। देवी कहती है कि भगवान् तेरा पूर्वजन्म का शत्रु है। मेरा तो तूं इस समय शत्रु बना है और वह भी देवकी के अष्टम बालक की बुद्धि से अतः तुझे भगवान् ही मारेंगे, आकाशवाणी ने भी यही बात कही है। अतः इस दीन देवकी को न मार। इसके मारने से तुझे कोई फल मिलने वाला नहीं है।।१२।।

श्री सुबोधिनी – एवमुक्त्वागतेत्यार्ध

अर्थ – इस प्रकार कह कर देवी चली गई, यह कहते हैं।

। श्री शुक उवाच ।

श्लोकः – इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि।
बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह।।१३।।

अर्थ – श्री शुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार स्पष्टतया अनेक बातें कह कर वह माया भगवती देवी पृथिवी के अनेक स्थानों में स्थित होती हुई बहुत नामवाली हुई।।१३।।

श्री सुबोधिनी – इतीति, प्रकर्षेण भाषित्वा स्पष्टतया निरूप्य, अनेन संवादान्तरमपि कंसेन सह कृतवतीति लक्ष्यते, अन्यथा ब्राह्मणैः सह विरोधं न कुर्यात्, तेन सह संवादेनैव कार्यं सर्वं सिद्धमितिज्ञातवतीत्यत्र हेतुमाह देवीति, यद्यन्याप्यागत्य स्पष्टमन्यथा वदेत् तथापि तया मोहितः कंसो नान्यदङ्गीकुर्यादित्यत्र हेतुमाह भगवतीति, सा हि भग्वद्भावप्राकट्यं कृत्वा लोके पूजां प्राप्स्यतीति भगवद्वाक्यानुसारेण बहुनामनिकेतेषु भूमौ यावन्ति स्थानानि यन्नामानि तत्र सर्वत्रैव स्थिता बहूनि रूपाणि कृत्वा बहुनामा बभूव, दुर्गादिमूर्तिषु रूपभेदस्य स्पष्टत्वाद्, देवकीवसुदेवयोर्निर्बन्धो व्यर्थः।।१३।।

हिन्दी व्याख्यार्थ – देवी ने इस प्रकार स्पष्ट कहा। यहां "प्रभाष्य" पद में जो "प्र" उपसर्ग है उससे सूचित किया कि इस के अतिरिक्त भी देवी ने कुछ कहा। यदि पूर्वोक्त बात ही कहती तो उसके वाक्यों में ब्राह्मण आदि का निर्देश न होने से ब्राह्मणों के साथ वह द्वेष नहीं करता परन्तु देवी ने ब्राह्मण आदि के विषय में भी कुछ कहा इसलिये ब्राह्मणों से भी उसने द्वेष करना आरंभ किया। कंस के साथ बातचीत करने से ही सब कार्य सिद्ध हो गया। यह बात देवता होने से देवी ने समझली। इसी आशय से श्लोक में "देवी" पद किया है। उस देवी में भगवान् के ऐश्वर्यादि धर्म हैं अतः उससे मोहित हुआ कंस यदि ,दूसरी किसी भी शक्ति द्वारा समझाया जाय तब भी न समझे, इस आशय से श्लोक में "भगवती" पद दिया है। वह भगवती है इसलिये सर्वत्र भगवद्भाव

को प्रगट कर पूजा को प्राप्त करेगी। अतः वह भगवान् के कहे अनुसार पृथ्वी पर जितने भी स्थान हैं उनमें अनेकरूप धारण कर अनेक नामों से प्रसिद्ध हुई। दुर्गादि मूर्तियों में उसके अनेक रूप स्पष्ट हैं अर्थात् दुर्गा आदि के जो भी रूप हैं वे उसी के हैं। वह माया भगवद्भाव को प्रकट कर अनेक स्थानों में अनेक रूपों से पूजी जायगी तो उसे अपने पास रखने के लिये वसुदेवजी देवकीजी का आग्रह व्यर्थ हैं।।१३।।

श्री सुबोधिनी– "शत्रुस्तु जात" इति मायावचनं श्रुत्वा कंसः किं कृतवानित्याकांक्षायामाह

अर्थ – तेरा शत्रु कहीं उत्पन्न हो गया ऐसे माया के वचन सुनकर कंस ने क्या किया सो कहते हैं :–

श्लोकः – तया कथितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः।
देवकीं वसुदेवञ्च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत्।।१४।।

अर्थ – देवी द्वारा कहे गये वाक्यों को सुन कर कंस बहुत विस्मित हुआ और उसके वाक्य में विश्वास कर देवकी और वसुदेवजी की बेड़ी को तोड़कर विनम्र होता हुआ बोला।।१४।।

श्री सुबोधिनी – तयेति, वाक्यं तु भगवत्संबन्धि तया तु परं केवलमभिहितं, तदाकर्ण्य परमं विस्मयं प्राप्तवान्, यदीय देवता ज्ञातेय धृत्वैव स्थाप्येत, तद्वाक्यविश्वासाद् देवकीं वसुदेवं च विमुच्च श्रृंखलां दूरीकृत्य देवीवाक्यादुत्पन्नशुद्धभावः प्रश्रितो विनीतोऽब्रवीत्, कायिकं मानसं च शुद्धभावं प्रदर्श्य वाचिकं प्रदर्शितवान् इत्यर्थः।।१४।।

व्याख्यार्थ – माया ने जो वाक्य कहे वे भगवान् के ही वाक्य थे क्योंकि माया भगवान् का भी कार्य करने आई हैं इसलिये उसने तो भगवद्वाक्यों का अनुवाद ही किया है। देवी के उन वाक्यों को सुनकर कंस को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। यदि कंस उसे देवता समझ लेता तो पकड़कर अपने पास रखता परन्तु उसे यह ज्ञान नहीं हुआ। इसके पश्चात् देवी के वाक्य में विश्वास कर वह कंस देवकी और वसुदेवजी की बेडियां तुड़वा कर देवी के कथन से शुद्ध भाव वाला और नम्र होकर बोला अर्थात् कंस ने देह और मन से शुद्ध भाव दिखाकर, वाणी से भी शुद्ध भाव दिखाया। यह बात "विमुच्य प्रश्रितोब्रवीत्" से कही है। छोड़ने से कायिक शुद्ध भाव दिखाया और नम्र होने से मन से और बोलने से वाचिक शुद्ध भाव दिखाया।।१४।।

श्री सुबोधिनी – तस्य वाक्यान्याहाहो इत्यष्टभिः।

व्याख्यार्थ – उस कंस के वाक्यों को "अहो भगिन्यहो" इत्यादि आठ श्लोकों से कहते हैं। प्रथम "अहो भगिन्यहो" इत्यादि श्लोकों के वाक्यार्थ को निम्न निर्दिष्ट कारिकाओं से बता रहे हैं :–

कारिकाएँ – **स्वापराधस्य कथनं फलस्यापि च कीर्तनम्।**
भ्रमाच्चैवापराधोऽयं शोकदूरीकृतिस्तथा।।१।।
एवं चतुर्भिर्लोकोक्त्या शोकाभावो निरूपितः।
तत्त्वावबोधनेनापि चतुर्भिः शोकनाशनम्।।२।।
आत्मनो न हि शोकोस्ति ज्ञानर्ध्ष्टेश्च नश्यति।
अतः शोको न कर्तव्यः कर्माज्ञानवशो यतः।।३।।

कारिकार्थ – "अहो भगिन्यहो भाम" इत्यादि से कंस ने अपने अपराध को कहा। "स त्वहं" इत्यादि श्लोक से उसने अपने अपराध का फल बताया। "दैवमप्यनृतं वक्ति" इत्यादि से भ्रम से मैं ने यह अपराध किया ऐसा कहा। "मा शोचतं" इत्यादि से आपको शोक नहीं करना चाहिये यह कहा।।१।। इस प्रकार चार श्लोकों से आप शोक न करें ऐसा लौकिक रीति से समझाया अर्थात् लोक में जैसे समझाया जाता है वैसे समझाया। इनसे आगे के चार श्लोकों में तत्त्वज्ञान समझा कर कंस ने वसुदेवजी एवं देवकीजी का शोक दूर किया।।२।। इस में "भुवि भौमानि" श्लोक से कहा कि आत्मा न जन्म लेता है और न मरता ही हैं इसलिये शोक नहीं करना चाहिये। "यथा नैव विदो भेदः" इस आगे के श्लोक से आत्मज्ञान से शोक निवृत्त हो जाता है। ऐसा कहा। "तस्माद् भद्रे" इस श्लोक से तथा "यावद्धतोऽस्मि" से कहा कि जीव कर्म और अज्ञान से विवश हो अपना अशुभ फलभोगता है[1] अतएव उनके लिये तुम को शोक न करना चाहिये।

श्री सुबोधिनी – प्रथमतः स्वापराधकीर्तनेन क्षमापयति :–

अर्थ – पहिले अपने अपराध को कह कर कंस क्षमा चाहता है।

| कंस उवाच |

[1] यहा यह समझना चाहिये कि "तस्मा द्भद्रे" श्लोक से कर्मवश हो कर जीव फल भोगता है यह कहा और "यावद्धतोऽस्मि" से यह कहा कि जीव अज्ञानवश हो कर फल भोगता है।

श्लोकः – **अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना।**
पुरुषाद इवाभ्येत्य नहवो हिंसिताः सुताः।।१५।।

अर्थ – कंस पश्चात्ताप करता हुआ आश्चर्य के साथ बोला कि हे बहिन! अजी बहिनोईजी! मुझ पापी ने मनुष्यभक्षी राक्षस के समान जबरदस्ती आप दोनों के अनेक पुत्रों का वध किया, मुझे इसका बड़ा दुःख है।।१५।।

श्री सुबोधिनीजी – अहो इत्याश्चर्येण संबोधन, आश्चर्याविष्टस्तथैवागत्य देवकीं वसुदेवं च पृथक् प्रार्थयते, अहो इति पृथग्वचनं, 'भामस्तु भगिनीपतिः' सम्बन्धेन संबोधन स्नेहार्थं, वा युवयोः, पापस्य स्वस्य च भेदाभावं वदन्नाह पाप्मनेति, बतेति खेदे, पश्चात्तापेन वदामीति ज्ञापयति, न त्विद प्रतारणार्थं, पुरुषादो राक्षसः, सहि भक्षणार्थं बालकान् नयति, तथा मया स्वदेहरक्षाभ्रमाद् युवयोर्बहवः सुता विहिंसिताः, राक्षसानां सम्बन्धाद्यपेक्षा शास्त्रापेक्षा च नास्ति किन्तु प्राणरक्षार्थमेव सर्वेषां सर्वपुरुषार्थसाधकान्यपत्यानि भक्षयन्ति तथा मया मारिता इति तुल्यता, ततोऽपि विशेषस्तु बहव इत्यनेन ज्ञापितः।।१५।।

व्याख्यार्थ – अहो यह आश्चर्यबोधक सम्बोधन है। कंस आश्यर्चयुक्त होकर देवकी वसुदेवजी के पास आया और उन्हें पृथक् २ प्रार्थना करने लगा। अहो यह आश्चर्य बोधक संबोधन होने से भिन्न पद है। कंस कहता है कि हे बहिन! हे बहनोईजी! श्लोक मे ''भाम'' पद देने से कंस ने यह सूचित किया कि तुम मेरी बहिन के पति हो, तुम्हारा मेरा सम्बन्ध है और सम्बन्धी के साथ स्नेह होता ही है इसलिये तुमसे मेरा स्नेह है। तुम्हारे पुत्रों को पापरूप मैंने मारा। यहां ''पाप्मना'' कह कर यह बताया कि मेरे में और पाप में कोई भिन्नता नहीं है अर्थात् मैं पापरूप ही बन गया हूँ। श्लोक में आये ''बत'' पद का अर्थ खेद है। अभिप्राय यह है कि कंस कहता है कि मैं इस कर्म से हार्दिक पश्चापात करता हूं, तुम्हारी प्रतारणा के लिये दिखावा नहीं करता। जैसे खाने के लिये राक्षस बालकों को ले जाता है वैसे ही मैंने यह समझ कर कि बालकों को मारने से मेरे देह की रक्षा हो जायगी तुम्हारे बहुत पुत्रों को मार दिया। राक्षस किसी से न सम्बन्ध पालते हैं और न शास्त्र की ही अपेक्षा रखते हैं अर्थात् राक्षसों का न कोई सम्बन्धी होता है और न वे ''बालकों को नहीं मारना चाहिये'' इस शास्त्र मर्यादा का ही पालन करते हैं। वे तो अपने प्राणों की रक्षा के लिये, जिन के द्वारा सब पुरुषार्थ मिल सकते हैं, ऐसे सभी के सन्तानों को खा जाते हैं, उन राक्षसों की भांति मैं ने भी तुम्हारे पुत्र

मारे। मैं तो उन राक्षसों से भी बढ़ गया क्यों कि वे तो एक हो सन्तान ही खाते हैं और मैं ने तो तुम्हारे बहुत पुत्रों को मार डाला। यह बात यहां "बहवः" पद से कही है।।१५।।

श्री सुबोधिनी – एवमपराधस्य फलमपि संभावयति।

अर्थ – कंस इस प्रकार के अपराध से होने वाले फल की भी संभावना करता है।

श्लोकः – **स त्वहं त्यक्तकारुण्यस्त्यक्तज्ञातिसुहृत् खलः।**
काँल्लोकान् सङ्गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन्।।१६।।

अर्थ – जिस ने दया छोड़दी है और ज्ञाति एवं मित्रों को भी छोड़ दिया है ऐसा दुष्ट मैं ब्रह्महत्या करने वाले की भाँति किन लोकों को प्राप्त करूँगा; मैं तो जीवित ही मृत हूं।।१६।।

श्री सुबोधिनी – स त्वहमिति, दैत्यावेशात् कृतं स्वतस्त्वं समीचीन इति न तव नरकसंभावनेत्याशङ्क्य तुशब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति, मया कृतमिति य एव मन्यते स एव तत्फल प्राप्नोतीति यत. सोऽह, "जिघांसन्तं जिघांसीया" दिति वाक्यात् तव को दोष इति चेत् तत्राह त्यक्तकारुण्य इति, प्रथमतो ये हतास्ते तु न जिघांसवो भवन्ति तथा त्वं वा, यदा ते मारयितुमायान्ति समर्था वा तदैव वध्या न तु बालका दीनाः, अतो येषु कारुण्यं कर्त्तव्यं बालकेषु भागिनेयेषु तेषु न कृतमिति त्यक्तकारुण्यः, ननु संभावनयापि शत्रवो मार्यन्ते शत्रुपुत्राश्चातो राज्ञां संभावनयापि वधो न दोषायेति चेत् तत्राह त्यक्तज्ञातिसुहृदिति, त्यक्ता ज्ञातयः सुहृदो मित्राणि च येन, नन्वात्मघातकाः सर्व एव वध्या "भ्रातापि भ्रातारं हन्या" दिति तत्राह खल इति, मयैव परं ते मारिता न तु तैरहं, अतोहमेव खलो वृथैव परघातकः, अतो दुष्टकर्मणः कृतत्वात् कान् लोकान् सङ्गमिष्यामि ? ननु सिद्धा एव तामिस्रादयो घातकानां ये तत्राह ब्रह्महेवेति, ननु 'ब्रह्महा पच्यते घोरे पुनरावृत्तिवर्जित' इति वाक्यात् कः सन्देह इति चेन्न, प्रायश्चित्तस्य करिष्यमाणत्वाद् वधजनितो दोषो न भविष्यति परं महतामपचारात् प्रायश्चित्त दुर्बलं न वा इति संदेहादेवं वचनं, ननु प्रायश्चित्ते नास्त्येव नरकः कथं सन्देह इति चेत् तत्राह मृतः श्वशन्निति, अयं पुरुषः श्वशन्नेव मृतः, अपकीर्तेर्जातत्वात्, अतो ज्ञायते यदि पाप गच्छेत् तदा तदभावः सर्वजनीनः स्यात् सर्वात्मकत्वाद् भगवतः, अतोमृतः श्वशन् यतो वर्ते, प्रायश्चित्तशास्त्रस्य च प्रामाण्यात् सन्देहकथनम्।।१६।।

व्याख्यार्थ – यदि आप कहें कि तुझ में कालनेमि का आवेश हो गया था इसलिये तुझ से यह दुष्कर्म बना है, स्वयं तो तूँ अच्छा ही है अतः तेरे नरक में जाने

की संभावना नहीं है तो कंस श्लोक में आये "तु" शब्द से इस पक्ष का निराकरण करता हुआ कहता है कि यह अपराध मैंने किया है। ऐसा जो मानता है वही "कर्त्तास्मीति निबद्ध्यते" इस शास्त्रीय नियम के अनुसार फल भोगता है। मैं भी यही मानता हूँ कि मैं ने यह पाप किया है इसलिये मुझे इसका फल मिलेगा ही। यदि कहें कि "क्षिधांसन्त जिघांसीयात्" इस वाक्य के अनुसार जो मारने की इच्छा रखता हो उसे मारना ही चाहिये तो तेरा इसमें क्या दोष है। इस पर कंस कहता है कि प्रथम तो बात यह है कि जिन बच्चों को मेने मारा है वे मारने की इच्छा नहीं रखते थे और तुम भी मारने की इच्छा नहीं रखते हो, जब वे बालक मारने आते अथवा समर्थ होते तब ही उन्हें मारना उचित होता, पहिले उन दीन बालकों को मारना उचित नहीं था। जिन भानेज बालकों पर मुझे दया करनी चाहिये थी उन पर मैं ने दया नहीं की इसलिये मैं निर्दय हूँ। यदि कहें कि यह मेरा शत्रु होगा इस संभावना पर भी शत्रु एवं शत्रुपुत्र मारे जाते हैं तो संभावना से तूँ ने इन्हें मारा है इसलिये मारने का दोष तुझे नहीं लगेगा। कंस कहता है कि मैंने ज्ञाति मित्रों के सम्बन्ध को तोड़ दिया है। ये मेरे सुहृद् के पुत्र हैं अतः उन्हें नहीं मारना चाहिये यह विचार नहीं रखा है। यदि कहें कि जो अपने को मारने वाले हों, वे सब मारने योग्य हैं जैसा कि कहा है "भ्रातापि भ्रातरं हन्यात्" मारने वाले भाई को भी भाई मारदे। तो कंस कहता है कि मैं दुष्ट हूँ क्योंकि मैं ने ही उन्हें मारा है, उन्हों ने मुझे नहीं मारा है अतः मैं व्यर्थ दूसरों को मारने वाला हूँ इसलिये दुष्कर्म करने से मैं किन लोकों को प्राप्त करूँगा। यदि कहें कि मारने वालों को तामिस्त्र आदि नरक मिलते ही हैं तो फिर तुझे यह सन्देह करना ही नहीं चाहिये कि मैं किन लोकों को जाऊँगा। इस पर कंस कहता है कि ब्रह्महत्या करने वाले का जो नरक मिलता है वह मुझे मिलेगा। यदि आप कहें कि "ब्रह्महा पच्यते घोरे पुनरावृत्तिवर्जिते" इस वाक्य के अनुसार जहां से पीछा नहीं लौटता है ऐसे घोर नरक में ब्रह्म हत्या करने वाला दुःख पाता है, तुझे भी वही नरक मिलेगा फिर क्यों सन्देह करता है कि मैं किस नरक में पडूँगा। इस पर कंस कहता है कि मैं प्रायश्चित करूँगा। उससे मुझे मारने का दोष तो नहीं लगेगा परन्तु महान् व्यक्तियों के अपराध से प्रायश्चित न्यून है या नहीं इस सन्देह के होने से मैं ऐसा कहता हूं। यदि कहें कि प्रायश्चित कर लेने पर नरक

मिलेगा ही नहीं तो कहता है कि इस प्रकार का व्यक्ति जीवित ही मृत है क्योंकि उसकी अपकीर्ति हो गई है। कंस कहता है कि मुझ में पाप नहीं रहता तो मेरी अपकीर्ति मिट पाती, पाप नहीं रहने के कारण भगवान् के सर्वात्मक होने से कोई भी मेरी अपकीर्ति नहीं करता परन्तु ऐसा नहीं हुआ है इसलिये मैं जीवन्मृत हूं। मैं किस नरक मे जाऊँगा यह सन्देह तो इसलिये हो रहा है कि प्रायश्चित बताने वाला शास्त्र कहता है कि प्रायश्चित से पाप दूर हो जाते हैं।।१६।।

श्री सुबोधिनी – एवं सभावनया फलं निरूप्यायं मम सहजदोषो न भवतीति स्वदोषपरिहारं वदन्निवाह।

अर्थ – इस प्रकार संभावना से अपने को मिलने वाले फल का निरूपण कर इस में मेरा सहज दोष नहीं है इस बात को सिद्ध करने के लिये अपने आपको निर्दोष बताते हुए की तरह कंस कहता है :–

श्लोकः – दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम्।
यद्विश्रंभादहं पापः स्वसुर्निहतवाञ्छिशून्।।१७।।

अर्थ – केवल मनुष्य ही झूठ नहीं बोलते, देवता भी झूठ बोलते हैं। देवता के विश्वास पर ही मुझ पापी ने अपनी बहिन के बहुत बालकों को मार दिया।

श्री सुबोधिनी – दैवमप्यनृतं वक्तीति, आकाशवाणी दैव "मस्यास्त्वामष्टमो गर्भ" इति वाक्यं, दुर्गापि देवता, एकं तु प्रत्यक्षसंवादि, आकाशवाण्यास्तु वाक्यं विसवादि, देवगुह्याज्ञनादेव वचनं "मर्त्येष्वनृतं प्रतिष्ठित" मिति वाक्यान्मनुष्याणामनृतं देवेषु सत्यं, तदत्र विपरीतं, न केवलं मर्त्या एवानृतवादिनः, किन्तु दैवमप्यनृतं वक्ति, अतो यद्विश्रंभाद् यद्वाक्यविश्वासात् स्वसुः सुतान् वृथैव निहतवान्, ननु "सन्देहे प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" इति तद्हृदये कथ भातमिति चेत् तत्राहाहं पाप इति, महतां हि हृदयं प्रमाणं न तु पापनिष्ठानां, शिशूनिति वयः सख्ये विरूद्धे निरूपिते, अष्टम एक एव हन्तेति सामर्थ्यप्रतिपादकवाक्यात्।।१७।।

व्याख्यार्थ – आकाशवाणी रूप देवता ने तो यह कहा था कि इस देवकी का आठवां गर्भ तुझे मारेगा। आकाशवाणी जैसे देवता है वैसे ही दुर्गा भी देवता है। जो दुर्गा ने बात कही वह तो प्रत्यक्ष के विरुद्ध नहीं हुई किन्तु आकाशवाणी ने जो कहा वह प्रत्यक्ष के विरुद्ध हुई। कंस देवताओं की गुप्त बात को नहीं जानता है इसलिये ऐसा कहता है। कंस कहता है कि "मर्त्येष्वनृतं प्रतिष्ठितं" इस वाक्य के अनुसार झूठ

मनुष्यों मे रहती है और देवताओं में सत्य की स्थिति है परन्तु यहां विपरीत देखने में आया। मैं तो समझता था कि मनुष्य ही झूठ बोलते हैं परन्तु अब मालूम हुआ कि देवता भी झूठ बोलते हैं। देवता के वाक्य पर विश्वास करके ही मैं ने बहिन के पुत्रों को व्यर्थ ही मारा। यदि कहें कि तुझे इस बता में सन्देह था तो "प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः" के अनुसार अन्तः करण ही यह ठीक है या नहीं इसकी साक्षी दे देता है तो तूँ ने अन्तःकरण से यह क्यों नहीं समझा। तेरे हृदय में आकाशवाणी की बात ही क्यों आई तो कहता है कि मैं अत्यधिक पाप करने से पापरूप बन गया हूँ। जो महान् होते हैं उनका अन्तःकरण साक्षी दे देता है कि यह ठीक है या नहीं और जो पापी हैं उनका हृदय किसी बात को ठीक नही कर सकता श्लोक में आये "स्वसुःशिशून्" का भाव यह है कि बहिन के साथ प्रेम था उस प्रेम का भी मैं ने पालन नहीं किया और बच्चे बिलकुल छोटे हैं इसका भी विचार मैं ने नहीं रखा। मुझे आकाशवाणी ने यह कहा कि आठवां गर्भ तुझे मारेगा इससे तो स्पष्ट था कि वह सामर्थ्यशाली होगा परन्तु ये बच्चे तो इस प्रकार के नहीं निकलें, इन्हें तो मैंने व्यर्थ ही मारा।।१७।।

श्री सुबोधिती – नन्वत. पर किं कर्तव्यमित्याशङ्क्याह –

अर्थ – अब इस के आगे क्या करना चाहिये तो कहते हैं कि : –

श्लोकः – मा शोचतं महाभागावात्मजान् स्वकृतम्भुजः।

जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनाः सदासते।।१८।।

अर्थ – हे महाभाग्यशाली देवकी वसुदेवजी! अपने पुत्रों का शोक न करो क्योंकि उन्होंने अपने किये हुए कर्मों का फल भोगा है, भगवदिच्छा से जो जन्म एवं मरण के भाग में हैं वे सदा एक साथ नहीं रहते।।१८।।

श्री सुबोधिनी – मा शोचतमिति, महतां शोके हेतुभूतः प्रायश्चित्तेप्यनधिकारी भवति इति मत्कृपया शोको न कर्त्तव्यः, नन्वपकारिणि कथं कृपेतिचेत् तत्राह महाभागाविति संबोधन, महता शत्रुमित्रोदासीनभावो नास्ति, ननु महत्त्वादेव शोकाभावे सिद्धे कथं शोकाभावो बोध्यत इति चेत् तत्राह स्वात्मजानिति, न हि स्वाकृतार्थत्वेन शोकः किन्तु बाला अकृतार्था गता इति, तेषा शोकाविषयत्वे हेतुमाह स्वकृतभुज इति, यद्यपि मरीचिपुत्रा एवं जाता इति न जानाति तथापि कार्यादनुमिनोति, अतस्तैरपि ताऽंश कर्म कृतमस्ति येन बाला एव हता, ननु न वय ताञ्छोचामो नात्मान किन्त्वेकत्रोभयेषा स्थितिर्नाभूदिति शोचाम इति चेत् तत्राह जन्तव इति, ये हि निरन्तर जायन्ते

"जायस्वम्रियस्वे" तिमार्गवर्तिनस्ते सदैवैकत्र नासते यतो भगवदिच्छा तथैव तेषु, तदाह दैवाधीना इति, यद्यपि तिष्ठन्ति तदापि पूर्ववासनया शत्रुमित्रोदासीनत्वस्य नित्यत्वान्न सम्यगासते, सहासत इति वा पाठ.।।१८।।

व्याख्यार्थ – जो महान् पुरुषों के शोक का कारण बनता है, वह प्रायश्चित करने का भी अधिकारी नहीं होता। ऐसी दशा में उसकी प्रायश्चित से शुद्धि न होने ने उसे नरक भोगना पड़ता है इसलिये मुझ पर कृपा कर आप शोक न करें। यदि कहें कि बुरा करने वाले पर कृपा कैसे की जा सकती है तो कंस कहता है कि आप महाभाग हो, जो महाभाग्यवान् होते हैं वे महान् होते हैं, उन में शत्रु, मित्र एवं उदासीन भाव नहीं होते। आप यदि यह कहें कि हम जब महान् हैं तो अपने आप शोक नहीं करेंगे तूँ हमें क्या समझा रहा है कि शोक नहीं करना चाहिये। इस पर कंस कहता है कि ये आप के पुत्र थे, आपको आपकी अकृतार्थता का शोक नहीं हैं किन्तु बालकों ने जन्म लिया और उनसे कुछ भी सुकृत न बना, वे अकृतार्थ ही गये, इस बात का शोक है परन्तु यह शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि जैसा उनका कर्म था वैसा उन्होंने फल भोगा। कंस को यद्यपि यह ज्ञात नहीं था कि ये बच्चे मरीचि के पुत्र थे और इस प्रकार यहां उत्पन्न हुए तो भी कार्य से अनुमान लगा लिया कि इन्हीं ने ऐसा कर्म किया था जिससे ये बाल्यवस्था में ही मारे गये। कंस कहता है कि यदि आप यह कहें कि न हम बालकों का शोक करते हैं और न अपना ही, हम तो इस बात का शोक करते हैं कि पुत्र और हम साथ न रहे। इस पर कंस कहता है कि जो "जायस्वम्रियस्व" के मार्ग में हैं वे सदा ही एक जगह नहीं रहते क्यों कि उन के लिये भगवान् की इच्छा ऐसी ही है। इस बात को "दैवाधीनाः" पद से कहा है। यदि इस प्रकार के प्राणी रह भी जाते हैं तो भी उनमें पूर्ववासना से शत्रु, मित्र एवं उदासीनता के भावों के नित्य रहने से वे अच्छे रूप में नहीं रह सकते। श्लोक के अन्त में "सदासते" "समासते" और "सहासते" ये तीनों पाठ हो सकते हैं। इसलिये उपर्युक्त तीनों अर्थ किये गये हैं।।१८।।

श्री सुबोधिनी – एव लौकिकन्यायेन स्वापराधाभावं प्रार्थयञ्छोकापनोदनं कृतवान् पुनः शास्त्रानुसारेणापि शोकापनोदनमाह चतुर्भिः।

अर्थ – मेरा इस में कोई अपराध नहीं है ऐसा लौकिक न्याय से बताकर कंस अब शास्त्र के अनुसार भी चार श्लोकों से शोक दूर करता है।

श्लोकः – भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च।
नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः।।१६।।

अर्थ – जैसे मिट्टी से घट आदि पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते है परन्तु मिट्टी में विकार नहीं होता वैसे ही शरीर बनते बिगड़ते रहते हैं परन्तु आत्मा में काई विकार नहीं होता अथवा यों कहिये कि जैसे घट तृण भित्ति आदि पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं परन्तु पृथिवी में स्थित अन्तर्यामी रूप परमात्मा में कोई विकार नहीं होता वैसे ही देह के उत्पन्न एवं नष्ट होने पर आत्मा में कोई विकार नहीं होता।।१६।।

श्री सुबोधिनी – भुवीति, पूर्व ते म्रियन्त इत्यङ्गीकृत्य शोकापनोद उक्त इदानी ते न म्रियन्त एवेत्युच्यते, आत्मा "नित्यः सर्वगतः स्थाणु" रिति वाक्याद् व्यापको गमनागमनादि शून्यः कूटस्थ, सांख्यानामेवमेव मत दैत्यानः हृदये समायातीति तदेवोच्यते, देहास्त्वाकाशेऽभ्रतमः प्रकाशा इवोच्चावचा समायान्ति गच्छन्ति च न त्वाकाशे कश्चन विकार उत्पद्यते तथा पुत्राणामप्यात्मत्वात् तेषां देहे गते न काचित् क्षतिः, स्पष्टतया व्यवहार्यत्वाद् भूमिर्दृष्टान्तो बुध्यत इत तमाह यथा भौमानि भूविकाराणि भूतानि कृमिकीटादीनि वृक्षादीनि वा यथा यान्ति भूमेः सकाशादुत्पद्यन्ते पृथग् भवन्त्यपयान्ति च भूमावेव लयं प्राप्नुवन्ति तेषूद्गतेषु लीनेषु वा भूमिस्तु न विक्रियते तथात्मन्यपि देहा यान्त्यपयान्ति चात्मोपार्जितकर्मवशादेवोत्पद्यन्ते लीयन्ते च तथाप्यात्मा न वोत्पद्यते न वालीयत इत्यर्थ, यथा भूस्तथा देहानामपि भौतिकत्वान्न पृथङ् निरूपणं, भुवि भौमानि भित्यादीनीत्येव सम्बध्यते भूतानीति त्वात्मनीति वा, भूतानि जातानि वा, तेष्वेव भूतेषु विद्यमान आत्मा न तथेति वक्तु दृष्टान्त एव प्रवेश उक्तः यथा बहिः स्थिता पृथिवी न विक्रियत एवमन्त स्थितः आत्मापि, नथैतेष्विति भिन्न वाक्यं, एतेषु मनुष्यदेहेष्वप्यात्मा न विक्रियत इति, उक्तेषु मनुष्यादिदेहेषु भूम्यविकारः प्रत्यक्षसिद्धः, वर्षाकालोद्भवेषु तृणादिषु चात्माविकारश्च प्रत्यक्षसिद्धः, अन्यथात्मानन्त्यकल्पना प्रसज्जयत, यथा देहे लोमानि न पृथगात्माधिष्ठितानि तथा भूमावप्येक एवात्मा तत्सम्बन्धात् कोटिशस्तृणादीन्युत्पद्यन्ते विलीयन्ते च, अधिष्ठात्र्यो देवतास्तु भिन्नाः।।१६।।

व्याख्यार्थ – प्राणी जन्म लेते हैं और मरते हैं, वे भगवदिच्छा के अधीन होकर एक जगह नहीं रह पाते, यह पहिले कहकर कंस ने शोक दूर किया। अब कहता है कि वे मरते ही नहीं क्योंकि "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः" के अनुसार आत्मा (जीव) व्यापक (सर्वत्र रहने वाला) एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में नहीं जाने आदि धर्मों से युक्त एवं कूटस्थ (सदा एक रस वाला) है, इस प्रकार के सांख्यमत को ही दैत्य मानते हैं इसलिये कंस ने इस प्रकार के मत को कहा। अर्थात् जीव को व्यापक आदि बताया।

कंस कहता है कि जैसे आकाश में बादल, अन्धकार एवं प्रकाश होते रहते हैं परन्तु आकाश मे कोई विकार नहीं होता वैसे ही ऊँच नीच देह उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं परन्तु आत्मा में कोई विकार नहीं होता। तुम्हारे पुत्रों में भी उस आत्मा का रूप था इसलिये उनके देह के चले जाने पर भी कोई क्षति नहीं हुई। यहां आकाश का दृष्टान्त तो दिया है परन्तु स्पष्ट रूप में वह व्यवहार में नहीं आता। इसलिये कंस दूसरा प्रत्यक्ष व्यवहार में आने वाला दृष्टान्त देता है कि जिस प्रकार पृथ्वी के विकारभूत कृमि कीट आदि एवं वृक्षादि हैं वे भूमि से पैदा होते हैं अर्थात् पृथ्वी से भिन्न होते हैं और पृथ्वी मे ही लीन हो जाते हैं, उनके निकलने व लीन होने पर जैसे भूमि में कोई विकार नहीं होता, वैसे ही आत्मा में समझना चाहिये। अपने से किये गये कर्मों के अधीन होकर ही देह उत्पन्न होती हैं और लीन हो जाती हैं परन्तु आत्मा न पैदा होता है और न लीन होता है। श्लोक में "यथा भूः" ऐसा कहा है। यहां श्लोक में जैसे यह कहा कि पृथ्वी से पैदा हुई चीजों में विकार होता है और पृथ्वी में विकार नहीं होता वैसे ही श्लोक में यह भी कहना चाहिये था कि आत्मा में विकार नही होता किन्तु देह आदि मे विकार होता है, परन्तु ऐसा इसलिये नहीं कहा कि देह भी श्लोक में कहे गये "भौमानि भूतानि" इन पदों से ले लिया गया इसलिये पृथक् देह पद श्लोक में नहीं दिया गया। श्री प्रभु चरण आज्ञा करते हैं कि "भुबि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति तथात्मा न याति नापयान्ति" इतना ही श्लोक का शक्य (मुख्य) अर्थ होना चाहिये और पद भी ये ही होने चाहिये, शेष रहे श्लोक के पद व्यर्थ हैं। और दूसरी बात यह भी है क पृथ्वी में विकार होकर ही वस्तु पैदा होती है इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि पृथ्वी से वस्तु पैदा होती है और पृथ्वी में कोई विकार नहीं होता। इस अरुचि से श्री सुबोधिनी में दूसरे पक्ष का उल्लेख करते हैं कि "भुवि भौमानि मित्यादीनि" अर्थात् पृथ्वी में भित्ति आदि पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं परन्तु पृथ्वी उस रूप में न बनती है और न बिगडती है। शरीरस्थ पंच महाभूत जो जल आदि हैं वे उत्पन्न और नष्ट होते हैं,

---

टिप्पणी (१) इस प्रकार "भूतानि" पद के अर्थ का 'आत्मनि' पद के अर्थ मे सम्बन्ध करने से अर्थ होता है। यद्यपि

इस प्रकार अर्थ करने पर भी "भूत" पद एव "एतेषु" इत्यादि पद सार्थक नहीं होते है क्योंकि "नायमात्मा तथा" ऐसा कहने से भी काम चल जाता है परन्तु यहा यह कहना है कि जल आदि में वही भगवान् अन्तर्यामी रूप से रहता है परन्तु पञ्चमहाभूतो के उत्पत्ति–नाश–रूप–धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यहां "भूतानि" "एतेषु" आदि पद न देते तो यह अर्थ नही होता। श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि जैसे "भौमानि" पद के अर्थ का अन्वय "भुवि" पद के अर्थ मे होता है, उसी रूप में श्लोकस्य "भूतानि" पद का सम्बन्ध अध्याहार किये गये "आत्मनि" पद के अर्थ के साथ होता है और बाकी अपेक्षित पदों की आवृत्ति करनी चाहिये, परन्तु यह पक्ष मान लेने पर "आत्मनि" का अध्याहार करना ही दोष है इसलिये श्री सुबोधिनी मे "भूतानि जातानि वा" यह पक्ष दिया, इसका अर्थ यह हुआ कि पृथ्वी मे ही जल आदि पैदा होते है परन्तु पृथ्वी तो अधिकरण रूप मे ही रहती है और नित्य आकाश मे अतिरिक्त जल आदि भूत ही उसमे पैदा होते हैं। इस पक्ष के मान लेने पर श्लोक में आये चकार से यह दृष्टान्त लिया जा सकता है और इस पक्ष मे पदो की आवृत्ति भी नहीं करनी पडती। शङ्का करते है कि "भौमानि" का भित्ति आदि अर्थ का दूसरा पक्ष क्यो उठाया गया। इस का स्पष्टीकरण श्री प्रभु चरण ने "ननु भुवि" इत्यादि शका करके किया है। श्री सुबोधिनीजी में आये "भूतानि जातानि" में जो "जातानि" पद है उसका अर्थ यह है कि जल आदि पृथ्वी मे पैदा होते हैं। इसमें जो दार्ष्टान्तिक अपेक्षित है उसका उल्लेख श्री प्रभुचरण ने "तथैतेष्वन्त." स्थित आत्मापि तथा" आदि से किया है।

श्री सुबोधिनीजी में जो "दृष्टान्त एव प्रवेश उक्त" यह कहा है। यहा श्री प्रभुचरण आज्ञा करते है कि "यथैव भू." यह जो दृष्टान्त–निरूपक वाक्य है उसमे "भूतानि" पद का सम्बन्ध है और यह भी समझते हैं कि श्लोक में आये "यथा भू." पद का विवेचन श्री सुबोधिनी मे इस प्रकार किया है कि जैसे पृथ्वी से पैदा होने वाले पदार्थ विकार को प्राप्त होते है किन्तु उनसे बाहिर रहने वाली पृथ्वी में विकार नही होता वैसे ही जलादि के अन्त स्थित आत्मा में भी विकार नही होता। ऐसा अर्थ करने पर "न तथा एतेषु" इन पदों की आवृत्ति करनी चाहिये। यही बात "तथैतेष्विति भिन्न वाक्य" से कही है। इसी पक्ष मे "एतेषु" इत्यादि पदों की श्री सुबोधिनी मे प्रकारान्तर से व्याख्या करते है कि "एतेषु मनुष्यदेहेष्वप्यात्मा न विक्रियते" इसका अर्थ यह है कि जैसे मनुष्य आदि देहो के उत्पन्न होने पर भी उनके पृथक् रहने वाली पृथ्वी विकृत नही होती उसी रूप में आत्मा में भी विकार नही होता यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। श्री प्रभुचरण आज्ञा करते है कि श्रीमदाचार्यचरण अब दूसरे प्रकार से अर्थ करते हैं कि "वर्षाकालोद्भवेषु" इन तृण आदि से उत्पन्न होने पर पृथ्वी मे विकार होता है परन्तु पृथ्वी के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी में विकार नहीं होता। इस प्रकार यहां व्यतिरेक दृष्टान्त मानना चाहिये। पृथ्वी के भीतर अन्तर्यामी आत्मा रहता है, इसमे "य. पृथिव्या तिष्ठन्" इत्यादि श्रुति प्रमाण है। इस श्रुति का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी के भीतर रहने वाला उस पृथ्वी का अभिमानी आत्मा है परन्तु उसमे कोई विकार नही होता। यदि आत्मा के भी उत्पत्ति आदि मान लिये जाते है तो एक तृण रूप से आत्मा में विकृति हो गई तो फिर आत्मा के अवयव न होने से अंश का भेद तो कह नही सकते, तो दूसरे तीसरे तृण आदि मे भिन्न २ आत्मा माननी होगी। ऐसी स्थिति में एक पृथ्वी रूप शरीर मे अनन्त आत्माओ की कल्पना करनी होगी जैसे देह में रोमावली के भेद से आत्मा मे काई भेद नहीं है, उसी रूप मे भूमि मे भी एक ही आत्मा है उसके सबध से करोडो तृण आदि उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते है। त्वचा आदि गोलको मे लोभ आदि इन्द्रिया है और अधिष्ठात्री जो औषधि आदि देवता है वह शरीराभिमानी आत्मा से भिन्न है इसलिये उन देवताओ के भेद से आत्मा भिन्न नही हो सकती।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुवे श्री वल्लभजी महाराज कहते है कि पृथ्वी से कृमि कीट आदि उत्पन्न होते है और उसी मे लीन हो जाते हैं। यह अर्थ "यान्ति" इत्यादि पदो से लिया गया है। देह और आत्मा के पक्ष में "यान्ति अपयान्ति" का अर्थ यह है देह आते जाते रहते हैं परन्तु आत्मा मे यह बात नही है। यहा विकार से अन्यथाभाव अर्थ लेना। श्री वल्लभजी महाराज श्लोक का अन्वय इस प्रकार करते है कि जिस प्रकार पृथ्वी मे भित्ति आदि बनते है और बिगडते है, उसी प्रकार जल आदि महाभूत जो पैदा हुए है वे आते है और जाते है परन्तु इनमे विद्यमान आत्मा न जाता है और न आता है। इस दृष्टान्त से आत्मा के आने जाने का निषेध किया है। दूसरे दृष्टान्त से आत्मा मे विकार नही होता यह "न" तथा "एतेषु" इन तीन पदों की आवृत्ति कर यह अर्थ किया कि जैसे बाहिर रही हुई पृथ्वी विकृत नहीं होती वैसे ही इन पञ्च महाभूतो मे रहने वाला आत्मा भी विकृत नही होता। परन्तु

श्री सुबोधिनी – नन्वेवमैकात्म्ये कथं लोके भेदव्यवहार इति चेत् तत्राह

अर्थ – शका होती है कि जब एक ही आत्मा है तो लोक में देवदत्त की आत्मा भिन्न है और यज्ञदत्त की आत्मा भिन्न है ऐसा व्यवहार कैसे होता है अथवा "देवोऽहं:" "मनुष्योऽहं" आदि भेद व्यवहार कैसे होता है तो कहते हैं कि :–

श्लोकः – **यथानेवं विदो भेदो यत आत्मविपर्ययः।**
देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्तते।।२०।।

अर्थ – जिसे ठीक रूप से यह ज्ञात नहीं कि आत्मा एक है उसे भेद प्रतीति होती है और उसी भेद प्रतीति से आत्मा की अनित्यता, भिन्नता तथा देह के संयोग वियोग मालूम पड़ते हैं, और संसार भी उसी के कारण निवृत्त नहीं होता।।२०।।

श्री सुबोधिनी – यथेति, यथायथावदनेव विदो भेदो न त्वेवंविदः, आपातत एवं वित्त्वेपि भेदप्रतीतिर्न गच्छति इति यथेत्युक्त, यथानेवविद इति एक पदं, समासान्तस्त्वनित्यः, भेदस्तु द्वित्वसाध्यः, न ह्येकस्मिन् भेदबुद्धिर्भवति, द्वित्वं त्वपेक्षाबुद्धिजन्यं, अतो द्वित्व न वस्तुनिष्ठं किन्तु बुद्धिस्थविषयकमेव, बुद्धया बहिर्विषयोत्पादनासंभवात्, अतोऽज्ञानकृत एव भेदो भवति, अपेक्षाविषयाणामभावात्, निरपेक्षेष्वपेक्षाबुद्धिरज्ञानत्कृतैव, ननु "भेदः पारमार्थिकः श्रुतिस्मृतिव्यवहारोपयोगित्वादात्मव" दित्यनुमानाद् भेद पारमार्थिक एवेति चेत् तत्राह यत आत्मविपर्यय इति, यदि भेदः पारमार्थिकः स्यात् तत्कृतेन व्यवहारेणात्मविपर्ययो न स्यात्, अज्ञानस्य भेदोत्पादकत्वेनैवान्यथाबुद्धिहेतुत्वात् अन्यथा सुषुप्तावज्ञानस्य विद्यमानत्वादन्यथाबुद्धिर्भवेत्, किञ्च न केवलं विपर्ययमात्रैजनकत्वं किन्तु देहयोगवियोगावपि भेदकृतावेव, यथा देवदत्तस्य यज्ञदत्तदेहे जाते गते वा स्वस्य न कापि विक्रियोत्पद्यत एवं स्वस्याप्यात्मन एकत्वे ज्ञाते नोत्पद्येत, चकारस्तु सर्वव्यवहारसमुच्चयार्थः, किञ्च भेदस्त्वपारमार्थिकः इति कार्यान्तरादप्यवसीयते, तदाह संसृतिर्न निवर्तत इति, भेदज्ञाने विद्यमाने जन्ममरणयोर्विद्यमानत्वात् ससारो न निवर्ततेऽत आत्मनोऽविकृतत्वं ज्ञातव्यं

पृथ्वी में तो विकार देखा गया है इसलिये उक्त कथन में अरुचि आई तो श्री वल्लभजी कहते है कि "यथा भू." के साथ" "न" कार का सम्बन्ध न कर व्यतिरेक ६ष्टान्त से यह कहा कि जैसे पृथ्वी मे विकार होता है वैसे आत्मा मे विकार नही होता।।१६।।

तदविकृतत्वमपरिच्छेदकूटस्थत्वव्यतिरेकेण न सिध्यतीति कूटस्थो व्यापकोऽविकृत आत्मा ज्ञातो भवति, तस्मि ् ज्ञाते शोको न संभवति।

व्याख्यार्थ – जिसे ठीक रूप से आत्मा की एकता का ज्ञान नही है वह भेद समझता है और जो आत्मा एक है ऐसा ठीक रूप से समझता है उसको भेदज्ञान नहीं होता। ऊपर २ से यदि कोई ऐसा समझता है तो भी उस की भेद प्रतीति नहीं जाती इसलिये "यथानेवंविदः" में यथा पद लगाया है अर्थात् वास्तव में जिस को एक ही आत्मा है ऐसा ज्ञान है उसे भेद प्रतीति नहीं होती। श्लोक में "यथानेवंविदः" ऐसा समस्त का एक पद है। यहां समासान्त कप्रत्यय इसलिये नहीं हुआ कि "शेषाद्विभाषा" में विभाषा पद है इसलिये उससे विकल्प से 'क' प्रत्यय होता है। जहां द्वित्व होता है वहां ही भेद होता है अर्थात् द्वित्व से ही भेद–प्रतीति होती है इसलिये यह नही मानना चाहिये कि भेद से द्वित्व प्रतीति होती है। इस मे कारण यह है कि जब एक व्यक्ति को देखते हैं तो "अधं एकः" यह एक है ऐसा ही व्यवहार होता है किन्तु "अयं अभिन्नः" यह व्यवहार नहीं होता। द्वित्व अपेक्षा बुद्धि से होता है जैसे यज्ञदत्त से देवदत्त दूसरा है। यहां जो देवदत्त को द्वितीय बताया वह यज्ञदत्त की अपेक्षा से बताया है। इसलिये मानना चाहिये कि 'द्वित्व' वस्तु में रहने वाला नहीं है किन्तु बुद्धिगत ही है। बुद्धि पदार्थ को बाहिर पैदा नहीं कर सकती अतः यह मानना चाहिये कि अज्ञानकृत ही भेद हैं क्योंकि एक आत्मा होने से आत्मा अपेक्षा बुद्धि का विषय नहीं है क्योंकि अपेक्षा बुद्धि अनेक होने पर होती है अथवा यों कहिये कि आत्मा "अहं" इस ज्ञान का ही विषय है, अपेक्षा बुद्धि का विषय नहीं है। अतः वहां अपेक्षा बुद्धि अज्ञान से ही होती है। यहां पूर्वपक्ष करते हैं कि भेद वास्तविक है क्योकि भेद न मानने से श्रुति एवं स्मृति का व्यवहार नहीं चल सकता। इस पर कहते हैं कि "यत आत्मविषर्ययः" आत्मा नाश और उत्पत्तिवाला तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न २ है ऐसा जो ज्ञान है वह अन्यथा ज्ञान है। इस अन्यथा ज्ञान को मान लेते हैं तो उत्पन्न होते ही बालक माता के स्तन पीने में कैसे प्रवृत्त होता है। इससे मानना चाहिये कि वह पूर्वजन्म के संस्कार से ही स्तनपानादि मे प्रवृत्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा नित्य हैं और संपूर्ण शरीर में चैतन्य की उपलब्धि होने से व्यापक भी है परन्तु ऐसा अनुमान करने पर भी पूर्वोक्त विपरीतज्ञान भेद से किये गये व्यवहार से ही होता है। अतः यह उत्पन्न होता है ऐसा कहा जाता है।

यदि उत्पन्न एवं नाश होना नहीं मानते हैं तो व्यवहार में अपने को अथवा दूसरे को किसी के उत्पन्न होने पर हर्ष नहीं होना चाहिये और नष्ट होने पर शोक नही होना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि भेद व्यावहारिक ही है पारमार्थिक नहीं है। यह नियम है कि जो पारमार्थिक नहीं होता वह संसार का कारण होता है। भेद संसार का कारण है इसलिये वह पारमार्थिक नहीं है। इस अनुमान से न आत्मा का भेद सिद्ध होता है और न आत्मा उत्पन्न एवं नष्ट हो जाती है। यदि कहें कि आत्मा को उत्पत्ति–विनाश–शाली एवं प्रति शरीर में भिन्न २ मानना इस में अज्ञान ही कारण है, भेद कारण नहीं है। इसका उत्तर देते हैं कि "आज्ञानत्वेन अज्ञान" अन्यथा बुद्धि का कारण नहीं है किन्तु अज्ञान से भेद होता है और भेदज्ञान से अन्यथा बुद्धि होती है। यदि अज्ञान से ही अन्यथा बुद्धि होती है ऐसा मान लेते हैं तो सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान होने से अन्यथा बुद्धि होनी चाहिये परन्तु वहां अन्यथा बुद्धि नहीं होती। इससे समझते हैं कि भेद ही अन्यथा बुद्धि में कारण है। सुषुप्ति दशा में भेद नहीं है इस लिये वहां अन्यथा बुद्धि नही होती। भेद केवल विपरीत ज्ञान को ही पैदा नहीं करता किन्तु किसी देह का सम्बन्ध एवं वियोग भी भेदज्ञान से ही होता है जैसे यज्ञदत्त के देह के उत्पन्न होने पर एवं नष्ट होने पर देवदत्त में कोई विकार नहीं होता इसी प्रकार आत्मा के नित्य होने से पूर्व देह में और दूसरे देह में एक ही आत्मा है ऐसा जान लेने पर विकार नहीं होता। व्यावहारिक भेद मान कर ही "श्यामोऽहं" "गौरोऽहं" मैं श्याम हूं मैं गौर हूँ इत्यादि व्यवहार होते है। और एक बात यह भी है कि भेद पारमार्थिक नहीं है यह बात दूसरे कार्य से भी सिद्ध होती है। यदि भेद वास्तविक हो तो जन्म मरण के होते रहने से संसार सदा रहना चाहिये परन्तु वह सदा नहीं रहता। इससे मानना चाहिये कि भेद वास्तविक नहीं है। अतः समझना चाहिये कि आत्मा अविकृत है परन्तु उसका वह अविकृतत्व तब ही सिद्ध होगा जब उसे अविकारी एवं कूटस्थ (सदा एक रस वाला) मानें। इन सब युक्तियों से आत्मा कूटस्थ, व्यापक एवं अविकृत ज्ञात होता है और ऐसे आत्मा के जानने पर शोक नहीं होता।।२०।।

श्री सुबोधिनी – तत्तु भवद्भ्यां ज्ञायत एवेति शोको न कर्तव्य एवेत्याह

अर्थ – अब कंस कहता है कि आप दोनों आत्मा–व्यापक, कूटस्थ और अविकारी है यह जानते ही हैं इसलिये आप को शोक नहीं करना चाहिये।

श्लोकः – तस्माद् भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि।
मानुशोच यतः सर्वः स्वकृतं भुञ्जतेऽवशः।।२१।।

अर्थ – हे कल्याणंरूपिणी देवकी! मेरे द्वारा मारे गये अपने पुत्रों का तथा स्वयं का शोक न कर क्योंकि अपने २ कर्मों के अनुसार विवश हो कर सब ही फल भोगते हैं।।२१।।

श्री सुबोधिनी – तस्मादिति, वसुदेवस्तु शोकं न करिष्यतीति देवकीसंबोधन भद्र इति, अत परं तव कल्याणमपत्यं च भविष्यतीति ज्ञापित, स्वतनयान् देवकीतनयान् मानुशोच, प्रथमत आत्मान शोचति तत पुत्रमित्यनुपद, यद्यपि ते स्वकर्मवशादेव मृता न तु मया व्यापादितास्तत्कर्मैव मा च प्रेरितवदथापि बहिर्दृष्ट्या मयैव व्यापादिता इत्यङ्गीक्रियते तथापि मा शोचेत्याह मया व्यापादितानपीति, अननुशोके बहिर्मुखानामप्येकास्त्युपपत्तिस्तामाह यतः सर्वः स्वकृतं भुञ्जतेऽवश इति, अनिच्छन्नपि परवश एव कर्माधीनो भूत्वा सर्वोपि स्वकृत भुंक्ते, अस्य मते न सृष्टेश्चातुर्विध्य, भुञ्जत इति बहुवचनप्रयोग एकवचने देहभेदेनभोगेन नानात्वप्रतीतेः सिद्धत्वज्ञापनाय, अनेन मयापि बहिर्मुखत्वेन कृत कर्म भोक्तव्यमित्यविचारितोऽपि दण्डो भविष्यति इति दण्डाभावेनापि चिन्ता न कर्तव्या।।२१।।

व्याख्यार्थ – कंस का यह विचार है कि वसुदेवजी ज्ञानी होने से शोक नहीं करेंगे अतः देवकी को ही समझाना चाहिये। इसलिये देवकी से कहता है कि हे भद्रे अर्थात् हे कल्याण रूपिणी देवकी, तूँ कल्याणरूपा है अतः आगे भी तेरा कल्याण ही होगा और सन्तान् भी होगी इसलिये तूँ पुत्रों का शोक न कर। पहिले तूँ अपना शोक करती है बाद में पुत्रों का इस बात को सूचित करने के लिये श्लोक में आये "अनुशोचः" पद में अनु उपसर्ग लगाया है। यद्यपि तेरे लडके अपने कर्मो के अधीन होकर ही मरे हैं, मैंने उन्हें नहीं मारा है क्योंकि उनके कर्मों ने ही मुझे प्रेरित किया था ऐसी दशा में भी यदि तूँ यह समझती है कि तूँ ने ही मेरे पुत्रों को मारा है तो भी तुझे शोक नहीं करना चाहिये। शोक न करने में बहिर्मुखों के लिये एक युक्ति है कि नही चाहते हुए भी पराधीन होकर सभी अपने किये हुए कर्मों के अनुसार ही फल भोगते हैं। कंस यह नही समझता है कि "पुष्टि, प्रवाह, मर्यादा एवं सदा अस्थिर रहने वाले" चार प्रकार के जीव हैं कारण यह है कि दैत्यों के मत मे ऊपर कही गई चार प्रकार की

सृष्टि नहीं मानी गई है। तात्पर्य यह है कि कंस यदि यह समझता कि पुष्टि जीव भी हैं और वे कर्म के अधीन नहीं होते तो साधारणरूप से यह नहीं कहता कि कर्म के अधीन होकर सबको फल भोगना पडता है अतः यह समझना चाहिये कि दैत्य उक्त प्रकार की सृष्टि नहीं मानते।[1] श्लोक में एकवचन के स्थान पर "भुञ्जते" यह बहुवचन दिया है इससे सूचित किया गया कि सब ही के देह भिन्न २ होने से अनेक प्रतीति सिद्ध है क्योंकि अनेक देहों से भोग होते हैं। इस सब कथन के कंस यह भी सूचित करता है कि भगवत्प्रेरणा से यह कार्य हुआ है। ऐसा वास्तविक रूप से नहीं समझने से, और मेरे में कर्त्तृत्व का अभिमान होने से तुम मेरे लिये दण्ड का विचार नहीं भी करोगे तो भी मुझे दण्ड मिलेगा ही अतः आपको यह भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि कंस को इस दुष्कर्म का दण्ड नहीं मिलेगा।।२१।।

श्री सुबोधिनी – ननु त्वया ज्ञानमुपदिष्टं, उपदेष्टुर्दृढं ज्ञानं भवतीति न तव दण्डसंभावनेति चेत्तत्राहः–

अर्थ – आप यदि यह कहें कि तूँ ज्ञान का उपदेश देने वाला है इसलिये तेरे में दृढ ज्ञान होने से तूं दण्ड भागी नहीं होगा तो कंस कहता है किः–

श्लोकः – यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यते स्वदृक्।
तावत् तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात्।।२२।।

अर्थ – शास्त्रीय ज्ञान होने पर भी जब तक देहाध्यास वश यह मानता है कि मैं इस से मारा गया और मैं इसे मारने वाला हूं तब तक वह मरने वाला और मारनेवाला होता ही है क्योंकि उसने ज्ञान को अपने में क्रियान्वित नहीं किया है।।२२।।

श्री सुबोधिनी – यावदिति, यावदयं जीवः शास्त्रोत्पन्नज्ञानोपि हतोस्मि हन्तास्मीत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं वा मन्यते तावद् बाध्यबाधकतामियादेव, कर्मत्वे बाधकत्वमिति,* अक्रिय आत्मनि यथैव क्रिया मन्यते तथैव क्रिया प्राप्नोतीत्यर्थः, नन्वद्यिमानधर्मप्रतीतौ को हेतुस्तत्राहास्वदृगिति, न स्वस्मिन् दृष्टिर्यस्य, शास्त्रज्ञानं शास्त्रीयत्वेनैव जानाति न तु स्वविषयत्वेन, ततोपि किमत आह तावत्

[1] यहा श्री वल्लभजी महाराज कहते है कि काल, कर्म, स्वभाव एव भगवदिच्छा से सृष्टि होती है यह बात कंस नहीं मानता।

* **टिप्पणी** – बाध्यत्वमिति पाठः प्रतिभाति।

तदभिमानी भवतीति, स्वरूपे ज्ञाते देहाद्यध्यासो न भवति, अध्यासे पुनः स्वरूपाज्ञानमिति तदभिमान्यज्ञ एव भवति, अतो बाध्यबाधकभावः।।२२।।

व्याख्यार्थ – शास्त्र का ज्ञान होने पर भी जीव जब तक यह मानता रहता है कि मैं मारा गया और मैं मारने वाला हूं तब तक स्वयं दुःख भोगता है और दुसरों को दुःख देता है। 'हतोऽस्मि'' से व्यापार जन्य जो प्राणवियोगरूप फल का आश्रय कहने से बाध्य (मरने वाला) होता हैं और ''हन्तास्मि'' से व्यापाराश्रय कहने के बाधक (दूसरों को मारने वाला) माना जाता है। निष्क्रिय आत्मा में जैसी ही वह क्रिया मानता है, वैसी ही क्रिया को प्राप्त करता है। शङ्का करते हैं कि मिथ्या बाध्य बाधकत्व धर्म की प्रतीति में क्या कारण है तो कहते हैं कि उसे आत्मज्ञान नहीं है। यद्यपि शास्त्रीय ज्ञान उसे है तो भी वह उस ज्ञान का विषय नहीं बनता अर्थात् वह अपने में उस ज्ञान को क्रियान्वित नहीं करता इसलिये अपने को फलाश्रय और व्यापाराश्रय मानता है। ऐसा मानने से क्या होता है तो कहते हैं कि देहाभिमानी होने से वह अपने को मरनेवाला एवं मारनेवाला मानता है। यह सब कुछ आत्मज्ञान न होने से होता है। आत्मज्ञान होने पर तो देह आदि में अध्यास नहीं रहता और आध्यास के रहने पर मैं कौन हूँ यह ज्ञान नहीं रहता अर्थात् स्वरूपाज्ञान हो जाता है। शरीर का अभिमानी होने से ही वह अज्ञ है और उसे ही मैं ने मारा और मैं इससे मारा गया यह अज्ञान रहता है।।२२।।

श्री सुबोधिनी – एवं भवद्बालकानामस्माकं च कर्मवशात् सर्वं जातं भविष्यति च अतः शोको दण्डो वा न चिन्तनीयः परमतिक्रमदोषो मदीयः सोढव्य इति वदन् क्षमापनार्थं नमस्कारकरोति।

अर्थ – इस प्रकार आपके बालकों को कर्मवश फल मिला है और मुझे भी फल मिलेगा ही अतः आप पुत्रों का शोक न करें और मेरे लिये दण्ड का विचार न करें क्योंकि मुझे भी कर्मवश+स्वतः दण्ड मिल ही जायगा परन्तु मैं ने जो आप का अतिक्रमण किया है उसे सहन करें। इस प्रकार कहता हुआ वह कंस क्षमा चाहने के लिये देवकीजी वसुदेवजी को नमस्कार करता है।

श्लोकः – क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो दीनवत्सलाः।

। श्रीशुक उवाच ।

इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्रोरथाग्रहीत्।।२३।।

अर्थ – मैं ने जो बिना विचारे अन्याय किया है उसे क्षमा करें क्योंकि आप साधु होने से दीनों से प्रेम करने वाले है। श्री शुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार कह कर वह कंस, जिसके मुख तक आंसू आ रहे हैं, अपनी बहिन और बहनोई के पैरों में पड़ गया।।२३।।

श्री सुबोधिनी – क्षमध्वमिति, मम दौरात्म्यं क्षमध्वं, अविचारेणान्यायकर्ता दुरात्मा, अत आज्ञोल्लङ्घनं पुत्रमारणादिकं च यत् कृतं तत् सर्वं क्षमध्वं, महतां हृदयेऽनुशये स्थिते शोको भूयान् भवति, क्षमापनार्थं न किञ्चित् दातव्यं, यतः साधवो दीनेषु वत्सलाः, मम च दीनत्वमपकीर्तिनरकभाक्त्वेन, स्वस्य दैन्यं न केवलं वचनेन निरूपितं किन्तु रूपेणापि तदभिव्यक्ति कृतवानित्याहेत्युक्त्वाश्रुमुखो जात इति, आश्रूणि मुखे यस्य, विकलत्वात् प्रोञ्च्छनमपि न करोति, यद्ययमकर्तव्यमपि कनिष्ठभगिन्याः पादग्रहणं करोति तदान्यत् किं न कुर्याद् गृहीतधनादिदानं वातिरिक्तदानं वा ? स्वसृशब्दे नैव स्वसृतत्पती अभिधीयेते इति तद्सम्बन्धादेव वसुदेवस्य मान्यत्वात् साक्षात् तं प्रति नमस्कारेपि दोषाभावादेकस्या एव पादौ द्विवद्गृहीतवानिति ज्ञापयितुमेकशेषः एकशेषशास्त्रे "पुमान् स्त्रिये" त्यादिसूत्रेषु चतुर्षु तृतीया ज्ञापयति 'अप्रधानं न शिष्यते' इति, अन्यथा "स्त्रीपुरुषाभ्या" मितिप्रयोगो न स्यात् 'स्त्रीपुंभ्या' मित च, अत्रापि तद्भर्त्रा सहिता स्वसैवावशिष्यते, अथेति भिन्नप्रक्रमो दैत्यावेशस्य राजसभावस्य च त्यागार्थः।।२३।।

व्याख्यार्थ – मेरी दुरात्मता को क्षमा करें। जो बिना विचारे अन्याय करने वाला है वह दुरात्मा है। मैंने बिना विचारे अन्याय किया है इसलिये मैं दुरात्मा हूँ। इसीलिये मैंने आपकी आज्ञा का उल्लघ्ङ्न किया है और पुत्रों को मारने आदि कुकृत्य किये हैं। आप उन सबको क्षमा करें। महापुरुषों के हृदय में पश्चात्ताप रहने पर महान् शोक होता है अतः क्षमा करें। इसके लिये आपको कुछ देने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि आप साधु होने से दीनों से स्वतः प्रेम करने वाले हैं। मैं अपकीर्ति होने से नरकभागी हूँ अथवा यों कहिये कि मेरी अपकीर्ति है और मैं नरक भागी हूँ अतः दीन हूँ। इस प्रकार कंस ने वचन से ही दीनता नहीं दिखाई किन्तु स्वरूप से भी दीनता दिखाई। इस बात को बताने के लिये कहा कि "अश्रुमुखः" आंसू जिसके मुँह तक आ रहे हैं। यहां "अश्रुमुखः" पद से यह भी सूचित होता है कि अधिक विफल होने से आंसूओं को भी नहीं पूंछ सकने से मुँह पर आँसू ज्यों के त्यों दीख रहे हैं। कंस इस समय छोटी बहिन के भी पैरों को पकड़ कर अकर्तव्य अर्थात् छोटी बहिन के पैरों में बड़े भाई को नहीं झुकना चाहिये सो भी कर रहा है तो उनके छीने हुए धन को देना अथवा उससे भी

अधिक धन देना उसके लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं है। श्लोक में आये "स्वस्रोः" पद के विचार में कहते हैं कि स्वसृ शब्द से अभिधावृत्ति के द्वारा बहिन देवकी और वसुदेवजी नहीं कहे जा सकते क्योंकि पाणिनि का ऐसा सूत्र नहीं है कि स्वसृ और पति शब्द के समस्त होने पर एक शेष हो। यहाँ "स्वस्रोः" कहने का यह अभिप्राय है कि देवकीजी के सम्बन्ध से ही वसुदेवजी मान्य हुए हैं क्योंकि कन्या पक्ष वाले कन्या को ही मुख्यता देते हैं अतः उसकी मुख्यता बताने के लिये स्वसृ शब्द का ही निर्देश किया गया है। यद्यपि वसुदेवजी के मान्य होने से उनको भी साक्षात् प्रणाम करने में कोई दोष नहीं है तो भी कंस ने देवकी के पैरों को ही मानो दोनों के पैर समझ कर पकड़ा। इस बात को बताने के लिये यहां स्वसृ और पति शब्द का एक शेष किया है।[1] यद्यपि पाणिनि का कोई ऐसा सूत्र नहीं है जिससे यहां एक शेष हो परन्तु "पुमान् स्त्रिया" आदि चार सूत्रों में तृतीयान्त का ही निर्देश है। इससे सामान्यरूप से यह ज्ञापन करेंगे कि जो अप्रधान होता है वह विरूप होने पर भी नहीं रहता। यहां स्वसृ शब्द का अर्थ प्रधान है इसलिये अप्रधानार्थक पति शब्द नहीं रहा। यदि कहें कि तृतीया से यही कैसे समझ लिया तो कहते हैं कि यदि ऐसा नियम मान लेते हैं कि विरूप के एकशेष में स्त्रीवाचक शब्द के साथ कहा गया पुरुषवाचक शब्द ही शेष रहता है तो "स्त्रीपुरुषाभ्यां" और

---

[1] श्रीधर स्वामी ने यहा कहां है कि मिश्रित लक्षणा से स्वसृ शब्द के पति का भी अभिधान है अर्थात् अभिधा वृत्ति से स्वसृ शब्द से पति भी लिया गया है परन्तु पुरुषोत्तमजी महाराज इस का खण्डन करते है कि स्वसृ शब्द से अभिधा वृत्ति से पति का बोध नहीं हो सकता क्योंकि "स्वसृ" शब्द का पति अर्थ अभिधेय नहीं है किन्तु बहिन अर्थ हीं अभिधेय (वाच्य) है। यदि कहे कि द्वित्व विवक्षा में स्वसृ–स्वसृ–औ ऐसे मानने पर एक स्वसृशब्द अभिधा से बहिन को कहेगा और दूसरा स्वसृ शब्द लक्षणो से पति अर्थ को कहेगा तो कहते है कि ऐसी स्थिति मे एकशेष हो ही नहीं सकता क्योंकि वाचक और लक्षक का कहीं भी एक शेष नहीं देखा गया है। उपर्युक्त सब भाव को लेकर श्री सुबोधिनीजी में "नैव अभिधीयेते" ऐसा कहा है।

शङ्का होती है कि "श्यालःस्वस्रो" के स्थान पर "भाम स्वस्रो" ऐसा पाठ मानने से भाम पदसे बहिनोई लिये जाने से श्याला अर्थ अपने आप से लिया जायेगा तो न एकशेष का झगडा रहेगा और न श्याला अर्थ लेने मे ही अडचन आयेगी तो फिर उपर्युक्त पाठ न मान कर "श्यालः स्वस्रो" पाठ मानने मे व्यासजी का क्या आशय है तो कहते है कि यहां स्वसृ शब्द से ली गई बहिन प्रधान है, उससे बहिनोई भी ले लिये जायेगे। इसी आशय से व्यासजी ने ऐसा कहा है।

शका होती है कि समानरूप हो तो "सरूपाणां" सूत्र से एकशेष हो सकता है परन्तु स्वसृ और पति शब्द का सारूप्य न होने से एकशेष कैसे होगा तो कहते हैं कि यहा "स्वसा च पतिश्च स्वसारौ" ऐसा विग्रह मानना चाहिये। और पुमान् स्त्रिया आदि चार सूत्रो में आदि तृतीया से ज्ञापन करना चाहिये कि विरूप के एक शेष मे जो अप्रधान विवक्षित हो वह नही रहता। ऐसा मानने पर उपर्युक्त विग्रह करने पर दोष नही आता।

"स्त्रीपुंभ्यां" की जगह "पुरुषाभ्यां" "पुम्भ्यां" ये ही प्रयोग होंगे परन्तु ऐसी जगह पर ये ही प्रयोग नहीं देखे गये हैं किन्तु स्त्री पुरुषाभ्यां, स्त्री पुरभ्यांम्, ऐसे भी प्रयोग देखे हैं (इसलिये सामान्यरूप से यह ज्ञापन करना कि अप्रधान नहीं रहता परन्तु ऐसा मानने पर "स्त्रीपुंसौ" आदि प्रयोग नहीं होंगे। इससे यहां यह ज्ञापन होना चाहिये कि जहां दोनों की प्रधानता विवक्षित हो वहां विरूप में एक शेष नहीं होता जैसे स्त्री पुरुषाभ्यां स्त्रीपुंभ्याम् को एक शेष नहीं हुआ क्योंकि यहां दोनों ही प्रधान हैं और जहां एक अप्रधान रहे वहां एकशेष होता है। "जैसे स्वस्रोः" यहां एक का अप्राधान्य विवक्षित है इसलिये "स्वसृ" शब्द ही बाकी रहा। वैयाकरण जैसा लक्ष्य देखते हैं वैसा ही नियम बना लेते हैं क्योंकि 'लक्ष्यैकचक्षुष्कत्व' पक्ष को ही उन्होंने माना है अर्थात् वे जैसा लक्ष्य देखते हैं वैसा ही नियम बनाते हैं)

श्लोक में आये "अथ" शब्द का भाव यह है कि कंस अब कुछ और हो गया है क्योंकि अब उसमें कालनेमि का आवेश नहीं रहा और राजस भाव भी उसका निवृत्त हो गया।।२३।।

श्री सुबोधिनी – निरोधं च दूरीकृतवानित्याह

अर्थ – कंस ने देवकी वसुदेवजी को बन्धन से छुड़ा दिया यह बात अब कहते हैं।

श्लोकः – मोचयामास निगडान् विस्रब्धः कन्यकागिरा।
देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम्।।२४।।

अर्थ – अपना सौहार्द दिखाते हुए उस कंस ने योगमाया के वाक्य पर विश्वास कर अर्थात् देवकी वसुदेवजी निर्दुष्ट हैं ऐसा समझकर देवकी वसुदेवजी को लोह की श्रृख्ङ्ला से छुड़ा दिया।।२४।।

श्री सुबोधिनी – मोचयामासेति, निगडौ स्तंभबद्धावतो निगडान् मोचयामासेत्युक्तं, अर्थादुभावपि, तत् तु बन्धनागारं भवतीति न निगडदूरीकरणं, नन्वेतावक्षुब्धावाकाशवाणी च प्रमाणमत एताभ्यामेव किञ्चित् कापट्यं कृतमस्ति इति कथं न विचारितवांस्तत्राह विस्रब्धः कन्यकागिरेति, कन्यका या माया तस्या वचनं असत्यमपि संभाव्यते तथापि तत्रैव विश्वासं कृतवान्, "यत्र क्वचि" दिति। "कृपणा" मिति लिङ्ग.वचने देवक्या दोषाभावसूचके, वसुदेवेनैव तथा कृतत्वात्, अन्यथास्फूर्तिकर्तृत्वं तु मायायाः

सिद्धमेव, प्रथमतो देवकीं पश्चाद् वसुदेवं चकरात् तत्सम्बन्धिनश्च स्वय परिचर्यां कुर्वन्नात्मनः सौहृदं च दर्शयन् जातः।।२४।।

व्याख्यार्थ – वह बन्धन करने का स्थान था अतः दूसरों को बांधने के लिये शांकल की आवश्यकता होने से स्तंभ से बन्धी हुई शांकल को नहीं तोड़ा किन्तु उन्हीं को उससे छुड़ा दिया। शङ्का करते हैं कि इतना दण्ड देने पर भी देवकी वसुदेवजी के क्षुब्ध ने होने से तथा मारने वाले बालक के होने में आकाशवाणी प्रमाण होने से कंस ने यह क्यों नहीं समझ लिया कि वसुदेव देवकी ने ही कुछ कापट्य किया होगा तो कहते हैं कि "विश्रब्धः कन्यकागिरेति" उस कन्या की वाणी पर विश्वास करके ही उन्हें छोड़ दिया। यद्यपि वह कन्या माया है इसलिये उसके वचन असत्य भी हो सकते हैं तथापि उससे कन्या के वाक्य में ही विश्वास किया। पूर्व में जो "यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां वृथा" यह पद्यार्द्ध है उसमें आये "कृपणां" पद में स्त्रीलिङ्ग और एक वचन है इसलिये आकाशवाणी ने यह बता दिया कि देवकी का इस में कोई दोष नहीं है क्योंकि जो भी कुछ किया वसुदेवजी ने ही किया है यही माया का आशय था। माया का स्वभाव है कि वह अन्यथा स्फूर्ति करा देती है। कंस ने पहले देवकी को छोड़ा और पीछे वसुदेवजी को। साथ में उन्हें भी छोड़ दिया जो वसुदेवजी के सम्बन्धी थे। उस समय कंस स्वयं उनकी सेवा कर रहा है और अपना सौहार्द भी दिखा रहा है।।२४।।

श्री सुबोधिनी – प्रसादे प्रार्थिते ताभ्या प्रसादः कृत इत्याह

अर्थ – जब कंस ने उनकी प्रसन्नता चाही तो देवकी वसुदेवजी उस पर प्रसन्न हो गये अब इस बात को कहते हैं।

श्लोकः – भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षान्त्वा रोषं च देवकी।
व्यसृजद् वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह।।२५।।

अर्थ – भाई अधिक पश्चात्ताप युक्त देखकर देवकी ने उनके रोष को क्षमा कर दिया और अपने रोष को छोड़ दिया, वैसे ही वसुदेवजी एवं अन्य लोगों ने भी किया। आश्चर्य की बात तो यह है कि वसुदेवजी उससे हँसकर बोले।।२५।।

श्री सुबोधिनी – भ्रातुरिति, सम्यगनुतप्तस्य पश्चात्तापेन तप्तस्य तत्रापि भ्रातुः, सम्बन्धिरोषं क्षान्त्वा क्षमित्वा, क्षान्तरोषा वा, तत्कृतं पूर्वापराधं व्यसृजद् रोषं वा, पाठभेदात्, तदीयो रोषः सोढः स्वकीयं तु त्यक्तवती, कृतकार्यस्य तद्रोषस्य सहनं, अकृतकार्यस्य स्वकीयस्य परित्यागः, एवं वसुदेवश्च,

चकरादन्येऽपि, रोषमपराधं च क्षान्त्वा, यतो देवकी देवतारूपा, वसुदेवोऽपि तथा, तस्यास्तु शोकाभावो मुखप्रसादेनैवज्ञातः, वसुदेवस्तु गूढहृदय इति कदाचिदप्रसन्नोभवेत् इति आशंक्य हास्य वचन चाह प्रहस्य तमुवाचेति, हेत्याश्चर्य पुत्रमारकस्त्वसंभाष्य इति।।२५।।

व्याख्यार्थ – भाई पश्चाताप से सन्तप्त हुआ, भाई होने से सम्बन्धी है। सम्बन्धी के रोष को क्षमा करना चाहिये इस विचार से उस के रोष को क्षमा कर अथवा श्लोक में "क्षान्त्वा रोषं" की जगह 'क्षान्तरोषा" भी पाठ मान लेते हैं तो यह अर्थ होगा कि जिस ने रोष को सहन कर लिया है (दबा दिया है)। श्लोक में "क्षान्त्वा दोषं" भी पाठ हो सकता है। इस पाठ के मानने पर यह अर्थ होगा कि कंस के अपराध को क्षमा कर उस से किये गये पूर्व अपराध को मन में नहीं रखा। श्लोक में "रोषं" भी पाठ है इसलिये यह भी अर्थ होगा कि उस के किये हुए रोष को मन में नहीं रखा। देवकी ने कंस के रोष को सहन किया और अपने रोष को छोड़ा। जिस रोषने पुत्र मरवा दिये ऐसे कंस के रोष को सहन किया अर्थात् कंस का रोष ऐसा है जिस ने अपना कार्य कर दिखाया है, ऐसे कंस के रोष को सहन किया और जिससे कुछ भी कार्य नहीं किया ऐसे अपने रोष को छोड़ दिया। इसी प्रकार वसुदेवजी ने भी किया। श्लोक मे आये "च" कार का भाव यह है कि जिन २ को उस ने छोड़ा उन सब ने ऐसा ही किया। देवकी के रोष अथवा अपराध को क्षमा किया क्यों कि देवकी है अर्थात् देवतारूप है। वसुदेवजी भी ऐसे ही हैं। देवकी का शोक नहीं रहा यह उस के मुख की प्रसन्नता से जान लिया परन्तु वसुदेवजी पुरुष होने से गूढ़ हृदय है इसलिये कदाचित् ये अप्रसन्न हो ऐसे कंस के विचार को हटाने के लिये वसुदेवजी हँस कर बोले। इसी बात को "प्रहस्य तमुवाच" से कहा है। श्लोक में आया "ह" पद आश्चर्य अर्थ में है अर्थात् पुत्र मारने वाले से बात भी करना उचित नहीं है इसलिये वसुदेवजी को कंस से बोलना ही नहीं चाहिये था परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि ऐसे कुकृत्य करने वाले से भी बात की।।२५।।

श्री सुबोधिनी – तदुक्तं ज्ञानं तस्यैव हृदयारूढं भवत्विति तस्यानुमोदनं करोति।

अर्थ – कंस से कहा गया ज्ञान उसी के हृदय में जमे (स्थिर हो) इसलिये उसका अनुमोदन करते हैं।

। वसुदेव उवाच ।

श्लोक — एवमेतन्महाराज यथा वदसि देहिनाम्।

अज्ञानप्रभवाहन्धीः स्वपरेति भिदा यतः।।२६।।

अर्थ — वसुदेवजी कहते हैं कि हे महाराज कंस जैसा तुम कहते हो वैसा ही है क्योंकि प्राणियों को देह आदि में अहं बुद्धि अज्ञान से ही होती है और उसीसे यह अपना है यह दूसरे का है ऐसी भेद ृष्टि होती है।।२६।।

श्री सुबोधिनी — एवमेतदिति, महाराजेति सम्बोधनं मारणस्यादोषज्ञापनार्थं यत् त्वमात्थैवमेतत् तन्निष्पिण्डितमनुवदति देहिनामज्ञानप्रभवाहन्धीरिति, देहादावहम्बुद्धिरज्ञानादेव जायते, तस्मात् स्वपरेतिभिदा स्व पर इति, एतन्मूलक एव सर्वोपि व्यवहारः, देहिनामिति देहाध्यासवतां, अहङ्कारस्याज्ञनजनितत्वे देहाध्यासः प्रयोजक इत्यधिकारत्वेन निरूपितः अन्यथाज्ञानमहंबुद्धिः, तदज्ञानकृत, अन्यथा स्वरूपे भासमाने अन्यन्न भायात्।।२६।।

व्याख्यार्थ — वसुदेवजी ने कंस को हे महाराज इसलिये कहा है कि राजा दण्ड देता है परन्तु उसे मारने का दोष नहीं लगता इसलिये तुम्हें मेरे पुत्रों को मारने का दोष नही लगेगा। हे महाराज जैसा तुम कहते हो वही ठीक है। कंस के वाक्यों का सार वसुदेवजी कहते हैं कि देहाध्यासवालों को देह आदि में अहं बुद्धि अज्ञान से ही होती है और उसी से यह अपना है यह पराया है आदि सभी व्यवहार होते है। श्लोक में आये "देहिनां" का यह अर्थ है कि जिनको देहाध्यास है तात्पर्य यह है कि जिनको देहाध्यास है उनको अहंबुद्धि होती है। अहङ्क.ार अज्ञान से होता है इसमें देहाध्यास ही कारण है। इससे यह कहा गया कि जिसको देहाध्यास है वही अहंबुद्धि करने का अधिकारी होता है। देह में जो आत्मबुद्धि है वह अन्यथाज्ञान है और वही अहं बुद्धि है। अन्यथा ज्ञान अज्ञान से होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो आत्मा के भान में उससे भिन्न शरीर का भान कैसे होता। इसलिये यह समझना चाहिये कि अज्ञान से ही यह सब कुछ होता है।।२६।।

श्री सुबोधिनी — एवं तदुक्तं ज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेकोपयोगित्वेन निरूप्य स्वसिद्धान्तसिद्ध ज्ञान कृपयोपदिशति।

अर्थ – कंस ने बताया गया ज्ञान, यह वस्तु नित्य है और यह अनित्य है इस ज्ञान का उपयोगी है। ऐसा निरूपण कर वसुदेवजी अब कंस पर कृपा करते हुए अपने सिद्धान्त सिद्ध ज्ञान का उपदेश देते हैं।

श्लोकः – **शोकहर्षभयद्वेषलोभमोहमदान्विताः।**
मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भावं पृथग्दृशः।।२७।।

व्याख्यार्थ – वसुदेवजी कहते हैं कि जो लोग शोक, हर्ष, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं मद से युक्त हैं वे परस्पर में अर्थात् एक धर्म में प्रविष्ट होकर दूसरे धर्म को नष्ट कराते हुए भगवान् को नहीं देखते। कारण यह है कि वे लोग भगवान् में इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं मानते। वे मानते हैं कि इन्द्रियवाला जीव ही कर्त्ता हो सकता है निरिन्द्रिय भगवान् कर्त्ता नहीं हो सकता।।२७।।

श्री सुबोधिनी – शोकेति, अत्र वस्तुतः स्वयं न मारयतीति सत्यं, अस्वतन्त्रत्वात्, किन्तु केनचित् प्रेरितो मारयति, इतोपि मुख्यः सिद्धान्तो भगवानेव सर्वत्र प्रविष्टो मारयतीति शास्त्र, तस्य ज्ञाने जीवाना षड्धर्मा बाधकाः भगवत्प्रतिपक्षाः, शोक ऐश्वर्यस्य, स हि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः तत्कृतेऽर्थे कथ शोक. ? अन्यथा, अपेक्षितं स्वांशानामन्यो न नाशयेत्, हर्षश्च प्राप्तौ भवति, तद् भगवतो वीर्ये कालरूपे ज्ञाते न भवेत्, भयं च न भवेत् यदि भगवतो यशो जानीयात्, स ह्ययुक्तं न करिष्यति, अन्यथा यशो न स्यात्, द्वेषश्च च भवेल्लोभश्च यदि भगवदीयांश्रियं जानीयात्, द्वेषश्च स्त्रीकृतो भवति लोभश्च धनकृतः, तदुभयं भगवत एवेति न स्वस्य तथा कर्तुमुचितं, ज्ञाने भगवदीये ज्ञाते मोहाभावः प्रसिद्धः, मदस्तु वैराग्याभावात्, सर्वथैवाविरक्तो मत्तो भवति, अतोऽन्योन्यं मारयन्तमपि जना न पश्यन्ति, अन्यथैक एव घातकः स्यात् नन्वैकात्म्ये कथं वध्यघातकभावो भगवच्छास्त्रे उपपद्यते इति चेत् तत्राह भावैर्भावमिति, भवन्तीति भावा धर्माः, बाधकैर्धर्मैः बाध्या धर्मा एवापोह्यन्ते न तु धर्मी, ये हि भवन्ति ते नश्यन्तीति यथैकस्मिन् वस्त्रे शुक्लादयो धर्मा रञ्जकद्रव्यसम्बन्धादुत्पद्यन्ते विलीयन्ते च, परं बलीयस्त्वं नियामकं, यद्बाधार्थमेव यस्मिन् भावे भगवान् निविशति स तं भावं दूरीकरोतीति भवदादीनां करणत्वमेव न तु कर्तृत्व, न हि करणं क्वचिदुपालभ्यते स्तूयते वा, अदर्शने हेतुः, पृथग्दृशः इति, करणे संबद्धः एव कर्त्ता करणाच् चेत् पृथग् ज्ञायते करणं वा ततस्तदैवम्बुद्धिर्भवति न तु सर्वत्राविष्टं भगवन्तं ज्ञातवत्, अतो मत्पुत्रा अपि भगवतैव मारितास्त्वमपि मारणीय इति त्वयापि शोको न कर्त्तव्य इति भावः।।२७।।

व्याख्यार्थ – यहां यह बात तो वास्तविक है कि स्वयं देहधारी किसी को नहीं मारता क्योकि वह स्वतन्त्र नहीं है। वह तो किसी दूसरे से प्रेरित होकर ही मारता है।

इस से भी मुख्य सिद्धान्त यह है कि भगवान् ही अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र प्रविष्ट हो कर मारता है यह शास्त्र सिद्ध है। इस प्रकार के सिद्धान्त–प्रतिपादक शास्त्र के ज्ञान में भगवान् के छः धर्मों के बाधक जीव में छः धर्म विद्यमान हैं। जैसे भगवान् में ऐश्वर्य है उसका बाधक (उस से विपरीत) शोकरूप धर्म जीव में है। भगवान् करने, न करने और अन्यथा करने में समर्थ हैं। ऐश्वर्य होने से आप जो कुछ करते हैं समझ कर ही करते हैं। यह ज्ञान जीव को नहीं है इसलिये शोक करता है। यहां यह भी अभिप्राय हो सकता है कि जीव को यह भी समझना चाहिये कि भगवान् करने, न करने और अन्यथा करने में समर्थ है इसलिये मनुष्य के बुरा करने पर भी वह भला कर सकता है। ऐसा समझने पर जीव को शोक नहीं हो सकता। भगवान् ही सब कुछ करते हैं ऐसा नहीं मानते हैं तो यह कैसे हो सकता है कि भगवान् के स्वांशभूत जीवों की अपेक्षित वस्तु को दूसरा कोई नाश करे। यदि कोई स्वतन्त्ररूप से ऐसा करना चाहे तो उसका इस प्रकार का सामर्थ्य नहीं है और भगवान की इच्छा के विरूद्ध काम करने वाले को दण्ड भी मिल सकता है। भगवान ही नष्ट करते हैं ऐसे ऐश्वर्य के ज्ञान न होने से जीव को शोक होता है। जीव में जो हर्ष है वह भगवान् के वीर्य के विरूद्ध है। हर्ष किसी अत्यन्त अपेक्षित वस्तु के प्राप्त होने पर होता है। यह हर्ष जीव को तब न हो जब वह भगवान् के वीर्यरूप काल को जान ले। वह यह नहीं जानता कि जिस वस्तु की प्राप्ति पर मुझे हर्ष हो रहा है वह वस्तु भगवान् अपने वीर्यरूप काल से नष्ट कर सकते हैं। ऐसा समझता रहे तो जीव को हर्ष नहीं हो।[1] यदि जीव भगवान के यश को जान ले तो उसे भय कभी नहीं हो क्योंकि ऐसी दशा में उसे यह ज्ञान रहेगा कि वह भगवान् यश वाला है इसलिये अयुक्त कभी नहीं करेगा क्योंकि अयुक्त करने पर उनका यश नष्ट होता है इसलिये वे ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जिस से उन का यश नष्ट हो। अतः उसे भय नहीं करना चाहिये। जीव में द्वेष और लोभ तब नहीं हो जब जीव भगवान् की श्री को जानले। द्वेष स्त्रीकृत होता है और लोभ धन से होता है। यदि जीव

---

[1] भगवान् मे वीर्य है, वे सभी विपत्तियों को मिटा सकते हैं, यदि ऐसा समझलें तो किसी से भय नही हो परन्तु जीव मे भगवान् के वीर्य के विरूद्ध भय है इसलिये समझा जाता है कि वह भगवान् के वीर्य को नही जानता। (इस प्रकार) श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने भय को वीर्य के विरूद्ध बताया है और द्वेष को यश के विरूद्ध कहा है।

यह समझले कि सभी स्त्रियें श्री लक्ष्मी का अंश है तो भगवान् से उत्तम स्त्री प्राप्त हो सकती है, मुझे उस के लिये किसी से द्वेष नहीं करना चाहिये। भगवान् में लक्ष्मी के होने से धन भी उनकी कृपा से स्वतः प्राप्त हो जायगा तो फिर मुझे लोभ क्यों करना चाहिये। (अथवा यहा यह भी भाव हो सकता है कि सब कुछ वस्तु भगवान् की ही है, मुझे इसके लिये किसी से द्वेष एवं लोभ नहीं करना चाहिये) भगवान् के ज्ञान को समझले तो जीव को कभी मोह नहीं हो। जीव में वैराग्य के विरूद्ध मद है। मद तो वही करता है जिस में वैराग्य लेश भी नहीं होता। इस प्रकार भगवान् के धर्मों के विरूद्ध जीव मे ये धर्म हैं। अतः वह हर्ष शोक आदि करता है और उसके रहते हुए उसे भगवान् का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः भगवान् ही परस्पर में नष्ट कराते हैं यह बात मनुष्य नहीं विचारते है। यदि जीव यह जान जाय कि मरने वाला मारने वाला वही है तो एक ही मरने वाला और मारने वाला होने से किसी से वह द्वेष आदि नहीं करें। यदि कहे कि मारने वाला मरने वाला एक ही है तो यह मारता है यह मरता है इस प्रकार का व्यवहार भगवच्छास्त्र मे कैसे उत्पन्न होगा तो कहते हैं कि धर्मों से धर्मों का ही नाश होता है, धर्मी का नाश नहीं क्योंकि यह नियम है कि जो पैदा होते हैं वे ही नष्ट होते है। श्लोक में भाव शब्द का यही अभिप्राय है कि जो पैदा होते हैं वे भाव कहलाते हैं और वे हैं धर्म। जैसे एक वस्त्र में श्वेत आदि धर्म रंगने वाले द्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते है। नष्ट वह करता है जो बलवान् होता है। भगवान् जब अमुक धर्म को दबाने के लिये अमुक धर्म में प्रविष्ट होते हैं तो जिस धर्म में वे प्रविष्ट होते हैं वह धर्म बलिष्ठ होने से अन्य धर्म को तिरोहित कर देता है। इसलिये वसुदेवजी कहते हैं कि हे कंस! तूं तो मेरे बच्चों को मारने में घटनिर्माण में दण्ड की तरह करण ही है कर्ता नहीं है। क्रिया करने में जो करण होता है उसे कोई उपालंभ नहीं देता और न उस की कोई स्तुति करता है। यदि वह कर्ता होता तो उपालंभ एवं स्तुति के योग्य होता परन्तु यह सब कुछ ज्ञान इसलिये नहीं होता कि वह यह समझता है कि इन्द्रिय आदि से सम्बन्ध रखने वाला जीव ही कर्ता होता है, भगवान् तो इन्द्रिय सम्बन्ध वाला नहीं है इसलिये भगवान् कर्ता नहीं है जीव ही कर्ता है यह बुद्धि होती है। इन्द्रिय वाला कर्त्ता करणं के पृथक् है और करण कर्ता से भिन्न हैं ऐसा समझने वाला

इस प्रकार की बुद्धि करता है। जो भगवान् को सर्वत्र आविष्ट मानता हैं उसकी बुद्धि दूसरा मारता है ऐसा नहीं होकर यही बुद्धि होती है कि भगवान् ही सब कुछ करते हैं तो ऐसी दशा में वह किसी को दोष नहीं देता। वसुदेवजी कहते हैं कि मैं तो यह समझता हूं कि भगवान् ने ही मेरे पुत्रों को मारा हैं और तुझे भी वे ही मारेगे अतः तुझे भी अपने मरने का शोक नहीं करना चाहिये।।२७।।

श्री सुबोधिनी – एव मायाकृतं ज्ञापन सकार्य निरूप्योपसंहरति।

अर्थ – इस प्रकार माया ने जो कहा था कि तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया तूं इस दीन देवकी को व्यर्थ न मार, इस कथन का कार्य देवकी वसुदेवजी को छुडाना था। उस का निरूपण कर अब इस प्रसङ्ग. को समाप्त करते हैं।

।। श्रीशुक उवाच ।।

श्लोकः – कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं परिभाषितः।
देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातोविशद् गृहम्।।२८।।

अर्थ – श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे परीक्षित्! इस प्रकार अपने सिद्धांत के कहने से प्रसन्न दिखाई देने वाले वसुदेवजी ने जब विशुद्ध भाव से कंस को कहा तो कंस उन की अनुमति लेकर अपने महल में चला गया।

श्री सुबोधिनी – कंस इति, एव प्रसन्नाभ्यां स्वसिद्धान्तकथनेन सम्यक् प्रसादो लक्षित, विशुद्ध परिभाषित इति, राजन्निति सम्बोधनेन तदुक्तानुवादेन च निरूपितौ, एकस्यैव वचन निरूपितमिति देवक्या अप्रसादशङ्का वारयितुमुभयोर्ग्रहणं, अतस्ताभ्यामनुज्ञातः प्रतीकारमकृत्वा गृहमेवाविशत्।।२८।।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार प्रसन्न होते हुए देवकी – वसुदेवजी ने अपना सिद्धान्त कहा तो कंस ने यही समझा कि मुझे ये कर्त्ता न मानकर करण हो मान रहे हैं इसलिये मेरे पर प्रसन्न ही हैं। यह बात "एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं परिभाषितः" से कही है। पूर्व के २६ वें श्लोक में हे महाराज ऐसा कहने से और कंस की बात का अनुवाद कर उसका समर्थन करने से कंस ने यही समझा कि देवकी वसुदेवजी प्रसन्न हैं परन्तु ये वचन वसुदेवजी ने ही कहे हैं, शायद देवकी अप्रसन्न होगी इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक में "देवकी वसुदेवाभ्यां" ऐसा कहा। देवकी वसुदेवजी की आज्ञा लेकर उस समय उत्पन्न हुए बच्चे के मारने के लिये कुछ भी प्रतीकार न कर वह कंस अपने महल में चला गया।।२८।।

श्री सुबोधिनी – एवं मायाकार्यं भगवत्प्रेरणया कृतं निरूप्य स्वतन्त्रतया तत्कृतं निरूपयितुमाह तस्यामिति यावदध्यायपरिसमाप्तिः।

अर्थ – इस प्रकार भगवान् की प्रेरणा से वसुदेवजी एवं देवकी को छुड़ाना रूप जो माया का कार्य है उसका निरूपण कर माया ने स्वतन्त्रतया जो कुछ किया उसका निरूपण करने के लिये "तस्यां रात्र्यां" से इस अध्याय की समाप्ति तक कहते हैं।

श्लोकः – तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः।
तेभ्य आचष्ट तत्सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया।।२६।।

अर्थ – उस रात्रि के बीत जाने पर कस ने मन्त्रियों को बुलाया और जो योगमाया ने कहा था वह सब वृत्तान्त कंस ने उसको सुनाया।।२६।।

श्री सुबोधिनी – यदीदं न कुर्यादवध्य एव स्यात्, तच्च देवानामनिष्टमिति देवतामाया तत्कार्यं कृतवती, असुराणा वा भगवद्रूपा तेषां मुक्त्यर्थं तान् स्वधर्मनिष्ठान् कृत्वा सर्वशास्त्रविरोधिमोक्षं सम्पादयतीति तथाकथा, राजधर्मा हि अनुल्लङ्घनीया यथा पूर्वमविचारेण कृतं तदन्यथा जातमतः परं विचारेण कर्तव्यमिति विचार्य मन्त्रिण आहूय विचारार्थं पूर्ववृत्तान्तमुक्तवानित्याह तस्यामिति, ज्ञानस्य जातत्वात् कार्यस्य विलबसहिष्णुत्वाच्च तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामित्युक्तं, मन्त्रिणोऽपि तामसस्य तामसा एवेति तन्नाम्ना ज्ञापितं, देवक्यादौ विनयो यः कृतः स तु नोक्तः, योगनिद्रया यदुक्तं तत्सर्वमाचष्ट यथा कंसो विवेकरहितस्तथा तन्मन्त्रिणोऽपि।।२६।।

व्याख्यार्थ – यदि माया स्वतन्त्रता से अर्थात् भगवान् की प्रेरणा के बिना आगे कहे गये कार्य को कंस से न कराती तो वह मरता ही नहीं। उसका न मरना देवताओं को इष्ट नहीं था, वे तो यही चाहते थे कि किसी भी रूप में यह कंस उग्र पाप में निरत हो जाय तो जल्दी मरे, इसलिये देवमाया ने ऐसा कार्य कराया अर्थात् उसे आगे कहे जाने वाले पाप में प्रवृत किया अथवा यों कहिये कि "मायेत्त्यसुराः" इस श्रुति के अनुसार दैत्यों का उपास्य भगवान् माया ही है। इसलिये उनके मायारूप भगवान् ने उन्हें मुक्ति देने के लिये राक्षसों का जो बच्चे आदि मारना स्वधर्म है उसमें लगाया अर्थात् ऐसा कार्य कराने में माया का यही आशय रहा कि यदि ये दैत्य क्रूर कार्य करेंगे तो भगवान् के हाथ से मरने से मुक्त हो जायेंगे। जो स्वधर्म का पालन करता है वह मुक्त हो जाता है इसलिये मायारूप भगवान् ने उनसे स्वधर्म जो क्रूर धर्म है उन्हें कराया और सब शास्त्रों के विरोधी मोक्ष को दिलाया इसलिये ऐसा कहा है। शङ्का करते है कि दैत्य बहुत से थे, वे एकमत होकर स्वधर्म में निरत कैसे हुए तो कहते हैं कि राजा जिन

धर्मों को अपनाता है वे सब के लिये पालनीय हो जाते हैं। अतः वे सब ऐसे क्रूर कर्म में प्रवृत्त हुए। क्योंकि जैसा कंस है वैसे उसके मंत्री भी दुरात्मा हैं। कंस ने विचार किया कि मैं ने पहले बिना विचारे बच्चों को मारा यह ठीक नहीं किया अब आगे विचार कर ही काम करना चाहिये। इस विचार से उसने मन्त्रियों को बुलाया और उनसे विचार लेने के लिये पहले जो कुछ भी हुआ कहा। कंस ने देवकी वसुदेवजी से अलग होते ही उसी क्षण में प्रतिकार का विचार क्यों नहीं किया तो कहते हैं कि उसे योगमाया से यह ज्ञात हो गया कि मेरा मारने वाला पैदा हो गया और उसके समर्थ होने में अभी विलंब है इसलिये उसने एक रात्रि को बीतने दी, कस के मन्त्री भी तामस थे क्योंकि तामस राजा के तामस मत्री होते हैं। यह बात श्लोक में दिये गये कस पद से बताई गई। कंस ने उनके सामने यह नही कहा कि मैं ने देवकी वसुदेवजी से विनय किया था, उसने तो वही बात कही जो जोगमाया ने कही थी। कंस जैसे विवेक रहित था वैसे ही उसके मन्त्री भी विवेक रहित थे।।२६।।

श्री सुबोधिनी – तेषां दौरात्म्यमाह।

अर्थ – अब मन्त्रियों की दुष्टता को कहते हैं।

श्लोकः – **आकर्ण्य भर्तृगदितं तमूचुर्देवशत्रवः।**
देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः।।३०।।

अर्थ – अपने स्वामी के वचनों को सुनकर देवताओं के शत्रु तथा देवताओं पर क्रोध करने वाले वे दैत्य जो पूर्णतया नीति में कुशल नहीं थे कंस से बोले।।३०।।

श्री सुबोधिनी – आकर्ण्येति, भर्तुः कंसस्य गदितमाकर्ण्य श्रुत्वा विचार्य च तं प्रत्यूचुः एतेषां कसरक्षाया न कापि बुद्धिः किन्तु देवद्वेष करणेऽवसरो जात इति हृष्टा इत्याह देवशत्रव इति।।३०।।

व्याख्यार्थ – अपने स्वामी कंस से कही गई बात को सुन कर और विचार कर कंस से मन्त्री बोले। दैत्यों की यह बुद्धि नहीं थी कि कंस की रक्षा हो किन्तु देवताओं से द्वेष करने का मौका मिल गया इससे वे प्रसन्न हुए यही बात "देवशत्रवः" से श्लोक में कही है।।३०।।

श्री सुबोधिनी – प्रथमतः स्वबुद्ध्या निश्चतं प्रतीकारमाहु ।

अर्थ – पहले वे दैत्य अपनी बुद्धि से निश्चित किये गये प्रतीकार को कहते हैं।

| दैत्या ऊचुः |

श्लोक – **एवञ्चेत् तर्हि राजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु।**
अनिर्दशान्निर्दशाँश्च हनिष्यामोद्य वै शिशून्।।३१।।

अर्थ – दैत्यों ने कहा कि हे राजाओं के स्वामी कंस। आज ही हम शहरों में, छोटे गांवों में, व्रज आदि में हुए बालकों को जो दश दिन के भीतर के हैं अथवा जो दश दिन के ऊपर के हैं मारेंगे।।३१।।

श्री सुबोधिनी – एवञ्चेदिति, यदि क्वचिद् बालक एव जातः स तु मासमध्ये जातो भविष्यतीत्यनिश्चयेऽपि सर्वानेव बालकान् मारयिष्यामः, ते बालकाः पुरस्था ग्रामस्था व्रजस्था वा भवन्तु, तरतमभावनिरूपणार्थं त्रयाणां ग्रहणं, अस्माकं तु न विलम्बः, तदाहाद्येति राजेन्द्रेति सबोधनमाज्ञापनार्थं, न निर्गतानि दशाहानि येषां ते निर्दशाः अतिबालका निर्दशास्त्वतिक्रान्तदशाहाः, उभयानपि विशेषाकारेण सर्व एव वयं हनिष्यामः, अत्र सन्देहो नास्तीति हिशब्दः दैत्यगृहेष्वपि स्वसम्बन्धिष्वपि जाता हन्तव्या इति, राजा चेद् भगिनीपुत्रा मारिता अन्यैरपि स्वकीया अपि मारणीया इति तैर्ज्ञातं अन्यथा प्रभुर्न वदेदिति।।३१।।

व्याख्यार्थ – कंस के मन्त्री कहते हैं कि यदि ऐसा ही है तो आप के मारनेवाला कहीं पैदा हुआ होगा तो एक मास के भीतर ही पैदा हुआ होगा ऐसा निश्चय न होने पर भी हम सभी बालकों को मारेंगे। ये बालक सुर के हों ग्राम के हों अथवा व्रज के हों, हम मारे बिना नहीं छोड़ेंगे। शहर में बालक ज्यादा मिलते हैं उससे न्यून ग्राम में और उससे कम व्रज में। इसीलिये श्लोक में क्रम से पुर ग्राम एवं व्रज का निर्देश किया है। श्लोक में आये "अद्य" पद का स्वारस्य यह है कि हमें इसमें कोई विलंब नहीं होगा। राजेन्द्र इस सम्बोधन का यह आशय है कि तुम राजाओं में प्रधान हो इसलिये हमें आज्ञा दे सकते हो। हम उन सब बच्चों को जो दश दिन के भीतर के हैं अथवा दश दिन से ज्यादा उम्र के हैं उन सबको विशेषरूप से मारेंगे। श्लोक में आया "हि" शब्द निश्चयार्थक हैं अर्थात् यह आप निश्चयरूप में समझें, इसमें सन्देह की कोई बात नहीं है। हम उन बालकों को भी मारेगे जो हमारे सम्बन्धी दैत्यों के घर में पैदा हुए हैं। दैत्यों ने यह समझा कि राजा कंस ने जब बहिन के पुत्र भी मार दिये तो दूसरों को भी अपने सम्बन्धियों के पुत्र भी मारने चाहिये। यदि कंस अपनी बहिन के पुत्रों को नहीं मारता तो वह यह समझाता कि जब मै बहिन के पुत्रों को नहीं मारता हूं तो ये दैत्य भी

मेरी बात को नहीं मानेंगे। जब उसने स्वयं ऐसा किया तो यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार प्रजा होने से दैत्यों को भी यह गर्हित कार्य करना उचित हो गया। स्वयं कंस ने ऐसा कार्य किया है इसलिये आज्ञा देने में वह निःशङ्क, था अन्यथा आज्ञा ही नहीं देता।।३१।।

श्री सुबोधिनी – एवं स्वकृत्यमुक्त्वा तस्य भयाभावार्थं तं प्रोत्साहयन्ति किमुद्यमैरितिषड्भिः, यथा भगवतः षड्गुणास्तथा तव षड्गुणाः

कारिका – सामर्थ्यं च जयश्चैव दीनत्वं च दया यथा।
शत्रूणामल्पता चैव राजनीतिस्तथैव च।।१।।

आभास – यदि बालका हन्यन्तेऽन्यमुपायं करिष्यन्ति देवा इत्याशङ्क्याहुः

अर्थ – इस प्रकार दैत्य अपना कर्त्तव्य कह कर कंस को भय न हो इस के लिये "किमुद्यमैः" आदि छः श्लोकों से उसे प्रोत्साहित करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे भगवान् में छः गुण हैं वैसे ही आप में भी छः गुण हैं। यहाँ "किमुद्यमैः करिष्यन्ति" इस श्लोक से कंस के सामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया है अथवा यह भी कह सकते हैं कि इस श्लोक से देवताओ में कितना सामर्थ्य है इसका निरूपण है। "अस्यतस्ते शरव्रातै" में कंस के जय का निरुपण है। और "केचित्प्रांजलयो भीताः" से देवताओं की दीनता कहीं गई है, "न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान्" से कंस की दया बताई; "कि क्षेमशूरैः" से देवताओं को तुच्छ बताया और "किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण" से राजनीति का वर्णन किया गया। इस प्रकार "किमुद्यमैः" से लेकर छः श्लोकों से क्रमशः सामर्थ्य, जय, दीनता, दया, शत्रुओं की अकिञ्चत् करता तथा राजनीति का वर्णन किया गया है। दैत्य कहते हैं कि यदि आप यह कहें कि तुम यदि बालकों को मारोगे तो देवता अन्य उपाय कर लेंगे तो कहते हैं कि :–

श्लोकः – किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवाः समरभीरवः।
नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव।।३२।।

अर्थ – देवताओं के उद्योगमात्र से क्या हो सकता है। युद्ध में डरने से वे क्रिया तो कर ही नहीं सकते। उन्हें भय होने के कारण यह है कि तुम्हारे धनुष के टङ्कार से वे उद्विग्न रहते हैं।।३२।।

श्री सुबोधिनी – किमुद्यमैरिति, उद्यममात्र तेषां न तु क्रियासामर्थ्यं, यत समरे भीरव संग्रामं दृष्ट्वै बिभ्यति, तथा भये तेषां निमित्तमाह नित्यमुद्विग्नमनस इति, अयं हि दिग्विजये सर्वानेव मारितवान्, इन्द्रोऽपि भीत. पलायितः, ब्रह्मादयोऽपि लीनाः, धृत्वा च देवान् यातनां प्रापयति, अतो यद्यन्यार्थमपि धनुष्टङ्कारं कुर्यात् तथापि देवा उद्विग्नमनसो भवन्तीति नित्यमुद्विग्नमनसः, तवेति सम्मत्यर्थं निरूपितम्।।३२।।

व्याख्यार्थ – देवता उद्योगमात्र करेंगे, उनमें क्रिया करने का सामर्थ्य नहीं हैं क्योंकि वे संग्राम को देखकर ही डरने वाले है। उनको ऐसे भय होने के कारण यह है कि नित्य ही उद्विग्न मनवाले रहते हैं। पहले कंस ने दिग्विजय करने के समय सबको मार दिया था, इन्द्र भी डर कर भाग गया था, ब्रह्मा आदि देवता भी भय के कारण छिप गये थे, बाकी रहे सभी देवताओं को पकड़ कर आप यातना दे रहे हैं इस कारण से दूसरे के लिये भी जब आप धनुष का टङ्कार करते हैं तो देवता उद्विग्न मनवाले हो जाते हैं। श्लोक में आये "तव" पद का अभिप्राय यह है कि तुम्हें इस का अनुभव है इसलिये हमारा कहना ठीक है न।।३२।।

श्री सुबोधिनी – धनुष्टङ्कारमात्रेणैवोद्वेगे पूर्ववृत्तान्तं हेतुत्वेनाह।

अर्थ – तुम्हारे धनुष के टङ्कार से ही देवताओं को उद्वेग हो जाता है इसमें पूर्ववृत्तान्त को हेतु बताते हुए कहते हैं कि :–

श्लोकः – **अस्यतस्ते शारव्रातैर्हन्यमानाः समन्ततः।**
जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः।।३३।।

अर्थ – जब आप बाणवर्षा करते हैं तब बाणों के समूह से चारों ओर से मारे जाते हुए जीवन की इच्छा रखने वाले वे देवता धर्म और युद्ध को छोड़ कर भगने लगते हैं।।३३।।

श्री सुबोधिनी – अस्यत इति, अस्यतः शरान् क्षिपतस्ते सतः सम्मुखमनागता अपि तैः क्षिप्तैरेव शरव्रातैः सर्वतो हन्यमानः सञ्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गा जिजीविषवो भूत्वा धर्मं संग्रामं चोत्सृज्य पलायनपरा सन्तो ययु, देशस्याविवक्षितत्वाद् यत्र क्वापि, ये तु दूरस्थास्ते पलायिता।।३३।।

व्याख्यार्थ – बाण चलाते हुए तुम्हारे सामने नहीं आये भी देवता उन चलाये हुए बाणों से जिन के सब अङ्ग. छिन्न भिन्न हो गये हैं वे जीवन की इच्छा रख धर्म और संग्राम को छोडकर भागने लगते हैं। श्लोक में अमुक देश विवक्षित न होने से जहां

कहीं भागने लगते हैं ऐसा ही हम कह सकते हैं अर्थात् अमुक देश में ही गये यह निश्चित रूप से हम नहीं कह सकते। और जो देवता आप से दूर थे वे भय के मारे ही भाग गये।।३३।।

श्री सुबोधिनी – येऽपि निकटस्थास्तेऽपि जिजीविषवो भूत्वा पलायनासंभवादुपायान्तर कृतवन्त इत्याहु।

अर्थ – जो देवता पास ही थे वे भाग नहीं सके, उन ने जीने की इच्छा से दूसरा उपाय किया, इस बात को कहते हैं –

श्लोकः – **केचित् प्राञ्जलयो भीता न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः।**
मुक्तकच्छशिखाः केचिद् भीताः स्म इति वादिनः।।३४।।

अर्थ – कुछ देवता जिन ने शस्त्र डाल दिये हैं, जो डरे हुए हैं और जिन की चोटी ए॰ कच्छ खुल गये हैं हाथ जोड़ कर आप के सामने खड़े हैं और कुछ यह कह रहे हैं कि हम भयभीत हैं हमारी रक्षा करो।।३४।।

श्री सुबोधिनी – केचिदिति, प्राञ्जलयः, स्तोतुमिव प्रवृत्तानां कायिक्यवस्था प्रदर्शिता, भीता इत्यन्तः करणस्य, त्यागे न हन्यत इति शास्त्रार्थपरिपालनाय न्यस्तशस्त्रा, तर्हि तेषा कथ स्वधर्मत्यागे स्वर्गो भविष्यतीत्याशङ्क्याहुर्मुक्तकच्छशिखा इति, मुक्ताः कच्छाः शिखाश्च येषा परमापदा वैकल्य तेषामुक्तं, आपदि स्वधर्मास्त्यक्तुं शक्यन्ते, येषां पुनर्देवगत्या मुक्तकच्छशिखात्वं न जात तेषां का गतिरिति चेत् तत्राह केचिद् भीताः स्म इति वादिन इति, शरीरे भीतकार्यस्यादर्शनान्मुखत एव भीता वयमित्याहुः।।३४।।

व्याख्यार्थ – कोई देवता नम्रता से हाथ जोड़कर मानो स्तुति करने की तरह खडे हैं। श्लोक में आये "प्राञ्जलयः" से उनके देह की अवस्था कही। भय अन्तः करण में होता है इसलिये "भीताः" पद से अन्तःकरण की अवस्था कही। शस्त्र छोड़ देने पर शत्रु को नहीं मारना चाहिये इस शास्त्र की आज्ञा से कंस हमें नहीं मारेगा इसलिये देवताओं ने शस्त्र अस्त्र छोड़ दिये। यहां शङ्का होती है कि यदि देवताओं ने शस्त्र अस्त्र छोड़ दिये तो वे स्वधर्म त्याग से स्वर्ग में कैसे रहेंगे तो कहते हैं कि "दिवौकसः" देवता इस समय ऐसे हैं कि स्वर्ग में उनका केवल स्थान है वे वहां के भोग नही कर पाते। शङ्का होती है कि देवताओं ने अपने धर्म का त्याग कर अयुक्त कार्य कैसे किया तो कहते हैं कि "मुक्तकच्छशिखाः" कच्छ एवं शिखा खुलने से वे परम आपत्ति से विकल

हो गये। आपत्काल मे अपने धर्म छोड़े जा सकते हैं अर्थात् आपत्ति के समय यदि अपने धर्म का त्याग हो जाता है तो कोई दोष नहीं है। उन में कुछ ऐसे हैं जिनकी दैवगति से कच्छ शिखाएँ नहीं खुली वे कह रहे हैं कि हम भयभीत हैं। शरीर में डरे हुए का कार्य नहीं दीखने से मुख से ही वे कह रहे हैं कि हम डरे हुए हैं।।३४।।

श्री सुबोधिनी – ननु ये वध्यास्ते सर्वथैव वध्या इति वचनेऽपि किं स्यात् तत्राहुः

अर्थ – यदि कहें कि जो मारने योग्य हैं वे किसी भी रूप में उपस्थित हों मारने योग्य ही होते है तो हम डरे हुए हैं ऐसा कहने पर भी क्या होगा तो कहते हैं कि :–

श्लोकः – न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विरथान् भयसन्नतान्।
हंस्यन्यासक्तविमुखान् भग्नचापानयुध्यतः।।३५।।

अर्थ – जो भय के मारे शस्त्र अस्त्र भूल गये हैं, रथ हीन हैं, भय से शरणागत हैं, अन्य कार्य में आसक्त होकर युद्ध से विमुख हैं अथवा जो अन्यासक्त हैं और युद्ध से विमुख हैं, जिनके धनुष टूट गये हैं और जो युद्ध न कर दर्शक के रूप में उपस्थित हुए हैं उन्हें तुम नहीं मारते।।३५।।

श्री सुबोधिनी – न त्वमिति, सङ्ग्रामधर्मस्त्वया न त्यज्यतेऽतो ये देवा विस्मृतशस्त्रास्त्रा भयात्, शस्त्राणि धृत्वा यैर्मार्यते अस्त्राणि दूरात्, मन्त्रयुक्तानि वा, भयादुभयविधान्यपि विस्मृतानि, विगतो रथो येषा, सारथ्यादीना वधात् "प्रपन्न विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवि" दितिवाक्याद् विरथोप्यवध्यः, भयेन सम्यङ्नता शरणागताः, प्रसंगादन्यानप्याहान्यासक्तविमुखान्, अन्यासक्ताश्च ते विमुखाश्चोभयविधा वा भग्नचापानयुध्यतः, निरीक्षकान् न हंसीति सम्बन्धः, एते षड्विधाः सप्तविधा वा न हन्तव्याः, अतस्त्वया स्वधर्मे परिपाल्यमाने पूर्वन्यायेन देवा जीविता इति भाव।।३५।।

व्याख्यार्थ – संग्राम के धर्म को आप नहीं छोड़ते अतः जो देवता भय से शस्त्र एवं अस्त्रों को भूल गये हैं उन्हें आप नहीं मारते। शस्त्र वे होते हैं जो हाथों से पकड़ कर चलाये जाते हैं और अस्त्र वे हैं जो दूर से चलाये जाते हैं। अथवा यों कहिये कि जो मन्त्र से चलाये जाते हैं वे अस्त्र हैं। जो देवता इन दोनों को भय से भूल गये हैं उनको तथा जो सारथि घोड़े आदि मरने से रथ रहित हो गये हैं उन्हें "प्रपन्न विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्" वाक्य के अनुसार आप नहीं मारते। उपर्युक्त वाक्य का अर्थ यह है कि जो शत्रु शरणागत रथ रहित और डरा हुआ हो उसे धर्म जानने वाले नहीं मारते। इससे यह बताया कि रथ रहित शत्रु को भी नहीं मारना चाहिये। और जो भय

से शरणागत है उन्हें भी नहीं मारना चाहिये। यहां प्रसंग से दूसरों को भी कहते हैं कि जो अन्यासक्त होकर युद्ध से विमुख हो गये हैं अथवा यहां यह भी कहा जा सकता है कि जो अन्यासक्त हैं और युद्ध से विमुख हैं, जिनके धनुष टूट गये हैं और जो युद्ध न कर दर्शक के रूप मे उपस्थित हुए हैं उन्हें तुम नहीं मारते। ऊपर कहे गये छः प्रकार के अथवा अन्यासक्त एव विमुख को भिन्न २ मानते हैं तो सात प्रकार के होते हैं इन्हें नहीं मारना चाहिये। अतः "प्रपन्नं विरथं भीतं इस न्याय के अनुसार स्वधर्म के पालन से देवता जीवित रहे हैं।।३५।।

श्री सुबोधिनी – एव साधारणानामप्रयोजकत्वमुक्त्वा महतामप्याह।

अर्थ – इस प्रकार साधारण देवता आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते ऐसा कह कर महान् भी आपका कुछ नहीं बिगाड सकते यह कहते हैं।

श्लोकः – **किं क्षेमसूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः।**
रहोजुषा किं हरिणा शंभुना वा वनौकसा।।३६।।

अर्थ – देवता वहीं वीर बनते हैं जहां अपने अकल्याण की संभावना न हो। वे रण के बाहिर बड़ी २ डींग मारने वाले हैं। उनसे तथा एकान्त में रहने वाले हरि भगवान् से वनवासी शंकर से अपना क्या बिगाड़ हो सकता है।।३६।।

श्री सुबोधिनी – कि क्षेमशूरैरिति, येपि वाय्वग्निवरुणादयः शूरा प्रसिद्धास्तेपि क्षेमसूरा एव, क्षेमे सति गृहे भार्यायां वा शूरा यत्राक्षेमशङ्कैव नास्ति, न हि भार्या पतिं मारयिष्यतीति संभावना, यत्र पुनः संभावना मारयिष्यतीति तत्र पलायनमेव, एतदर्थपरिज्ञानादेव विबुधाः एतच्छारीरशौर्यं तेषा निरूप्य वाचनिकं शौर्यं निरूपयन्त्यसंयुगविकत्थनैरिति, विकत्थनं स्वशौर्याविष्करणवाक्यं, तदपि न संयुगे, केनापि सह यदा न युद्धसंयोगस्तदैव विकत्थनं, एवं देवान् दूषयित्वा मुख्यांश्चतुर आहु, अस्ति हरिः शूरः, पर कस्यापि स सम्मुखो न भवति, यस्त्वेकान्ते तदेकपरस्तिष्ठति हरिरपि तस्य संमुखो भवतीति स्तुतिपक्षे यथाश्रुतमेव, पक्षान्तरे स्त्री तुल्यता निरूपिता, हरिणेति, सर्वदुःखनिवारकत्वं निरूपितं, यतो दुःखितेष्वेव शौर्यादिरहितेषु नस्याविर्भावो निरूपितः अस्ति च त्रिपुरान्तकः शूरः, सोपि सर्वदा वनवासी तपस्वी, न हि वनस्थस्तपस्वी कस्यचिद् द्विष्टो भवति, असमत्वात्।।३६।।

व्याख्यार्थ – जो भी वायु, अग्नि, वरूण आदि प्रसिद्ध शूर हैं वे जब तक कल्याण रहे तभी तक शूर हैं, अथवा यों कहिये कि घर में एवं भार्या के सम्मुख ही शूर बनते हैं, जहां उन्हें अकल्याण की आशंका नहीं है जैसे स्त्री अपने पति को नहीं मार सकती यह संभावना है। जहां यह संभावना हो कि मारेगा ही तो वे वहां से भाग ही जाते हैं। इस

अर्थ का उन्हें परिज्ञान हैं इसलिये वे विबुध हैं, अर्थात् कहां विपत्ति आ सकती है और कहां नहीं इस बात को देवता समझते हैं इसलिये विबुध हैं अर्थात् विशेष रूप से समझने वाले हैं। इस प्रकार देवताओं के शरीर का शौर्य कह कर अब उनकी वाणी के शौर्य को कहते हैं कि "असंयुगविकत्थनैः" अपने पराक्रम से प्रकट करने वाले वाक्यों को कहना विकत्थन कहलाता है, यह डींग भी युद्ध के बाहिर ही मारते हैं। अर्थात् जब किसी के साथ युद्ध न होता हो तब हम ऐसे है हम ऐसे हैं ऐसी डींग मारते हैं। इस प्रकार देवताओं को दूषण लगा कर मुख्य चार देवताओं के विषय में कहते हैं कि हरि शूर अवश्य है परन्तु वह किसी के सामने आता ही नहीं, वह तो उसी के सम्मुख प्रकट होता है जो एकान्त में उसी की भक्ति करता है। स्तुतिपक्ष में जैसा पद है वैसा ही अर्थ करना जिस से भगवान की स्तुति हो जाय। निन्दा पक्ष में यह भाव होगा कि स्त्री जैसे किसी के सम्मुख नहीं आती और अपने में अनुरक्ति रखने वाले को ही एकान्त में मिलती है वैसे ही हरि भी किसी अननुरक्त व्यक्ति के सम्मुख नहीं आता। इससे दैत्यों ने भगवान् को स्त्री तुल्य बताया। और एक बात यह भी है कि सब दुःखों को दूर करने वाला है इस लिये हरि है। यहां दैत्यों का भाव यह है कि जो शौर्य आदि से रहित हैं और दुःखित हैं उनके सामने ही प्रकट होता है। महादेव यद्यपि शूर है परन्तु वह सदा वन में रहने वाला तपस्वी है। वन में रहने वाला तपस्वी किसी का शत्रु नहीं होता क्योंकि वह किसी के समान नहीं होता, जहां समानता होती है वहां ही द्वेष होता है।।३६।।

श्लोकः — किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता।

तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे।।३७।।

अर्थ — यद्यपि अल्पवीर्य वाले इन्द्र से तथा तप करने वाले ब्रह्मा से कुछ भी नहीं बिगड़ सकता तथापि शत्रुता होने से देवता उपेक्षणीय नहीं हैं ऐसा हम मानते हैं।।३७।।

श्री सुबोधिनी — देवेन्द्रस्तु यद्यपि वृत्रहा तथाप्यल्पवीर्यः, अन्यथा वज्रादिप्रार्थना कथं कुर्यात् ? ब्रह्मा यद्यपि महान् भवति तथापि ब्राह्मण एव तपस्वी, एवं यद्यपि सर्वे देवा अप्रयोजकास्तथापि राजनीतिविचारेण ते नोपेक्ष्या, इत्याहुस्तथापीति, देवानां दैत्यानां च सापत्न्यमस्ति कश्यपदायादाः सर्वे भिन्नमातृजास्ते शत्रव एव परस्परं भवन्ति, अतः सहजद्वेषित्वात् यदैव ते पुष्टा भविष्यन्ति तदैव

मारयिष्यन्तीति नोपेक्ष्या. क्षीणदशायामेव मारणीयाः, अयमर्थो भवति न वेति विचारका जानन्ति वय त्वेव मन्महे।।३७।।

व्याख्यार्थ – देवताओं का इन्द्र यद्यपि वृत्रासुर को मारने वाला है तथापि अल्प पराक्रमी है। यदि अधिक पराक्रमी होता तो वज्र आदि लेने के लिये वह प्रार्थना क्यों करता। ब्रह्मा यद्यपि महान् हैं तथापि ब्राह्मण ही है और तपस्वी है। ब्राह्मण एवं तपस्वी का कोई शत्रु नहीं होता। दैत्य कहते हैं कि इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो सभी देवता कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते तो भी राजनीति के विचार से वे उपेक्षा के योग्य नहीं हैं क्योंकि देवताओं के और दैत्यों के परस्पर सापत्न्य है। यद्यपि देवता और दैत्य सब ही कश्यपजी का हिस्सा लेने वाले हैं अर्थात् उनकी सन्तान है परन्तु भिन्न २ माता से पैदा हुए हैं इसलिये वे परस्पर से सहज शत्रु हैं। जब ही वे देवता पुष्ट हो जायेंगे तब ही हमें मारेंगे इसलिये देवता उपेक्षणीय नहीं हैं, उन्हें क्षीणदशा में ही मारना चाहिये। यह बात हो सकती है या नहीं यह विचारक जानें, हम तो ऐसा मानते हैं।।३७।।

श्री सुबोधिनी – एवं माहात्म्यं नीतिं चोक्त्वा किं कर्त्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः–

अर्थ – इस प्रकार कंस के माहात्म्य को और नीति को कहकर अब क्या करना चाहिये इस पर दैत्य कहते हैं कि –

श्लोकः – ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वास्माननुव्रतान्।।३८।।

अर्थ – इसलिये उन के मूल को उखाड़ने के लिये हमें आज्ञा दीजिये क्योंकि हम सर्वथा आपका अनुसरण करने वाले हैं।।३८।।

श्री सुबोधिनी – तत इति, यदेव देवानां मूल भविष्यति तस्यैव खनने नियुङ्क्ष्वाज्ञापय, अनुव्रतानिति, योगेन रूढ्या च सर्वथा भवन्तमनुसृता वयं, मूलमग्रे वक्तव्यं खननं च मध्ये।।३८।।

व्याख्यार्थ – जो भी देवताओं का मूल हो उसे ही उखाड़ फेंकने के लिये आज्ञा दीजिये, हम आपके अनुव्रत हैं अर्थात् आपका अनुसरण करने वाले हैं। यहां "अनुव्रत" शब्द को यौगिक मान लेते हैं तो "अनु पश्चात् गमनस्य व्रतं नियमो येषां" ऐसा अर्थ होता है अर्थात् आप के पीछे चलने का है नियम जिनका ऐसे हम को आज्ञा दीजिये। यदि अनुव्रत शब्द को रुढ मानते हैं तो सेवक अर्थ होता है। इस अर्थ के मानने पर भी

यही तात्पर्य होगा कि हम आप का अनुसरण करने वाले सेवक हैं। मूल कौन है इसे आगे बतायेंगे और खनन को पहले कर रहे हैं।।३८।।

श्री सुबोधिनी – उपेक्षाया को दोष इति चेत्तत्राहुः।

अर्थ – यदि देवताओं की उपेक्षा करें तो क्या दोष होगा तो कहते हैं कि।

श्लोकः – यथामयोऽङ्गे समुपेक्षितो नृभिर्न शक्यते रुढपदश्चिकित्सितुम्।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते।।३६।।

अर्थ – जैसे शरीर में होने वाले ज्वर आदि रोग की उपेक्षा की जाय तो वह अपनी जड़ जमा लेता है और फिर असाध्य हो जाता है, जैसे इन्द्रियों की उपेक्षा करने वाले योगी का उनके द्वारा सर्वनाश हो जाता है वैसे ही शत्रु की उपेक्षा की जाय तो उसके प्रबल होने पर उसका दबाना कठिन हो जाता है और उस से अपना सर्वनाश हो जाता है।।३६।।

श्री सुबोधिनी – यथेति, आमयो रोगो ज्वरादिरङ्ग. आविर्भूतस्तमनाऽत्य यदि स्नानभोजनादिकं कुर्यात् तदा रूढपदः संश्चिकित्सितुं न शक्यते, अङ्ग.मेव नाशयति, सद्वैद्येनापि तन्जनिते सन्निपाते चिकित्साऽशक्या, अनेन सम्बन्धे विद्यमाने कथं मारणीया इति शङ्का निवारिता तेषां सर्वनाशकत्वादिति लौकिकबाधकत्वेन निरूपितं, वैदिकबाधकत्वेन ऽष्टान्तान्तरमाह यथेन्द्रियग्राम उपेक्षित इति, योगिना परमपुरुषार्थे साध्य इन्द्रियसमूहो नोपेक्षणीयः, तेषामुपेक्षाया "मिन्द्रियैर्विषयाकृष्टै" रितिन्यायेन सर्वनाशो भवति, प्रबलं चेदिन्द्रियं पश्चान्निवारयितुमशक्यं यथैहिकामुष्मिकनाश एताभ्यां तथा सर्वनाशो देवैर्दैत्यानां, तदाह रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यत इति, महान् स्वापेक्षयापि स्वरूपतः, ते चेत् सम्बद्धबला भवन्ति तदा चालयितुमप्यशक्या अतो नोपेक्षणीयाः।।३६।।

व्याख्यार्थ – ज्वर आदि रोग शरीर में उत्पन्न हो जाय और उसकी परवाह न कर स्नान भोजन आदि करता रहे तो उस रोग के ऽढमूल हो जाने पर उस की चिकित्सा नहीं हो सकती और वह अपने शरीर को ही नष्ट कर देता है। यदि ज्वर में सन्निपात हो गया तो अच्छे वैद्य से भी उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती। इससे यह शङ्का निवृत हुई कि सम्बन्ध रहते कैसे मारें। जैसे शरीर से पैदा होने से रोग अपना सम्बन्धी है परन्तु उपेक्षा होने पर वह अपना सर्वनाश करने वाला है इसलिये उसके मिटाने का उपाय करना ही चाहिये वैसे ही यदि कोई अपना सम्बन्धी है और अपना सर्वनाश करने वाला है तो उसे भी नष्ट करना ही चाहिये। यह बात लौकिक बाधक

रूप में कही। अब वैदिक बाधा बताते हुए दूसरा ंष्टान्त देते हैं कि जैसे योगी को परम पुरुषार्थ साधन करता हो तो अपने इन्द्रिय समूह की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यदि उनकी उपेक्षा की जाती है तो "इन्द्रियै र्विषयाकृष्टैराक्षिप्त" के अनुसार उसका सर्वनाश हो जाता है। यदि इन्द्रियें प्रबल हो गई तो फिर वे विषयों से हटाई नहीं जा सकती। और रोग बढेन पर शरीर को नष्ट करेगा इसलिये वह व्यक्ति ऐहिक फल से वञ्चित रहेगा। जैसे योगी की इन्द्रियों के प्रबल होने पर उसे परलोक का सत्फल नहीं मिला और रोग की उपेक्षा से जैसे ऐहिकफल नष्ट हो जाता है उसी प्रकार देवताओं की उपेक्षा करने पर देवताओं द्वारा दैत्यों का सर्वनाश हो जायेगा। इसी बात को कहने के लिये "रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते" से कहा है। जो स्वरूप से पहिले ही अपने से महान् हैं फिर यदि वे बलवान् बन जाते हैं तो उन्हें विचलित भी नहीं किया जा सकता। इसलिये देवताओं की उपेक्षा करना उचित नहीं है।।३६।।

श्री सुबोधिनी – मूलमाहः

अर्थ – अब दैत्य देवताओं के मूल हो बताते हैं।

श्लोकः – **मूलं विष्णुर्हि देवानां यत्र धर्मः सनातनः।**
तस्य च ब्रह्मगोविप्रास्तपोयज्ञाः सदक्षिणाः।।४०।।

व्याख्यार्थ – देवताओं का मूल विष्णु है जिसमें यज्ञादिरूप सनातन धर्म रहता है, उस विष्णु के तथा देवताओं के मूल – वेद, गायें, ब्राह्मण, तप तथा दक्षिणा सहित यज्ञ हैं।।४०।।

श्री सुबोधिनी – मूलं विष्णुरिति, देवानां मूलं विष्णुः, विष्णुप्रभवा देवाः, सत्त्वगुणा देवाः, तस्याधिष्ठाता तु विष्णुः, इमां युक्तिं हिशब्द आह, प्रकारान्तरेणापि देवानां मूलं विष्णुरित्याह यत्र धर्मः सनातन इति, धर्मो यागादिः, स तु देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकः, स केवलं वेदोक्तःसनातनः, "तानि धर्माणि प्रथमान्यास" न्निति श्रुतेः, यज्ञाभावे देवानां भक्ष्याभावाद् यज्ञो देवानां मूल, स च स्वदेवतानियम्यः, तस्य च देवता विष्णुः, "यज्ञो वै विष्णु" रिति श्रुतेः, न केवलं तस्य नियामकत्वं किन्त्वाधारत्वमपि, तदाह यत्रेति, यत्र विष्णौ सनातनो धर्मः, "धर्मस्य प्रभुरच्युत" इति वाक्यात्, तस्माल्लौकिकवैदिकदेवानां मूलं विष्णुः, तस्यापि मूलमाह तस्येति, चकाराद्देवानामपि, ब्रह्म वेदः, गावो विप्राश्च तपो यज्ञाः सदक्षिणाः, प्रमाणं वेदः, हविरेकत्र मन्त्राश्चैकत्र, द्विविधो हि धर्मः, प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकः, प्रवृत्यात्मको यज्ञो निवृत्त्यात्मकस्तपः, सदक्षिणाः दक्षिणा यज्ञस्य भार्या, अनेन

प्रवृत्तिधर्मत्वं तस्योक्त, पञ्चात्मको वा मूलत्वेन निरूपित, अनने द्वयं मूलत्वेनोक्तं ब्राह्मणा गावश्च, तत्रदुहन्त्यो गावो, यज्ञकर्त्तारस्तपस्विनो वेदविदो ब्राह्मणा ।।४०।।

व्याख्यार्थ – देवताओं का मूल विष्णु है। सब देवता विष्णु से पैदा हुए है। देवता सत्त्वगुणवाले हैं और सत्व अथवा यज्ञ के अधिष्ठाता विष्णु हैं। देवताओं का मूल विष्णु है, इसमें बताई गई युक्ति को श्लोक में आया "हि" शब्द कहता है। देवताओं का मूल विष्णु है। इस बात को प्रकारान्तर से भी कहते हैं कि "यत्र धर्मः सनातनः"। योग आदि जो धर्म हैं वह देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य अर्पण करना रूप हैं और वेद में कहा गया धर्म ही सनातन (सदा से रहने वाला) है जैसा कि श्रुति में कहा है "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" यागादि धर्म आरंभ से ही थे अथवा यों कहिये कि वे धर्म सब से प्रथम थे। यदि यज्ञ नहीं होते हैं तो देवताओं को भक्ष्य नहीं मिलता इसलिये यज्ञ देवताओं का मूल है और वह यज्ञ अपने देवता से नियम्य है। यज्ञ का देवता विष्णु है जैसा कि "यज्ञो वै विष्णुः" से कहा गया हैं। यज्ञ विष्णुरूप हैं इसलिये यज्ञ का नियामक विष्णु है। वह विष्णु यज्ञ का नियामक ही नहीं हैं किन्तु यज्ञ का आधार भी है इसलिये "यत्र धर्मः सनातनः" में यत्र पद दिया है अर्थात् जिस विष्णु में सदा में रहने वाले योग आदि धर्म है। यहां "यत्र" इस अधिकरण निर्देश से धर्म का आधार भगवान् है यह कहा, इसलिये "धर्मस्य प्रभुरच्युतः" ऐसा कहा है अर्थात् धर्म का स्वामी विष्णु है, इससे सिद्ध हुआ कि लौकिक वैदिक देवताओं का मूल विष्णु है और उस विष्णु का तथा देवताओं के मूल–वेद, गायें, ब्राह्मण, तप और दक्षिणा सहित यज्ञ है। यज्ञ में वेद प्रमाण माना जाता है। गायों में हवि (घृत) रहता है और ब्राह्मण में मन्त्र रहते हैं। धर्म दो प्रकार का...

ही देवताओं का मूल है। प्रकारान्तर से दो ही मूल हैं। मूल बताने वाले वाक्य से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण और गायें ये दो मुख्य रूप से मूल हैं, अर्थात् दुहाती हुई गायें और यज्ञ करने वाले तपस्वी वेद वेत्ता ब्राह्मण। यज्ञ के लिये घृत एवं दुग्ध गायों से मिलता है और यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण मन्त्र बोलने वाले होते हैं, इन दोनों से यज्ञ सम्पन्न होता है। तपस्वी वेदवेत्ता ब्राह्मण निवृत्तिमार्गीय धर्म के चलाने वाले हैं।।४०।।

श्रीसुबोधिनी – तेषा खननमाह।

व्याख्यार्थ – ब्राह्मण एवं गायों के उन्मूलन के लिये कहते हैं –

श्लोकः – तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः।
तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः।।४१।।

व्याख्यार्थ – इसलिये अपने से दूसरों से साक्षात् एवं परम्परया जैसे भी लौकिक वैदिक साधन न कर सकें वैसे हम वेद एवं वेदार्थ जाननेवाले, तपस्वी तथा जिनका यज्ञ करने का स्वभाव है ऐसे ब्राह्मणों को और हविष्य देनेवाली गायों को मारेंगे।।४१।।

श्री सुबोधिनी – तस्मादिति, सर्वात्मना लौकिकवैदिकसाधनैः स्वतः परतः साक्षात् परंपरया च यथैव ते निवृत्ता भवन्ति, ब्राह्मणानां विशेषण ब्रह्मवादिनो वेदवेदार्थविदः, उभयविध च कुर्वन्तीति, तपस्विनो यज्ञशीलाश्च, हविदुघाः पयोदोग्ध्र्यो गाः, हन्धातोर्लटि बहुवचनं हन्म इति।।४१।।

व्याख्यार्थ – जिस प्रकार लौकिक एवं वैदिक साधनों से वे स्वयं हटे अथवा दूसरों के द्वारा हटाये जाय ऐसा उपाय साक्षात् हम करें अथवा दूसरों से करावें और ऐसे ब्राह्मणों को मारें जो वेद तथा कर्म एवं ज्ञान रूप जो वेद के अर्थ हैं उनको जानने वाले हों अर्थात् जो कर्म एवं ज्ञान में निरत, तपस्वी, यज्ञ करने के स्वभाव वाले ब्राह्मण हों और गायें भी वैसी हो जो हवि के लिये दुही जाती हो उन सबको हम मारेंगे। श्लोक में "हन्मः" पद में जो वर्त्तमान काल में लट् है वह "वर्तमान समीप्ये वर्तमानवद्वा" से किया है। यदि ऐसा यहां नहीं मानते हैं तो "हन्मः" यह प्रयोग हो ही नहीं सकता क्यों कि इस समय मन्त्रणा ही हो रही है, मारना आरंभ नहीं किया गया है अतः "वर्तमाने लट्" सूत्र से यहां लट् नहीं हो सकता। शीघ्रातिशीघ्र मारना बताना हैइसलिये भविष्यत् अर्थ में भी वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा इस सूत्र से लट् हो गया।।४१।।

श्री सुबोधिनी – एवं विष्णुमूलत्वेन ब्राह्मणगवां निराकरणं निरूप्य भगवच्छरीरत्वेनापि एतान्, निरूपयन्ति साक्षान्निराकरणाय।

अर्थ – इस प्रकार विष्णु के मूलभूत ब्राह्मण एवं गायों को मारना चाहिये ऐसा निरूपण कर अब साक्षात् निराकरण करने के लिये ये भगवान् के शरीर हैं ऐसा निरूपण करते है।

श्लोकः – **विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः।**
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः।।४२।।

अर्थ – ब्राह्मण गायें, हविष्य के उपयोगी सभी अन्न, वेद एवं उनके अंग अथवा व्रत, सत्य, इन्द्रियों का दमन, अन्तःकरण का शमन, श्रद्धा, दया, तितिक्षा (अतिक्रमण को सहन करना) तथा ज्योतिष्टोमादि याग के सब हरि भगवान् के शरीर हैं।।४२।।

श्री सुबोधिनी – विप्रा इति. विप्रा गावश्चकारादन्यान्यप्यन्नानि, वेदा, चकारादङ्गानि व्रतानि वा, तपः सत्य दम. शम इति ब्रह्मचर्याद्याश्रमधर्मा., तप. शारीरो धर्मः, सत्यं वाचः, दम इन्द्रियाणां, शमोन्तःकरणस्य, श्रद्धा सर्वत्र, दया च सर्वेषु, तितिक्षातिक्रमसहनं, एवं दशविधो दशावतारः, क्रतवोऽसङ्ख्याता ज्योतिष्टोमादय, एते सर्वे सर्वदुःखहर्तुर्भगवतस्तनूस्तन्व., तस्माद्विष्णौ प्रयत्नः प्रतिष्ठित ।।४२।।

व्याख्यार्थ – ब्राह्मण, गायें, श्लोक में आये चकार से दूसरे २ हविष्य के साधन सभी अन्न, वेद तथा श्लोक में आये चकार से लिये गये वेदों के अंग अथवा व्रत, यहां श्लोक में आये "तपः सत्यं दमः शमः" पदो से क्रम से ब्रह्मचर्यादि आश्रमधर्म लिये गये हैं। तप शरीर का धर्म है, सत्य वाणी का, दम इन्द्रियों का, शम अन्तःकरण का धर्म है, सब मे श्रद्धा, सब प्राणियों में दया, अतिक्रमण सहन करना ये श्लोक में शब्दतः कहे गये दश धर्म भगवान् के दश अवताररूप है, ज्योतिष्टोमादि याग अनन्त हैं। ये सब संपूर्ण दुःख हरण करने वाले हरि भगवान् के शरीर है। अतः इन सब का आत्मा विष्णु है। इससे उसके प्रयत्न से ही ये काम करते हैं। जैसे शरीर में जीव के रहते चेष्टा होती है वैसे ही ब्राह्मण आदि का संचालन विष्णु से ही होता है क्योंकि ये सब उस के शरीर हैं।।४२।।

श्री सुबोधिनी – उपसहरंस्तस्य मूलत्वमाह –

अर्थ – इस बात का उपसंहार करते हुए दैत्य भगवान् को ही इन का मूल बताते है।

श्लोकः – **स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड् गुहाशयः।**
तन्मूला देवताः सर्वाःसेश्वराः सचतुर्मुखाः।।
अयं हि तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम्।।४३।।

अर्थ – वह विष्णु सब देवताओं का अध्यक्ष, दैत्यों का शत्रु, अन्तः करण में गुप्तरूप से रहने वाला तथा ब्रह्मा महादेव सहित सब देवताओं का मूल है, अतः उस के मारने का उपाय यही है कि ऋषियों को मारना।।४३।।

श्री सुबोधिनी – स हीति "मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय" इति न्यायाद् गौणाना देवानां निराकरण व्यर्थं पूर्वोक्त न्यायेन सर्वसुराणा विष्णुरेवाध्यक्षः प्रभु., किञ्चान्ये देवास्तथासुरान् न द्विषन्ति, कदाचित् सहभावोऽपि लक्ष्यते, हरिस्त्वसुरद्विडेव, मारयितुमपि न शक्यते साक्षाद् यतो गुहाशय., गुप्तेन्तःकरणे वा तिष्ठतीति, अध्यक्षत्वं च न लौकिकप्रभुवत् किन्तु मूलभूतोपीत्याह तन्मूला इति, स्त्रीलिङ्गप्रयोगोवगणनार्थः, महादेवस्य ब्रह्मणश्च स्वतन्त्रतामाशङ्क्याहु. सेश्वरा सचतुर्मुखा इति, अतो विष्णोः प्रतीकारः कर्तव्यः प्रतीकारश्चर्षीणां निराकरणमेवेत्याहायमिति, ऋषिपदेनैव सर्वे धर्मा उक्ता।।४३।।

व्याख्यार्थ – जहां प्रधान और अप्रधान बताये जाय वहां प्रधान में कार्य होता है, यही "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः" का आशय है। अतः इस न्याय से गौण (अमुख्य) देवताओ को मारना व्यर्थ है किन्तु इनका अध्यक्ष विष्णु ही हैं अतः उसे ही मारना चाहिये। एक बात यह भी है कि अन्य देवता विष्णु की तरह द्वेष नहीं करते, वे कभी समुद्र मन्थन आदि कार्यो में हमारे साथ भी रहते हैं परन्तु विष्णु तो हम से द्वेष ही करता रहता है, उसे साक्षात् मार भी नहीं सकते क्योंकि वह गुप्त स्थान में अथवा "गुहा प्रविष्टौ" के अनुसार गुप्त अन्तःकरण में रहता है।[1] भगवान् लौकिक स्वामी (राजा) की तरह देवताओं का अध्यक्ष ही नहीं है किन्तु उनका मूलभूत भी है। श्लोक में 'देवताः' यह स्त्रीलिङ्ग. का निर्देश है इससे दैत्य सूचित करते हैं कि देवता स्त्री की तरह नगण्य हैं। महादेव और ब्रह्मा भी स्वतन्त्र नहीं हैं इस बात को "सेश्वराःसचतुर्मुखाः" से कहा है अर्थात् महादेव एव ब्रह्मा सहित सभी देवों का मूल भगवान् ही है अतः विष्णु का प्रतिकार करना चाहिये। उसके प्रतीकार के लिये ऋषियों का तथा उनसे प्रवर्तित धर्म का निराकरण करना आवश्यक है। यहां ऋषि पद से उनसे उपदिष्ट धर्म भी लिया गया है।।४३।।

श्रीसुबोधिनी – एवं तेषां वचनं श्रुत्वा किं कृतवानिति आशङ्क्याह।

अर्थ – इस प्रकार दैत्यों के वचन को सुनकर कंस ने क्या किया सो कहते हैं।।

श्लोकः – एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह सम्मन्त्र्य दुर्मतिः।
ब्रह्महिंसां हितं मेने कालपाशावृतोसुरः।।४४।।

अर्थ – इस प्रकार वह कंस दुष्ट मन्त्रियों से मन्त्रणाकर खराब बुद्धिवाला हो गया और उसने ब्राह्मणों की हिंसा को अपना हित माना क्योंकि वह असुर होने से स्वभाव से दुष्ट था और कालपाश से आवृत भी था।।४४।।

श्री सुबोधिनी – एवमिति, नन्वयं क्षत्रियो ब्राह्मणरक्षकः कथं ब्रह्महिसां हितत्वेन मेने ? तत्राह दुर्मन्त्रिभिरिति, एते दुष्टा मन्त्रिणः, पर्यवसानदोषदर्शनाभावात्, तैः सह सम्यङ् मन्त्रणं कृत्वा दुर्मतिर्जातः बुद्ध्या हि सर्वनिर्णयः, बुद्धिनाशकस्तु दुःसङ्ग.स्तत्रापि मन्त्रित्वेन गृहीतः, अत एव ब्रह्महिसा स्वस्य हितत्वेन मेने, ननु दुःसङ्गे.पि कथं स्वाभाविको भावोन्यथा जात इति चेत् तत्राहासुरः कालपाशेनावृतश्च, असुरत्वात् स्वभावदुष्टः कालपाशावृत आपाद्ग्रस्तः आपदि सर्वबुद्धिनाशो भवति, तत्रापि कालपाशपदाभ्यां महत्यापदा निरूपिता।।४४।।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार कुमन्त्रियों से मन्त्रणा कर ब्राह्मणो को मारना उसने अपना हितकर समझा। शङ्का होती है कि वह कंस क्षत्रिय है और क्षत्रिय ब्राह्मणों का

---

[1] श्रीपुरुषोत्तमजी अपनी प्रकाशाख्य टीका में लिखते है – श्री सुबोधिनी में जो "गुप्त" पद आया है इसका अर्थ यह है कि वह सुरक्षित स्थान में रहता है अथवा यो कहिये कि अन्तःकरण मे रहने वाला है इसलिये अत्यन्त समीप है परन्तु जब अन्तःकरण ही अणु है तो उसमे रहनेवाला भगवान् तो अत्यन्त सूक्ष्म है और वह नित्य भी है अतः उसको मारना कठिन है। एक बात यह भी है वह अन्तःकरण मे रहता है इसलिये हमारे विचारो को समझ कर अन्तर्हित हो सकता है। अन्तःकरण मे रहने वाला तब ही मारा जा सकता है जब अन्तःकरण वाला स्वय मरे। यदि स्वय ही मर जाता है तो फिर दूसरे को कैसे मार सकता है इसलिये वह विष्णु मारा नही जा सकता।

रक्षक होता है तो फिर इसने ब्राह्मणों की हिंसा को हित कैसे माना तो कहते हैं कि जिनके साथ कंस ने मन्त्रण की वे दुष्ट मन्त्री थे क्योंकि उन्हें ऐसा करने पर परिणाम में क्या होगा इसका ज्ञान नहीं था। कंस ने उनके साथ मन्त्रणा की इसलिये वह भी दुर्बुद्धिवाला हो गया। बुद्धि से ही सब निर्णय होता है। बुद्धि का नाश करने वाला दुःसङ्ग. है ऐसी स्थिति में यदि दुष्टों को ही मन्त्री बनाले तो फिर कहना ही क्या है। अत एव ब्राह्मणों की हिंसा को अपना हितकर माना। यदि कहें कि दुःसङ्ग. होने पर भी उसका स्वाभाविक भाव कैसे बदल गया तो कहते हैं कि वह असुर होने से स्वतः स्वभावदुष्ट था और कालपाश से आवृत होने से आपदग्रस्त था। आपत्ति में भी जब सम्पूर्ण बुद्धि का नाश हो जाता है तो कालपाश से वेष्टित होने पर तो महाविपत्ति आती ही है। ऐसी दशा में उसकी बुद्धि के नष्ट होने में क्या आश्चर्य है। यह बात काल एवं पाश इन दोनों पदों से कही गई है।।४४।।

श्री सुबोधिनी – एवं बुद्धिभ्रंशे जाते यत्कृतवांस्तदाह।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार बुद्धि के नष्ट हो जाने पर कंस ने जो कुछ किया उसे कहते हैं।

श्लोकः – सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान्।
कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत्।।४५।।

व्याख्यार्थ – स्वयं पीड़ा देने की इच्छा वाले एवं इच्छानुसार रूप धारण करने वाले उन राक्षसों को सत्पुरुषों को पीड़ा देने के लिये दशों दिशाओं में जाने का आदेश देकर वह कंस अपने महल में चला गया।।४५।।

श्री सुबोधिनी – सन्दिश्येति, साधुलोकस्य कदने पीडायां कदनप्रियान् स्वतोपि कदनेच्छून् कदनकरणार्थं तत्तत्साध कनानारूपधारकान् दशदिक्ष्वप्यादिश्य स्वविषयेन्यविषये च कामरूपधराणां सर्वत्रैव सामर्थ्यसंभवात्, दानवानिति, क्रूरान्, राक्षसमात्रे दानव प्रयोगः, स्वगृहमाविशत्, यथोपद्रवे कश्चित् प्रभोः स्थाने गतो दर्शनमेव न प्राप्नुयात्, एतदर्थं गृहे प्रवेशनम्।।४५।।

व्याख्यार्थ – जो स्वयं ही पीड़ा देना चाहते थे और पीडा देने के लिये जो नानारूप धारण कर सकते थे उन्हें सत्पुरुषों को पीड़ा देने के लिये दशदिशाओं में अर्थात् अपने देश में और दूसरे देशों में कंस ने भेजा। जो इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं उनका सर्वत्र जाने का सामर्थ्य होता है इसलिये उन्हें सर्वत्र भेजा। श्लोक में आये "दानव" शब्द का अर्थ क्रूर है। राक्षस मात्र में दानव शब्द का प्रयोग होता है। अर्थात् वह कंस उन क्रूर राक्षसों को जाने का आदेश देकर अपने महल में चला गया। उसने अपने महल में इस लिये प्रवेश किया कि यदि कोई इन राक्षसों के उपद्रव से दुःखी हो कर मेरे पास शिकायत करने आवे तो मैं न मिलूँ।।४६।।

श्री सुबोधिनी – ते च ततोप्यधिकं कृतवन्त इत्याह।

अर्थ – उन दैत्यों ने कंस की आज्ञा से भी अधिक कार्य किया, यह कहते हैं।

श्लोकः – ते वै रजः प्रकृतयस्तमसारूढचेतसः।
सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः।।४६।।

अर्थ – निश्चय कर के रजोगुण के स्वभाव वाले और आगन्तुक तमोगुण से व्याप्तचित्त वाले उन दैत्यों ने सत्पुरुषों के साथ द्वेष किया क्योंकि उन की मृत्यु पास ही आ गई। जो आसन्नमृत्यु होते हैं उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता।।४६।।

श्री सुबोधिनी – वै निश्चयेन, ते स्वभावत एव रज प्रकृतयः राजसाः क्रूरा भवन्ति, आगन्तुकेन च पुनस्तमसारूढं चित्तं येषां, पूर्वसिद्धविवेकनाशार्थं तमः, रजस्तमोभ्यां व्याप्ताः सात्विकान् द्विषन्त्येव, अतः सतां विद्वेष विशेषेण द्वेषो यस्मात् तादृशमुपद्रवं धर्मधनादिनाशनमासमन्ताच्चेरुः कृतवन्तः, अनेन तेषां स्वरूपतोन्तःकरणनाशाद् धर्मतश्चोपद्रवं कृतवन्त इत्युक्त भवति, ननु स्वाम्याज्ञातोधिकं किमर्थं कृतवन्तस्तत्राहाशदागतमृत्यव इति मृत्युग्रस्तास्तथा कृतवन्तः, विकलो ह्यन्यथा करोत्येव।।४६।।

व्याख्यार्थ – निश्चय कर के स्वभाव से ही दैत्य रजोगुण की प्रकृतिवाले होते हैं, जो राजस होते है क्रूर होते है।। इस पर भी उन के चित्त में आगन्तुक तमोगुण व्याप्त हो गया। उन मे पूर्व में रहे विवेक को नष्ट करने के लिये तमोगुण प्रविष्ट हो गया। ऐसी स्थिति में जो रजोगुण तमोगुण से व्याप्त हो जाते हैं वे सात्त्विक पुरुषों से द्वेष करते ही हैं। इस कारण से विशेषरूप से जिससे द्वेष हो जाय ऐसे उपद्रव की चारों ओर से करने लगे। इस श्लोक मे यह सिद्ध हुआ कि उन दैत्यों के अन्तःकरण के स्वरूप का नाश हो गया। अन्तःकरण वैकारिक अहङ्कार से पैदा होता है और वह अन्तःकरण ज्ञान को पैदा करता है इसलिये अन्त करण स्वरूपतः सात्त्विक है, उस के उस स्वरूप का नाश रजो गुण से होता है और जब सत्वरूप अन्तःकरण रहता है तब उस में ज्ञान रहता है। उन के उस ज्ञान को तमोगुण ने नष्ट कर दिया इसलिये ज्ञान रूप धर्म के नहीं रहने से धर्मतः उसका नाश हो गया। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण का स्वरूप जो सात्विक था उसे रजोगुण ने नष्ट कर दिया और उस मे होने वाले ज्ञान को तमोगुण ने नष्ट कर दिया अतः अन्तः करण के स्वरूप का और उस के धर्म का नाश हो गया अतः दैत्यों ने उपद्रव किया। शङ्का करते हैं कि दैत्यों ने कंस की आज्ञा से भी अधिक कार्य किस लिये किया तो कहते हैं कि उन की मृत्यु पास ही आ गई अर्थात् वे मरणासन्न थे इसलिये ऐसा अनुचित कार्य किया। जो विकल होता है वह उलटा कार्य करता ही है।।४६।।

श्री सुबोधिनी – माययैवैतत् कारितं सर्वनाशार्थमिति ज्ञापयितुं महदतिक्रमणस्य फलमाह।

अर्थ – दैत्यों के सर्वनाश के लिये माया ने ही महान् पुरुषों का अतिक्रमण कराया। इस बात को बताने के लिये महापुरुषों के अतिक्रम से क्या २ फल मिलते हैं यह कहते हैं।

श्लोकः – **आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च।**
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः।।४७।।

अर्थ – (शुकदेवजी कहते है कि) जो लोग महापुरुषों का अनादर करते हैं उन का वह कुकृत्य आयु, लक्ष्मी, यश, धर्म एवं उस से प्राप्त होने वाले स्वर्गादिलोक, पुत्र आदि जो भी अभीष्ट हैं उन को और अन्य सब कल्याणों को नष्ट कर देता है।।४७।।

श्री सुबोधिनी – आयुश्रियमिति, जीवानां षड् उत्तमा गुणाः, तदभावे प्राण्यकृतार्थः स्यात्, तत्र प्रथममायुः, जीवतो हि सर्वं भवति, ततः श्रीः, स्पष्टस्तस्या उपकारः, ततो यशः कीर्तिः, ततोऽन्तरङ्गो धर्मः, तै साध्या लोकाः स्वर्गादयः, तत्र लोके सर्वा एवाशिषः, चकारादैहिका अपि पुत्रादयः, एवकारेण

सर्वेषामेवाशीष्टवं प्रदर्शितं, अतो यस्य यदभीष्टं तदेव नाशयतीत्युक्तं भवति, अन्यथा गणिताश्चेत् तस्याभीष्टा न भवयुस्तदेष्टमेव चेष्टितमिति महदतिक्रमः किं कुर्यात् ? अतो यत्किञ्चिदेवाभीष्टं तदेव हन्ति, लोकसिद्धास्तु गणिताः, अनुक्तसर्वसङ्ग्रहार्थं सर्वाणीति पुंस इति, स्वतन्त्रस्यापि, महतो भगवदीयस्यातिक्रमः उल्लङ्घनं, महत्त्वं भगवत्सम्बन्धादेव, अन्यथाराग्रमात्रस्य कथं महत्त्वं स्यात्, एवं भगवच्चरितसिद्ध्यर्थं मायाकार्यं निरूपितम्।।४७।।

इति श्री मद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविर चितायां दशमस्कन्धविवरणे चतुर्थाध्यायविवरणम्।।४८।।

व्याख्यार्थ – श्लोक में बताये गये छः गुण जीवों में उत्तम हैं। उन के नहीं रहने पर प्राणी अकृतार्थ करता है। छः गुणों में पहली आयु है क्योंकि जीवित रहेगा तब ही तो सब कुछ करेगा। वह आयु महान् पुरुषों के अनादर से नष्ट हो जाती है। उस के बाद महान् पुरुषों का अतिक्रमण लक्ष्मी को नष्ट करता है। लक्ष्मी से जो उपकार होता है वह स्पष्ट ही है। तदनन्तर यश, तत्पश्श्चात् अन्तरङ्ग, धर्म और उस से होने वाले स्वर्गादिफल; लोक के सभी वांछनीय और श्लोक में आये चकार से लिये गये पुत्रादि जो ऐहिक फलरूप माने जाते हैं, वे और एवकार से जितने भी जीव को अभीष्ट हैं वे सब लिये गये हैं अर्थात् जिसको जो भी अभीष्ट है उन सब को महापुरुषों का अतिक्रमण नष्ट कर देता है। यदि ऐसा नहीं कहा जाय तो श्लोक में गिनाये गये यदि किसी को अभीष्ट न हो तो महापुरुषों के अतिक्रमण से उन का कुछ नहीं बिगडेगा। इसलिये यह कहना आवश्यक है कि जिसको जो भी कुछ अभीष्ट है वह सब नष्ट हो जाता है। लोकसिद्ध आयु आदि को तो गिना दिया अब जिन को नहीं गिनाया गया उन के संग्रह के लिये कहते हैं कि "सर्वाणि" अर्थात् सब कुछ कल्याण नष्ट हो जाते हैं। श्लोक में जो "पुँसः" यह आया है उस का तात्पर्य यह है कि पुरुष स्वतन्त्र होता है, उस के भी उपर्युक्त सभी नष्ट हो जाते हैं। श्लोक में आये "महान्" का अर्थ भगवदीय है अर्थात् जो भगवद्भक्त होता है वह महान् होता है उस का उल्लघंन यह सब कुछ करता है। जीव भगवान् के सम्बन्ध से ही महान् बनता है। यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो ब्रीहि के अग्रभाग के समान जीव महान् कैसे बन सकता है अतः यह समझना चाहिये कि जीव में महत्ता भगवत्सम्बन्ध से ही आती है। क्योंकि भगवान् महान् हैं इसलिये उस से सम्बन्ध करने वाला जीव महान् बन जाता है। जैसे अग्नि के सम्बन्ध से जल में उष्णता आती है वैसे ही भगवान् के सम्बन्ध से भगवान् की महत्ता जीव में आती है। इस प्रकार सब को दुःख देना रूप जो माया का कार्य हुआ वह अनिरूद्ध द्वारा धर्म रक्षा कराने में कारण हुवा। यदि माया कंस से इतना उपद्रव नहीं कराती तो अनिरूद्ध व्यूह का चरित्र जो धर्मरक्षणरूप है वह नहीं होता। इति शम्

चतुर्थाध्याय का अनुवाद समाप्त हुआ।

अनुवादक – आनन्दीलाल शास्त्री नाथद्वारा